तत्त्वमीमांसा

Translated into Hindi from A E. Taylor's Elements Of
Metaphysics published by Methuen & Co. Ltd.,
London (1956)

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

प्रथम खण्ड
सामान्य धारणाएँ

द्वितीय खण्ड
जीव-विकास विज्ञान—वास्तविकता की सामान्य संरचना

तृतीय खण्ड
विश्व विज्ञान—प्रकृति की व्याख्या

चतुर्थ खण्ड

तर्कना-परक मनोविज्ञान : जीवन विषयक अर्थ-निर्णय

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक सख्या मे तैयार किये जायँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ मे सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारो, विश्व विद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता मे प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे है। अनूदित और नये साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा सस्थाओ मे एक ही पारिभाषिक शब्दा-वली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

तत्त्वमीमासा नामक पुस्तक हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्री ए० ई० टेलर और अनुवादक श्री सुधीन्द्र वर्मा है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जायगा।

निहालकरण सेठी

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्रकाशकीय

सत्य और आभास की पहचान करानेवाली वैज्ञानिक परीक्षा को तत्त्वमीमांसा की संज्ञा दी गयी है। तत्त्वमीमांसा यह जानना चाहती है कि वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य का अभिप्राय क्या है। वह यह भी जानना चाहती है कि विश्व-प्रपंच से सम्बन्धित विविध वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक सिद्धान्त किस सीमा तक सत्य के सामान्य लक्षणों के अनुकूल हैं। जहाँ तक सत्य की खोज का सम्बन्ध है, धर्म और कल्पना-साहित्य दोनों का लक्ष्य आभास से परे जाकर उसमें निहित सत्य से परिचित होना है। तत्त्व-मीमांसा का भी यही लक्ष्य है। किन्तु भावना और पद्धति के विचार से वह धर्म और कल्पना-साहित्य दोनों से भिन्न है क्योंकि वह अस्तित्व अथवा सत्य का विवेचन शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से करती है। इस विवेचन से बौद्धिक संतोष प्राप्त होता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ए० ई० टेलर ने अपनी दार्शनिक कृति "एलीमेण्ट्स ऑव मैटाफिजिक्स" में वास्तविक सत्य और आभास के बीच भेद करनेवाली तत्त्वमीमांसीय पद्धति का सुन्दर विवेचन किया है। उसकी यह कृति अंग्रेजी वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके हिन्दी रूपांतर में मूल पुस्तक की दार्शनिक विवेचना पद्धति को सरल और सुबोध भाषा में ज्यों का त्यों रखने का सफल प्रयास किया गया है। आशा है कि दर्शनशास्त्र के छात्र तथा पाश्चात्य दर्शन की वैज्ञानिक प्रणाली से परिचित होने के इच्छुक सभी लोगों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

रमेशचन्द्र पंत
सचिव, हिन्दी समिति

प्रथम खण्ड

सामान्य धारणाएँ

अध्याय १

तत्त्वमीमांसक की कठिनाइयाँ

१—तत्त्वमीमासीय प्रतिपाद्यो की सामान्यता और सरलता के कारण उनके अध्ययन के अविनिर्वारण मे कठिनाई २—साधारण अनुभवो में व्याघातो की उपस्थिति और उनसे तत्त्वमीमासीय प्रतिपाद्यो का सकेत ३—सत् अथवा वास्तविकता और आभास मे विभेद करके विज्ञान जहाँ इन व्याघातो मे से कुछ व्याघातों को दूर करते है वहाँ वे स्वय इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ भी पैदा करते है, अत. सत् और आभास मे विभेद करने का क्या अर्थ है—इस बारे में क्रमबद्ध जाँच-पड़ताल के साथ ही सत् अथवा वास्तविकता के वास्तविक सामान्य स्वरूप को जानने की जरूरत ४—'सत्' के चरम अभिप्राय-विषयक जाँच-पड़ताल के रूप मे तत्त्वमीमासा की काव्य और धर्म से समानता किन्तु अपने वैज्ञानिक स्वरूप के कारण उसकी इन दोनो से भिन्नता। गणित तथा अन्य परीक्षणात्मक विज्ञानो से उसकी कार्य-पद्धति भिन्न है और साधारण विचिकित्सावाद से भी वह अपनी आलोचनात्मक शैली और निश्चित उद्देश्य के कारण भिन्न है। ५—इस शास्त्र का अध्ययन कठिन इसलिए है कि (अ) इसके प्रतिपाद्यो का स्वरूप बहुत सामान्य है, (आ) इस अध्ययन मे अलिखित आकृतियो और भौतिक परीक्षणों का उपयोग नही किया जा सकता। ६—तत्त्वमीमासा के विरुद्ध यह आपत्ति कि वह शास्त्र असभाव्य है अपने सभी रूपो मे तत्त्वमीमासीय प्रकार के आत्मविरोधी अभ्युपगमो पर आधारित सिद्ध की जा सकती है। ७—इसके अतिरिक्त अन्य छोटी-मोटी आपत्तियो का भी जैसे कि यदि वह सभाव्य भी हो, तो भी अतिक्षिप्त होने अथवा प्रगति रहित होने के कारण अग्राह्य है, उत्तर उसी आसानी से दिया जा सकता है। ८—रहस्यवादी प्रवृत्ति से कुछ-कुछ मिलती-जुलती होने पर भी तत्त्वमीमासा, आभासी-ससार-विषयक अपनी निश्चयात्मक अभिरुचि तथा वैज्ञानिक पद्धति के कारण उससे भिन्न है। ९—अपने क्षेत्र की सामान्यता या व्यापकता मे, वह तर्कशास्त्र के समान होते हुए भी सत्यपरक होने के कारण उससे भिन्न है, जब कि तर्कशास्त्र का अधिक सबंध मूलत अनुमेय से ही रहता है। १०—तथाकथित 'ज्ञानमीमासा' के प्रतिपाद्य वास्तव मे तत्त्वमीमासीय ही है।

ज्ञान की किसी भी शाखा के प्रारभिक अध्येता के प्रयोग के लिए अध्येय विषय के स्वरूप और क्षेत्र से सम्बद्ध शुद्ध धारणाओ का प्रतिपादन सदा ही कठिन हुआ करता

है। पर यह कठिनाई परपरा से 'तत्त्वमीमासा'[1] अथवा अधिभौतिकी नाम-धेय अनुसन्धान-निकाय के सम्बन्ध मे विशेष रूप से बढ जाती है । यद्यपि यह विज्ञान जिन प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयत्न करता है, वे सिद्धान्त रूप से बहुत ही अधिक सीधे-सादे और जाने-पहचाने से लगते हैं, तथापि उनका यह सीधा-सादापन और परिचित होना ही उनकी दुरूहता का सबसे वडा कारण बन जाता है। आम तौर पर हम आसानी से यह मानने को तैयार नही हो पाते कि जिन शब्दो और कल्पनाओ का प्रयोग हम न केवल विशिष्ट विज्ञानो के ही सम्बन्ध मे अपितु ससार-सरणि-विषयक अपने विचारो और बोलचाल मे भी प्रतिदिन किया करते है उनमे कुछ ऐसी जटिलताएँ भी है जिन्हे हम समझ नही पाते। इसीलिए जब कोई तत्त्वदर्शी या तत्त्वमीमासक इन सामान्य और चिरपरिचित कल्पनाओ के विषय मे कुछ कष्टप्रद अथवा कृच्छ प्रश्न करने लगता है तब न केवल साधारण व्यवहारी व्यक्ति ही अपितु विशिष्ट विज्ञानो के विचक्षण विद्यार्थी भी शिकायत करने लगते हैं कि यह व्यक्ति स्वत सिद्ध विषय के सम्बन्ध मे व्यर्थ और अयाचित कठिनाइयां प्रस्तुत करके उनका अमूल्य समय बरबाद करने पर तुला हुआ है। इसीलिए तत्त्वमीमासा का लेखक उन स्वाभाविक तथा प्रचलित पूर्वाग्रहो के विरुद्ध सबसे पहले कलम उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जो तत्त्व विज्ञान के अस्तित्व से ही इनकार करते और उसके प्रतिपाद्यो को भ्रामक बताते है । इसके सिवाय उसके लिए दूसरा चारा ही नही रह जाता। तत्त्वमीमासा-विषयक अध्ययन के वास्तविक प्रतिपाद्यो की पद्धतीय परीक्षा की जिस रूप-रेखा को प्रस्तुत करने का प्रयत्न अगले अध्याय मे किया गया है वह केवल वही, तत्त्वमीमासीय विवेचन-पद्धति को निरर्थकता के आरोप से पूरी तरह मुक्त कराने मे समर्थ है । किसी भी ग्रन्थ के प्रारभिक अध्याय मे केवल अगले अध्यायो के विवेच्य प्रश्नो की प्रकृति और प्रकारादि का साधारण-सा विवरण ही तो दिया जा सकता है। साथ ही विविध विज्ञानो की प्रमुख समस्याओ अथवा प्रतिपाद्यो तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो को भी इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है कि पाठक आगामी पृष्ठो मे लिखित विषय पर निष्पक्ष रूप से विचार करने के लिए तैयार हो जाय ।

२—अपने दैनदिनीय साधारण अनुभव-क्रम तथा विविध विज्ञानो के प्रारभिक ज्ञान-सम्बन्धी प्रशिक्षण द्वारा इतना ज्ञान तो हमे हो ही गया है कि हम किसी भी वस्तु

---

१. मेटाफिजिक्स अथवा अधिभौतिकी शब्द का अर्थ ही है—भौतिकी के बाद की बातें। सभवतः यह नाम इस कारण दिया गया हो कि अरस्तू के लेखो के सपादको ने चरम दार्शनिक प्रश्नो के विषय मे उसके लेखो को भौतिकी विषयक लेखो के बाद स्थान दिया ।

के वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य तथा उसके आभासी अस्तित्व या प्रतीयमान सत्य में विभेद कर सकें। 'आभास' और 'सत्' तथा 'यथार्थ' और 'प्रदर्शन' का वैपम्य जितनी अच्छी तरह सभ्य जातियो की भाषा और उनके साहित्य मे बद्धमूल हो गया है उतना अन्य कोई भी 'प्रतियोग' नही हो सका। यह प्रतियोग प्राकृतिक प्रक्रियाओ तथा मानवीय चरित्र और अभिप्राय के अध्ययन में समान रूप से हमें दिखायी पडता है। पृथ्वी के आभासी स्थैर्य और उसकी वास्तविक गति में, ठोस पदार्थों के आभासी सातत्य तथा तादृशता और उनके वास्तविक असातत्य तथा उनके रासायनिक घटको के वैविध्य में, हम उसी प्रकार का वैविध्य पाते हैं जिस प्रकार का कि अपना ही भला चाहने वाले स्वार्थी आत्मजीवी बगुला भगत के दिखावटी मैत्रीभाव और हमारे कल्याण के प्रति उसकी वास्तविक लापरवाही मे। इन सभी मामलो में जिस प्रेरक-हेतु के वश होकर हम उपर्युक्त प्रकार का वैषम्य ढूँढते हैं वह हेतु है अनुभूतिगत व्याघातों की स्वीकृति से बच निकलने की आवश्यकता। जब तक हमारे, विभिन्न, सीधे प्रत्यक्षण एक दूसरे से टकराते-से प्रतीत नही होते तब तक हम उन सब को ही समान रूप से सत्य और वैध मानने के लिए तैयार हो जाते है और इनकी आपेक्षिक सत्यता अथवा असत्यता का कोई सवाल ही नही उठता। लेकिन अगर हमारे सभी प्रत्यक्षण इसी तरह के होते, तो अपने और दुनिया के स्वरूप के विषय मे हमारी तात्कालिक धारणाओ मे परवर्ती सोच-विचार के बाद सुधार करने की आवश्यकता ही न होती और न तो 'गलती' शब्द के कोई अर्थ हमारे लिए होते, न विज्ञान का अस्तित्व ही होता। लेकिन जब ऐसी दो धारणायें जिन्हे हमारी ज्ञानेन्द्रियो ने प्रकटत. सदृश प्रमाणित किया हो, एक दूसरे की प्रत्यक्ष विरोधिनी पायी जायें[1] तब तर्क-सगत विचार-सरणि के मौलिक नियमो का गला घोंटे बिना हम दोनो ही धारणाओं को एक समान और समानार्थ में सत्य नही मान सकते। अपने अनुभूति-क्रम के साथ अपने विचारो की सगति बैठाने का प्रयत्न करते रहने के बुद्धि-सगत तकाजे को सदा के लिए तिलाजलि दिये बिना ऊपर लिखी स्थितियो में दोनो प्रकार की धारणाओ में महत्वपूर्ण विभेद करने के लिए हम मजबूर हो जाते है। हमे मानना ही पडेगा कि चीजे वास्तव मे सदा वैसी ही नही निकलती जैसी कि वे ऊपर से दिखाई पडती हैं और जो कुछ देखने से सत्तावान प्रतीत होता है कभी-कभी तो अवश्य ही, सत्ताहीन होता है। ऐसे ही, जिसकी सत्ता है वह हमेशा ही वैसा प्रतीत नही होता। हमारे इस प्रकार परस्पर-विरोधी दोनो प्रत्यक्षणो में से, जिस किसी को

---

१. ऐसी पहेलियो के नमूनो के लिए अफलातून की पुस्तक (रिपब्लिक) के पृष्ठ, संख्या ५२४ पर लिखे प्रकरण को देखिए, जहाँ उसने ऐसे मामलों का जिक्र किया है जिनमें हमारी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के आपसी विरोध को गिनती द्वारा सही किया गया है।

भी सबसे अच्छा माना जाय, वह एक तो अवश्य ही वस्तु-स्थिति का सही प्रतिनिधि हो सकता है। सम्भव है, उन दोनो मे से दोनो और कम से कम एक तो अवश्य ही प्रतीयमान अथवा आभासी होगा। अत ऐसी हालत मे हमारे सामने भी वही समस्या आ खडी होती हैं, जिसे प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र मे अपने-अपने तरीके से सुलझाने का प्रयत्न करता रहता है—वह है यह जानने की इच्छा कि ससार-चक्र-सम्बन्धिनी हमारी अवधारणाओ मे से कौनसी अवधारणा किस हद तक वास्तविक अथवा सत्य है और उसका कितना हिस्सा आभासी मात्र है। दार्शनिक विचार-पद्धति की तात्कालिक चेतना-विषयक इस पहेली को उभारने मे इतना महत्त्वपूर्ण भाग लेने के कारण ही अरस्तू और अफलातून ने दर्शन शास्त्र को 'आश्चर्य' सन्तान नाम दिया था और चूँकि परिवर्तन-कारिणी प्रक्रियाएँ उन चेतनाओ या अवधारणाओ को अद्भुत तथा आकर्षक रूपो मे प्रस्तुत करती रहती है, इसलिए तत्त्वमीमासा-शास्त्र मे परिवर्तन-प्रतिपाद्य का स्थान प्रमुख माना गया है।

३—तात्कालिक अवधारणाओ के सभी रूपो मे पाये जाने वाले व्याघात को विमर्श द्वारा दूर करने का काम किसी विशिष्ट विज्ञान के क्षेत्र तक ही परिमित या सीमित नही है। सभी विज्ञानो का सर्वगत कर्तव्य यही है कि वे बताएँ कि किस विशिष्ट विभाग और किस प्रयोजन के लिए किसे वास्तव या सत्य माना जाय और किसे आभास मात्र। अत विचारो की सहति और सगति स्थिर रखने विषयक हमारी सहज मनोवृत्ति को सतुष्ट करने के लिए समस्त परस्पर विरोधी या व्याघाती तत्त्वो को 'आभास' नाम देकर और उन्हे पदावनत करके ही ऐसा सभव हो सकता है। किन्तु वैज्ञानिक विचार-पद्धति जहाँ कुछ कठिनाइयाँ हल कर रही है वहाँ अपने विकास के साथ-साथ वह ऊँचे दर्जे की कुछ नयी पहेलियाँ भी प्रस्तुत कर रही है। बहुधा हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्त ही स्वय ऐसी विषमताएँ खडी कर देते है जो अजब परेशानी मे डाल देती है। उदाहरणार्थ जहाँ हमे अपनी कुछ ज्यामितीय तर्कनाओ मे वक्र को एकदम अविच्छिन्न मानने के लिए बाध्य होना पडता है वहाँ ही दूसरी तर्कनाओ मे हम उसे अनेक बिन्दुओ द्वारा बना मानते है। इसी तरह अन्यत्र भी हम कभी तो जड पदार्थीय कणो को अक्रिय और केवल बाह्यमघ द्वारा गतिमान हो सकने वाले मानने के लिए बाध्य किए जाते हैं और कभी उन्हे 'अन्तर्हित केन्द्रीय-शक्तियो से भरपूर' मानने के लिए। स्पष्ट है कि परस्पर-विरोधी ये दोनो ही दृष्टिकोण अन्तत सही नही हो सकते और इसीलिए हमे मजबूर होकर या तो संगतिपूर्वक सोच-विचार करना ही बन्द कर देना पड़ेगा या फिर इस प्रश्न का कि 'क्या यह दृष्टिकोण बिलकुल सही है या वह' का जवाब ढूँढना होगा। हमारा जवाब हाँ हो, तो फिर हमे बताना होगा कि इन दोनो मे से कौनसा एकदम सही है। इसके अतिरिक्त अध्ययन की किसी एक शाखा के सिद्धान्त

दूसरी शाखा के सिद्धान्तों के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, उदाहरणार्थ यान्त्रिक-विज्ञान में हम सिद्धान्त रूप से यह मानकर चलते है कि प्रत्येक गति किन्ही पूर्ववर्तिनी गतियों की शृंखलाओ के सघात द्वारा निर्धारित होती है किन्तु यह सिद्धान्त इतिहासज्ञो और नीतिशास्त्रियो की आधार-भूमि, मानवीय वरण की स्वतत्रता और मानवीय उद्देश्यो की वास्तविकता जैसे मौलिक तथ्यो का विरोधी प्रतीत होता है और इसीलिए हमे फिर पूछना पडता है कि यात्रिक आवश्यकता और प्राज्ञ स्वातन्त्र्य मे से कौन वास्तविक है और कौन आभास मात्र । अन्ततः कभी-कभी हमारे वैज्ञानिक विवेचनों के परिणाम हमारी गहनतम और अत्यधिक लाक्षणिक आकाक्षाओ और प्रयोजनों के प्रवल अपवादी-से प्रतीत होते है और तव इस सवाल से वचा नही जा सकता कि इन दोनो ही दृष्टिकोणो में से कौनसा वास्तविकता के अन्तरतम स्वरूप का साक्षी होने योग्य है ? परेशानी के ऐसे मामलो मे उलझनो से एकदम मुँह चुरा जाने के अतिरिक्त दो ही अन्य मार्ग हमारे लिए रह जाते हैं, या तो हम उन सवालो का जवाव मनमाने तरीके से और तात्कालिक भावना के वश होकर चाहे जिस ढंग पर दें या फिर किसी तर्कसंगत सिद्धान्त पर आधारित कोई उत्तर देने का प्रयत्न करे। यदि हम इनमें से दूसरा रास्ता अपनाते है, तो स्पष्ट है कि अपने सिद्धान्तो का सूत्रीकरण करने से पहले हमारे लिए आवश्यक होगा कि हम एक सिलसिलेवार और वेलगाव जाँच कर ले कि सत्य और आभास के प्रचलित और परिचित विभेद का हम सही तौर पर क्या अर्थ लगाते है। अर्थात् दूसरे शब्दो मे हम उन सामान्य लक्षणो की एक वैज्ञानिक जाँच करलें जिनके द्वारा न केवल अध्ययन के किसी विशेष क्षेत्र में ही अपितु सर्वत्र ही आभास मात्र और सत्य अलग-अलग पहचाने जा सके। जिनके द्वारा सत्य को वास्तविक आभास मात्र से कमोवेश अलग किया जा सके, ऐसे सामान्य लक्षणो को वता सकने वाली वैज्ञानिक परीक्षा को ही सही तौर पर तत्त्वमीमासा नाम दिया गया है। तत्त्वमीमासा ही अन्य सव विज्ञानो की अपेक्षा सर्वाधिक पद्धतीय और सार्वत्रिक तरीको से वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य का अन्तिम अभिप्राय जानना अपना कर्तव्य समझती है। वह यह भी जानना अपना कर्त्तव्य समझती है कि विश्व-प्रपच विषयक हमारे विविध वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक सिद्धान्त किस सीमा तक असली सत्य के सामान्य लक्षणो के अनुकूल हैं। इसीलिए तत्त्वमीमांसा को 'एक ऐसा प्रयत्न' कहा जाता है जिसे सभी पूर्व-प्रत्ययनों से सतर्क और उनके प्रति संशयालु वने रहना आवश्यक होता है । अन्यत्र उसे 'सगत विचार-पद्धति का एक दृढसव प्रयत्न' भी वताया गया है । जव तक हम अपने आप को थोडा-सा भी सोचने-विचारने का मौका देना चाहते रहेंगे तव तक तो 'क्या सत्य है' और 'क्या आभास मात्र है' इस तरह के सवाल उठाये विना हम रह नही सकते और इसीलिए तत्त्वमीमांसीय परिकल्पनाओं से पल्ला झाड़

कर अलग खड़े हो जाने की कोशिश करना हमारे लिए एकदम बेकार-सी बात होगी। दर असल अगर देखा जाय तो तत्त्वमीमासीय प्राक्कल्पनाओ की स्थापना करने या न करने को हम स्वतन्त्र नही हैं। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि इन प्राक्कल्पनाओ की बुनियाद या तो किसी बुद्धिसंगत सिद्धान्त के अनुसार सोच-विचार कर डालें या बिना कुछ सोच-विचार किये मनमाने तरीके से।

४—तत्त्वमीमांसक की कठिनाई विषयक इस प्रारंभिक विवरण के आधार पर हम मानवीय विचार सूत्र से निकटतम सम्बद्ध उसके अन्य रूपों और तत्त्वमीमासा के वास्तविक स्वरूप मे आसानी से विभेद कर सकेंगे, कम से कम एक अस्थायी या अनिर्णीत स्थान भी उसके लिए निर्धारित कर सकेंगे। (अ) इतना तो स्पष्ट ही है कि 'सत्य' के अनुसन्धान के विषय मे धर्म और कल्पनात्मक साहित्य, जिन दोनो ही का लक्ष्य आभास मात्र के परे जाकर तदन्तर्हित सत्य का साक्षात करना है—के साथ तत्त्वमीमासा का निकट सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिस विषय में वह उपर्युक्त धर्म तथा कल्पनात्मक साहित्य से निकटतर सम्बद्ध है वह है धर्म और कल्पनात्मक साहित्य की तरह, तत्त्व-मीमासा की परमसत्य, अथवा चरम वास्तविक विषयक तत्परता जब कि अन्य विशिष्ट विज्ञान वस्तुओ के किसी एक पहलू मे ही उलझे रहकर अन्य सब चरम प्रश्नों को जान बूझकर एक ओर हटा देते हैं। किन्तु भावना और पद्धति के विषय मे तत्त्वमीमासा धर्म और कल्पनात्मक साहित्य दोनो ही से भिन्न है। धर्म और कल्पनात्मक साहित्य के असदृश 'अस्तित्व' अथवा 'सत्य' की चरम समस्याओ का विवेचन वह शुद्ध वैज्ञानिक भावना वश ही करती है। बौद्धिक सन्तोष ही उस विवेचन का लक्ष्य होता है। उनकी पद्धति तात्कालिक अन्तरनुभूतियो अथवा अविश्लिष्ट अन्त सज्ञाओ से आकर्षित होकर चलने की नही है बल्कि वह हमारे प्रत्ययो का आलोचन और शृंखलित विश्लेषण करके ही किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। इसलिए अपने इन भावनागत गुणो और अपनी कार्यपद्धति के आधार पर तत्त्वमीमासा को विज्ञानों की कोटि मे रखा जाता है। (आ) किन्तु विज्ञानो की वे अन्य कार्य-पद्धतियाँ, जिनमे हम में अनेक लोग भली-भाँति परिचित हैं, तत्त्वमीमासा की विवेचना-पद्धति से एकदम बहुत भिन्न हैं। गणितीय विज्ञानो से उसकी पद्धति इस माने मे अलग है कि तत्त्व-मीमासा की पद्धतियाँ अपरिमाणात्मक और नि संख्य होती हैं। गणित के परिमाणात्मक और सख्यात्मक तौर-तरीकों के प्रयोग हम उन मामलो और प्रक्रियाओ में ही कर सकते है जिनमे नाप-जोख या केवल गिनती ही की जरूरत पडती है, अन्यत्र उनका उपयोग नहीं हो सकता। पर तत्त्वमीमासा को अपनी जिज्ञासाओ के बीच स्वय ही यह निर्णय करना होता है कि 'परमसत्य' या उसका कोई अग सख्यात्मक अथवा परिमाणात्मक है या नहीं, यदि है तो किस माने मे। प्रायोगिक विज्ञानों मे भी वह इस माने मे अलग है

कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र की तरह वह भी विशेष तथ्यो और घटनाओं-विषयक हमारे ज्ञान-भडार की कुछ भी वृद्धि किये विना केवल उन तरीको की ही चर्चा करती है जिनका उपयोग उस हालत मे तथ्यो और घटनाओ के अर्थ-निर्णय हेतु हमें करना आवश्यक होता है, जव कि हम संगत विचार करना चाहे। वह यह नही जानना चाहती कि किसी विशिष्ट प्रक्रिया-कुलक की किन तफसीलो को सत्य समझा जाय। अपितु वह केवल यह जानना चाहती है कि वे कौन-सी सामान्य शर्तें है जिनका अनुरूपण सव प्रकार के सत्य के निर्वारण के लिए अपेक्ष्य है, (ठीक उसी तरह जिस तरह तर्कशास्त्र किसी विशिष्ट वैज्ञानिक सिद्धान्त सम्वन्धी साक्ष्य की अर्हता पर वहस नही करता वल्कि उन सामान्य परिस्थितियो पर ही विचार करता है जिनके अनुरूप उस साक्ष्य का होना उसके निष्कर्ष की सिद्धि के लिए आवश्यक है।) इसी कारण अरस्तू ने तत्त्वमीमासा को 'यथाशक्य अस्तित्व-विषयक विज्ञान', ठीक ही कहा है। (उदाहरणत. गणित तत्त्वमीमासा का प्रतिलोमी विज्ञान है क्योंकि गणित अस्तित्व का उसी सीमा तक अध्ययन करता है जहाँ तक परिमाणात्मक या सख्यात्मक हो।)

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमासा को वास्तविकता अथवा सत्य सम्वन्वी निरा-धार पूर्व-प्रत्ययनो की खोज करने और उनसे वच निकलने के एक प्रयत्न के रूप में विचि-कित्सु अथवा सशयवादी ज्ञान भी एक माने मे कहा जा सकता है यद्यपि अपनी कार्य-पद्धति और नैतिक प्रयोजन दोनो ही के कारण वह सामान्य विचिकित्सा से वहुत भिन्न है। सामान्य विचिकित्सा की विचार-सरणि तथा कार्य-पद्धति पूर्वाग्रह अथवा कट्टरता पर आधारित होती है अर्थात् वह पहले ही से, विना किसी जाँच-पड़ताल के यह मान कर चलती है कि ऐसे दोनो ही प्रत्ययन जो परस्पर-विरोधी है अथवा ऐसे दोनों ही विचारात्मक सिद्धान्त, जो एक दूसरे से भिन्न है, अवश्य ही असत्य होने चाहिए। चूंकि इस प्रकार की विभिन्नताएँ अथवा विषमताएँ ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में पायी जा सकती है इसलिए प्रत्येक विचिकित्सावादी अथवा संशयवादी कट्टरतापूर्वक पहले ही से यह मान लेता है कि परस्पर-विरोधिनी इन प्रतीतियो के पीछे जाकर सगत वास्तविकता या सत्य तक पहुँच सकने का कोई चारा ही नही है। इसके प्रतिकूल तत्त्वमीमांसक के लिए यह मानकर चलना ही कि अनुभवगम्य पहेलियाँ अनवूझ होती तथा हमारे ज्ञान-विषयक वैषम्य असमाधेय हुआ करते है स्वयं उन पूर्वाग्रहो मे से अन्यतम होगा जिनकी जाँच करना और जिन्हे कसौटी पर कसना उसका अपना अधीतव्य है। वह आलोचनात्मक दृष्टि से उस पर विचार किए वगैर यह वताने से इनकार कर देता है कि परस्पर-विरोधी किन्ही दो विचारधाराओ मे से कौन सही है तथा यह भी कि अगर दोनो ही को गलत मान लिया जाय, तो उन दोनों में से कौन सत्य के अधिक निकट है। भले ही वह न माने कि अपनी मानवीय शक्तियो द्वारा हम सत्य की प्राप्ति कर सकते और उसे जान सकते

है लेकिन इतना तो वह मानता ही है कि सत्य की प्राप्ति तथा उसके जानने का प्रयत्न हमे अवश्य करना ही चाहिए तथा यह भी कि विवादास्पद विषय ही उस प्रयत्न की सफलता अथवा असफलता के निर्णय का अवसर हो सकता है। इसके अतिरिक्त अपने नैतिक उद्देश्य के विषय मे भी तत्त्वमीमासक हर विचिकित्सावादी से भिन्न होता है। यद्यपि पारमार्थिक पहेलियो का सामना होने पर दोनो ही अपने-अपने निष्कर्षों को निलम्बित रखना ही अपना कर्तव्य कर्म समझते है और इस माने मे एक है, तथापि इस मामले मे भी दोनो मे इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ विचिकित्सावादी ऐसे निष्कर्ष-निलम्बन तथा तदनुगत मानसिक अकर्मण्यता को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मान कर बैठ जाता है वहाँ तत्त्वमीमासक के लिए वह परिस्थिति निर्धारित सत्य की प्राप्ति के प्रयत्न का पूर्वारम्भ मात्र होती है।

५—अब वे कारण स्पष्ट हो जाने चाहिए जिनसे तत्त्वमीमासा एक कठिनतर अध्ययन का शास्त्र समझी जाने लगी है। उसकी दुरूहता का सबसे पहला और प्रधान कारण है तत्त्वमीमासा की समस्याओ का सीधा-सादा रूप तथा उनकी सामान्यता। आम तौर पर लोग समझते है कि प्रत्येक विज्ञान की विषयवस्तु का, यदि वह शब्दाडम्बर-विषयक विवादमात्र ही न हो तो, एक निश्चित रूप होना आवश्यक है। लेकिन तत्त्वमीमासक का विवेच्य विषय-'क्या है' यह बताना बडा कठिन होता है। इस कठिनाई का सामना यह कहकर ही किया जा सकता है कि 'वास्तव मे बात ऐसी ही है।' जैसा कि पहले देखा जा चुका है तत्त्वमीमासा का कुछ न कुछ लगाव हर एक प्रकार के विषय से है। इसीलिए यह कहना कि किन्ही खास तरह के लक्ष्यो को तत्त्वमीमासा की अनन्य विवेच्य वस्तु नही बनाया जा सकता, एक तरह से ठीक ही है। लेकिन इसका यह मतलब किसी तरह भी नही कि विज्ञान-निकाय मात्र का ही दूसरा नाम तत्त्वमीमासा है। इसका अर्थ तो सिर्फ इतना ही है कि चूँकि सत्य और आभास या प्रतीति के विभेद का प्रभाव हमारे ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है और वह प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान मे भी दिखायी पडता है इसलिए इस विभेद के अर्थालोचन की सर्व-सामान्य समस्या तथा उसके मूलाधार सिद्धान्तो का प्रतिपादन स्वय एक स्वतत्र विषय ही होना चाहिये। तर्कशास्त्र के साथ तत्त्वमीमासा की तुलना करने से शायद यह बात अधिक स्पष्ट हो सके। चूँकि सभी विज्ञानो के विवेचना-सिद्धान्त तथा साक्ष्य-विषयक नियम अन्ततोगत्वा एकसे ही होते हैं अत उन सिद्धान्तो और नियमो को भी एक स्वतत्र जाँच का विषय बनाना जरूरी होता है। तर्कशास्त्र तत्त्वमीमासा के समान ही सब बातों का विवेचन करता है लेकिन इस माने मे नही कि उसे मानव जाति के समग्र ज्ञान का प्रति-रूप कहा जा सके वल्कि इसी माने मे कि वह हमारी सभी प्रकार की विचार-सरणियो मे समान रूप से सामने आने वाली समस्या को हल करता है जब कि अन्य विशिष्ट

विज्ञान इस प्रकार का प्रयत्न नही करते। इन दोनो विज्ञानो यानी तर्कशास्त्र और तत्त्व-मीमासा की पारस्परिक भिन्नता के विषय का अगले अध्याय मे विवेचन किया जायगा।

तत्त्वमीमासा के सार्वत्र स्वरूप के कारण विशिष्ट मनोवृत्ति के कुछ लोगो के लिए तत्त्वमीमासीय समस्याओ के अध्ययन में गभीर बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः उन छोटे किस्म की कठिनाइयो का यहाँ जिक्र कर देना जरूरी है। तत्त्वमीमासा के अध्ययन में कल्पना के सहायक वे अक तथा आकृतियाँ जो गणित की अनेक शाखाओं मे इतनी उपयोगी सिद्ध होती है—हमें उपलब्ध नही रहती। साथ ही साथ उसकी समस्याओ के स्वरूप और प्रकृति के कारण भौतिक परीक्षणो से भी हम वचित रहते है। वहाँ तो अन्य किसी भी प्रकार की सहायता के बिना ही केवल विचारात्मक प्रयत्न द्वारा यानी सब अवधारणाओ के कठोर तथा पद्धतिबद्ध मानसिक विश्लेषण द्वारा ही हमें अन्तिम निष्कर्षों तक पहुँचना होता है। इसीलिए सभी विज्ञानो मे तत्त्वमीमासा ही एक ऐसा विज्ञान है जिसके विद्यार्थी को एकान्त कठोर तथा सतत विचार करने की क्षमता होना आवश्यक होता है। तर्कशास्त्र के लिए भी ऐसी क्षमता अपेक्षित होती है। इससे यह समझना आसान हो जाता है कि गणितीय तथा अन्य परीक्षणात्मक विज्ञानो के क्षेत्र मे उत्कृष्ट कार्य कर सकने मे समर्थ व्यक्ति भी तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे कभी-कभी क्यो असमर्थ सिद्ध होते है तथा यह भी कि तत्त्वमीमासा के क्षेत्र में उत्कृष्ट सामर्थ्य-वान व्यक्ति अन्य विज्ञानो के निष्कर्षों तथा पद्धतियो के गहन पारखी क्यो नही होते।

६—अब यहाँ उन एक-दो आपत्तियो पर विचार करना उचित होगा, जो तत्त्वमीमासा के अध्ययन के बारे में प्राय प्रस्तुत की जाती है। यह अक्सर कहा जाता है कि (१) प्रकृतित तत्त्वमीमासीय ज्ञान का अस्तित्व ही असभव है। अथवा (२) यदि अस्तित्व सभाव्य भी हो तो उसका अध्ययन निरर्थक और अनावश्यक है क्योकि अन्य विज्ञान तो है ही। साथ ही साथ अपने व्यावहारिक अनुभव द्वारा भी जितने सत्य की अपेक्षा है, वह, हमे प्राप्त होता रहता है। इसके अतिरिक्त (३) यह भी है कि तत्त्वमीमासा सब तरह से अप्रगतिशील है और उसके प्रतिपाद्यो के बारे में जो कुछ भी कहने योग्य था वह आज से बहुत पहले ही कहा जा चुका है। अब इन सब आपत्तियो या आक्षेपो में से यदि एक भी सचमुच सही हो, तो तत्त्वमीमासा का अध्ययन करना वास्तव मे अपना समय बरबाद करना ही होगा। इसलिए आगे बढने से पहले ही हमे यह जान लेना चाहिए कि इन एतराजो में कितना जोर है। (१) इस आपत्ति का कि 'तत्त्वमीमासा स्वभावत एक असभाव्य विज्ञान है' सही जवाब सिद्धान्त रूप से वह ही हो सकता है जो लोकविश्रुत कहावत 'बिनु परखे नहि होइ प्रतीती' के रूप मे प्रसिद्ध है। जोरशोर से इस तरह का एतराज उठाने वाले लोगो मे से बहुत कम ही ने

शायद कभी अपने कथन को गभीरतापूर्वक परखने का कष्ट उठाया हो । जो लोग इस तरह की परख करने की तकलीफ गवारा नही करना चाहते उन्हे इस तरह के प्रयत्न की जरूरत भी नही है। लेकिन ऐसी हालत मे अपने से भिन्न मत रखने वालो के खिलाफ फैसला देने का हक भी उन्हे नही है। फिर भी तत्त्वमीमासा-विरोधी यह पूर्वाग्रह इतना अधिक प्रचलित हो गया है और इतनी तरह की शक्लो मे सामने आता है कि उसके थोथेपन को विशद रूप से प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) कहा जाता है कि तत्त्वमीमासा इसलिए असभाव्य है कि उसके प्रतिपाद्य स्वय अपनी प्रकृति के कारण असाध्य होते हैं। अर्थहीन प्रतिपाद्यो का कोई बुद्धिगम्य हल नही हो सकता और यह स्वाभाविक भी है। मौके वे मौके यह बात सिर्फ कही ही नही जाती बल्कि वक्रोक्तिपूर्वक सुझायी भी जाती है कि तत्त्वमीमासा के प्रतिपाद्य निरर्थक ही होते हैं। लेकिन तत्त्वमीमासक के प्रतिपाद्यो को अर्थहीन कहने का मतलब तो यह है कि सत्य और आभास मात्र मे विभेद करने का जो प्रयत्न हम सब लगातार करते रहते है वही निरर्थक है। इस विभेद का यदि कोई अर्थ है तो यह ही कि उपर्युक्त प्रतिपाद्य स्पष्टत ऐसा आवश्यक और उचित प्रतिपाद्य है जिसके जरिये सत्य और आभास को एक दूसरे से अलग करने वाले लक्षण जाने-पहचाने जा सकते हैं। उपर्युक्त प्रतिपाद्य को सिद्ध कर सकने के हमारे अधिकार पर ऐसा प्रतिपक्षी ही आक्षेप कर सकता है जो यह सिद्ध करने को तैयार हो कि उपर्युक्त विभेद के द्योतक व्याघात स्वय ही वस्तु-विषयक ध्रुव सत्य है। यह दृष्टिकोण प्रतिरक्ष्य हो या न हो किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि वह ऐसा नही है जिसे स्वयम्सिद्ध के समान बिना ननुनच के स्वीकार किया जा सके । वह तो प्राथमिक नियमों का एक ऐसा तत्त्वमीमासीय सिद्धान्त है जिसकी प्रतिरक्षा, आवश्यकता होने पर 'सत्य' और 'सत' नामक प्रत्ययनो के विशद तत्त्वमीमासीय अर्थ-विश्लेषण द्वारा करनी होगी। इसके अतिरिक्त यदि उपर्युक्त आपत्ति वैध मान ली जाय, तो उससे जहाँ हमे तत्त्वमीमासीय विज्ञान के विरुद्ध बहुत कुछ सुनने को मिल सकता है, वहाँ परीक्षणात्मक तथा गणितीय विज्ञानों के विरुद्ध बहुत कुछ जानने को मिलेगा। यदि कोई स्वय विरोधी कथन सत्य हो सकता है तो फिर कोई ऐसा बुद्धिगम्य आधार नही रह जायगा जिस पर खड़े होकर हम विश्व-सम्बन्धी सगत और वैज्ञानिक सिद्धान्तो को पागलपन तथा अन्धविश्वासो के निबिड स्वप्न-जाल पर तरजीह देने का साहस कर सकें और निम्नलिखित उभयसम्भव से बच निकलने का कोई रास्ता ही हमारे लिए न रह जायगा। हमे मानना ही होगा कि या तो सत्ता और आभास मात्र मे पहचान करने का कोई बुद्धिगम्य और तर्कानुगत आधार ही नही है तथा इस कारण सभी विज्ञान भ्रान्ति मात्र है अथवा ऐसा विभेद कर सकने का कोई तर्कसंगत आधार यदि है भी तो तर्कशास्त्रानुसार उस विभेद के सिद्धान्त की जाँच करनी

पडेगी तथा इस प्रकार तत्त्वमीमासीय प्रतिपाद्यों का ही सामना करना पडेगा ।[1]

(आ) इसी आपत्ति को कभी-कभी निम्नलिखित रूप मे भी पेश किया जाता है। कहा जाता है कि मानवीय ज्ञान की योजना मे तत्त्वमीमासा को कोई स्थान नही दिया जा सकता क्योंकि 'सत्य' अथवा वास्तविकता-विषयक जितनी भी जिज्ञासाएँ अथवा प्रतिपाद्य प्रस्तुत किये जा सकते है उन्हे किसी न किसी विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है। ऐसा एक भी तथ्य नही है जिसे किसी न किसी विज्ञान की परिधि मे न रखा जा सके। अत. उन अनुसन्धानो के अतिरिक्त जिनसे विविध विज्ञानों का निर्माण होता है अन्य कोई भी अनुसन्धान शेष नही रह जाते जिन्हे मिलाकर तत्त्वमीमासीय अनुसन्धानों की शृखला खडी की जा सके। जहाँ अनुसधानार्थ तथ्य मौजूद हों और बुद्धिगम्य प्रश्न पूछे जा सके वहाँ ही विज्ञान का क्षेत्र मौजूद हो जाता है। ऐसा दावा लोग करते है। जहाँ ऐसी स्थिति न हो वहाँ ज्ञान का अस्तित्व भी नही रह सकता, यह भी उनका कहना है। इस तरह की तर्कना को चाहे जितने युक्तियुक्त रूप मे प्रस्तुत किया जा सके, उसकी तर्कभासिता आसानी से देखी जा सकती है। शुद्ध तर्कशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो जिज्ञासु के प्रश्न की सत्यता पहले से ही स्वीकार कर लेने का तर्काभास उस युक्ति मे ऊपर से ही दिखायी देता है क्योंकि इस तर्कना मे पहले ही यह मान लिया गया है कि दुनिया विज्ञान शब्द के पर्याय के रूप मे जो स्वीकार कर चुकी है उस माने मे 'विज्ञान' नाम की कोई चीज ही नही है—यानी उन परीक्षणात्मक विज्ञानों के सिवाय, जिनका लक्ष्य तथ्यों का सग्रह करना और उन्हे पद्धतिवद्ध करना मात्र होता है, कोई अन्य आतर्कित सत्यों का निकाय है ही नही—और यही बात तत्त्वमीमासकों तथा उनके आलोचकों के बीच विवाद का विषय है । तत्त्वमीमासक यह नही कहता कि ऐसे तथ्य मौजूद हैं जिनका उपयोग विशिष्ट विज्ञानों की विभिन्न शाखाएँ नही कर पाती वल्कि वह इस वात पर जोर देता है कि उन तथ्यों के अतिरिक्त जिनका सरोकार उन विज्ञानों से है तथा जिनका हल परीक्षणात्मक जॉच के जरिये निकाला जा सकता है, ऐसे भी प्रश्न मौजूद है जो उन तथ्यो के वारे मे उठाये जा सकते है और उठाये जाने चाहिए। ससार-सरणि के किसी नियत भाग के वारे मे सही तथ्यों की उपलब्धि की वात वताने का काम विशिष्ट विज्ञानों के ही जिम्मे छोड कर तत्त्वमीमासक तो सिर्फ यह ही कहता है कि उन तथ्यों के जान लेने के वाद भी हमे इस सर्वसामान्य प्रश्न का उत्तर नही मिलता कि 'सत्य'

---

१. देखिए एफ० एच० ब्रैडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' पृ० १–४ ।

और 'तथ्य' वास्तव मे क्या हैं और आम तौर पर 'सत्य' और 'असत्य' मे पहचान कैसे की जा सकती है। अगर इस तरह का सवाल उठाना किन्ही घटनाओं और प्रक्रियाओ को विज्ञान के क्षेत्र से निकाल बाहर करना कहा जाय तो यह विवादास्पद प्रश्न को पेश करने का एक गलत तरीका ही होगा। प्रसगत इतना और कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आपत्ति से प्रकट होता है कि विविध विज्ञानो के बीच सही विभेद कर सकने के सिद्धान्त को आपत्ति करने वालो ने ठीक तरह समझा ही नही है। विभिन्न विज्ञानो मे मौलिक विभेद इस कारण नही है कि वे सत्य या वास्तविकता की दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों या विभागों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। वह विभेद तो इसलिए है कि वे उस दुनिया के उन सभी रूपो के समग्र को—जो विभिन्न पहलुओ से पेश किए जा सकते हैं—अपनी विषय-वस्तु बनाये हुए हैं। वे इसलिए एक दूसरे से भिन्न नही है कि उनका सरोकार तथ्यो के विभिन्न समूहों से है बल्कि वे एक दूसरे से इसलिए नही मिलते-जुलते चूँकि तथ्यों को वे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। इसलिए उदाहरण के तौर पर यह मान लेना गलत होगा कि भौतिकी, शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान इसलिए एक दूसरे से भिन्न है क्योंकि उनमे से प्रत्येक का तथ्य-समूह-विषयक अध्ययन अलग-अलग है। हो सकता है कि अधीन तथ्य अधिकाशत एक ही से हों किन्तु उन विज्ञानो का पारस्परिक विभेद इसी कारण जाना जाता है कि प्रत्येक के अध्ययन का दृष्टिकोण एक ही प्रकार के तथ्यों के विषय मे भिन्न-भिन्न है। इस तरह देखने पर प्रत्येक ऐच्छिक गति को उपर्युक्त तीनो विज्ञानो के दृष्टिकोण से तीन रूपो मे पेश किया जा सकता है यानी भौतिकी के अन्तर्गत द्रव्यकणो के विस्थापनों की शृखला की एक कडी के रूप मे, शरीरविज्ञान के अन्तर्गत मस्तिष्कीय वल्क-केन्द्र से उद्भूत पेशीय आकुचनो के एक निकाय के रूप मे तथा मनोविज्ञान के अन्तर्गत किसी उद्भूत इच्छा की तृप्ति के रूप मे। अत तत्त्वमीमासा 'विज्ञान' क्षेत्र के बाहर के कुछ तथ्य-निकायो का अध्ययन करने का दावा नही करती बल्कि वह उसी क्षेत्र के अन्तवर्ती उन्ही तथ्यो पर परीक्षणात्मक विज्ञानो द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करती है। ऐसा कर सकने के उसके दावे को तभी झुठलाया जा सकता है जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि परीक्षणात्मक विज्ञानो के दृष्टिकोणो के अलावा उन तथ्यो पर विचार करने का बुद्धिसंगत अन्य कोई मार्ग नही है जैसा कि उपर्युक्त आपत्ति पेश करने वाले पहले ही से माने बैठे हैं।

(इ) यद्यपि तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यो की आन्तरिक बोधगम्यता आम तौर पर स्वीकार कर ली गयी है फिर भी उन प्रतिपाद्यों को हल कर सकने की हम तत्त्वमीमासकों की क्षमता से इनकार किया जाता है। कहा जाता है कि ऐसे तथ्यों का अस्तित्व संभाव्य है, जो आभास मात्र से कुछ अधिक हों लेकिन अपनी मानवीय शक्तियों के बल पर हम उनके विषय मे किसी तरह भी कुछ नही जान सकते। हमारा

सारा ज्ञान आभासों तक ही सीमित है । इन आभासों को प्राय. प्रपंच[1] भी कहा जाता है। इन प्रपचों के परे जो कुछ है उस तक हमारी पहुँच ही नही है। वह क्या है? कैसा है? इस बारे मे दिमाग लड़ाना अपना समय नष्ट करना ही है। इसलिए प्रपंचों के अन्त सम्बन्ध की एकरूपता तथा तत्सम्बन्धी सामान्य नियमों की खोज से ही हमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिये तथा उनके वास्तविक आधार की समस्या को असमाधेय समझ कर त्याग देना चाहिए । तकनीकी तौर पर घटना-क्रिया-विज्ञान नाम से ज्ञात यह सिद्धान्त आजकल अत्यधिक जनप्रिय हो रहा है । ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी यह प्रसिद्धि अधिकतर, नकारात्मक तत्त्व को काण्ट के तत्त्वदर्शन द्वारा अपूर्ण रूप मे आत्मीकृत कर लेने के कारण हुई है । दार्शनिक सिद्धात के रूप मे उसके गुणो और अवगुणो का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। अभी तो तत्त्वमीमासा को विज्ञान न मानने विषयक आपत्ति के रूप मे उसका सागत्य ही इस सिलसिले मे कही नही बैठता। इस बात के समर्थक स्वय ही न केवल अपने ही अभ्युपगमो का परस्पर व्याघात लगातार करते हैं (उदाहरण के तौर पर, जहाँ वे कहते हैं कि चरम सत्ता अथवा ध्रुव सत्य के बारे मे कुछ भी जान सकना सभव नही है, वहाँ उसके साथ वे यह भी जोड़ देते है कि सभी 'प्रपच' सामान्य नियमो द्वारा परस्पर सबद्ध है और यह एक ध्रुव चरम सत्य है। अथवा जब वे इसके साथ ही यह कहते है कि प्रकृति का क्रम निरपवाद रूप से एकरस प्रवाहित होता है) । उपर्युक्त प्रकार की मान्यता स्वय ही परस्पर-व्याघात के दोष से युक्त है। उनके इस कथन के कि वे 'प्रपच' अथवा घटना-क्रिया को जानते हैं तब तक कोई माने नही है जब तक कि उन्हे चरम सत्यों का कम से कम इतना ज्ञान न हो जाय कि वे निश्चयपूर्वक कह सकें कि वे सत्य जाने नही जा सकते । प्रपंचवादी (फिनामिनलिस्ट) कम से कम एक तर्कवाक्य को निरपेक्ष और चरम सत्य रूप मे स्वीकार करने के लिए वचन-बद्ध होता है और वह वाक्य है 'मैं जनाता हूँ कि जितना ज्ञान मुझे है वह आभास ही है ।' दर्शनशास्त्र के इस वाक्य के अशदान के बारे मे

---

१. 'प्रपंच'—अपने उन पाठकों से जिनके लिए यह विषय (तत्त्वमीमांसा) नया हो—यह कहने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ कि जब 'तथ्यो' और प्रक्रियाओ के मौलिक रूप से यह अभिप्रेत हो कि वे वास्तविक 'सत्य' नहीं है बल्कि अशतः भ्रामक सत्य मात्र हैं तब उन्हे 'प्रपंच' नाम देना ही उचित है। 'सत्य' तो प्रपंचहीन अथवा परा-प्रपंच होता है। (अच्छा हो अगर हम परा-प्रपचीय, को 'नामिनल' अथवा प्रपंच विपर्यास कहने की गर्वोक्तिपूर्ण गलती न करें ।

नोट—काण्ट ने इस तरह का आस्फालन किया है । लेखक का इशारा उसी ओर है । (अनुवादक)

हमारा चाहे जो ख्याल हो लेकिन उन सारभूत तत्त्वों के लिए जिनकी सत्यता अथवा असत्यता का पता लगाना तत्त्वमीमासीय विवेचना का प्रधान विषय है—वह एक निर्णायक सिद्धान्त ही है। इसलिए जिन युक्तियों द्वारा तत्त्वमीमासा की असम्भाव्यता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है वे सब तत्त्वमीमासीय प्रतिपाद्य[1] की वैज्ञानिक जांच की आवश्यकता का निरपेक्ष्य साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

७—पिछले अनुच्छेद के प्रारम्भ मे उल्लिखित तर्कों मे से अवशिष्ट अन्य दो तर्कों पर यहाँ एक बार फिर सक्षेप मे विचार किया जा सकता है। उस आपत्तिकर्ता को जिसने दावा किया है कि यदि तत्त्वमीमासा का अस्तित्व सभव भी हो तो भी वह इसलिए निरर्थक है कि विज्ञान तथा दैनिक जीवन के अनुभव दोनो ही विश्व-विषयक ऐसा सगत सिद्धात पहले से ही हमारे लिए प्रस्तुत करते रहते है जिसमे किसी प्रकार के व्याघात नही है—हम नीचे लिखे जवाब दे सकते हैं कि :—

(अ) पहले तो उसका यह उपर्युक्त कथन ही सन्देहास्पद है क्योंकि विज्ञान को लोकप्रिय बनाने वाले लोग तत्त्वमीमासीय सिद्धातो की रचना के विषय मे चाहे जो कहे लेकिन गणितीय तथा परीक्षणात्मक हर एक विशिष्ट शाखा के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि प्राथमिक सारतत्व-विषयक चरम प्रश्न उनके विज्ञान की परिधि के बाहर की वस्तु है। वे चेतावनीपूर्वक हमे स्मरण दिलाते हैं कि प्रत्येक प्रकार के विज्ञान का क्षेत्र कुछ विशिष्ट मान्यताओ द्वारा परिमित हुआ करता है और जो कुछ भी उन पारम्परिक परिधियो के भीतर नही समाता उसे अस्तित्वहीन मानकर चलना ही तत्सबद्ध विज्ञान के लिए आवश्यक होता है। इसी आधार पर गणितशास्त्र का क्षेत्र सिद्धात, सख्याओ और राशियो से युक्त समस्याओ के विवेचन तक ही सीमित माना जाता है। किसी गणितशास्त्री से एक गणितज्ञ की हैसियत से यह नही पूछा जा सकता कि क्या ऐसे भी सत्य मौजूद है या नही जो स्वभावत सख्याविहीन और राशि-रहित[2] हो। यदि ऐसे सत्य मौजूद भी हो तो कोई गणितशास्त्री अपने शास्त्र की मौलिक मान्यताओ के कारण उन पर विचार करेगा ही नही। यही बात भौतिकी के साथ भी है। यदि उसका दर्जा घटाकर उसे केवल शुद्ध गतिविज्ञान ही समझ लिया जाय, तो देश तथा काल के आयामो से सबद्ध विस्थापन मात्र ही उसका विवेच्य विषय होगा। पर उसके हाथ मे ऐसे कोई साधन नही है जिनके द्वारा पता लगाया जा सके कि अन्य सत्यों मे भी उपर्युक्त आयाम पाये जाते हैं या नही। विभिन्न विज्ञानों द्वारा स्वय

---

१. देखिये—अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी, अध्याय १२ पृ० १२१ (एडी० १)

२ उदाहरणतः, जैसा कि कुछ मनोविज्ञानियों का ख्याल है सभी मनोदशायें राशिविहीन होती हैं।

ही चरम सत्य-विषयक ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध होता रहता है इस सिद्धात को उसके गहरे प्रतिपादकों ने स्वय ही त्याग दिया है और उनके ऐसा करने के लिए उपयुक्त कारण भी मौजूद है। उपर्युक्त प्रतिपादक वास्तव मे उस कथन के प्रतियोगी सिद्धात से प्रायः इतने प्रभावित हुए है कि उन्होने पूर्वाग्रहपूर्वक विश्वास कर लिया है कि चरम सत्य जाना नही जा सकता यानी वह अज्ञेय है।

(आ) इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले भी दर्शाया जा चुका है भौतिकीय विज्ञान के निष्कर्ष हमारे दैनन्दिनीय क्रियात्मक अनुभवो से उद्भूत उन विश्वासो तथा उच्चाकाक्षाओ से कभी मेल नही खाते जो काव्यो और धर्मग्रन्थो के वाक्यसूत्रो का रूप धारण कर लेती है वल्कि एक दूसरे का गहरा विरोध करते से ही प्राय: प्रतीत होते है। जहाँ हमारे वैज्ञानिक निष्कर्ष हमे एक दिशा को मार्ग-निर्देश करते है वहाँ हमारे अनुभवजन्य गहरे नैतिक तथा धार्मिक विश्वास दूसरा ही रास्ता दिखाते है। ऐसी हालत मे स्वाभाविक ही है कि हमारे मन मे शका उत्पन्न हो और हम यह पूछ बैठने के लिए मजबूर हो कि यह विरोध वास्तविक और सही है या केवल विरोधाभास ही है तथा यह भी कि यदि उसे सही मान लिया जाय तो अन्यान्य विरोधी इन दोनो अनुभवों को किस हद तक प्रामाणिक माना जा सकता है। तव तत्त्वमीमासीय विवेचन के अतिरिक्त और कोई तरीका उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर पाने का नही वच रहता।

(इ) किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान द्वारा प्राप्त मार्गदर्शन और नीति तथा धर्ममार्ग के क्रियात्मक अनुभवो की शिक्षा मे किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नही है और दोनो मिलकर विश्व-क्रम सम्वन्धी एक अन्तिम और सगत सिद्धात प्रस्तुत करते है, तो भी जव तक हम परम सत्य के सामान्य लक्षणो को न जान ले और यह भी कि विविध विज्ञानो द्वारा प्रकल्पित सत्य मे वे गुण या सामान्य लक्षण सचमुच मौजूद है या नही तथा सावधानी से विश्लेषण करके इसका निश्चय भी न कर ले तव तक हमे कोई अधिकार नही कि हम उपर्युक्त सिद्धात के सही होने की घोषणा कर सकें। इसके अतिरिक्त यदि अन्त मे यही सावित हो कि तत्त्वमीमासा परम सत्य-विषयक कोई नया दृष्टिकोण नही पेश कर सकती वल्कि पुराने ख्यालो या सिद्धातों की पुष्टि मात्र ही करती है, तो भी एक तत्त्वमीमासक की हैसियत से हमे इतना फायदा तो है ही कि जहाँ पहले जमाने मे हम कल्पना मात्र कर सकते थे वहाँ वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का मौका अव हमे मिलने लगा है।

८—दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करके तत्त्वमीमासा के अप्रगतिशील होने विषयक वार-वार उठाये जाने वाले आक्षेप को गलत और अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। एक तरह से देखा जाय तो तत्त्वमीमांसा के प्रतिपाद्य प्रायः एक-से ही होते है। लेकिन दूसरे विज्ञानो के प्रतिपाद्यो के बारे मे भी यह वात इसी तरह सही

है। इन प्रतिपाद्यो को हल करने के तरीके और उनसे प्राप्त होने वाले निष्कर्षों की पर्याप्तता विज्ञान के युगयुगीन सामान्य विकास के साथ बदलती रहती है। तत्त्वमीमासा की परि-कल्पना विज्ञान की सामान्य ऐतिहासिक प्रगति को सदा ही प्रभावित करती रही है। इसी प्रकार विज्ञान की प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रगति से तत्त्वमीमासा का विकास-क्रम भी प्रभावित होता आया है। सत्रहवी सदी मे पुनरुज्जीवित यात्रिक विज्ञान-विषयक अभिरुचि तथा उस ओर हुई महत्वपूर्ण उन्नति उस शताब्दी की अपनी विशेषता मानी गयी है। इस अभिरुचि और उन्नति का डेकार्टे की दार्शनिक पद्धति तथा उसके निष्कर्षों के निर्धारण मे सब से ज्यादा योगदान रहा है। इसी प्रकार उसी युग मे आविष्कृत गणितीय कलना, गति-विज्ञान द्वारा स्वीकृत गतिज-सिद्धात तथा भ्रूण-विज्ञान विषयक ल्यूवेनहोइक की सम-सामयिक खोजों के वैज्ञानिक प्रभावों ने लीबिनिट्ज़ के तत्त्वदर्शन को अछूता नही छोड़ा, उनका उस पर बहुत गहरा असर पडा। अपने ही जमाने को ले लीजिए जिस की विगत अर्ध-शताब्दि की तत्त्वमीमासीय परिकल्पनायें इस युग के ऊर्जा-अविनाशित्व तथा क्रमिक-विशिष्टीकरण द्वारा विभिन्न जातियो की उत्पत्ति सम्बन्धी दो महान् वैज्ञानिक सिद्धातो के आस-पास ही लगातार मडराया की है। तत्त्वमीमासक अगर चाहे भी तो वह समग्र विश्व-विषयक अन्तिम परिकल्पनाओं के स्वरूप को प्रभावित करने वाले महान्तम सम-सामायिक आविष्कारों की अनुमिति से न तो बच ही सकता है और न बच सकने मे समर्थ होते हुए भी बच निकलने के लिए स्वतत्र ही है। इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र मे हुई प्रत्येक नयी मौलिक प्रगति के बाद उस नयी खोज को देखते हुए पुराने तत्त्वमीमासीय प्रतिपाद्यो को नये रूप मे प्रस्तुत करना और उन पर पुनर्विचार करना जरूरी होता है।[1]

इस भूमिकात्मक अध्याय मे रहस्यवाद[2] नाम से ज्ञात अत्यधिक विसारित मानसिक प्रवृत्ति तथा तत्त्वमीमासक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे एकाध शब्द लिखना उचित होगा। आभासीय मायाजाल के परे वर्तमान परम ध्रुव सत्य तक पहुँच

---

१. विज्ञान की सर्वसामान्य प्रगति के सहगामी तत्त्वमीमांसीय विकास के गंभीर ऐति-हासिक संबंधो की जानकारी के लिए इस विषय के अध्येता को होल्डिंग लिखित 'आधुनिक दर्शनशास्त्र का इतिहास' (अंग्रेजी अनुवाद, मेकमिलन द्वारा दो भागो मे प्रकाशित) पढ़ना अत्यन्त लाभदायक होगा। लेखक ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

२. इस विषय के विशद विवेचन के लिए देखिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम व्याख्यान माला, व्या० ३ व ४ तथा पूर्वोल्लिखित पुस्तक का खंड ४, अध्याय ६ भी।

सकने का जहाँ तक सवाल है, वहाँ तक रहस्यवादी का मूलभूत लक्ष्य वह सत्य ही है। तत्त्वमीमांसक भी इस विषय मे उसका ही साथी है। दोनों का लक्ष्य वह सत्य ही है। दोनो के लक्ष्य की इस आंगिक एकरूपता के होते हुए भी दोनों की कार्य-विधियों में बहुत बडा अन्तर है। शुद्ध रहस्यवादी जहाँ एक बार उस सत्य के सान्निध्य मे पहुँच पाया भले ही वह जहाँ कही मिले—वहाँ से ही इस मायामय आभासी दुनिया से उसका नाता टूट जाता है और उसमे उसे कोई अभिरुचि बाकी नही रह जाती । आभास को वह एकदम असत्य और परिणामत. अस्तित्वरहित मानता है। सत्य-विषयक विवेचनाओ के कारण जाग्रत उसकी विशिष्ट भावनाओं का वैशिष्ट्य सत्य के आभास अथवा माया की अनित्यता संबधी विभेद पर ही आधारित रहता है। इसलिए शुद्ध रहस्यवाद का रुख एकदम नकारात्मक होता है। लेकिन इसके विपरीत तत्त्वमीमासक का कर्त्तव्य तब तक भी अधूरा ही रहता है जब तक वह माया या आभास मात्र का अतिक्रमण करके (भले ही वह इसके लिए चाहे जिस उपाय का अवलम्बन करे) सत्य-विषयक अपने नवाविष्कृत सिद्धात की छाया मे उस आपेक्षिक सत्य का पता न लगाले जो विश्व की प्रकृति से सबधित अधूरी और अपूर्ण प्रकल्पनाओं मे छिपा रहता है। साथ ही साथ उसे उन विभिन्न आभासों का उनके साथ सत्य के नैकट्य के अनुसार क्रमबद्ध करने का काम भी बाकी रह जाता है। उसे न केवल इतना ही दिखाना जरूरी होता है कि सत्य किन लक्षणों द्वारा जाना-पहिचाना जा सकता है तथा यह कि आम तौर पर जिन चीजो को सत्य अथवा नित्य मान लिया जा चुका है, उन्हे दार्शनिक दृष्टि से आभास मात्र अथवा मायाजन्य मानना क्यों आवश्यक है, बल्कि उसे यह भी साबित करना होता है कि प्रत्येक आभास कहाँ तक अपनी आधारभूत सत्ता का सच्चा स्वरूप प्रकट करने मे सफल हुआ है। परम सत्य-विषयक अभिवृत्ति के मामले मे ही रहस्यवादी और तत्त्वमीमासक के दृष्टिकोण एक दूसरे से साफ तौर पर अलग-अलग होते हैं। रहस्यवादी का लक्ष्य मूलत. भावना-प्रधान होता है बौद्धिक नही। वह तो सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसे मन सन्तोष प्राप्त हो और ऐसी संतुष्टि वह किसी ऐसी वस्तु से ही तुरन्त प्राप्त कर सकता है, जिसे अंतिम तथा ध्रुव रूप से सत्य मान लिया गया हो । इसलिए जब वह अपनी भावनाओं को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहता है तब सदा प्रतीकवाद की अस्पष्ट और काल्पनिक भाषा का प्रयोग करता है । यही ऐसी भाषा है जो तत्क्षणीय और अविश्लेषित भावनाओं के प्रकट करने के लिए उपयुक्त है क्योंकि भावनाएँ तर्कसगत रूप मे शब्दों द्वारा प्रकट नही की जा सकती । उनके लिए प्रतीकपरक भाषा ही उपयुक्त होती है। लेकिन तत्त्वमीमासक के लिए बौद्धिक संगति प्राप्त करना ही जिसका उद्देश्य है, प्रतीकपरक भाषा अनुपयुक्त होती है।

प्रतीक सदा से ही बुद्धि के लिए सकट के स्रोत रहे हैं। अगर कोई इसलिए

प्रतीकों का उपयोग करता है कि उनके द्वारा वह कोई ऐसी बात प्रकट करना चाहता है जिसे वह पहले ही अच्छी तरह समझ चुका है, तो इसका मतलब यह होगा कि वह एक स्पष्ट बात को अस्पष्ट चिह्न द्वारा प्रकट कर रहा है। अगर वह चाहे, तो उसे वैज्ञानिक भाषा द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। लेकिन तब इसका मतलब भी एक स्पष्ट बात को अस्पष्ट चिह्न द्वारा कहना मात्र होगा। परन्तु यदि वह उन प्रतीकों का उपयोग रहस्यवादियों की सामान्य प्रथा के अनुसार किसी ऐसी बात को प्रकट करने के लिए, जिसे वह स्वयं समझ नहीं पाता, करता है, तो उस प्रतीक या चिह्न की ही ऊपरी परिशुद्धि के मुलम्मे की चकाचौंध से वह इतना चौंधिया जायगा कि भाषान्तर विषयक उसके भीतरी खोखलेपन को वह देख न पायेगा और निश्चय है कि ऐसी बात अरिष्टजनक होगी। इसीलिए प्लोटिनस और स्पिनोज़ा तथा किसी हद तक हीगेल जैसे बड़े से बड़े तत्त्वज्ञ प्रसिद्ध हैं—स्वयं रहस्यवादी होते हुए भी बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक विचार-सरणि को ही अपनी दार्शनिक कार्य-पद्धति का माध्यम बनाया था। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी संभवतः सही है कि सतत और चिरन्तन के परिवेक्षण द्वारा प्राप्तव्य भावनात्मक परितुष्टि संबन्धिनी, रहस्यवादी की आवश्यकता के अलावा मानव-बुद्धि का झुकाव भी, कोरे गुणपरक तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र के अनुशीलन की अपेक्षा कुछ कम रूखे-सूखे तथा अधिक रुचिकर क्षेत्रों की ओर ही हुआ करता है। दार्शनिक का अन्तिम उद्देश्य भी उसी लक्ष्य तक पहुँचने का होता है जिस तक रहस्यवादी पहुँचने का यत्न करता है। लेकिन दोनों में अन्तर केवल इतना ही होता है कि जहाँ तत्त्वज्ञानी बौद्धिक परिवीक्षण द्वारा उस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है वहाँ रहस्यवादी भावनात्मक परितुष्टि मात्र को ही लक्ष्य प्राप्ति मान बैठता है। तत्त्वज्ञानी का बुद्धिपरक मार्ग ही उसकी अपनी विशिष्टता है।

९—कार्यक्षेत्र की सार्वत्रता तथा कार्यपद्धति की विश्लेषणपरता के आधार पर ही हम तत्त्वमीमांसा की तुलना तर्कशास्त्र से अनेक बार कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही बताना है कि दोनों विज्ञानों का अन्तर किन बातों में है। इसका संक्षिप्त विवरण ही हम यहाँ देंगे। दर्शनशास्त्र के इतिहास में सुविख्यात और अब तक अलुप्त प्राय एक ऐसा सिद्धांत भी है जिसके अनुसार इन दोनों शास्त्रों में कोई विभेद सम्भव नहीं माना जा सकता। हीगेल यह मानता था कि जिस पदक्रम से मानव मन क्रमशः कम पर्याप्त से अपेक्षाकृत अधिक पर्याप्त की ओर अग्रसर होता हुआ, वास्तविकता अथवा सत्य के चरम रूप तक जा पहुँचता है वे पद आवश्यक रूप से, पदात्पदत उस प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं जिसके द्वारा प्रापंचिक आरोह-क्रमानुसार सत्य सदावर्धमान पर्याप्तता में परिणत हुआ करता है। अतः हीगेल-पद्धति के अनुसार सत्य या वास्तविकता विषयक सामान्य लक्षणों का विवेचन तथा अनुमिति विषयक सामान्य रूपों

। निर्धारण दर्शनशास्त्र के ही एक विभाग तर्कशास्त्र के अन्तर्गत आता है । कि
सके इस दृष्टिकोण से हमारे सहमत न हो सकने का आशय इस विवेचना को वर्तमा
थति मे ठीक तरह और भली-भाँति बोधगम्य नही बनाया जा सकता । किन्तु इ
नो विज्ञानो के पारस्परिक विभेद के मौलिक कारण प्रस्तुत करने के लिए हम लोक
ा मार्ग अपना सकते है। एक माने मे तत्त्वमीमासा की अपेक्षा तर्कशास्त्र का अनुसधान
ार्य अधिक विशद होता है क्योकि तर्कशास्त्र के अन्तर्गत उन सार्वत्रिक शर्तो से हमे
ाम पडता है जिनके आधीन हमारी विचार प्रक्रिया अपितु हमारी अनुमिति अपना
ाम करती है कि असत्य सारतत्त्वमय कुछ तर्कवाक्यों के समेकित हो जाने से वे शर्तें
री हो जायें। तब यह भी संभव हो सकता है कि जिन संबधैक्यो द्वारा सत्य आधारों
तत्त्वत सत्य अनुमान उद्भूत हुआ करते हैं—उन्ही सम्बन्धैक्यों के कारण असत्य
ारमय आधारो से असत्य अनुमान भी प्राप्त हो जाय । अत. स्पष्ट है कि वैधतर्कना
ारा सदा सच्चे अनुमान ही उपलब्ध होते हो सो बात नहीं, इसलिए हम कह सकते
कि जहाँ तत्त्वमीमासा का विवेच्य विषय सत्य अथवा वास्तविकता के गुण और लक्षण
ात्र है वहाँ तर्कशास्त्र की विवेच्य वस्तु है—वैध अनुमेयों की लक्षणामात्र । भले ही वे
नुमेय वास्तविक और सत्य हों चाहे एकदम अवास्तविक और असत्य । दोनों शास्त्रो मे
हचान करने का जो तरीका ऊपर बताया गया वह यथासाध्य वास्तविक होते हुए भी
ावश्यक रूप से अन्तिम अथवा एकमात्र तरीका नही कहा जा सकता क्योकि सभव है
क वे परिस्थितियाँ या शर्तें जिन पर अनुमिति की संभाव्यता निर्भर है अन्ततोगत्वा
त्य की सरचना अथवा वास्तविकता की निर्मिति के समरूप हो अथवा तत्परिणामी ।
दि किन्ही परिस्थितियो मे, हम वस्तुओं के अवास्तविक स्वरूप की परिकल्पना करके
वतर्कना करते हुए उन निष्कर्षो तक जा पहुँचते हैं जो हमे उस अवस्था मे प्राप्त होते
ब वस्तुओं का यह हमारा कल्पित स्वरूप वास्तविक होता, तो यह बात स्वयं
स्तुओं के वास्तविक स्वरूप की परिणति अथवा फल कही जायेगी । दरअसल बात यह
: कि तत्त्वमीमासा के मौलिक प्रश्नों का सामना करने के लिए मजबूर हुए बिना,
र्कशास्त्रियों ने स्वयं अपने शास्त्र के मूल आधारो तथा प्राथमिक सिद्धातो की
हरी छानबीन कर सकना सदा ही असभव पाया है। अत. बेकन की सुप्रसिद्ध उपमा
के अनुसार इन दोनो शास्त्रो के पारस्परिक विभेद की तुलना सगमर्मर की अनवरत
ट्टान मे पायी जाने वाली प्रस्तर शिरा से ही की जा सकती है न कि उसमे वर्तमान
अदलन रेखा से किन्तु यह विभेद इस प्रकार सूक्ष्म और अविदल होते हुए भी इतना
भावी तो है ही कि जहाँ अनेक तत्त्वमीमासीय प्रश्नों का सीधा असर तर्कशास्त्र पर
हीं पडता वहाँ उसी तरह साक्ष्य सिद्धात के विविध अको का अध्ययन ज्ञान की एक
ालग शाखा के रूप मे ही भली प्रकार किया जाता है ।

१०—हाल के कुछ वर्षो मे अध्ययन की एक प्रशाखा को जो 'एपिस्टोमोलोजी अथवा ज्ञान-सिद्धात' नाम से प्रसिद्ध है पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त हुई है। 'ज्ञान-सिद्धात' नामक इस शास्त्र की मूलभूत विवेच्य भी सामान्य तर्कशास्त्र के विवेच्य के सदृश वे परिस्थितियाँ ही है जिन पर सत्यपरक हमारे ज्ञान भण्डार की विवेचना की वैधता निर्भर है। 'ज्ञान-सिद्धात' अथवा ज्ञानशास्त्र सामान्य तर्कशास्त्र से इस बारे मे भिन्न है कि वह प्रमाण-विषयिका विविध प्रक्रियाओ के ब्योरेवार विवरण का विवेचन नही करता अपितु अपना ध्यान उन अति व्यापक तथा चरम परिस्थितियो तक ही सीमित रखता है जिनके अन्तर्गत वैध विचार कर सकना सभव है। सामान्य तर्कशास्त्र की प्रचलित तर्कना की अपेक्षा ज्ञानशास्त्र इन व्यापक सिद्धातो पर कही अधिक दृढ और व्यवस्थित विवेचना किया करता है, चूँकि परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत सत्य प्राप्तव्य हो सकता है, अन्ततोगत्वा वास्तविकता के ज्ञानगम्य स्वरूप पर निर्भर रहती है, अत. स्पष्ट है कि ज्ञानशास्त्र की वे समस्याये जो सामान्य तर्कशास्त्र की सीमारेखाओ के भीतर किसी हद तक नही आती (जैसे साक्ष्य आकलन सम्बन्धी सिद्धात) स्वरूपत तत्त्वमीमासीय ही है। अपनी विवेचनाओ को ज्ञानशास्त्र के नाम से अभिहित करने वाले लेखको के व्यावहारिक आचरण से प्रकट है कि उनका यह ज्ञानशास्त्र तत्त्वमीमासा और तर्कशास्त्र का मिलाजुला रूप ही है जिसमे तत्त्वमीमासा का प्राधान्य है। चरम सिद्धात सम्बन्धी अपनी इस विवेचना को भी यदि हम 'एपिस्टोमोलोजी' या ज्ञानशास्त्र का नाम दें तो शायद कोई विशेप हानि न होगी लेकिन समग्ररूप से देखने पर उसे तत्त्वमीमासा के पुराने नाम से ही पुकारना दो कारणो से अधिक उपयुक्त और उचित होगा। ज्ञान के अभिप्रेत अर्थ की विवेचना तत्त्वमीमासक के कर्तव्य कर्म का एक अन्यतम अग मात्र है। सत्यपरक वास्तविकता न केवल ज्ञातव्य है अपितु वह ऐसी वस्तु भी है जो अगर हमे प्राप्त हो जाय तो हमारी आकाक्षायें पूरी कर दे और हमारी भावनाओ को सन्तुष्ट। अत: वास्तविकता या सत्यपरक सिद्धात और मन्तव्य का स्वरूप इस प्रकार का होना आवश्यक है कि जो क्रियात्मक आचरण और सौन्दर्य भावना तथा ज्ञान के चरम अभिप्रायो से सम्बद्ध रहकर चले। न केवल 'सत्यम्' अपितु 'शिवम्' तथा 'सुन्दरम्' भी हमारे इस अध्ययन के लक्ष्य हैं।

अब अगर 'ज्ञान-सिद्धान्त' या ज्ञानशास्त्र नाम से यह समझा जाय जैसा कि कभी-कभी समझा भी गया है—कि उसके द्वारा ज्ञानस्थ अन्तर्वस्तु के अध्ययन से व्यतिरिक्त ज्ञानशक्ति के स्वरूप तथा उसकी शक्यताओ का अध्ययन किया जा सकता है, तो इस प्रकार का सुझाव निश्चय ही भयानक भ्रम का जनक हो जायेगा। ज्ञान शक्ति की शक्तियो और मर्यादाओ का अभिनिश्चय केवल तत्सम्बद्ध ज्ञान की सत्यता के अनुसन्धान द्वारा तब हो सकता है जब उस ज्ञान की वास्तविकता को अववोध मान कर चला जाय'।

'ज्ञान शक्ति' को उसके प्रायोगिक परिणामो से अपाकृष्ट करके उनसे उसे विलग करने तथा उसकी बनावट की परीक्षा करने का, कोई संभव तरीका उसी तरह नही है जिस प्रकार किसी मशीन की परीक्षा उसके काम के नतीजों की जाँच किये विना नही की जा सकती। मशीन की जाँच-पड़ताल करने का सबसे बढ़िया तरीका तो यही है कि उससे काम लेकर देखा जाय और तभी हम सही तौर पर परख कर सकते हैं कि उस मशीन से कितना और क्या-क्या व कैसा काम लिया जा सकता है। इसी आधार पर अपने विवेच्य विषय के नाम का चुनाव करते समय यह उचित होगा कि हम ऐसा नाम चुनें जिससे जाहिर हो सके कि जानने अथवा ज्ञान प्राप्त करने का सिद्धात अवश्य रूप से अस्तित्व का सिद्धांत भी है।

अधिक जानकारी के लिए देखिए —एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' की भूमिका, एल० टी० हॉब हाउस कृत 'दि थियोरी ऑफ नौलेज' की भूमिका, एच० लोत्जे कृत 'मेटाफिजिक्स' की भूमिका (अंग्रेजी अनुवाद खण्ड १, पृष्ठ १–३०)।

अध्याय २

तत्त्वमीमांसीय निकष तथा तत्त्वमीमांसीय विधि

१—वास्तविकता कभी आत्मविरोधिनी नही हुआ करती, नामक इस सिद्धात से हमे वास्तविकता का एक सार्वत्र तथा सुनिश्चित ऐसा निकष प्राप्त होता है जो केवल नकारात्मक ही नही अपितु जिसमे वास्तविकता के एक सगत प्रणाली होने की निश्चयात्मक दृढोक्ति भी सपृक्त है। २—इस कसौटी या निकष की वैधता इस सुझाव से प्रभावित नही होती कि वह एक तर्कशास्त्रीय नियम मात्र हो सकता है। ३—न इस प्रकार के किसी सन्देह का उस पर कोई प्रभाव पडता है कि क्या हमारा ज्ञान सापेक्ष माना ही नही गया है। इस तरह का सन्देह अपने आप मे ही निरर्थक है। ४—व्यवस्थात्मक सामग्री का जहाँ तक सवाल है वह सामग्री तो अनुभूति अथवा अव्यवहृत मनस्तत्तीय तथ्य ही है। ५—उस सामग्री की वास्तविक अनुभूति होना आवश्यक है न कि अनुभूति की सभाव्यताएँ मात्र होना, किन्तु वास्तविक अनुभूति को भावना का समरूप नही मानना होगा। ६—न हमे यह कल्पना ही कर लेनी होगी कि अनुभूति व्यक्तियो और उन की दशाओ से मिल कर वनती है न यही मान लेना होगा कि वह 'चेतना' की दशाओ का अनुवर्तन मात्र है। ७—अनुभूति की अव्यवहानि ही उसकी सामग्री की अवच्छेदिका होती है। अव्यवहृति से हमारा अभिप्राय है अस्तित्व और अन्तर्वस्तु नामक दोनो पहलुओ का एकल समग्र मे सयुक्त होना। ८—विमर्श ज्ञान अथवा विचार मे आकर अस्तित्व और अन्तर्वस्तु का यह संयोग फिर विलग हो जाता है किन्तु उच्चतर स्तर पर जाकर फिर से उन दोनो को सयुक्त किया जा सकता है। ९—इसके अतिरिक्त अपनी अन्तर्वस्तु के मामले मे अनुभूति सदा ही विश्लिष्ट रूप मे प्रतीत होती है जो साथ ही साथ सर्वग्राही, व्यवस्थित तथा प्रत्यक्ष भी हो। १०—सत् अथवा वास्तविकता का पर्याप्त निग्रहण ऐसी ही पूर्ण अनुभूति के रूप मे सभव है। इस प्रकार की अनुभूति का सामान्य अथवा औपचारिक स्वरूप क्या हो सकता है तथा मानव अनुभूति तथा ज्ञान के विविध क्षेत्र कहाँ तक उसके निकट पहुँचते है, इन वातो का सही पता लगाना ही तत्त्वमीमासा की समस्या है। पूर्ण अनुभूति मे प्रस्तुत वास्तविकता का जो ज्ञान तत्त्वमीमासा देती है वह अपूर्ण होते हुए भी जहाँ तक उसकी गति है वहाँ तक अन्तिम होता है। ११—तत्त्वमीमासा के विधि-विधान के विषय मे यही कहा जा सकता है कि उसको विश्लेषणपरक, आलोच-

नात्मक तथा अनुभवाश्रित होना आवश्यक है । साथ ही उसे अशिक्षात्मक भी होना चाहिये । उसकी विधियां को प्राणानुभवात्मक भी तव कह सकते है यदि इस को मनोवैज्ञानिक आदिकालीन समझ लेने की गड़बड़ हम नही करते । हमारी कार्य-विधि हीगेलीय द्वन्द्वात्मक तर्क विधि क्यो नही हो सकती ?

१—यदि हम वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप तथा उनके आभासी स्वरूप की पारस्परिक भिन्नता का कोई निश्चित और वोधगम्य अर्थ निर्धारित करना चाहें, तो इस भिन्नता के स्पष्ट निर्धारण के लिए हमारे पास किसी इस प्रकार के सार्वत्र निकप या कसौटी का होना जरूरी है जिसके द्वारा हम दोनो की अलग-अलग पहचान कर सकें। सबसे पहले तो इस कसौटी या निकष का अचूक अथवा अव्यभिचारी होना आवश्यक है। यानी यह जरूरी है कि वह कसौटी इस तरह की हो कि हम अपनी विचार-शृंखला मे परस्पर विरोध उत्पन्न किये विना उस कसौटी की वैधता पर सन्देह कर ही न सके । दूसरी वात यह कि यह लक्षण सभी प्रकार की वास्तविकता मे पाया जाये और अन्यत्र कही भी उपलब्ध न हो । दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो, तर्कशास्त्र की यान्त्रिक शब्दावली मे इस निकप का ऐसे अवच्छेदक तर्कवाक्य का जिसका उद्देश्य वास्तविकता हो, विधेय होना आवश्यक है। हम निश्चयपूर्वक कह सके कि यह लक्षण अथवा अमुक चिह्न केवल समग्र वास्तविक मान्य मे ही उपलब्ध हो सकते है अन्यत्र नही। इस पुस्तक के पिछले अध्याय मे प्रस्तुत युक्ति से यह झलक ही गया होगा कि हमारा सिद्धात कि 'जो वास्तविक या सत्य है वह कभी आत्मविरोधी नही हो सकता और जो आत्मविरोधी है वह कभी सत्य या वास्तविक नही है—उपर्युक्त प्रकार की कसौटी या निकप प्रस्तुत करता है। वदतोव्याघात दोप रहित होना ही उस सवका जो वास्तविक है, एक लक्षण है और अन्तत. यह लक्षण वास्तविक से भिन्न अन्य किसी वस्तु मे भी नही पाया जा सकता। अत: इस लक्षण या गुण को ही हम वास्तविकता की कसौटी या निकप मान सकते है। क्योंकि हम पिछले अध्याय मे देख चुके है कि हम अपनी वुद्धि की मौलिक रचना पर अत्याचार किए विना आत्म-व्याघाती अथवा आत्मविरोधी को वास्तविक नही स्वीकार कर सकते और यही से वास्तविक तथा आभासी मात्र का विभेद प्रारम्भ होता है। दूसरी ओर जहाँ हम अपने विचार अथवा अनुभव मे व्याघात नही पाते वहाँ हमे ऐसा सन्देह करने के लिए कि हमारे अनुभव और सोच-विचार का सार सचमुच ही वास्तविक अथवा सत्य नही है कोई आधार नही रह जाता है। क्या वास्तविक है और क्या आभासी मात्र, इस वात की जाँच करते समय भले ही वह कितनी ही सीधी-सादी और प्राथमिक जाँच क्यो न हो हम अपने प्रत्येक उपनय मे यह मान कर ही चलते है कि अगर वस्तुओ की स्वाभाविक स्थिति अन्योन्य व्याघाती पायी जाय तो उस स्थिति मे हम तद्विषयक सत्य अथवा वास्तविकता की तह तक नही पहुँच सके है। दूसरी ओर हम अपने सोच-विचार और अनुभव

के परिणामो को तव तक वैध रूप से पूरी तरह सही सत्य अथवा वास्तविक, मानते रह सकते हैं जब तक कि उन्हे व्याघाती सिद्ध न कर दिया जाय । अत जब हम इस तर्क वाक्य को कि वास्तविक कभी आत्मव्याघाती नही होता एक सार्वत्र कसौटी के रूप मे पेश करते हैं तव हम वस्तुस्थिति विषयक समग्र, तार्किक विचारण से सम्वद्ध एक प्रमुख सिद्धात को ही अधिक विशद रूप मे प्रस्तुत कर रहे होते है और उस सिद्धात का सार्वत्रिक उपयोग कराना चाहते हैं । अस्तित्व के समग्र विश्व के सवध मे इस प्रकार के एक सामान्य कथन के विनियोग का प्रयत्न यद्यपि साहसिक-सा लगेगा किन्तु इस साहसिकता को स्वीकार करने के लिए हम तभी से वाध्य हो जाते हैं जब से हम व्याघात के दोनो ही पहलुओ को सत्य मानने से इनकार कर देते है ।

'वास्तविक कभी आत्मव्याघाती नही होता' यह सिद्धात पहले-पहल देखने पर अभावात्मक या नकारात्मक-सा ही प्रतीत हो सकता है और हम शायद कह उठे कि इस सिद्धात मे हमे केवल यह वतलाया गया है कि वास्तविक क्या नही है, यह नही कि दरअसल क्या है। इस वारे मे हमे अब भी अँधेरे मे रखा गया है । लेकिन ऐसा सोचना मिथ्या होगा। जैसा कि आज के वैज्ञानिक तर्कशास्त्र मे वतलाया गया है कोई भी सत्य और सार्थक अभावात्मक केवल निषेधात्मक नही हुआ करता। सभी सार्थक निषेध का अभिप्राय वास्तव मे किसी निश्चयात्मक आधार पर खडे होकर अन्य सव का अपवर्जन करना मात्र होता है। जब तक हमे निश्चय रूप से पता न हो कि 'अ' का 'व' होना किसी तरह भी सभव नही है और 'अ' का अस्तित्व 'व' के अस्तित्व से असगत तथा असभाव्य है यानी इस प्रकार की सभावना को वह अपवर्जित करता है, तब तक हम कभी घोषित नही कर सकते कि 'अ' 'व' नही है।[1] ऐसी घोषणा हम 'व' के विषय मे निषेधात्मक पक्की सूचना पाकर ही कर सकते हैं। 'अ' 'व' है एतद्विषयक हमारा अज्ञान अथवा ऐसा कह सकने के लिए पर्याप्त आधार खोज सकने की हमारी असमर्थता मात्र कभी भी हमे ऐसा कह सकने के लिए किसी प्रकार का तर्कशास्त्रीय समाश्वासन

१. देखिए वोसांक्वे, 'एसेंशियल्स ऑफ लॉजिक', व्याख्यान सं० ८१ । उदाहरण रूप मे हम एक पराकोटिक मामला ही ले लें। हम कहते हैं कि 'कल कोई जैवरवांक नहीं मारा गया'। हमारे इस नकारात्मक कथन का आधार क्या है ? देखने मे यह कथन पहले एक अभावात्मक या निषेधात्मक वाक्य मात्र लगता है, मानो मारने के लिए जैवरवांक नामक कोई वस्तु हो नहीं। लेकिन विश्वासपूर्वक ऐसी वात कहने से पहले हमारे पास पशुजीवन की रचना तथा पशुओ के स्वभाव सम्वन्धी वह सब पर्याप्त सूचनायें होना आवश्यक है, जिनके आधार पर हम कह सकें कि जैवरवांक

प्रदान नही करती कि स्वय 'अ' 'ब' नही है अर्थात् हम सही तौर पर यह तब तक नही कह सकते कि 'अ' 'ब' नही है जब तक कि हमारे पास ऐसा कोई सत्य आधार न हो जिसका 'अ' को 'ब' बताने से व्याघात होता हो। इसलिए वास्तविकता कभी आत्मव्याघाती नही होती, कहने का यही मतलब है कि हम जानते है और सही और ध्रुव रूप से समझते हैं कि वास्तविकता निश्चय ही आत्मसगत या आत्मसंपृक्त होती है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि वास्तविकता चाहे और कुछ भी हो लेकिन वह किसी न किसी प्रकार का व्यवस्थित पूर्ण अवश्य है। वास्तविकता विषयक हमारा ज्ञान कहाँ तक आगे जाता है और उसे हम निश्चयपूर्वक किस प्रकार का पूर्ण समझ पा सकते है —इन सब बातों पर इस पुस्तक के अगले प्रकरणो मे प्रकाश डाला जायगा। लेकिन अपने अनुसन्धान के मौजूदा स्तर पर भी इतना तो हम विश्वासपूर्वक कह ही सकते हैं कि अगर वास्तविक और आभासी की भिन्नता एकदम निरर्थक ही न हो, तो निश्चय ही यह कहना ध्रुव सत्य होगा कि 'वास्तविकता'[1] अथवा विश्व आत्मसगत और व्यवस्थित पूर्ण ही है।

२—संभव है कि हमारी इस सैद्धातिक घोषणा से कि वास्तविक अथवा सत्य

नामक तथाकथित पशु या जीव के बारे में वर्णित लक्षण पशु जीवन के नियमो के व्याघाती हैं और तभी हम जैबरवांक के अस्तित्व का निषेध भी निध्यात्मक रूप से कर सकते हैं। या अगर फिर भी हम जैबरवांक के अस्तित्व से इनकार इस आधार पर करें कि हमने आज तक एक भी नमूना जैबरवांक नामक जीवन का नहीं देखा तो इससे भी पशुलोक तथा उसके जितने भाग का निरीक्षण हमने किया है तद्विषयक हमारा निध्यात्मक निर्णय इस प्रकार शामिल होगा कि अगर जैबरवांक नामक कोई जीव होता, तो जरूर वह हमारी नजरों से गुजरा होता, या हम कहते कि पशुओं की विविध जातियों से मेरा इतना अधिक घनिष्ठ और संयोगपूर्ण परिचय है कि उक्त प्रकार का सामान्य कथन करने का मेरे पास पर्याप्त आधार मौजूद है। चूंकि प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में सार्वत्रिक विधायक तर्कवाक्य का दोहरे निषेधात्मक तर्कवाक्य के रूप में प्रयोग 'सुविधाजनक' माना जाता है इसलिए हमें उसकी विचार विषयक अग्रिमता के संबंध में मिथ्या धारणा न बना लेनी चाहिए।

१. ऐसे आलोचकों के जवाब में—जिन्हें 'वास्तविकता' शब्द को मोटे अक्षरों से लिखने वालों का मजाक बनाने में ही मजा आता है—हम एक ही बार साफ-साफ कह देना चाहते हैं कि जब हम वास्तविकता को बड़े अक्षरों द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं, तो हमारा अभिप्राय उस वास्तविकता से होता है जो वास्तविक पारमार्थिक सत्य है न कि सापेक्षिक वास्तविक मात्र से।

सदा आत्मसगत ही होता है और उसकी यह आत्मसगति ही वास्तविकता की ध्रुव और अचूक कसौटी है—कुछ अविश्वासी लोगो के मन मे उसके बारे में सन्देह उठ खड़े हो और ये किसी हद तक महत्त्वपूर्ण हो सकें। इसलिए आगे बढने मे पहले उन पर यही पूरी तरह विचार कर लेना हम उचित समझते है। ऐसे लोगों की उपयुक्त कठिनाई को हम अधिकतम सयुक्तिक तथा व्यक्त रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'आपने जो कसौटी पेश की है वह वास्तव मे कुछ नही है, आपने तर्कशास्त्र के वदतोव्याघात नियम को ही एक नयी शक्ल और चक्कर देने वाली रीति से प्रस्तुत किया है और चूंकि तर्कशास्त्र के दूसरे नियमो की तरह ही वदतोव्याघात नियम का भी सरोकार वास्तविक वस्तुओं से नही हुआ करता अपितु वस्तुओ का वह प्रत्यय ही जिसके द्वारा हम उन वस्तुओं का ध्यान किया करते है अनन्य रूप से उसकी विचार-वस्तु होता है। जब कोई तर्कशास्त्री अपने शास्त्र के मौलिक सत्य के रूप मे दावा पेश करे कि 'अ' कभी भी 'ब' तथा 'अ' 'ब' एक साथ नही हो सकता तब समझना चाहिए कि उसके 'अ' और 'ब' हमारे उस वास्तविक ससार की वस्तु नही होते जिसका सदर्भ हमारे विचारो मे मौजूद हुआ करता है बल्कि उन 'अ' 'ब' का अभिप्राय इन वस्तुओ के उन प्रत्ययों से हुआ करता है जिनकी कल्पना तद्विषय मे पहले से हो चुकी होती है। अत· तर्कशास्त्री का उपर्युक्त नियम विचार-पद्धति का एक नियम मात्र है। उस नियम के अनुसार वह जो कुछ कहना चाहता है और सही तौर पर कहना चाहता है वह केवल इतना ही है कि "आप एक ही समय और एक ही अर्थ मे एक साथ यह, नहीं सोच सकते कि 'अ' 'ब' है और 'ब' नही भी है। वह यह दावा कभी नही करता कि यद्यपि इस प्रकार की परिस्थिति विचार का विषय न भी हो लेकिन तथ्य रूप से वास्तविक अथवा सत्य हो सकती है। आप हमारे इस विचारविषयक नियम को लेकर चुपचाप यह मान कर चलने लगते हैं कि यह नियम उन वस्तुओ का भी नियम है जिनके बारे मे हम विचार करते है और फिर इस नियम को उन वस्तुओ की वास्तविकता की अचूक कसौटी के रूप मे पेश कर रहे है। अत आपकी यह विचार विधि गैरकानूनी है और तदनुसार प्रस्तुत किया गया आपका यह निकष भी थोथा है।"[१]

विचिकित्सु लोगो की इस सामान्य शका के हमारे इस प्रत्युत्तर मे, पिछले अध्याय मे वर्णित तत्त्वमीमानीय तथा तर्कशास्त्रीय समस्याओं के पारस्परिक घनिष्ठ

---

१ यही कठिनाई एक बार फिर तब हमारे सामने आयेगी जब आगे चलकर हम उस काण्ट द्वारा परमात्मा के अस्तित्व विषयक जैवविकासविद्या सबंध प्रमाण—के प्रसिद्ध एतराज के रूप में प्रस्तुत सिद्धांत का उत्तर देंगे। अवान्तर खण्ड ४, अध्याय ५, अनुच्छेद ६८।

संबधों पर, प्रसगवश मनोरजक प्रकाश पडेगा । सबसे पहले हम ऐसे विचिकित्सुओं को तुर्की ब तुर्की जवाव ही क्यो न दे ले । हम उनसे कहेंगे कि अवैध अभ्युपगम का अभियोग तो पहले आप ही पर लागू होता है। आपकी पूरी बहस ही एक ऐसे अभ्युपगम पर आधारित है जिसके लिए आपके पास कोई न्याय्य आधार नही है क्योंकि जब आप यह कह कर कि वदतोव्याघात का नियम एक वैचारिक नियम मात्र है, इस प्रकार के महत्वपूर्ण परिणाम की स्वीकृति की आशा हम से करते है, तो उसके लिए किसी प्रकार का कारण तो आप को प्रस्तुत करना ही चाहिए। हम इतने से ही सतुष्ट न होकर यह युक्ति भी पेश करेंगे कि विचिकित्स महोदय द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याघात नियम विषयक टीका का ध्रुव आधार भ्रान्ति ही है। वैचारिक नियम से हमारा मतलब या तो (अ) किसी ऐसे मनोवैज्ञानिक नियम से होता है जो हमारे सोच-विचार करने के तरीके के बारे मे एक सामान्य किन्तु सही कथन के रूप मे पेश किया जाय या फिर (ब) हमारा मतलब किसी ऐसे तर्कशास्त्रीय नियम से होता है जो उन परिस्थितियो का, जिनके अन्तर्गत हमारा विचारण वैध माना जा सके एक सामान्य और सत्य विवरण प्रस्तुत करे। विचिकित्स लोगो की उपर्युक्त युक्ति की सत्याभासिता 'वैचारिक नियम' नामक सज्ञा के दोनो परात्पर अत्यत भिन्न अभिप्रायों के बीच एक अचेतन भ्रांति के कारण ही उत्पन्न होती है। पहले तो इसमे भी सन्देह मालूम होता है कि व्याघात का नियम, यदि मनोवैज्ञानिक नियम के तौर पर पेश किया जाय, तो सही भी होगा या नही। कम से कम यह बताना कठिन ही है कि मानवसत्ता एक ही काल मे समान विश्वास के साथ दो परस्पर विरोधी तर्कवाक्यो को सत्य मान कर रह सकती है या नही। निस्सन्देह ऐसे व्यक्ति भी कभी-कभी मिल जाया करते है जो दो परस्पर विरोधी तर्कवाक्यो को एक-सी ही दृढता से मान सकते है । हमें उन दोनों दृष्टिकोणों का पारस्परिक विरोध आसानी से दीख जाता है परन्तु वे लोग स्वय उन प्रत्ययों की पारस्परिक असगति से प्राय: अनभिज्ञ ही रहते है। अगर ऐसे लोगो को इस असगति से अभिज्ञ किया भी जाय तो क्या वे सब अपने-अपने विश्वासो को पुनस्सस्कृत करने के लिए उद्यत होंगे या नही ? यह प्रश्न जितनी आसानी से पूछा जा सकता है उतनी आसानी से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतना तो किसी तरह निश्चित ही है कि तर्कशास्त्री अपने वदतो-व्याघात नियम को इस अर्थ मे एक मनोवैज्ञानिक के रूप में हम पर लादना नहीं चाहता, कि हम किस वस्तु पर विश्वास करने मे सफल हो सकते है और किस पर सफल नही हो सकते। वह इतना ही चाहता है कि उसके इस नियम का यही शुद्ध तार्किक अभिप्राय माना जाय कि वह नियम उन परिस्थितियों का जिनके अन्तर्गत किसी प्रकार की भी विचारणा वैध हो सकती है एक विवरणमात्र है। वह जो कुछ कहता है उसका मतलब यह नही कि मै 'अ' 'ब' है और 'ब' नही' सोच नहीं सकता बल्कि यही कि

यदि मैं ऐसा सोचूँ तो मेरी इस प्रकार की विचारणा 'सत्य' नहीं हो सकती। वस्तुओं के विषय में विचार करने का अर्थ ही यह होता है कि उनकी वास्तविक प्रकृति के अनुसार ही उन पर विचार किया जाय न कि उस अपूर्ण बोध के अनुसार जो कि ऊपरी देख-रेख या लापरवाही मात्र से हमें प्राप्त होता है। इसलिए यह कहना कि व्याघात का अभाव अथवा अव्याघात विचारणा की एक मौलिक शर्त है—इस कथन के बराबर होगा कि अव्याघात वास्तविक अस्तित्व का मौलिक लक्षण है। चूँकि व्याघात का नियम तर्कशास्त्र का एक नियम है इसलिए वह केवल तर्कशास्त्रीय नियम मात्र नहीं रह सकता। उसका तत्त्वमीमांसीय नियम होना भी आवश्यक है। यदि विचिकित्सु को अपनी विचिकित्सापूर्ण स्थिति कायम रखना है, तो उसे उसी प्रकार तर्कशास्त्र के साथ तत्त्वदर्शन को भी शामिल किए रहना आवश्यक है जिस प्रकार कि प्राचीन काल के उनके विचिकित्सुगण साहसपूर्वक तत्त्वमीमांसा को भी तर्कशास्त्र के साथ अपने सन्देहास्पदों में शामिल किए रहते थे।

३—लेकिन, मान लीजिए कि वही विचिकित्सु यही तरीका लेकर चल निकलें और कहें कि हमारा सारा सत्य केवल सापेक्षिक सत्य ही है और यह कि सत्य विचारणा की सब मौलिक शर्तें भी सापेक्षिक रूप से ही वैध हैं और सिर्फ हमारे लिए ही वैध हैं। ऐसी हालत में आपको क्या अधिकार है कि आप उन्हें एकान्त रूप में वैध मान लें और उस आधार पर वस्तुओं की वास्तविक संरचना या गठन के बारे में बहस करें? विचिकित्सु की इस प्रकार की विचिकित्सा की संज्ञा क्या है और क्या इस प्रकार की शंका तर्कानुगत भी है? इस प्रश्न का उत्तर, त्याग अथवा निषेध के तर्कशास्त्रीय लक्षण के विषय में हम जो कुछ पहले ही जान चुके हैं—उसी से हमें सुलभ हो जाता है। सन्देह जो एक प्रकार का अस्थायी इनकार या त्याग हुआ करता है निषेध या अपवर्जन के समान जो पूर्ण अथवा स्थायी त्याग का ही प्रतिरूप है, पहले ही से किसी न किसी प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान के तार्किक अस्तित्व को मानकर चलता है। किसी निर्धारित तर्कवाक्य की सत्यता के विषय में शंका करना तब तक कभी तर्कसंगत नहीं होता जब तक कि हमारे पास किसी ऐसे ध्रुव सत्य का बलबूता न हो जिससे हमारे प्रस्तुत निर्णय का मेल न खाता प्रतीत हो। यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम किसी ऐसे कथन को इस आधार पर सत्य मानने से हिचकते हैं कि वह कथन किसी ऐसे अन्य कथन का जिसे पहले से ही सत्य माना जा चुका है या जो सत्य समझा जा रहा है—विरोधी प्रतीत होता है और हमें उस कथन की उस पहले से ज्ञात सत्य कथन के साथ संगति नहीं बैठी मिलती। यह बात उन उदाहरणों में जहाँ हम अपर्याप्त साक्ष्य के कारण अपना निर्णय स्थगित कर दिया करते हैं—यद्यपि ऊपर से देखने से कम स्पष्ट होती है किन्तु विचार से उतनी ही स्पष्ट दिखायी देने लगती है। किसी तर्कवाक्य को

सिद्ध करने के लिए जितना ध्रुवज्ञान, भले ही उसके साक्ष्य का प्रकार और परिमाण सदोष हो, पर्याप्त रूप से प्राप्त हो सकता है उतने ज्ञान के विना उसकी सत्यता पर शंका करना अथवा उस पर विश्वास कर लेना दोनों ही वाते असगत होंगी। जब तक हमे यह पता न हो चाहे कुछ हद तक ही कि किसी वात को सिद्ध करने के लिए किस साक्ष्य की आवश्यकता है तव तक हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे सामने प्रस्तुत साक्ष्य पर्याप्त है अथवा नही ?[1] इस प्रकार हम देखते है कि ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत यह विरोवामासिक यौक्तिक संदेह मे ही हमारे ज्ञान के किसी अश से सवद्ध अव्यभिचारित्व निहित होता है, वास्तव मे एक सीधा-सादा सत्यवचन मात्र ही है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैध विचारणा विषयक हमारे अन्तिम पूर्वगृहीत कही सापेक्ष रूप मात्र से ही तो सत्य नहीं, इस प्रकार का सन्देह निरर्थक है। यदि विचिकित्सु की इस विचिकित्सा का कि क्या वास्तविकता अन्तत. एक ऐसी आत्मसंगत प्रणाली है—जैसा कि हमारी विचारणा के सत्य होने के लिए आवश्यक भी है यह दावा हो कि वह यौक्तिक अथवा युक्तियुक्त है, तव उस सन्देह का रूप यह होना चाहिए कि 'मै वास्तविकता अथवा सत्य की प्रकृति के वारे मे निश्चित रूप से इतना जानता हूँ कि जितने के आधार पर वास्तविकता को असगत समझना युक्तिसगत माना जा सकता है।' अथवा यह कि 'वास्तविकता की प्रकृति के वारे मे जो कुछ मैं जानता हूँ उसके आवार पर 'आत्मसंगति' और वास्तविकता मे कोई सगति नही वैठती।' इस प्रकार विचिकित्सु न केवल एकान्त निरपेक्ष और निश्चित ज्ञान का दावा करने के लिए अपितु उस ज्ञान की वैवता को सिद्ध करने के लिए भी वाध्य हो जाता है और तव इस प्रकार एक प्रतिभूततम विषय द्वारा वास्तविकता विषयक हमारी कसौटी पर शंका उठाने के पहले उसकी सच्चाई को मानकर ही विचिकित्सु आगे वढ़ता है।

४—विचिकित्सु की शंकाओं के होते हुए भी वास्तविकता अपने सत्य स्वरूप में एक सम्वद्ध और आत्मसंगत अथवा अन्तरतः सश्लिष्ट या ससक्त निकाय होती है।

---

१. उदाहरण के तौर पर इसे ही ले लीजिये—मान लीजिए कि यहूदियों के प्राचीन धार्मिक इतिहास के वारे में सेमेटिक भाषा विज्ञान के आधार पर कोई सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता है। ग्रीक पुरातत्त्व के अध्ययन जैसे समानांतरीय प्रसंगों के आधार पर यदि मुझे भाषाविज्ञान सबंधी साक्ष्य की पर्याप्त अभिज्ञता है, तो सेमेटिक भाषा-शास्त्र पर आधारित साक्ष्य की संगति का थोड़ा बहुत अनुमान सेमेटिक भाषा विज्ञान से अपरिचित होते हुए भी, मै कर सकूँगा। लेकिन अगर मुझे भाषाविज्ञान संबंधी साक्ष्य पुरातत्त्वीय अनुसंधान में विनियोग का कोई ध्रुव ज्ञान है ही नहीं तव इस वारे मे किसी तरह की रायजनी करना मेरे लिए एकदम असंगत ही होगा।

क्या यही बात उस दत्तसामग्री के विषय मे भी हम इतनी ही दृढता के साथ कह सकते हैं जिससे वास्तविकता निर्मित होती है ? विचार करने पर हमे भरोसा हो जाना चाहिए कि हम यह तो कम से कम कह ही सकते है कि जिस दत्त वस्तु, अथवा सामग्री से वास्तविकता निर्मित है वह सब अनुभव ही है जब कि अनुभव का अस्थायी अभिप्राय मानसिक तथ्य माना जा रहा हो—यानी वह तथ्य विषय जिसकी तात्कालिक प्राप्ति भावना अथवा अनुभूति द्वारा हुई हो । दूसरे शब्दो मे जो कुछ भी प्रस्तुति, सकल्प अथवा मनोभाव का अग बन जाय उसमे किसी न किसी अर्थ मे और किसी न किसी अग तक वास्तविकता की उपस्थिति होना आवश्यक है और वह अवश्य ही उस सामग्री का भाग या अग होता है जिसकी निकाय-समग्रता का नाम वास्तविकता है, तथा जो कुछ भी अपने प्रकृत स्वरूप के अश रूप मे, तात्कालिक अनुभूति के साथ इस प्रकार के अटूट बधन मे समाविष्ट नही होता तथा इसीलिए उस सब प्रस्तुति, सकल्प अथवा अनुभूति के जिससे मिलकर मनस्तत्त्वीय जीवन बना होता है, अन्तर्गत नही आता—वह वास्तविक नही है । अत वास्तविक अनुभूति का ही नाम है, वह अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नही है तथा अनुभूति मनस्तत्त्वीय तथ्य विषय है।[1]

इस तर्कवाक्य की सिद्धि के लिए प्रमाण केवल उसी प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते है जिस प्रकार किसी अन्य चरम सत्य को सिद्ध करने के लिए दिये जाते है अर्थात् उसकी परीक्षा करके अगर आप को इस विधि की प्रामाणिकता मे सन्देह है, तो आपको चुनौती है कि आप किसी भी वस्तु को, चाहे वह कुछ भी क्यो न हो वास्तविक समझ लें और तब आप बतलायें कि उस वस्तु की वास्तविकता से आप का क्या मतलब है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप कहें मैं 'अ' को वास्तविक मानता हूँ चाहे 'अ' दुनिया की कोई भी वस्तु हो। अब आप किसी काल्पनिक अथवा अवास्तविक 'अ' की कल्पना कीजिए जैसा कि आप हमेशा ही कर सकते है और तब वास्तविक कहे गये 'अ' और केवल काल्पनिक 'अ' मे क्या अन्तर है यह बताने की कोशिश कीजिये। जैसा कि वास्तविक १०० डालरों और काल्पनिक १०० डालरों वाले प्रसग मे कान्ट ने सिद्ध किया था वास्तविक 'अ' और काल्पनिक 'अ' दोनो ही का अन्तर न तो उनके लक्षणों के कारण ही है न उनके गुणो के कारण। काल्पनिक १०० डालरो के गुण ठीक वैसे ही है जैसे कि वास्तविक १०० डालरों के। अन्तर केवल इतना ही है कि वे 'काल्पनिक' मात्र है। असली डालरों की तरह ही काल्पनिक डालरो का रग-रूप, डील-डौल,

---

१. आगे जो कुछ लिखा गया है उसे एक खाका ही समझना चाहिए जिसे आगे चलकर, खण्ड २ के अध्याय १ में वर्णित ठोस परिणामो से आपूरित करना होगा ।

आकार और भार भी कल्पित किया गया था और उन पर अमुक चेहरे का ठप्पा होने का, अमुक अभिलेख अंकित होने का और उनकी बनावट मे चाँदी तथा मिश्रण के अमुक अनुपात होने का अनुमान भी वास्तविक डालरो के ही समान किया गया था तथा मौजूदा बाजार मे उनकी क्रयशक्ति का अन्दाज भी तदनुसार किया गया था। दोनों मे केवल इतना ही भेद पाया गया कि असली डालरो को निर्धारित और ज्ञात परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता था। वे प्रत्यक्ष ज्ञान की वस्तु हो सकते थे जब कि काल्पनिक डालर कल्पना-जनित होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से द्रष्टव्य नही हो सकते थे। आप उन्हे न तो देख ही सकते थे न छू सकते थे। आप केवल कल्पना कर सकते है कि आप उन्हे देख रहे है, उन्हे हाथ मे ले रहे है। तात्कालिक मानसिक तथ्य विषयक इसी प्रसग मे ही असली सिक्को की वास्तविकता पायी जाती है। इसी परीक्षण के अन्य उदाहरणो मे भी यही बात देखने को मिलेगी। आप कोई भी चीज ले लीजिए—यह जरूरी नही कि वह पत्थर की दीवार, सौंदर्यमयी भावना, कोई नैतिक गुण, कोई ऐसी वस्तु जिसे आप वास्तविक मानते हों—आदि कोई खास चीज हो—अब मै आप से कहूँगा कि आप इस वास्तविक वस्तु की ऐसी अनुकृति की कल्पना अपने मन मे कीजिए जो अवास्तविक हो। अब आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि वास्तविकता और कल्पना मे जो कुछ भी अन्तर है वह सदा ही इस बात का है कि वास्तविक वस्तु किसी इन्द्रिय-गम्य वस्तु के मानसिक जीवन से सम्बद्ध हुआ करती है और इस कारण वह एक मनस्तत्त्वीय तथ्य विषय होती है।

५—गभीर मिथ्याबबुद्धि के अपवर्जनार्थ यह आवश्यक है कि हम दो बातों की ओर से सावधान रहे अर्थात् अगर हम गहरी भ्रान्ति से बचना चाहते है, तो दो बातों से बचे रहने का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। कान्ट अथवा मिल का कोई शिष्य ऐसी शका उठा सकता है कि तात्कालिक अवबोध के लिए एक वास्तविक मनस्तत्त्वीय तथ्य के रूप मे कभी भी प्रस्तुत न की जाने की कोई वस्तु तब तक वास्तविक बनी रह सकती है जब तक उसका स्वरूप, ज्ञात और निर्धारित परिस्थितियो के अन्तर्गत, मनस्तत्त्वीय तथ्य बना रह सके। कहा जा सकता है कि अधिकाश नही तो अनेक विज्ञानविद्या सबधी वस्तुये इसी कोटि की है, वे आज तक न तो कभी भी मानव के प्रत्यक्ष बोध की परिधि मे आ ही सकी है न शायद आगे भी कभी आ सकें। फिर भी हम उन्हे वास्तविक ही कहते है—केवल इसलिए कि किन्ही ज्ञात परिस्थितियो मे वे बोधगम्य हो जायँगी। इस प्रकार हम कह सकते है कि हमने आज तक पृथ्वी का केन्द्र नही देखा, न कभी हम उसे देख सकेंगे। एक अन्य ठोस उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आज तक अपना भेजा या दिमाग नही देखा। लेकिन फिर भी पृथ्वी के केन्द्र को और अपने दिमाग को मै वास्तविक कहता हूँ और वह इस माने मे कि यदि मृत्यु को प्राप्त हुए बिना मैं धरातल

की सतह को भेद कर उसके नीचे एक निश्चित दूरी तक जा सकूँ, तो वहाँ पृथ्वी का केन्द्र मुझे अवश्य मिल सकेगा अथवा यह कि अगर मेरी खोपडी को खोलकर एक छिद्र ऐसा बनाया जा सके जिसमे से, ठीक प्रकार जमाये गये दर्पणो की सहायता द्वारा मैं अपने सिर के भीतर देख सकूँ तो अवश्य ही वहाँ मुझे अपना दिमाग रखा मिलना चाहिए। भले ही निर्जन अन्तरिक्ष मे सत्वर धावमान धूमकेतु को किसी ने भी न देखा हो लेकिन इतने ही से उसका अस्तित्व लुप्त नही हो जाता, उसकी वास्तविकता नष्ट नही हो जाती क्योंकि अगर मैं वहाँ पहुँच सकूँ तो अवश्य ही उसके दर्शन मुझे हो सकेंगे यह निश्चय है । इस आधार पर काण्टवादी यही कहेगा कि वास्तविकता समान्य अनुभूति की सापेक्ष है । दूसरी ओर मिल का अनुयायी कहेगा कि 'सवेदना की स्थायिनी-सभावना' ही वास्तविकता है ।

इन तर्कनाओ मे सच्चाई का अश जरूर है। वह विश्व की समग्र वास्तविकता का एक टुकडा भर ही होता है। यह भी सही है कि दुनिया मे ऐसा बहुत कुछ मौजूद है जिसे उसके अपने स्वरूप के कारण मानव जाति देखने मे समर्थ है लेकिन जहाँ तक हम निर्णय कर सकते है, उस सबका ज्ञान हम कभी भी इसलिए नही प्राप्त कर सकते क्योंकि उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपयुक्त या आवश्यक परिस्थितियो मे अपने आप को रख सकना हमारे लिए तभी सभव है जब कि हमारी ज्ञानेन्द्रियो की रचना मे उपयुक्त सुधार कर दिये जायँ। अत सभव है कि कुछ विज्ञानों का काम चलाने के लिए इन प्रक्रियाओ, अप्रत्यक्षीकृत वास्तविकताओ को सवेदनात्मक शक्यताओं के नाम उन प्रक्रियाओ का अभिहित करना यथेष्ट हो सके जिन्हे हम यद्यपि प्रत्यक्ष नही देख पाते किन्तु जिन्हे यदि ज्ञात अथवा ज्ञातव्य परिस्थितियाँ प्रस्तुत हों, तो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार की अभिधा, स्पष्ट ही, निषेधात्मक मात्र ही होगी क्योंकि इसके द्वारा इतना ही बतलाया जा सकता है कि हम किन्ही वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। हम इस अभिधा द्वारा उन वस्तुओ के स्वरूप अथवा उनकी प्रकृति के विषय मे कुछ भी निश्चित बात प्रकट नही करते । तत्त्वमीमासाशास्त्र मे, जहाँ कि हमारा उद्देश्य ही वास्तविकता के सही अर्थ का पता लगाना होता है, यह प्रश्न उठे बिना नही रह सकता कि क्या विश्व के अधिकाश भाग की वास्तविकता के सबध मे इस प्रकार का केवल निषेधात्मकविवरण अतिम रूप से सन्तोषजनक है या नही। स्पष्ट ही है कि वह पूरी तरह सन्तोषजनक नही क्योकि 'शक्य' कहने का मतलब ही क्या होता है ? इतना ही तो नही कि वह जो वास्तविक नही, क्योकि ऐसा कहने से, तो उस अभिधा मे एकदम काल्पनिक और प्रदर्शनार्थ आशक्य वस्तुओ का भी समावेश होता है। इस तरह से तो, आगामी सप्ताह की घटनाएँ, आदर्शलोक का सगठन, तथा वृत्त का वर्गीकरण आदि सभी बातें क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत न होने के कारण एक साहस ही है। तब क्या यह कहना होगा

के शक्य और काल्पनिक में इतना ही भेद है कि शक्य वह है जो किन्हीं ज्ञात परिस्थि-तियों में वास्तविक होता है। लेकिन कभी ऐसा भी हो सकता है कि हम उन परिस्थितियों के अन्तर्गत संदिग्ध रूप से अथवा ज्ञात रूप से जो केवल काल्पनिक समझा जाता है—कौन वस्तु वास्तविक हो सकती है—इस बारे में सही निष्कर्ष निकाल सकें। पर इस प्रकार के निष्कर्षों को वास्तविकता के नाम से प्रस्तुत करने का साहस कोई भी न करेगा। आप यह कह सकते हैं कि अगर मैं दक्षिणी ध्रुव पर होता तो ध्रुवीय वर्फ मैं देख सकता। इसलिए वह वास्तविक है। लेकिन प्रत्यक्ष उसे कोई नहीं देख सका। अगर माँगने से या इच्छा करने मात्र से इष्ट की प्राप्ति हो सकती होती तो भिखारी घोड़ो पर चढ़े घूमते। लेकिन आप यह नहीं कहते कि भिखारियों का यह अश्वारोहण वास्तविक है। इस तरह की बातों का ख्याल ही हमें 'शक्य' की हमारी पूर्वकथित लक्षणा में इसलिए सुधार करने के लिए प्रेरित करता है क्योंकि शक्य का वास्तविक होना भी जरूरी है। अत. हम यह कहने के लिए वाध्य हो जाते हैं कि किसी अप्रेक्षित वास्तविक वस्तु विषयक प्रसग में उपयुक्त प्रत्यक्षणागवान् प्रेक्षक अथवा परिग्राहक की उपस्थिति, के अतिरिक्त प्रत्यक्षण की सभी परिस्थितियाँ वास्तव में मौजूद रहती हैं। अत: दक्षिणी ध्रुव की वर्फ दरअसल वहाँ है क्योंकि उसके प्रत्यक्षण के लिए आवश्यक एक ही इन्द्रिय वोधक विशेष प्रकार के अगो से युक्त कोई द्रष्टा या प्रेक्षक मौजूद नहीं है। लेकिन एक वात और वह यह कि प्रत्यक्षण की काल्पनिक और वास्तव में वर्तमान शर्तों के विभेद से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है? यहाँ हम फिर एक वार अपने मौलिक परीक्षण पर ही लौट आते हैं और नये प्रयत्नों के वावजूद हम यही पायेंगे कि जब हम वास्तविक परिस्थितियों और काल्पनिक परिस्थितियों में विभेद करते हैं, तो हमारा अभिप्राय इसके सिवाय और कुछ नहीं होता कि वास्तविक परिस्थितियों के पीछे तात्कालिक परिग्रहण के साक्ष्य का अन्तिम सहारा हमारे पास है जब कि काल्पनिक परिस्थितियाँ इस प्रकार के सहारे से हीन होती हैं। अव अगर वास्तविक शब्द का प्रयोग हम तात्कालिक परिग्रहण से अविश्लेष्य अथवा मनस्तत्त्वीय तथ्याविष्य को अभिहित करने के लिए करते हैं तब हम अपने निष्कर्ष को सक्षेप में यों कह सकते हैं कि हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जो सत्य अथवा असली है वह वास्तव में यथार्थ भी है यानी ऐसी कोई वास्तविकता या सत्यता नहीं होती जिसकी क्रियात्मक प्रस्तुति अथवा यथार्थता साथ ही साथ न हो। इस प्रकार उन आधुनिक तर्कशास्त्रियों की तरह जो वताया करते हैं कि वास्तविक अस्तित्व की सीमा के वाहर किसी शक्यता के लिए गुंजाइश नहीं हुआ करती हम भी एक से ही आधार पर खड़े हुए हैं। उन तर्कशास्त्रियों की तरह हमें भी कहना पड़ता है कि शक्य विषयक कथन अगर उनका कोई अर्थ होता हो, तो सदा वस्तुस्थिति

विषयक सूचनाये देने की अप्रत्यक्ष विधि मात्र हुआ करते है ।[1] इस प्रकार दक्षिणी ध्रुव पर वर्फ यथार्थ मे मौजूद है यद्यपि मानव-चक्षु, उमे देखता नही, इस कथन का यदि कोई अर्थ हो सकता है, तो यही हो सकता है कि या तो वर्फ का स्वय, जैसी कि अगर हम दक्षिणी ध्रुव पर मौजूद हों तो हमे देखने को मिलनी चाहिए, अथवा उन कुछ अज्ञात परिस्थितियो का, जिनके किमी मानव-प्रेक्षक की उपस्थिति से सयुक्त हो जाने के कारण वर्फ का प्रत्यक्षण हो सके—यथार्थ अस्तित्व ऐसी अनुभूति के जो स्वय हमारी अनुभूति नही है, अन्त सार के भाग रूप मे अवश्य ही हुआ करता है।[2]

दूसरी वात जिस पर ध्यान देना आवश्यक है सक्षेप मे ही निपटायी जा सकती है। अनुभूति की लक्षणा 'तात्कालिक सवेदना' अथवा 'तात्कालिक सवेदना का अन्त सार' अथवा वोध[3] कह कर करते समय हमारा अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि वह विशेष रूप से सवेदन मात्र ही होती है। सवेदना तात्कालिक अनुभूति अथवा बोध का एक लक्षण भर है—ऐसा लक्षण जिसकी पहचान अन्य लक्षणो मे से केवल श्रमसाध्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही की जा सकती है। आनन्द और पीडा, किसी प्रकार की भावना या किसी लालसा की तृप्ति जब कार्यरूप मे समुपस्थित हो तब उसे उतना ही जल्द अनुभव किया जा सकता है जितने कि किसी ज्ञानेन्द्रियपरक प्रत्यक्ष ज्ञान को। आनन्द अथवा पीडा के वास्तविक दर्शन और उसके होने के विचार मात्र मे अन्तर से अवगत ही हैं। वास्तविक भावना अथवा इच्छा, काल्पनिक भावना या इच्छा से उसी प्रकार भिन्न होती है जिस प्रकार कोई वास्तविक इन्द्रिय वोध कल्पित इन्द्रि वोध से भिन्न होता है। यह अन्तर कितनी यथार्थतापूर्वक वताया जा सकता है य प्रश्न, जो कि दुर्भाग्यवश आज का एक अनुचित रूप से उपेक्षित प्रश्न है, मनोविज्ञा का विषय है। अपने प्रस्तुत विषय के लिए तो हमे इस प्रश्न को ऐसा प्रश्न मात्र वत

---

१ 'शक्यता' के आधुनिक सिद्धांत के लिए अनुशीलन कीजिए ब्रैडले लिखित प्रिंसिप ऑफ लॉजिक पृ० १९२—२०१, वोसांक्वे लॉजिक १, अध्याय ९ ।

२ अनावश्यक ईश्वरतावादपरक अनुसगो को छोड़ देने के वाद, यह कथन ईश्वरा स्तित्व सवधी वर्कले के तर्क का सिद्धांत-सा लगता है। देखिए प्रिंसिपल ऑ ह्यूमन नालिज अनुच्छेद १४६ पृ० १४७ ।

३. यहाँ वता देना उचित है कि मैंने 'संवेदना' और 'वोध' शब्दो का उपयोग किसी भं मनस्तत्त्वीय सत की तात्कालिक तथा अविचार परिणामी अनुभूति को प्रकट कर के लिए, उदासीनतापूर्वक ही किया है । आनन्द और पीड़ा के ज्ञान मात्र के लि ही उस शब्द को सीमित कर रखना मुझे तो मनोविज्ञान की एक गहरी ग़लत लगती है। इसलिए मैंने उसका वचाव किया है ।

कर ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा कि जिसका अनुभव इच्छा करने मात्र से ही उन पाठको को हो सकता है जो मन की किसी भी वास्तविक स्थिति की तुलना उसी प्रकार की काल्पनिक मन स्थिति से करने की तकलीफ गवारा कर सकते हैं । इस विभेद की ज्ञानमीमासीय अथवा तत्त्वमीमासीय व्याख्या के विषय मे बहुत कुछ अगले अनुच्छेदों मे कहा जायगा। ऐन्द्रिक बोध मात्र से भिन्न मन के अन्य पहलुओ पर इसकी प्रयोज्यता के उदाहरण के रूप मे हम काण्ट के १०० डालरों वाले परीक्षण को ही ले सकते है । असली सिक्को को काल्पनिक सिक्को से हम इसलिए अलग कर सकते हैं क्योकि असली डालरो को हम छू सकते और देख सकते है, काल्पनिक सिक्को को नही। इस पहचान को हम इस तथ्य के रूप मे भी कह सकते है कि असली डालर हमारी इच्छायें पूरी कर सकते है जब कि काल्पनिक डालर ऐसा करने मे असमर्थ होंगे।[1]

६—दार्शनिक मत के मौजूदा हालात को देखते हुए इस तर्कवाक्य के कि, 'जो कुछ भी वास्तविक या असली है वह अनुभवजन्य ही है' अथवा 'मनस्तत्त्वीय तथ्यवस्तु है' अस्वीकृत हो जाने का उतना भय नही जितना कि मूलत. असत्य अर्थों मे उसके स्वीकृत हो जाने का है। यदि इस प्रकार की भ्राति के भय से बचना चाहे, तो हमे इस बात पर डटे रहने का ध्यान रखना होगा कि हमारा सिद्धात बलपूर्वक नही कहता कि घटनामात्र ही वास्तविकता की पूर्ण और पर्याप्त लक्षणा है । जब हम कहते हैं कि मनस्तत्त्वीय तथ्य की दुनिया के बाहर कुछ भी वास्तविक नही है, तब हमारे कथन का यह मतलब नही होता कि वास्तविकता स्वय एक मनस्तत्त्वीय तथ्यमात्र ही है। हमारा अभिप्राय तब यही होता है कि वह और ज्यादा चाहे जो कुछ भी हो, पर कम से कम मनस्तत्त्वीय तथ्य जरूर है । वास्तविकता के विषय मे केवल इस कथन के अतिरिक्त कि वह अनुभवों से बनी होती है अथवा मनस्तत्त्वीय तथ्य-वस्तुओ से निर्मित होती है, हम और कितना अधिक कह सकते है यह निर्धारित करके बताना तत्त्वमीमासा विज्ञान का काम है। मौजूदा हालत मे हमारी इस समस्या का—यद्यपि वह हमारे सामने एक सामान्य रूप मे ही प्रस्तुत की गयी है—कोई हल नही निकाला जा सका है। इस बात का हमे विशेष ध्यान रखना होगा कि कही हम तथाकथित 'व्यक्ति-निष्ठ आदर्शवाद' के चक्कर मे फँस जाने की गलती न कर बैठें। हमे यह न कहना चाहिए कि वास्तविकता 'मनोभावयुक्त व्यक्तियो की चेतनात्मक स्थितियों से बनी होती है अथवा यह कि वह व्यक्तियो और उनकी स्थितियो का सग्रह होती है।' तत्त्वदर्शियो की हैसियत से हमें यह

---

१. वास्तव मे खण्ड २ अध्याय १ में हम देखेंगे कि अव्यवहृत संवेदना के साथ एकीभूत होने के कारण समग्र अनुभूति सारतः अभिप्राय से सम्बद्ध हुआ करती है ।

मान कर चल निकलते हुए कि जिन मनस्तत्त्वीय तथ्यो से मिलकर वास्तविकता बनी होती है वे उन व्यक्तियो की उन स्थितियो अथवा रूपान्तरणो का ही सग्रह मात्र होते है जिनका साक्षात् अनुभव उनके मालिको को हुआ होता है। इस प्रकार का सिद्धात आत्मविरोधी होगा क्योकि व्यक्ति अथवा 'मैं' जिसे कि इस सिद्धात मे स्थितियो का मालिक बताया गया है स्वय कभी भी चेतनात्मक स्थिति के रूप मे प्रस्तुत नही किया जाता। इसीलिए ह्यूम का यह तर्क जिसके इस सैद्धातिक आधार पर कि चेतनात्मक स्थितियो के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व है ही नही, उसने यह परिणाम निकाला कि चूँकि विचारक अथवा व्यक्ति स्वय कोई चेतनात्मक स्थिति नही है, इसलिए भ्रान्ति अथवा माया ही है, सत्य नही है। लेकिन दूसरी ओर अगर कोई विचारक नही है अथवा सचरक स्थितियो का मालिक कोई व्यक्ति नही है तो स्थितियाँ—किसी की भी उपयुक्त स्थितियाँ अथवा किसी के उचित रूपान्तरण नही है। इस सिद्धात के—कि सब वस्तुएँ चेतनात्मक स्थितियाँ ही है—सूत्रीकरण मे वर्तमान इस स्पष्ट व्याघात के अतिरिक्त हमे यह एतराज भी उठाना होगा कि यह सिद्धात अनुभूति के दत्तो का विवरण नही है, अपितु वह उन दत्तो के सबधो के बारे मे एक प्राक्कल्पना मात्र है। अनुभूति का एक ओर आत्म अथवा व्यक्ति मे तथा दूसरी ओर उसकी स्थितियो मे विभाजन हमारे तात्कालिक बोध से उद्‌बुद्ध नही होता। वह तो उपर्युक्त बोध की सारवस्तु पर किये गये विमर्श की प्रगति से उत्पन्न होता है। ज्ञेय वस्तुओ और उनके गुणो के हमारे प्रत्यक्ष बोध से वे कभी भी स्वात्म की स्थितियो या रूपान्तरणो के रूप मे, हमारे सामने नही आते। वे वास्तव मे स्वात्म अथवा व्यक्ति की स्थिति अथवा रूपान्तरण मात्र है, अन्य कुछ भी नही। यह उन बहुत-सी प्राक्कल्पनाओ मे से अन्यतम है, जिन्हे हमने अपनी विचार-परम्परा की कुछ कठिनाइयो का सामना करने के लिए गढ लिया है। वास्तविकता का ज्ञान शुरू से ही थोडा-थोडा करके मनस्तत्त्वीय तथ्य के अगो के रूप मे हम तक पहुँचता है। फिर एक बार हम निश्चय रूप से अनुभव करते है कि इन अगो ही के किसी तरह से युक्त हो जाने पर एक सगत समग्र या निकाय का रूप अवश्य धारण कर लेते होगे। इस कल्पना के आधार पर कि वास्तविकता जिन तथ्य-वस्तुओ से मिल कर बनती है, वे उन व्यक्तियो अथवा विषय के स्थायी स्वरूपो द्वारा—जिनकी वे वस्तुएँ अस्थायी स्थितियाँ या रूपान्तरण हैं—परस्पर सबद्ध है हम उसके यानी वास्तविकता के निकायी स्वरूप को समझने और उसका कारण समझाने का प्रयत्न किया करते है। अनुभवजन्य तथ्य किस प्रकार मिलकर निकाय का रूप धारण किया करते हैं यह समझाने का उपर्युक्त प्रकार का विशेष प्रयत्न हमारे मूल अभ्युपगम का भाग नही है। वह तो विश्व के द्रव्यगुणीय स्वरूप विषयक अनेक सिद्धातो मे से एक अन्यतम सिद्धात मात्र है और उसके गुणावगुण की परीक्षा करना स्वय तत्त्वमीमासा का ही काम है।

इसी प्रकार यदि हम वास्तविकता विषयक अपने मूल अभ्युपगम का तादात्म्य ह्यूम तथा उनके अनुयायियो के मन के साथ बैठायें जिसके अनुसार वास्तविकता का अस्तित्व केवल उन धारणाओं और अभिज्ञाओ की ऐसी शृखलाओं के कारण ही है, जो कुछ निर्धारित अनुक्रम मे मनोवैज्ञानिक नियमो द्वारा परस्पर आवद्ध हो, तो यह कार्य अनधिकृत अधियोजनमात्र होगा । इस मत के अनुसार अनुभूतियो की किसी अन्य प्रकार की गहरी रचनात्मक सहृति मनोजनित कल्पितार्थ कह कर अस्वीकार्य करायी गयी है। हमारे कथन मे उपर्युक्त प्रकार के विरोधाभास का अध्याहार कर देने का रहस्य 'केवल' शब्द शामिल करके हमारे उक्त कथन की सत्यता को पहले से ही सत्य मान लेने के तर्काभास मे निहित है। ऐसे मनस्तत्त्वीय तथ्यो के साथ, जो येनकेन प्रकारेण एक निकार्यी इकाई मे परिणत हो जाये, वास्तविकता का तादात्म्य बैठा देने से यह परिणाम नही निकलता कि उन तथ्यों मे वर्तमान एकता किसी अथवा किन्ही नियमो की अनुसारी ही है। जैसा कि पहले वताया जा चुका है—हमे तत्त्वमीमासा के मौलिक सिद्धात के रूप मे, और ऐसे सिद्धात के रूप मे, जिस पर व्याघात निग्रह मे पड़े विना सन्देह नही किया जा सकता, दृढतापूर्वक यह कहने का अधिकार है कि समग्र वास्तविकता मनस्तत्त्वीय तथ्यो की सगति हुआ करती है और यह कि इन तथ्यो की सगति का परिणाम एक निकाय रूप होना आवश्यक है। यदि हो सके, तो हमे अभी यह खोज निकालना वाकी है कि यह निकाय कैसे वन जाता है।

इस समस्या के समाधान के गुणावगुण का विवेचन हम आगे चलकर करेंगे। किन्तु इस समाधान को, विना किसी ननुनच के सिद्धात-रूप मे स्वीकार कर लेने की असमाव्यता एक मामूली से उदाहरण द्वारा पाठको के सामने प्रस्तुत की जा सकती है। कलात्मक समग्र उदाहरण के लिए 'हैमलेट' नाटक को ले लीजिए। यह हैमलेट नाटक प्रत्येक ऐसे विद्यार्थी के लिए, जो उसका पारायण अपनी एकान्त कोठरी मे बैठकर किया करता है, छपे हुए शब्दो का एक अनुक्रमिक सग्रहमात्र है। ये शब्द ही नाटक की समग्र वस्तु है। इन शब्दों की सगति मात्र से यह नाटक वना है, अन्य कुछ भी उसमे नही है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि यही इस नाटक की तथ्यवस्तु है और वह उपर्युक्त शब्द—व्याकरण तथा छन्द सबधी उन नियमो द्वारा, जिनके अनुसार अग्रेजी भाषा का वाक्य-विन्यास निर्धारित होता है—परस्पर सगठित है। नाटकीय काव्य की वृत्त-रचना के नियमो का भी वे अनुसरण करते है। अत. यदि हम कहे कि यह नाटक व्याकरण और वृत्त-रचना के नियमानुसार निहित शब्दों की सगत शृखलाओं की सहृतिमात्र है, तो यह उक्त नाटक का यथाशक्य सही वर्णन होगा। लेकिन, यह कहना कि हैमलेट शब्दो के उपर्युक्त अनुक्रम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है निश्चय ही असत्य होगा; क्योकि उसका कलावस्तु सम्वन्धी स्वरूप, तो इस वात पर ही पूर्ण-

रूपेण निर्भर है कि समग्र रूप से इस शब्द-सग्रह मे रचनात्मक और उद्देश्यात्मक एक-रसता मौजूद है और उसकी तथ्य-वस्तु शब्दो और वाक्यो मे मानवीय चरित्र और प्रयोजन को प्रकट करने की अन्त सगत शक्ति भी वर्तमान है। अर्थ की इस अन्तर्निहित एकता के बिना केवल व्याकरण और वृत्त-रचनापरक शाब्दिक एकता, कला कृति कही जाने योग्य कभी नही हो सकती। आगामी विवेचन मे हमारा एक उद्देश्य यह दिखाना भी होगा कि किसी कलामय वस्तु के विषय मे जो वात उपर्युक्त प्रकार से सही है, वह सफलता के प्रत्येक यथार्थ निकाय के विषय मे भी सार्वरूप से सही होती है।

७—अत वास्तविकता विषयक दत्त अथवा तथ्य[1] अनुभूत तथ्य ही होते हैं—अनुभूत तथ्यो के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही और जैसा कि पहले वताया जा चुका है, हमारे प्रयोजनार्थ अनुभव से मतलव होता है—अव्यवहृत अनुभूति अथवा वोध। जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है अव्यवहृति का आशय मनोवैज्ञानिक भाषा मे क्या हो सकता है—इसका उत्तर इससे अधिक विशद रूप मे नही दिया जा सकता कि वह ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा किसी वास्तविक मानसी अवस्था या स्थिति को उसी स्थिति के काल्पनिक विचारमात्र से अलग किया जा सकता । मनोविज्ञानशास्त्रानुसार इस प्रकार के विवरण से ही क्यो हमे सन्तोष कर लेना पडता है, यह वात स्पष्ट ही है। अव्यवहृत अनुभूति का अधिक विशद लक्षण करने के लिए हमे उन गुणो अथवा विशेषताओ की पहचान करनी होगी जिनके द्वारा वह व्यवहृत मे सर्वत्र अलग की जाती है। दरअसल हमे उसका वर्णन सामान्य शब्दो मे ही करना होगा और ऐसा कर सकने से पहले हमे प्रत्यक्ष अनुभव अथवा वोध स्वय प्राप्त करना और अपने वोध की सारवस्तु पर विचार करके उसका विश्लेषण करना आवश्यक होगा। मनोविज्ञानानुसार जो वर्णन हम अपने वोध का दिया करते हैं, वह उस अनुभव का सही वर्णन नही होता, जो हमे उस समय हुआ होता है, जवकि वह घटना घटित हो रही होती है, वल्कि वह उस अनुभूति का उस दृष्टिकोण से दिया विवरण होता है, जो अनुभूति के वास्तविक क्षण के पश्चात् हुए विचार-विमर्श का, उस अनुभूति से सम्वद्ध तदीय परिस्थितियो और

---

१ तथ्य को 'मैं चेतना के एक ही क्षण मे प्राप्त प्रत्यक्षवोध' के समतुल्य मानता हूँ। पहले प्रणीत अपने एक ग्रंथ 'दि प्रॉवलम ऑफ काण्डक्ट अध्याय १' मे मैंने इस शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ मे भी किया है यानी अनुभूति के सत्य विवरण के अन्त सार के अर्थ मे। उक्त शब्द का इस प्रकार का प्रयोग प्रस्थापित दार्शनिक प्रयोग से भिन्न है और इसलिए मैंने यहाँ उसे त्याग दिया है क्योंकि उससे भ्रान्ति होने की संभावना है।

सारवस्तु विषयक चेतन या अचेतन परिकल्पनाओं का भाषान्तर है। इस प्रकार हमारे मनोविज्ञानानुसारी विवरणो की सभाव्यता ही उन विभेदो के स्वीकरण पर निर्भर हुआ करती है, जो स्वय उस प्रत्यक्ष अनुभूति के उस रूप मे जो हमे तत्काल प्राप्त होती है, मौजूद नही रहते, अपितु उस पर बाद मे किए गए विचार-विमर्श से उत्पन्न होते है। किन्तु तत्त्वमीमासा के दृष्टिकोणानुसार अव्यवहृत अनुभूति का एक ऐसा सार्वत्रिक लक्षण निर्दिष्ट कर सकना सभव है जो वास्तविकता तथा ज्ञान विषयक हमारे सिद्धातों के लिए गुरुतम महत्त्व का है। मानसिक घटना मे उसको उसका वैशिष्ट्य या उसका अपना वह स्वरूप प्रदान करने वाला विशेष लक्षण या गुण भी वर्तमान रहता है, जिसके द्वारा वह घटना किसी अन्य ऐसी घटना से विलग की जा सकती है, जिसकी कल्पना द्वारा उस वास्तविक घटना के स्थान की पूर्ति की जा सके। यही मनस्तत्त्वीय तथ्य का अन्त सार है। उदाहरणार्थ किसी रग की, हरे रग की अनुभूति को ही ले लीजिए। इस अनुभूति मे अपना अपनापन मौजूद है यानी तत्ता या तत्ताभास वर्तमान है और वास्तविक रूप मे है इसीलिए उसे स्मृतमात्र अथवा पूर्वानुमित अनुभूति से पृथक् किया जा सकता है। साथ ही साथ उस अनुभूति मे उसका कि भाव भी वर्तमान है अर्थात् वह विशिष्ट गुण जिसके द्वारा उसे नील वर्ण की अनुभूति से पृथक् किया जा सकता है। यही बात कल्पनाजन्य अनुभूति के विषय मे भी सत्य है, क्योंकि उसकी कल्पना भी वास्तव मे घटित घटना है और उस कल्पना-क्रिया का उस घटना-क्रम मे जो सयुक्त रूप से मेरे मानसिक जीवन का कारण बनता है अपना एक विशिष्ट स्थान हुआ करता है। इसके साथ ही सारवस्तु की कल्पना-क्रिया अपने गुणो के वैशिष्ट्य द्वारा ही अन्य सभी सारवस्तुओं से पृथक् की जा सकती है।

सभी मनस्तत्त्वीय घटनाओ मे इन प्रभेदकारी पहलुओं की उपस्थिति का अत्यधिक प्रभावशाली उदाहरण हमे त्रुटि अथवा भ्रम से प्राप्त होता है। त्रुटि या भ्रम का सारतत्त्व ही कि भाव का मिथ्या बोध है। उदाहरणत जब कोई अबोध गाँववाला भूत को देखता है या कोई रोगभ्रमित व्यक्ति रोग के काल्पनिक लक्षणो से अभिभूत हो उठता है, तब भूत और रोग का एकदम अभाव नही हुआ करता। उस समय कुछ न कुछ वास्तव मे देखा जाता अथवा अनुभूत अवश्य होता है, लेकिन गलती या भ्रान्ति उस अनुभूति या दर्शन मे इस बात की होती है कि दृष्ट या अनुभूत का स्वरूप उपगृहीत होता है। जो कुछ देखा या अनुभूत होता है, उसके स्वरूप को अन्यथा ग्रहण किया जाता है। तत्त्वमीमासक की दृष्टि से वह विशेषता, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष और तात्कालिक बोध को उस बोध के सार विषयक परवर्ती विमर्श से अलग किया जा सकता है—इस बात मे है कि स्वय तात्कालिक बोध के समय हमे मनस्तत्त्वीय तथ्य के दोनो पहलुओं की इस प्रकार की पृथकता की चेतना ही नही हो पाती। तत्काल

अनुभूत ही सदा वह तत्कि अथवा प्रक्रियातत्त्व या प्रक्रियासार[1] होता है जिसके 'तत्' और 'किं' का विभेद चेतना का विषय नही होता । किन्तु विमर्श की प्रत्येक क्रिया का 'किं', दूसरी ओर, उसके 'तत्' से स्पष्टत पृथक् किया जा सकता है और तब उसे यह कह कर कि उस क्रिया के विषय मे सच्चाई से इतना ही बताया जा सकता है, उस क्रिया से सम्बद्ध किया जा सकता है । विमर्श के परिणाम को निर्णय अथवा तर्कवाक्य के रूप मे ही प्राय प्रकट किया जाता है और उस तर्कवाक्य या निर्णय की प्रारम्भिकतम आकृति का निर्माण, उस विशिष्टता द्वारा जो विधेय को उद्देश्य से पृथक् करने से तथा बाद को उद्देश्य के विषय मे विधेय का विधान करने से उद्भूत होती है, हुआ करता है । विचार अथवा ज्ञान का कर्तव्य ही है कि वह विश्व को हमारे लिए अधिकतम बोधगम्य बनाये और यह काम विचारवस्तु के सार अथवा उसके किंचित का, उसके अपने तत् से विविक्त अवस्था मे क्रमिक विश्लेषण करके ही किया जा सकता है। हो सकता है कि तत्, जैसा कि किसी प्रत्यक्षण विषयक एकनिष्ठ निर्णय मे या विशिष्ट निर्णय के अवसर पर, हमारे तर्कवाक्यो मे ऐसे उद्देश्य के रूप मे वस्तुत. प्रकट हो, जिससे किंचित को स्पष्टत सपृक्त किया गया है अथवा कभी जैसा कि विज्ञान के सत्य सार्वत्रिको मे साध्य है अथवा तर्कशास्त्र के विधेय और आभासी उद्देश्य मे पाया जाता है विशेषित सार भी सयत हो सकते हैं और तब हो सकता है कि यह अथवा प्रत्यक्षावगत वास्तविकता, जिसका यह सारा विशेषण है उस तर्कवाक्य मे कही मिले ही नही। यही कारण है जो तर्कशास्त्री-गण सत्य सर्वत्र अथवा सामान्य सत्य निर्णय को बहुत पहले से ही सारत सोपाधिक मानते आये है और इसी कारण से सामान्यमति व्यक्ति को सदा ही वे वास्तविकतायें जो पूर्ववर्त्ती काल मे स्वतत्र रूप से मानस कार्य कही जाती थी विचार अथवा ज्ञान की ही विषयवस्तु प्रतीत होती है। लेकिन उसका इस प्रकार का विचारकोण एकदम गलत है क्योकि वह भूल जाता है कि ऊपर लिखे तरीके से जो कुछ प्राप्त होता है वह तो वास्तविकता की दुनिया का तद्भाव अथवा अस्तित्वमात्र ही होता है न कि उसका किंभाव अथवा सार और वह भी वैज्ञानिक विचार प्रणाली द्वारा अन्तिम रूप से निर्णीत सत्य रूप मे उपलब्ध सार के रूप मे नही है।[2]

---

१. प्रसगतः बोधगत 'सार' स्वयं ही प्रक्रिया हो सकता है जैसा कि परिवर्तनपरक बोध के सभी उदाहरणो मे पाया जाता है । लेकिन बोधगत प्रक्रिया से बोध की प्रक्रिया को सदैव पृथक् किया जा सकता है ।

२. खण्ड २ के अध्याय १ में हम देखेंगे कि किसी अनुभूति के तद्भाव मे किसी अनन्य वैयक्तिक रुचि अथवा प्रयोजन से सम्बद्ध होने की भावना अन्तर्हित रहती है ।

८—तव कहना होगा कि तत्त्वमीमासा की दृष्टि से अव्यवहृतित्व यानी यह तथ्य ही अनुभूति का आधारभूत लक्षण है कि अनुभूति के स्वत· अनुभूत वोध का अस्तित्व तथा उस वोध का सार मानस दृष्टि से परस्पर विभक्त नही होते। सभव है यह अव्यवहृति दत्त को उसके घटक पक्षो तथा तत्त्वो मे विमर्शजन्य विश्लेपण द्वारा विश्लिष्ट न किये जाने के कारण उत्पन्न होती है, जिस प्रकार कि अनिर्वक्त सवेदन के मामले मे हुआ करता है । लेकिन, जैसा कि आगे चलकर अधिक पूर्णरूप मे देखने के अवसर हमें आयेंगे, यह अव्यवहृति विविक्ति तथा विमर्श प्रक्रियाओं द्वारा मुक्त परिणामो के प्रत्यक्ष वोध की किसी एक समग्रता मे उच्च स्तर पर समकित हो जाने के कारण भी उत्पन्न हो सकती है। अनुभूति का ऐसा अव्यवहृतित्व भी हुआ करता है, जो व्यवहित विमर्शीय ज्ञान के नीचे वर्तमान रहता है, लेकिन एक उच्चतर प्रकार की अव्यवहृति भी होती है, जो उसके ऊपर रहती है। इस कथन की व्याख्या तथा उसकी न्याय्यता प्रमाणित करने का काम तो अगले अध्याय ही करेंगे, लेकिन अभी तो उस पर अधिक प्रकाश डालने के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करके ही हमे सतोप करना होगा। जटिल अभ्यन्तर रचना वाली किसी भी कलाकृति, उदाहरणत कोई भी सागीतिक रचना, अथवा शतरज की कोई भी समस्या यदि किसी ऐसे आदमी के सामने रख दी जाये जिसने कभी भी कला का अनुशीलन न किया हो, तो उसे वे ऐसे दत्तो के—जिनके अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के पहलू तब तक अलग न हो सके हों—अव्यवहृत सातत्य मात्र लगेंगे। उसके लिए कला-वस्तुओं की न तो कोई सार्थकता ही होगी न कोई अर्थ । केवल उनके अस्तित्व का ही भान उसे होगा। कलात्मक रूप के प्रेक्षण की शिक्षा ज्यो-ज्यो गतिमयी होती है त्यो-त्यों पहले तो पृथक्करण अधिकाधिक प्रमुखता ग्रहण करने लगता है। सरचना का प्रत्येक छोटा भाग, समग्र सरचना मे अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सार्थकता अथवा अर्थमत्ता ग्रहण करता है और यह पहले-पहल तो ऐसी लगती है, मानो वह उस भाग के सीधे दिखायी देने वाले स्वरूप से अधिक और अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु हो—ऐसी वस्तु जिसे विमर्शीय विश्लेषण द्वारा तथा एक भाग की दूसरे भागो से तुलना करने के वाद ही निगृहीत किया जा सके। अव प्रत्येक भाग, उसके अन्त सार के विश्लेषण द्वारा अपने से भिन्न और वहिर्गत किसी वस्तु का प्रतिरूप अथवा अर्थ ग्रहण कर लेता है यानी अन्य सभी भागो से उसका सम्वन्व स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है । लेकिन जव सौन्दर्य-वोध अथवा कला विपयक हमारी शिक्षा पूर्ण हो जाती है तव हमारी अनुभूति या वोध और उसके अन्त.सार के वीच आया व्यवधान अर्थात् अव्यवहृतित्व का नाश समाप्त होकर पुन· एक वार उसकी स्थापना हो जाती है । पूर्णत प्रशिक्षित दृष्टि के लिए तव वह रचना अथवा साध्य, कलात्मक समग्र के रूप मे उसका गठन, ऐसा नहीं लगता कि उसके समझने अथवा अर्थ ग्रहण करने के लिए अलग-अलग भागो को मिलाने और

विमर्शात्मक विश्लेषण-निष्कर्ष पर पहुँचने की आवश्यकता हो। अब वह एक सरचनात्मक इकाई के रूप मे सीधे ही बोधग्राह्य हो जाती है। सरचना के अर्थवती होने के कारण विमर्श तथा तुलना की अव्यवहृत स्थितियो के परिणाम नष्ट न होकर समग्र अनुभूति मे ही विलीन हुए रहते हैं। सरचना का अर्थ तब उसके अस्तित्व से बाह्य नही रहता और वह रचना ही स्वय अर्थवती लगने लगती है और अर्थ स्वय रचना-स्वरूप लगने लगता है।[1] आगे चल कर शायद स्पष्ट हो सके कि उपर्युक्त कलात्मक-दृष्टि-विषयक उदाहरण द्वारा जो कुछ समझाने की चेष्टा की गयी है वह वास्तविकता का अर्थ समझाने के सभी प्रगतिशील प्रयत्नो के बारे मे भी बहुत कुछ सही है। आम तौर पर लोग जिसे रहस्यवाद कहते है उसका शायद एक मौलिक दर्शन-शास्त्रीय दोष है कि वह प्रवर और अवर अव्यवहतित्व के इस विभेद को ओझल करके अनुभूत वास्तविकता के साथ पुन. सीधा सपर्क स्थापित करने की चेष्टा किया करता है। लेकिन वैज्ञानिक विमर्श विश्लेषणात्मक विचारधारा द्वारा हुए कार्य को उलट कर तथा अमापान्तरित अनुभूति मात्र के स्थिति-बिन्दु की ओर उसे फिर से पलट कर इस सयुक्त को अनावरूप से ढीला कर देता है।[2]

९—शायद इसी अवसर पर एक अन्य ऐसे लक्षण की—जो अव्यवहृत अनुभूति के प्रत्येक दत्त से सम्बद्ध प्रतीत होता है—व्याख्या करना उचित होगा। ऐसा लगता है कि प्रत्येक अनुभूति अन्तर्निहित रूप से जटिल ही होती है अर्थात् उसका अन्तर्वस्तु-पक्ष कभी भी एकान्तत सरल नही प्रतीत हुआ करता है, अपितु उसमे सदा ही अनेक पक्ष सम्मिलित रहा करते हैं। ये पहलू प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप मे स्पष्ट नहीं होते हैं परन्तु

---

१. निश्चय ही यह बात अंशतः ही सही है। जैसा कि आगे के पृष्ठो मे बताया जायगा वास्तविकता या सत्ता के किसी भी परिमित खड की बनावट मे 'तदर्थ में वैसा ही होने और वैसा ही होने का अभिप्राय रखने का आदर्श' कहीं भी 'पूर्णरूप' से कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सका, परिशुद्धतः इसलिये कि परिमित, जैसाकि उसकी संज्ञा मे ही अन्तर्हित है, कभी भी एक पूर्णतः व्यवस्थित समग्र नहीं हुआ करता।

२ उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के, जिनके द्वारा अर्थ अधिगृहीत हुआ करता है—विषय के लिए स्टाउट की पुस्तक 'मैनुएल ऑफ साइकॉलोजी' भाग—१ अध्याय ३ देखिये। रूप बोध के विषय में भी उसी लेखक की पुस्तक 'एनालिटिक साइकॉलोजी' भाग १ अध्याय ३ देखिये। रायस की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम कड़ी मे बाह्य तथा आन्तरिक अर्थ के परस्पर विभेद के सम्बंध में अत्यन्त रोचक विवाद पढ़ने को मिल सकता है।

ज्यों ही विमर्श द्वारा हम उनका वर्णन तथा विश्लेपण प्रारभ कर देते है त्यो ही वे पहचान मे आने लगते है और हम उनमे विभेद कर सकते हैं। वस्तुस्थिति के स्वरूप को देखते हुए इन पहलुओ की दुरूहता का सीवा अभिनिश्चयन निरीक्षण द्वारा नही किया जा सकता क्योंकि निरीक्षण करने मे पहले से ही मान लिया जाता है कि हम अनुभूति का विवेचन उसके तत्काल अनुभूत रूप मे नही अपितु ऐसे रूप मे कर रहे हैं जो पहले से ही पर्याप्त विश्लेपित और विभ्रष्ट होकर सामान्य अभिधाओं मे वर्ण्य वन चुका है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से लगता ऐसा ही है कि हमे जिस परिणाम पर पहुँचना है उस तक इसी विचारणा द्वारा पहुँचना है कि दत्तों पर ज्यों ही हम ध्यान देते हैं, त्यों ही ये प्रभेद्य पहलू विपय-वस्तु के भीतर ही हमे मिल जायेंगे और यह कि यदि वे शुरु से ही अलक्ष्यरूप मे उसके भीतर मौजूद न होते तो विमर्श की प्रक्रिया मात्र द्वारा वे कहाँ से पैदा हो जाते। उदाहरण के तौर पर किसी वहुत ही प्रारभिक अनुभूति मे भी कुछ ऐसी वात दिखायी पडेगी जिसे इन्द्रियजन्य वोघ के उपस्थापक गुण तथा वोवानुगत सुख और दुख के प्रभेदक के रूप मे प्रस्तुत किया जा सके। इसके अतिरिक्त यह न सोचना भी कठिन है कि किसी इन्द्रियगम्य अनुभूति के उन तत्त्वों मे जो स्वयं ऐन्द्रिक वोधजनक अग-सगठन ऐंद्रिय वोव की न्यूनाधिक परिस्थितियों के अनुरूप है तथा उनके जो पर्यावरण के अपेक्षाकृत नवीन और अनावर्त अक्षणो के अनुरूप है अवश्य ही कोई भेद होना चाहिए। कुछ दर्शनशास्त्री इससे भी आगे जाने को तैयार होंगे और चाहेंगे कि तर्कशास्त्रानुसार की समावकता मात्र मे ही आत्म और अनात्म अथवा उद्देश्य और वस्तु के पारस्परिक विभेद की न्यूनाधिक स्पष्ट चेतना अन्तर्हित रहा करती है। मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के रूप मे इस सवाल को यहाँ उठाना आवश्यक नही है। लेकिन इतना ध्यान जरूर रखना होगा कि सरल से सरल अनुभूति की विपयवस्तु मे अन्तर्हित उन पहलुओ की—जो विश्लेपण द्वारा प्रकट होते हैं—सख्या तथा स्वरूप के वारे मे जो चाहे दृष्टिकोण अपनाएँ पर वे अनुभूत पहलू एक अविश्लिष्ट समग्र के रूप मे ही मूलत सगठित होते हैं। तदनुवर्ती हमारे विविध विश्लेपणो मे अनुभूति के चरम 'कि' के वारे मे ऐसे सिद्धान्त पूर्वस्थापित कर लिये जाते हैं जिनकी परीक्षा करना तत्त्वमीमासा का ही कर्तव्य होता है।

१०—तत्त्वमीमासीय निकष विपयक हमारी पूर्ववर्ती विवेचना से इतना तो पता चल ही जाता है कि वास्तविकता अथवा सत्ता के समग्र के वारे मे पूर्णत पर्याप्त वोव का उचित रूप से निर्धारित आदर्श किस प्रकार का होना चाहिए। सत्ता अथवा वास्तविकता सम्बन्धी पूर्णत पर्याप्त वोव वह ही हो सकता है जिसमे वास्तविकता ही वास्तविकता हो और वास्तविकता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न हो अर्थात् भ्रान्तिजनक आभास का कोई भी तत्त्व उसमे अनुविद्ध न हो। अपने स्वरूप के अनुसार उसका पहले

तो सर्वानुपगी होना आवश्यक है, यानी उसमे प्रत्यक्ष अनुभूति का प्रत्येक दत्त सम्मिलित होना चाहिए और चूँकि अनुभूति के दत्तों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी—वे दत्त जिन्हे हम मनस्तत्त्वीय तथ्यो की सज्ञा भी दे चुके हैं—वास्तविकता या सत्ता का उपादान नही हुआ करता अत वास्तविकता मे अन्य कुछ भी आवृत नही हो सकता। दूसरी बात यह कि वास्तविकता की अपनी आन्तरिक समरस बनावट के एकलतन्त्र के अनुभाग के रूप मे ही उसके समग्र दत्तों को बिना किसी व्याघात और असंगति के—उसमे अन्तर्हित रहना होगा क्योंकि जहाँ कही भी असगति होती है वहाँ ही अपूर्ण तथा तत्परिणामी आंशिक मिथ्याभास भी पाया जाता है जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। तीसरी बात यह है कि अनुभूति के समग्र दत्तो का इस प्रकार का सर्वानुपगी समरस बोध अन्तर्वस्तु से अस्तित्व की उस वियुक्ति का जो हमारी अपनी अनुभूति को सगत रूप मे पुन प्रस्तुत करने के हमारे अपने प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर उत्पन्न हो जाती है—स्पष्टत अतिक्रमण कर जायगा। चूँकि यह बोध अपने आप मे सपूर्ण होता है अत उच्चस्तर पर जाकर वह उस अव्यवहृति को भी शामिल कर लेगा, जिसे निम्नस्तरीय अवस्था मे हम अनुभूति का वैशिष्ट्य समझते हैं। इस प्रकार उसे वास्तविक अस्तित्व के समग्र की अनुभूति ऐसी प्रत्यक्ष व्यवस्था के रूप मे होगी जिसमे आन्तरिक सगति और सरचना तो है लेकिन जो अपने से परे अन्य किसी वस्तु द्वारा निर्दिष्ट नही होती। कलात्मक समग्र के विषय मे हम जो बता चुके हैं वही बात अस्तित्व के समग्र के बारे मे भी सही है यानी चूँकि उसका बोध भी पूर्ण अन्तर्दृष्टि द्वारा ही हो सकता है अत वह भी वही होगा जो उसका तदर्थ है तथा उसका तदर्थ भी वही होगा जो वह स्वय थी। वास्तविकता की एकल व्यवस्थात्मक इस प्रकार की आदर्शत पूर्ण अनुभूति को, उसकी विशिष्टत अनुभूत्यात्मक प्रकृति को प्रकट करने की दृष्टि से हम 'शुद्ध' अनुभूति की वह सज्ञा दे सकते हैं, जिसका दर्शनशास्त्र मे सबसे पहले प्रयोग अवेनारियस नामक दर्शनशास्त्री ने किया था। इस संज्ञा द्वारा यह प्रकट होगा कि यह अनुभूति अपने समग्र अगों से केवल अनुभूति ही है अन्य कुछ नही। निश्चय ही इस नाम को अपनाते हुए हमारे लिए आवश्यक नही है कि हम अवेनारियस के एतद्विषयक अन्य विचारो से विशेषत ऐसी अनुभूति की सरचना विषयक विचारणा से भी सहमत हों।

स्वय हमारी मानवीय अनुभूति स्पष्टत इस प्रकार के आदर्श से बहुत नीची पड़ जाती है और वह दो कारणों से। पहला तो यह कि हमारी अनुभूति दत्तो की दृष्टि से अपूर्ण हुआ करती है। वास्तविकता मे ऐसा बहुत कुछ हुआ करता है या मौजूद रहता है जो हमारी अनुभूति मे कभी भी प्रत्यक्षत समाविष्ट नही हो पाता। जो कुछ समाविष्ट होता भी है उसमे से अधिकाश के बारे मे साधारणत हम इतना ही बता सकते हैं कि अगर उसके सविकल्प प्रत्यक्षण की निर्धारित परिस्थितियाँ मौजूद होती, तो वह हमे कैसा

प्रतीत होता इन परिस्थितियों का हमारा ज्ञान भी प्राय. अत्यधिक अपूर्ण ही है। इन परिस्थितियों के अनुरूप मनस्तत्त्वीय तथ्य विषयक वास्तविक उपादान क्या है तथा उन उपादानों से हमारे लिए किस प्रकार के आभास का निर्धारण हो सकेगा यह बता सकने मे हम एकदम असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि वास्तविक जगत् मे ऐसा बहुत कुछ मौजूद हो जो इस अप्रत्यक्ष विधि द्वारा भी मानवीय ज्ञान की सरचना के अन्तर्गत कभी भी न प्रविष्ट होता हो। अत. हमारी मानवीय अनुभूति तथा वे बौद्धिक अर्थागम जिनके द्वारा हम उस अनुभूति को व्यक्त करने की चेष्टा किया करते है, दोनों सदा खडित तथा आंशिक रूप मे ही हमारे सामने आया करते हैं। व्यवस्थाबद्ध समग्र वास्तविकता के आदर्श अथवा पूर्ण बोध द्वारा विश्व के किसी भी एक तथ्य से प्रत्येक अन्य तथ्य के स्वरूप का निगमन किया जा सकेगा। अथवा यों कहा जा सकता है कि चूँकि समग्र अपने सपूर्ण रूप मे भी हमारे सामने एकान्तत. प्रस्तुत होगा अत. किसी निगमन की आवश्यकता ही न रहेगी। प्रत्येक तथ्य प्रत्यक्षत: सभी अन्य तथ्यों से, व्यवस्था के उस आन्त प्रज्ञ रूप से जिसके आधीन सब अन्य तथ्य रहा करते हैं, सीधा सम्बद्ध होकर ही हमारे सामने आयेगा। परन्तु चूँकि मनुष्य का विश्व विषयक बोध अभी अपूर्ण ही है; अत: हमारे तथ्य अधिकांशत. एक दूसरे से विविक्त और स्वतंत्र तथा 'एक आकस्मिक सहयुति' अथवा 'सहस्थापना' के रूप मे ही हमारे सामने आते है और वे प्राक्कल्पनाएँ जिनके द्वारा हम उन तथ्यों को एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं—हमारे दत्तो के स्वरूप द्वारा अधिकांशत. निर्धारित होने पर भी—कभी भी स्वेच्छ और 'अबाध' अर्थागम तत्त्व से रहित नही हो पाती। अपनी पूर्णता के लिए उन्हे कभी भी उन तथ्यों के जिन्हे वे सयुक्त करती हैं—स्वरूप अथवा स्वभाव पर एकान्तत निर्भर होना आवश्यक नही हुआ करता। इसलिए हम कभी भी निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि हमारे प्राक्कल्पनात्मक अर्थागम स्वयं इन अर्थों मे सत्य हैं कि वे उन बातों का जो एक पूरी हुई अनुभूति के लिए तथ्य वस्तु रूप हों—विवरण प्रस्तुत करते हैं। हमारा आदर्श तो इतना ही है कि हम प्रस्तुत किये गये अपने तथ्यों को ऐसे अर्थागमों द्वारा प्रस्तुत कर सकें जिनकी प्रत्येक कड़ी स्वयं एक तथ्यवस्तु अथवा अनुभूति इस माने मे हो कि ज्ञात परिस्थितियों मे वह एक प्रत्यक्ष बोध की तथ्य वस्तु बन सके—लेकिन अपनी अनुभूति के आंशिक अथवा खडीय स्वरूप के कारण हम उस आदर्श तक कभी भी पूरी तरह पहुँच नही सकते। सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयों मे हमें अनवरत रूप से ऐसे प्राक्कल्पनात्मक अर्थागमों का उपयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो केवल 'लाक्षणिक' या 'प्रतीकात्मक' इस अर्थ मे हैं तथा जहाँ तक हमे मालूम है सदा ऐसे ही शायद रहे—कि आनुभूतिक दत्तों के समन्वयन के लिए उपयोगी होते हुए भी वे स्वयं कभी भी प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय नही बन सकते क्योंकि

वे या तो अनुभूतिमात्र के सामान्य स्वरूप के विरोधी होते है अथवा जिन विशिष्ट अनुभूतियो के सबंध मे उनका उपयोग होता है—उन्ही के विशिष्ट स्वरूप हमारी वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं तथा बीजगणितीय अवकलन के किसी आंकिक अथवा ज्यामितीय विषय-विनियोग की अनिर्वचनीय स्थितियों के बीच इस प्रकार एक ग्रहण साम्यानुमान सामने आ जाता है। प्रत्यक्षानुभूति विषयक कल्पनाओ की उपयोगिता खुद उनकी वास्तविकता की गारेन्टी के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी अवकलनान्तर्गत समग्र प्रतीकी प्रक्रियाओं[1] का बोधगम्य अर्थ निर्णय कर सकने की हमारी क्षमता की गारेन्टी के लिए इस तरह के अवकलन की उपयोगिता। किसी शुद्ध और पूर्ण अनुभूति मे, ऐसी अनुभूति मे जिसका एक ही वार मे समग्र अर्थ ग्रहण कर लिया गया है और जो व्यवस्थित है तथा जिसमे अस्तित्व और अन्तःसार तथा तथ्य और रचना पृथक् नही रह गये हैं, इस प्रकार की अन्ततः अनिर्णेयार्थ प्रतीकात्मकताओं के लिए निश्चय ही कोई स्थान नही रह जाता।

तब तत्त्वमीमांसीय मूल समस्या यह रह जाती है कि इस प्रकार की पूरित अथवा 'परिशुद्ध' अनुभूति के सामान्य अथवा औपचारिक लक्षणो की खोज यदि हम कर सकते हो तो करें यानी ऐसे लक्षणो की खोज जो केवल उस अनुभूति के समग्रात्मक तथा पूर्णतः व्यवस्थित स्वरूप के कारण ही उसके अपने बन गये हों। इसके अतिरिक्त यह निर्धारित करना कि हमारी विश्वात्मक मानवीय अनुभूतियो के सार्वत्रिक लक्षणो

---

१. गणितीय प्रतीकात्मकता का अर्थ निर्णय सदा किया जा सकता है। इस प्रकार के अनुमान के दोषपूर्ण होने के बारे मे, कुछ अच्छी टिप्पणियो के लिए देखिए बी० रसल लिखित 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री' पृ० ४५–४६ या व्हाइट हेड लिखित 'युनिवर्सल एल्जब्रा खंड' १ पृ० १०। विगत धारा मे वर्णित युक्ति के अधिक भाष्य के लिए मैं अपनी पुस्तक "प्राब्लम ऑफ कण्डक्ट" के पृ० १४–२१ तक पढ़ने की सलाह दूँगा। 'प्रतीकात्मक' संकल्पना शब्द के संबंध मे मैं जो कुछ समझा हूँ—यानी ऐसी परिकल्पना, जिसे प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप मे व्यक्त नहीं किया जा सकता—उसके बारे में मैं अपने पाठको को सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे इस प्रकार की संकल्पना तथा स्पेंसर महोदय के प्रतीकात्मक विचार की पहचान करने में गड़बड़ी न कर बैठें। स्पेंसर के इस शब्द का अर्थ है—ऐसा विचार, जो मनोवैज्ञानिक रूप से, उस अर्थ की प्रस्ताविक प्रतिलिपि नहीं है, जिसका प्रतिनिधित्व वह करता है। उस शब्द का होगा प्रयोग केवल शुद्ध तर्कात्मक ही है। उसका संपर्क केवल मानसिक प्रतिमाओ के अर्थमात्र से ही है, उनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप से उसे कोई सरोकार नहीं।

मे से कौनसे लक्षण ऐसे है जिन्हे किसी ससक्त अनुभूति के साथ, उसकी प्रकृति या स्वरूप के कारण उसके अपने वन जाना चाहिए तथा जो किसी शुद्ध अनुभूति के औपचारिक लक्षणो से पृथक् पहचाने जा सकते है—पूर्णत निर्धारित तत्त्वदर्शन का काम होगा। हमारे तत्त्वदर्शन को यह भी पता करना होगा कि मानवीय अनुभूति के उन लक्षणो मे से जिनका उपर्युक्त प्रकार का चरित्र या रूप नही है—कौनसे गुण अधिकाश मे उस अनुभूति की अनुकूलता तक पहुँच सकते है तथा वास्तविकतया एकान्तत पूर्ण तथा एकरस अनुभूति मे स्थान ग्रहण करने के लिए जिन्हे सक्षम बनाने के लिए कम से कम सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता होगी। यदि हम अपने कार्यक्रम को पूरा कर सके, तो सबसे पहले हमे इस बात की एक सामान्य कल्पना कर लेनी होगी कि अनुभूत वास्तविकता के विधान की रूपरेखा एक व्यवस्थित समग्र के रूप मे क्या है। दूसरी बात यह कि हमे उन विभिन्न सकल्पनाओं तथा पदार्थो को जिनके द्वारा हम अपनी दैनिक विचार-प्रक्रिया मे तथा विभिन्न विज्ञानो मे भी—अपने अनुभूति जगत् का अर्थनिर्धारण करने का प्रयत्न किया करते है सत्य तथा वास्तविकता की श्रेणियो के आरोही क्रमानुसार जिस सीमा तक उन्हे, व्यवस्थावध अनुभूत वास्तविकता के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त बनाने के लिए परिवर्तित करना आवश्यक हो—तदनुकूल ही व्यवस्थित करना होगा। इस प्रकार के विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वयं निश्चय ही वास्तविकता की एक शुद्ध और सर्वांगीण अनुभूति न होगा वल्कि वह तो इस प्रकार की अनुभूति के सामान्य रूप से एक मध्यवर्ती ज्ञान मात्र होगा और उस सीमा तक केवल एक गुणवाची तथा अपूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान के समान ही होगा। उसका सकेत फिर भी अपने से परे की किसी वस्तु की ओर होगा और इसीलिए उसका अर्थ भी अपने अस्तित्व से पृथक होगा लेकिन किसी सर्वांगी अनुभूत समग्र के स्वरूप के बारे मे हमारा तत्त्वमीमासीय ज्ञान, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के समान न होकर इस माने में अन्तिम होगा कि किसी भी सद्य का समावेश सिद्धान्तत उसे परिवर्तित न कर सकेगा। सद्य ज्ञान अथवा नवीन ज्ञान मे जहाँ अन्य सभी मामलात मे कम से कम वर्तमान सिद्धान्तों मे परिवर्तन होने की सभावना निहित रहती है वहाँ इस मामले में उसके कारण केवल इतना ही हो सकेगा कि वास्तविकता की सामान्य रचना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि को प्रभावित किये विना वह उसकी व्यवस्था सम्बन्धिनी हमारी सकल्पना को और स्पष्ट करके अधिक सुदृढ बना दे।

ऐसे ज्ञान की जो अपूर्ण होते हुए भी अन्तिम है—इस सकल्पना को प्रारम्भिक गणित के एक उदाहरण द्वारा समझाना उचित होगा। हमे पूरी तरह और ठीक तरह से मालूम है कि π नामक चिह्न से क्या अभिप्रेत है। π का पूर्णत निर्धारण हमारे लिए इस परिभाषा द्वारा किया जा चुका है कि वह किसी वृत्त की परिधि और उसके व्यास के

बीच के अनुपात का नाम है। यहाँ वृत्त के परिधि तथा व्यास दोनो ही उन अगो की जिनका उपयोग π की परिभाषा के सम्बन्ध में हम करते है—असदिग्ध परिभाषा हमारे पास है ही। इस प्रकार इस चिह्न या प्रतीक का अर्थ विषयक हमारा ज्ञान स्पष्ट रूप से अन्तिम अथवा निर्णीत है। हमारे इस ज्ञान की किसी भी प्रकार की वृद्धि से उस अर्थ मे कोई परिवर्तन न आयेगा। इसके साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि π विषयक हमारा ज्ञान अन्तिम होते हुए भी अपूर्ण है अत राशि π असम्मेय है अत कभी भी उसका शुद्ध मूल्याकन नही कर सकते। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि किसी वाछित कोटि के सन्निकट तक उसका मूल्य निर्धारण कर दें। और चूँकि किसी भी सन्निकटन से उस राशि का एकान्त शुद्ध मूल्य नही प्राप्त किया जा सकता अत एक सन्निकटन दूसरे की अपेक्षा निकट होता जायेगा चूँकि इनमे से एक भी सन्निकटन सन्निकट सत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है फिर भी यह किसी तरह नही कहा जा सकता कि इनमे से प्रत्येक सन्निकटन लक्ष्य से एक समान ही दूर है। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि एक व्यवस्थित समग्र के रूप मे अनुभूत वास्तविकता तथा अनुभूति का सामान्य स्वरूप क्या है यह हम भले ही अन्तिम रूप से बता सके, लेकिन जब हम इस व्यवस्था के स्वरूप की विविक्ति के विषय मे पूछताछ करने पर आते है तब हमे उन विज्ञानो पर ही निर्भर होना पडता है जिनके निष्कर्ष सन्निकटन मात्र हुआ करते है। अत इससे यह नही कहा जा सकता—जैसा कि प्राय. मान लिया जाता है कि एक विज्ञान के पदार्थ परम या एकान्त सत्य का अन्य विज्ञान की अपेक्षा निकटतर सन्निकटन हमारे सामने प्रस्तुत नही करते।[1]

११—पूर्वगत अनुच्छेदो मे हमने जिस प्रकार के तत्त्वदर्शन या विज्ञान की मीमासा की है उसके लिए आवश्यक विधि-रीति या प्रणाली के विषय मे कुछ सामान्य विमर्श देकर ही इस अध्याय को समाप्त करना उचित होगा। यह तो तय ही है कि किसी भी वैज्ञानिक विधि का सच्चा स्वरूप तभी पता चल पाता है जब कि उसका क्रियात्मक उपयोग किया जाये। किसी भी ऐसी कार्य-विधि के स्वरूप के सम्बन्ध मे जिसे पहले कभी भी क्रियात्मक व्यवहार द्वारा प्रदर्शित नही किया गया या तो उसके श्रेष्ठतम परिणाम निष्फल या निरर्थक हो सकते है या उसका बुरे से बुरा रूप यह हो सकता है कि निश्चित रूप से वह ऐसे पूर्वाग्रहो का स्रोत बन जाये जिनसे आगे चल कर अनुसन्धान की प्रगति मे गभीर रुकावट उपस्थित हो। लेकिन फिर भी अनुसधेय समस्याओ की हमारी सकल्पनाओ द्वारा हम पर लायी गई कार्य-विधि के कुछ सामान्य लक्षण ऐसे हैं जिनका निर्देश हम अपने अनुसधान की इस स्थिति पर भी कर सकते हैं।

---

१ मेरी पुस्तक 'प्राब्लम ऑफ काण्डक्ट' पृ० २२–३९ से तुलना कीजिए।

पहले तो हमारी कार्य-विधि का स्वरूप स्पष्टतः 'विश्लेषणात्मक' तथा 'आलोचनात्मक' होना ही चाहिए। हम अनुभूति के लक्ष्यार्थों या विवक्षाओं का पता लगाने के लिए उसका विश्लेषण किया करते हैं। इसी उद्देश्य से हम विश्व-व्यवस्था के अन्तःसार विषयक अपने विभिन्न वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया करते हैं। जब एक बार हम अनुभूत तथ्य के सर्वांगीण व्यवस्थित समग के औपचारिक लक्षणों का निर्धारण कर चुकते हैं तब इन लक्षणों को वास्तविकता और सत्य का चरम मानदण्ड मानकर हम उसका हवाला देते हुए ही अपनी विभिन्न संकल्पनाओं और सिद्धान्तों की आलोचना किया करते हैं। नकारात्मक रूप मे यही बात अगर कही जाय तो इतना और जोड़ा जा सकता है कि हमारी कार्य-विधि अनुभवाश्रित नही है, न ही 'आगमनात्मक'[1] है और वह भी उसी माने मे जिसमे शुद्ध गणित को अनागमनात्मक कहा जा सकता है। वह इसी कारण अननुभवाश्रयी कही जायगी चूँकि तदर्थ हमे अपने सभी दत्तों का विश्लेषण तथा अपने सभी पूर्व-कल्पित सिद्धान्तों का आलोचन करना आवश्यक होता है। किसी भी तथ्य को विश्लेषण विना अथवा किसी भी सकल्पना को आलोचना विना ग्रहण करने की हमे अनुभूति नही है न हम उन्हे ऐसे निरापद दत्त के रूप मे ही ग्रहण कर सकते हैं जिसके आधार पर हम मौलिक न्यायसगति बैठाये विना ही निर्माण प्रारम्भ कर सकें। इसीलिए हमारी कार्य-विधि अननुभवाश्रित है। और चूँकि हमारे विश्लेषण का संवध केवल विश्लेषित दत्तो के आन्तरिक स्वरूप तथा उनकी आत्म-सगति से ही हुआ करता है इसलिए शुद्ध गणित की तर्कनाओ की तरह वह भी स्वयं विश्लेपित दत्तों के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाहरी सपुष्टि की अपेक्षा नही रखता और इसीलिए अनागमनात्मक है। अगर हम चाहे तो इसी माने मे अपनी कार्य-विधि को तथा उसके निष्कर्षों को प्रागनुभवात्मक भी कह सकते है अर्थात् हम केवल कुछ दत्तों के आन्तरिक विश्लेषण ही लेकर चलते जाये और कार्य-प्रणाली तथा निष्कर्ष दोनो ही के विषय मे अपनी विश्लेषक अनुभूतियो के बाहर की अनुभूति से स्वतन्त्र रहे। हम निश्चय ही इतना और भी कह सकते है कि हमारी कार्य-विधि रचनात्मक होगी अर्थात् यदि उसे सफलतापूर्वक निष्पन्न किया गया, तो अन्ततोगत्वा वह विश्व विषय की एक बौद्धिक अभिव्यक्ति कर देगी—ऐसी बौद्धिक अभिव्यक्ति जो तत्त्वमीमासा का अध्ययन

---

१ आगमनात्मक क्रिया-कलाप की आधारीय विशेषता वास्तव में, यही है कि यद्यपि उसका लक्ष्य अपने दत्तो का ऐसा आन्तरिक विश्लेषण ही होता है जिसकी पूर्ति यदि हो जाय, तो एक ही उदाहरण से सार्वत्रिक निष्कर्ष की प्राप्ति हो सकती है। पर वह विश्लेषण हो नहीं पाता अतः उसे मजबूर होकर सदृश उदाहरणों की शरण लेकर उसको तुलना द्वारा ही बलशाली बनाना पड़ता है।

प्रारम्भ करने से पहले हमे प्राप्त न थी, लेकिन चूँकि इन अर्थो मे रचनात्मकता सब वैज्ञानिक विधियो मे मौजूद रहती है इसलिए उसे तत्त्वमीमासीय विधि के विशिष्ट लक्षण के रूप मे यहाँ प्रस्तुत करना असमीचीन होगा ।

तत्त्वमीमासीय विधि की हमारी यह सकल्पना जो मूलत विश्लेपणात्मक है और सामान्य विज्ञान के सापित के विभिन्न पदार्थो के अन्तर्विरोधो को दूर करने तथ उनका निग्रह करने के लिए ही जिसका उपयोग किया जाता है—ऐतिहासिक दृष्टि से सभवत भूतकालीन अन्य दार्शनिको की अपेक्षा हर्बर्ट की विचारधारा या उसके दृष्टिकोण के निकटतर है । किन्तु अननुभवात्मकता पर अधिक जोर देने तथा तत्त्वमीमासा के प्रागनुभवात्मक स्वरूप के कारण, हम दूसरी ओर निश्चय ही, काण्ट की स्थिति से अधिक मेल खाते है। किन्तु प्रागनुभव संबन्धिनी काण्टीय कल्पना मे और तद्विपयक हमारी कल्पना मे एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर है जिस पर अडे रहना आवश्यक है। प्रागनुभव शब्द का जिस अर्थ मे हमने प्रयोग किया है उससे मतलब यही है कि वह तत्त्वमीमासा की एक विशेषता है। प्रागनुभवात्मक विधि से हमारा अभिप्राय उस विधि से है जो दत्त के अन्त विश्लेषण तक ही सीमित रहे और बाहरी तथ्यो का हवाला दिए बिना, उनसे स्वतन्त्र बनी रहे। लेकिन काण्ट का प्रागनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार के कुछ ऐसे प्रारूपो का नाम है जो विश्लेषण द्वारा प्रत्येक अनुभूति मे उपस्थित पाये जाने के कारण, प्रत्येक प्रकार की अनुभूति से स्वतत्रता प्राप्त माने जाते हैं और इसीलिए काण्ट ने उन्हे अनुभूति के अनुभवाश्रित कारक के मुकाबले मे मन का कार्य बताया है जिसे वस्तुओ की आत्मगत बाह्य व्यवस्था का उत्पादन माना जाता है। अत प्रागनुभव विषयक काण्ट का समग्र विवाद, तत्त्वमीमासा की दृष्टि से क्या आवश्यक है (अर्थात् ज्ञात के अस्तित्व मे ही अभिप्रेत) तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से क्या आद्य है—इन दोनों के बीच के विचार सतत सभ्रान्तिदोष से दूषित है। काण्टीय सिद्धान्त की यह पर्याप्त मनोभ्रमोत्पादक सभ्रान्ति स्पेंसर जैसे लेखको के ग्रन्थो मे चरम बिन्दु पर जा पहुँची है, क्योकि यह लेखक ऐसा सोचते-से प्रतीत होते हैं कि ज्ञानस्थ अननुभवाश्रित कारक की उपस्थिति का निर्णय आनुवशिक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर किया जा सकता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि हमारे दृष्टिकोण से प्रागनुभव का मनस्कार्य से तादात्म्य बैठाने पर अनुभूति की संरचना सबंधी एक तत्त्वमीमासीय सिद्धान्त को बीच मे लाना पडेगा जिसे प्रमाण के बिना अगीकार करने का हमे अधिकार नही।[1]

---

१ काण्ट की प्रागनुभव सबन्धिनी स्वय तर्कना मे वर्तमान, तत्त्वमीमासीय तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति विषयक संभ्रान्ति के बारे मे देखिए बी० रसल कृत फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री, पृ० १–४ तथा एडम्सन कृत "डेवलपमेण्ट ऑफ माडर्न फिलोसफी" भाग १, पृ० २४४–२४७ ।

हीगेल तथा उसके अनुयायियों द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वात्मिका विधि के प्रति अपनी अभिवृत्ति के विषय मे भी यहाँ एक-आध शब्द कहना उचित होगा। हीगेल का विश्वास था कि उन सब प्रत्ययो अथवा पदार्थों की वे सभी शृखलाएँ—जिनके द्वारा मन, अनुभूत वास्तविकता के स्वरूप को उसके आदिमतम रूप से लेकर पर्याप्ततम रूप तक, समग्रत. ग्रहण करने का प्रयत्न किया करता है—एक ऐसे नियत या स्थिर क्रम द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है जो स्वयं विचार के ही अपने ही स्वभाव से उद्भूत हुआ होता है। उसका कहना था कि हम अस्ति के स्वरूप से किसी अनगढ और एकागी प्रत्ययन की अभिपुष्टि से ही आरंभ किया करते हैं अत. हमारे प्रत्यय की अपूर्णता ही हमे उसके प्रतिगामी सदृश सत्यवत् की अभिपुष्टि करने के लिए हमे बाध्य करती है। लेकिन प्रतिगामी भी अपनी बारी पर ठोस वास्तविकता के पूर्ण स्वरूप को व्यक्त करने मे उससे कम एकागी और अपर्याप्त नही होता। अत. इस प्रकार एक ऐसे प्रत्यय की सपुष्टि करते हुए—जिसमे प्रारभिक सपुष्टि तथा तत् प्रतिगामी दोनो ही अधीन अथवा गौण पक्षो के रूप मे सम्मिलित रहते हैं—हमे प्रथम निषेधन का निषेध करने के लिए बाध्य होना पडता है। उच्चतर स्थिति पर भी जब हम नवीन पदार्थ का प्रयोग कर रहे है यही प्रक्रिया पुनरावृत्त होती है । और इस प्रकार हम पदार्थीय मतों की ऐसी क्रमिक शृखलाओ को शनै शनै. पीछे छोड़ते चले जाते हैं, जिनमे से प्रत्येक मे संपुष्टि, निषेध तथा निषेध के निषेध की तीनो स्थितियाँ सरक्षित रहती हैं। इन शृखलाओ मे अनुभूति की ऐसी बौद्धिक अभिव्यक्ति से लेकर जिसमे उसकी अधिक व्याख्या न देते हुए सत्व मात्र के रूप मे ही उसे माना गया है उसके एकान्तिक विचार रूप मे अथवा आत्मिक अनुभूति की निर्धारित व्यवस्था के रूप मे बोध तक को ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया की विभिन्न क्रमिक स्थितियो को, ऐसी व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध अग्रगति के रूप मे जिसमे प्रत्येक स्थिति का स्वरुप उसकी समग्रीय स्थिति द्वारा निर्धारित होता है—प्रदर्शित करने का काम गुणवाची तत्त्वदर्शन का है (जिसे हीगेल ने तर्कशास्त्र का नाम दिया है)। जैसा कि हीगेल ने भी स्वीकार किया है कि यह द्वन्द्वात्मिकता विधि येनकेन-प्रकारेण दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की आत्मनिष्ठ एकान्तिक प्रज्ञा तक ही सीमित नही है अपितु वस्तुनिष्ठ विश्व की सरचना मे भी वह सिद्ध हो सकती है। परिणामत. यह कहा जा सकता है कि जिस क्रम मे उसकी वे क्रमिक स्थितियाँ तर्कशास्त्र मे पायी जाती हैं—उसी क्रम मे उन्हे भौतिक प्रकृति तथा इतिहास मे भी खोजा या पाया जा सकता है तथा हीगेल के अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भौतिकी, नीतिशास्त्र, धर्म तथा इतिहास के तथ्यों को इस सिद्धान्त के प्रकाशानुसार प्रदर्शित करने के लिए ही लिखे गये हैं। हीगेल के बाद हुई विभिन्न विज्ञानो की प्रगतियो ने इन निगमनो द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की स्वेच्छाचारिता तथा अविश्वास्य इतनी अच्छी तरह सिद्ध किया है कि हीगेलीय पद्धति के दर्शनशास्त्र

के अच्छे से अच्छे व्याख्याता भी अब सहमत हो गये हैं कि वे द्वन्द्वात्मक तर्कना के इस दावे को कि वह उन स्थितियो की जिनमे होकर वैयक्तिक मन को, वास्तविकता के सन्तोषप्रद प्रत्ययन की ओर बढते समय, गुजरना पडता है—व्यवस्थापना मात्र से अधिक कुछ नही—छोड दें। लेकिन इन सीमाओ से सीमित होते हुए भी उसका इस प्रकार का दावा सम्भवत बहुत बढा-चढा है। इस बात का सन्तोषप्रद प्रमाण प्रस्तुत नही किया जा सकता कि गुणवाची तत्त्वदर्शन तक मे भी पदार्थो का उत्तरोत्तर क्रमबन्धन ठीक वैसा ही होना आवश्यक है जैसा कि हीगेल ने माना है। प्रथम महत्व के कुछ पदार्थ मौजूद भी है उदाहरणत. गणितशास्त्र गत जिन्हे उसकी व्यवस्था मे शायद स्थान पाना भी दूभर हैं साथ ही साथ यान्त्रिक और रासायनिक कार्य सम्बन्धी ऐसे भी अन्य पदार्थ है जो इस व्यवस्था मे महत्वपूर्ण भाग लेते हुए भी अपने स्थान निर्धारण के मामले मे स्पष्ट रूप से अधिकतर हीगेल के जीवन काल मे ही विभिन्न विज्ञानो के वास्तविक विकास पर निर्भर रहे हैं। अत यह विधि दार्शनिक सत्य की मौलिक सिद्धि के लिए अनुपयुक्त है। अपने श्रेष्ठतम रूप मे वह अन्य द्वारा प्राप्त या पहले ही सिद्ध सत्य की क्रम व्यवस्था के लिए सुविधाजनक विधि का, जैसा कि लोत्से का कथन था, काम सम्भवत. दे सके, शायद इस कार्य के लिए भी, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि हीगेल द्वारा वास्तव मे गृहीत पदार्थो के उत्तरोत्तर क्रम की सामान्य योजना को विभिन्न विशिष्ट विज्ञानो के भावी विकासो के अनुकूल बनाने के लिए उस क्रम मे सतत परिवर्तन करते रहने की आवश्यकता रहेगी।

अधिक जानकारी के लिए देखिए—एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अध्याय १३, १४ । बी० बोसाक्ये लिखित 'एसेंशियलस ऑफ लॉजिक' लेक्चर २, शैडवर्थ हाम्सन कृत 'मेटाफिजिक्स ऑफ एक्सपीरियन्स' भाग १, अध्याय १। जे० एस० मैकेन्जी कृत 'आउट लाइन्स ऑफ मेटाफिजिक्स' भाग १, अध्याय २ व ३, तथा हीगेलीय द्वन्द्वविधि के आलोचनार्थ देखिए—जे० ई० एम० टेगार्ट की 'ओरिजन एण्ड सिग्निफिकेन्स ऑफ हीगेल्स लॉजिक' अध्याय ८-१२ विशेषत अध्याय १२ तथा एडम्सन कृत 'डेवलपमेण्ट आफ माडर्न फिलासफी' भाग १, पृष्ठ २७१ एफ० एफ० ।

अध्याय ३

तत्त्वमीमांसा के उपविभाग

१—तत्त्वमीमांसा के पारंपरिक उपविभाग, जीवविकास-विज्ञान, विश्व-विज्ञान तथा तर्कनावादी मनोविज्ञान आजकल की सभी महती रचनात्मक व्यवस्थाओं मे सामान्य रूप से पाये जाते हैं। २—अपने विषय के स्वय विवेचन के लिए इन उपविभागो के स्वीकरण का हमारा शुद्ध अभिप्राय। ३—अनुभवाश्रयी विज्ञानों के साथ विश्व-विज्ञान तथा तर्कनावादी मनोविज्ञान का सम्बन्ध।

१—अंग्रेज दर्शनशास्त्री प्राय. श्रेणी-विभाग के प्रति कभी भी आस्थावान् नही रहे अत. तत्त्वमीमासीय दर्शनशास्त्र के उपविभागो के स्वरूप और सस्या के निर्धारण की ओर उन्होने अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान दिया। जो प्रश्न जैसे-जैसे उनके विचार मे आता गया और उन्हे रुचिकर प्रतीत हुआ उसे उसी क्रम से उन्होने रख कर सन्तोप कर लिया। विषय के उचित विभागों मे वितरण का काम उन्होंने दर्शनशास्त्र के इतिहासकारो के लिए, जो प्राय अंग्रेज जाति मे बहुत कम हुए, खुशी से छोड दिया। महाद्वीपीय विचारकों ने, जो स्वभावत. सज्ञानी व्यवस्थापनीकरण के पक्षपाती हुआ करते है, विधि और क्रम की समस्या पर अधिक ध्यान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महान् स्वतंत्र विचारक या दार्शनिक ने अपने विषय के विभिन्न भागो का अलग-अलग अपना विशिष्ट क्रम निर्धारण कर डाला। किन्तु ये सब विभिन्न क्रम-विभाग एक सामान्य शैली का रूपानुसरण करने के लिए सहमत-से प्रतीत होते हैं। सामान्य शैली के प्रति यह अनुराग १८वी शती के दार्शनिक वुल्फ की रूखी मताग्रहिता मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से झलक रहा है। सभी रचनात्मक व्यवस्थापनो मे (जैसे कि हीगेल, हर्बर्ट लोत्ज के है) उन सभी सार्वत्रिक लक्षणो के विवेचन को, जिन्हे हम ऐसी वास्तविकता पर जिनका रूप दुर्व्यवस्थित मात्र नही, अपितु व्यवस्थित और बुद्धिगम्य होता है—विचार करते समय हमे मजबूर होकर अध्याहृत करना पडता है। यह विषय-विभाजन उसी नाम मे सामान्यत. अभिहित है, जो उसे वुल्फ के तत्त्वदर्शन मे तथा हर्बर्ट तथा लोत्ज के व्यवस्थापनों मे दिया गया है अर्थात् ओन्टोलाजी अथवा जीवविकासशास्त्र[1] या

---

१. 'ओण्टोलाजी' अथवा जीवविकासशास्त्र का चरमस्त्रोत अरस्तू की प्रथम दर्शन या फर्स्ट फिलासफी की परिभाषा है। अरस्तू भी अपनी शास्त्र व्यवस्थानुसार 'प्रथम

अस्तित्व का सामान्य सिद्धान्त। हीगेलवाद मे उसे उसके समग्र रूप मे तर्कशास्त्र विज्ञान का ही विषय माना गया है जो कल्पनात्मक विचारणा के दो अन्य महान् विभागो 'प्रकृति' और 'मन' सम्बन्धी दर्शनों से भिन्न है जब कि इसके अत्यन्त औपचारिक तथा सामान्य भाग अस्तित्व सिद्धान्त नामक स्वय हीगेल के तर्कशास्त्र का ही विशिष्ट प्रथम खड है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमासीय दर्शन के प्रत्येक तत्र की अधिक विशिष्ट समस्याओ को सुलझाना पडेगा और वे समस्याएँ आसानी से दो मुख्य श्रेणियो मे आ जाती है। पहले तो उसे 'वस्तुनिर्देश या विस्तरण', 'पौर्वापर्य', 'अवकाश', 'काल', 'गणना', 'परिमाण', 'गति', 'परिवर्तन', 'गुणकोटि' तथा 'उपादान या जडद्रव्य', 'बल', 'कारणता' अन्योन्य क्रिया' तथा 'वस्तुतत्त्व' आदि उन अधिक जटिल व्यष्टिगत पदार्थों के जिनसे अनुभूतिगत भौतिक जगत का निर्माण होता है—सार्वत्रिकतम प्रत्ययनो के अर्थ और प्रामाण्य के उस स्वरूप पर जिसके समझने का हम प्रयत्न किया करते है—विचार करना होता है। दूसरे, तत्त्वमीमासा को उन सर्वत्रिक विधेयो के—जिनके द्वारा हम अनुभूतिकर्ता मन के अपने स्वरूप की और अन्य मनो के तथा भौतिक जगत के 'आत्मा', 'स्व' 'उद्देश्य', 'आत्म-चेतना', 'नैतिक या नीति शास्त्रीय उद्देश्य' आदि पदार्थों के साथ उसके सबन्धो की भी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया करते है—अर्थ और प्रामाण्य के साथ भी सबन्ध रखना पडता है । इसलिए तत्त्वमीमासा के क्रमश बाह्य प्रकृति तथा चेतन मन के अत्यन्त सामान्य लक्षणो से सम्बद्ध द्वितीय तथा तृतीय भागो को भी स्वीकृत कर लेने की प्रथा-सी चल निकली है । विषय के ये भाग सामान्यत कॉस्मोलॉजी या 'ब्रह्माण्ड विज्ञान' और 'रैशनल साइकालोजी' या 'तर्कनात्मक मनो-विज्ञान' नाम से विज्ञात है । हीगेल के तर्क मे वे द्वित्व रूप मे प्रस्तुत हुए है। उनके अधिकतम गुणवाची सामान्य स्वरूप से हीगेलीय तर्कशास्त्र के 'सारसिद्धान्त' तथा 'मनोबोधसिद्धान्त' गठित हुए हैं । हीगेलीय सम्पूर्ण तत्र अथवा दार्शनिक विज्ञान के विश्वकोष के द्वितीय तथा तृतीय खण्डो मे उनकी और भी ठोस विवेचना की गयी है। उन्ही खण्डो को ऊपर की पक्तियो मे प्रकृति और मन के दर्शनो का नाम दिया गया है।

काण्ट से पूर्व की १८वी शताब्दी मे तत्त्वमीमासा के साथ एक चौथे विभाग रैशनल थियालाजी अथवा तार्किक धर्मदर्शन के नाम को जोड देना कुछ गैर मामूली

दर्शन' गणित और भौतिकी समग्र सैद्धान्तिक दर्शन कहलाते हैं, क्योंकि वह वास्तव मे वास्तवत्व के सामान्य स्वरूप का ज्ञान है और गणितज्ञ तथा भौतिकशास्त्री के ज्ञान के स्वरूप से इसलिए भिन्न है, क्योकि उन दोनो का वास्तव से उतना ही सरोकार रहता है जितना की सख्या और परिमाण दिखाने तथा ज्ञेय परिवर्तन दिखाने के लिए आवश्यक होता है।

नही समझा जाता था। इस दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व और उसके उन गुणों का समावेश होता था, जो किसी विशिष्ट त्रुटि की दुहाई दिए विना सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों से समागत हो सकते थे। 'डायलेक्टिक ऑव प्योर रीजन' मे दी गयी वुल्फ की समग्र योजना पर काण्ट द्वारा किये गये आक्रमण ने जहाँ भविष्य के लिए तत्त्वमीमासकों के विश्व विज्ञान या ब्रह्माण्ड विज्ञान तथा तार्किक मनोविज्ञान विषयक दृष्टिकोण मे गभीर परिवर्तन या सुधार किया वहाँ १८रवी शताब्दी के दैववाद का तथा उसके अपत्य तार्किक धर्मदर्शन का तो उसने गला ही घोट दिया और अव यह उपविभाग, उसके वाद के दार्शनिक तंत्रों[1] से प्राय. गायव ही हुआ कहा जा सकता है।

२—अपने अनुसधान के इस प्रारूप मे, हमे उपर्युक्त पारंपरिक योजना की रूप-रेखा को ही क्यों स्थिर रखना चाहिए इसके उचित तथा स्पष्ट कारण है। सच है कि यह हमारी सुविधा पर ही निर्भर होना चाहिए कि तत्त्वमीमासा विषयक व्यवस्थित अनुसंधान करते समय हम किस क्रम को अपनाये क्योकि ज्ञान और अनुभूति के सामान्य स्वरूप के वारे मे किये जाने वाले किसी वस्तुत. दार्शनिक सर्वेक्षण के लिए इतनी पूर्णरूप से व्यवस्थित ऐकिकता समुपस्थित मिलती है कि आप इसके किसी भी विन्दु से अपना सर्वेक्षण प्रारभ करके उसी निष्कर्ष पर उसी प्रकार पहुँच सकते हैं जिस प्रकार आप किसी वृत्त की परिधि के किसी विन्दु से चलकर वृत्त की पूरी परिक्रमा भली प्रकार कर सकते है। लेकिन फिर भी किसी नये विद्यार्थी के लिए यही उचित होगा कि वह सामान्य जीवन और विशिष्ट विज्ञानों की विभिन्न 'वास्तविकताओं' से सम्वद्ध विशेष प्रकार की 'सत्ता' की समस्या से जूझने के पहले इस सामान्य प्रश्न से ही अपना काम शुरू करे कि सत्ता या अस्तित्व अथवा वास्तविकता से हम क्या समझते है तथा 'सत्ता' के समग्र सत्तात्व का स्वरूप क्या होना चाहिए। अत. अपने पुरोगम के प्रथम भाग मे हमे ऐसे प्रश्नों पर विचार करना है जैसे कि अनुभूति के साथ सत्ता का सम्वन्ध सामान्यत. कैसा होना चाहिए ? किन मानो मे सत्ता अनुभूति से अविभाज्य कही जा सकती है और अविभाज्य होते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाती है ? सत्ता की विभिन्न कोटियो के अस्तित्व की समस्या, क्या सत्ता चरम रूप मे एक ही है अथवा अनेक वास्तविक सत्ता और उसके आभासों का सम्वन्ध। ये सब समस्याएँ, जीवविकास-विज्ञान के परंपरागत नाम से अभिहित ज्ञान की विषयवस्तु से वहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

---

१. काण्ट के 'क्रिटिक ऑफ स्पेक्युलेटिव थियालाजी' से तात्कालिक प्रभाव में कम किन्तु उसके समान ही सर्वांगपूर्ण और तीखी थी ह्यूम की मरणोपरान्त प्रकाशित पुस्तक 'डायलाग ऑफ नेचुरल रिलीजन' जिसे दर्शनशास्त्र के पेशेवर इतिहासकारों का उसके योग्य पूरा समर्थन नहीं प्राप्त हो सका।

इन अत्यन्त मूलभूत समस्याओं का निश्चित समाधान ढूंढ लेने के बाद ही हम विज्ञानों के विभिन्न विभागो तथा सामान्य जीवन द्वारा प्रस्तुत अधिक विशिष्ट समस्याओ पर विचार कर सकने योग्य स्थिति पर पहुँच सकेंगे अत यही अच्छा होगा कि हम उसी क्रम व्यवस्था को जिसमे जीवविकास-विज्ञान को इस विषय के अन्य विभागो मे पूर्व स्थान दिया गया है स्वीकार करलें । इसके अतिरिक्त, तत्त्वमीमासा की अधिक जटिल विशिष्ट समस्याओ पर विचार करते समय, ब्रह्माण्ड विज्ञान के तार्किक मनोविज्ञान से पृथक्करण के अनुसवादी विभेद को स्वीकार कर लेना ही स्वाभाविक है। सामान्य भाषा द्वारा ही पता चल जाता है कि मानवीय विचार और कार्य के अधिकाश प्रयोजनो के हिसाब से, अनुभूति जगत की अन्तर्वस्तुएँ, मात्र वस्तुओं और इन्द्रियवेद्य तथा सोद्देश्य वस्तुओं के दो समूहो मे समाविष्ट हो सकती है। इन्हे एक ओर भौतिक प्रकृति तथा दूसरी ओर मनों तथा आत्माओं की सज्ञा दी जा सकती है। अनुभूति के लक्ष्य पदार्थों के इस विभाजन तथा अनुभूति के विषय और अनुभूति के लक्ष्यों के विभेद कही हम गडबड न कर बैठें इसका हमे ध्यान रखना होगा। अपना आलोचनात्मक अनुसधान हमे मनोविज्ञान के उस कृत्रिम दृष्टिकोण से जो उपस्थापनाओ के उद्देश्य को 'ज्ञान की लक्ष्यवस्तुओ' से सवद्ध सूचना के वाहक के रूप मे ग्रहीत उपस्थापनाओ के ऊपर या उनके विरुद्ध प्रतिष्ठापित करता है अपना कार्य प्रारम्भ नही करना है वल्कि क्रियात्मक जीवन के उस स्थितिविन्दु से प्रारभ करना है जिसमे व्यष्टकर्ता स्वय ताद्दृग अनेक व्यष्टकर्ताओं से मिलकर अधिकाशत वने पर्यावरण के ही प्रतिमुखी हुआ करता है। तार्किक मनोविज्ञान से ब्रह्माण्ड विज्ञान को पृथक् करने वाले विभेद की आधारभूत प्रतिस्थापना का उद्भव प्रकृति के एक पक्ष मे और प्रत्यक्षकारी मन के विपक्ष मे होने से नही हुआ करता अपितु ऐसा पर्यावरण ही जो अशत भौतिक पदार्थो से और अशत अन्य पाशव तथा मानव मनो से मिलकर वनता है—उस प्रतिस्थापना का कारण हुआ करता है। मन अथवा आत्मा का मनोवैज्ञानिक स्थितियो के अभूतपूर्व विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर बैठने अथवा व्यष्टि के पर्यावरण को ही भौतिक प्रकृति मान वैठने के तर्काभास जैसी भ्रातियों से बढकर अन्य भ्रातियाँ ऐसी नही है जिनसे हमे सावधान रहने की जरूरत हो। निश्चय ही यह सही है कि हम अन्य मानसों या मनो के अन्तर्जीवन की अभिव्यक्ति असचार्य रूप से व्यष्ट स्वय अपनी अनुभूति के शब्दो मे ही किया करते है। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि अपने स्वात्म विषयक हमारी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति अथ से इति तक हमारे अपने प्रकार के ही अन्य कर्ताओ की अन्योन्य क्रिया द्वारा निर्धारित हुआ करती है। यह मान लेना कि भौतिक वस्तुओ की इस दुनिया मे अपने आप को आया देखकर हम उन वस्तुओ मे से कुछ मे 'सादृश्यानुमान' पर आधारित पश्च विचार द्वारा वाद को स्वय अपनी 'चेतना' से मिलती-जुलती चेतना

का अध्याहार कर लिया करते हैं—शुद्ध भ्रम मात्र या आत्मवंचना मात्र ही है। इसलिए यदि हम भ्रान्ति से बचना चाहें तो उचित होगा कि हम 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान' तथा 'तार्किक मनोविज्ञान' जैसी पारंपरिक अभिधाओं का परित्याग कर दें और व्यावहारिक तत्त्वमीमांसा के विभागों को, हेगेल के समान ही उन्हें क्रमशः प्रकृतिदर्शन तथा मनोदर्शन या आत्मदर्शन के नामों से अभिहित करें।[1]

---

१. 'हमारा पर्यावरण ही अपने भौतिक रूप में प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर हमें प्राप्त हुआ करता है' इस तर्काभास की सदोषिता बड़ी खूबी से अवेनारियस ने अपनी छोटी परन्तु प्रकाण्ड कृति Der Menschliche Weetbegrif में दिखायी है। दर्शनशास्त्र के सभी जर्मन भाषाभिज्ञ विद्यार्थियों को उससे परिचित होना चाहिए। केवल अँग्रेज़ी पढ़े पाठक को अनेक उपयोगी सुझाव वार्ड की 'नेचुरलिज़्म एण्ड एग्नास्टिसिज़्म' भाग ४ के 'रेफ्युटेशन आफ ड्युअलिज़्म' नामक प्रकरण में मिलेंगे। ज्ञानमीमांसीय शब्द 'आब्जेक्ट' लक्ष्य, उद्देश्य अथवा वस्तु के अशास्त्रीय प्रयोग के कारण दर्शनशास्त्रीय विमर्श में अत्यधिक गड़बड़ होती रही है। 'आब्जेक्ट' का सही अभिप्राय है 'संज्ञान' का लक्ष्य। इससे अधिक परिचित शब्द वस्तु का उपयोग करने के बजाय 'आब्जेक्ट' या लक्ष्य शब्द का प्रयोग क्रियात्मक जीवन में वस्तुतः अनुभूयमान पर्यावरण के निर्मायक घटकों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। सख्ती से देखा जाय तो पर्यावरण के घटक ऐसी काल्पनिक चेतना के लिए हो जो प्रस्तुत तथ्यों की ही ग्राहिका समझी जाय—'आब्जेक्ट्स' या लक्ष्य हुआ करते हैं। प्रोफेसर मंस्टरबर्ग ने इस दृष्टि-बिन्दु पर काफी जोर दिया है कि क्रियात्मक जीवन के लिए पर्यावरण का सारभूत गुण इतना ही नहीं है कि वह प्रस्तुत मात्र हो बल्कि हमारी अपनी प्रयोजनीय क्रियाशीलता के साथ उसका अन्योन्य कार्य भी हुआ करता है। अतः इस प्रकार वह लक्ष्यों या 'आब्जेक्ट्स' से नहीं 'थिंग्ज़' या 'वस्तुओं' से मिलकर बना होता है।

अपने साथियों के मनों को अपने पर्यावरण के संरचनात्मक घटकों में गणना करके हमें अव्याहृत अनुभूति के घटक या कारक रूप में 'मनों' को 'अशरीरी वास्तविकताएँ या सत्ताएँ', अथवा 'चेतना की विभिन्न स्थितियों के सम्मिश्र' मान लेने की गलती न करना चाहिए। मन और शरीर के बीच विभेद मानना तथा मन को 'शरीरस्थ होने' की कल्पना अथवा उसके 'शरीर व्यापार' होने की कल्पना ऐसी मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पनाएँ हैं जो अनुभूति के परवर्ती विचारात्मक विश्लेषण के मध्य उद्भूत हुआ करती हैं। इन प्राक्कल्पनाओं की अर्हता के विषय में आगे चलकर विचार करना होगा। इस समय तो इतना ही ध्यान में रखना होगा कि प्रत्यक्ष

'भौतिक प्रकृति' और 'मन या आत्मा' इन दो विषयों से क्रमश. सम्बद्ध दो खडो का तत्त्वमीमासा के उपविभाजन को स्वीकार करने का यह अभिप्राय नही कि वस्तुओं के इन दोनो वर्गो के बीच किसी एकान्तिक असमानता के अस्तित्व की ओर हम सकेत कर रहे हैं। निश्चय ही इस बात के निर्णय करने की कि कहीं यह उपर्युक्त भिन्नता अन्ततोगत्वा आभासी ही न साबित हो—जिम्मेदारी स्वय दार्शनिक आलोचना की है। ऐसी बात स्पष्टत तभी हो सकेगी जब दोनो प्रकार के मनो मे से किसी को भी—जैसा कि भौतिकतावादी का कथन है—अत्यधिक जटिल भौतिक वस्तुएँ सिद्ध किया जा सके अथवा जैसा कि आदर्शवादी का कथन है—भौतिक वस्तुओं को वास्तव मे अपरिचित और अ-मानवीय प्रकार के मन होना साबित किया जा सके। हमारे लिए तो इतना ही काफी है कि यह भिन्नता, भले ही वह चरम भिन्नता हो या न हो, इतनी स्पष्ट जरूर हो कि उसके द्वारा समस्याओं के ऐसे वर्गो का उद्भव हो सके जिन पर अलग-अलग और उनके अपने गुण क्रमानुसार विचार किया जा सके। सामान्य दर्शनशास्त्रीय आधारो पर हमें विश्वास हो सकता है कि मन और भौतिक वस्तुएँ अन्तिमत एक ही सामान्य कोटि की सत्ताये या अस्तित्व हैं। भले ही उस कोटि की कल्पना हमने भौतिकतावादी के मतानुसार की हो या आदर्शवादी के, लेकिन हमारे इस विश्वास से इस बात पर कि भौतिक वस्तुओं की हमारी अनुभूति के कारण प्रस्तुत हुई विशिष्ट तत्त्वमीमासीय समस्याएँ उन समस्याओ से जो अपने साथियो के मनो के विषय मे हमारी अपनी अभिरुचि के कारण हम पर लद जाया करती हैं—बहुत अधिक भिन्न हुआ करती है। उदाहरण के तौर पर जहाँ एक सयोजन मे हमें, एकरस अवकाशीय विस्तार, सामान्य नियम की एकरस आज्ञानुवर्तिता, ऐसे समग्र का सरचन जो भागो के योग से बना हो, आदि पदार्थो से सम्बद्ध समस्याओ पर विचार करना होता है वहाँ

अनुभूति के प्रयोजनार्थ 'मन' का अर्थ है केवल व्यष्ट उद्देश्यमय वस्तु। मेरी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति की दृष्टि, से मेरे साथी को, किसी कुन्दे या पत्थर से पृथक् पहचान कराने वाली वस्तु, उस साथी के शरीर मे प्रस्तुत अशरीरी 'आत्मा' या चेतना नहीं है अपितु यह तथ्य कि यदि मैं अपना प्रयोजन अधिगत करना चाहता होऊँ तो मै उस साथी के व्यष्ट प्रयोजनो को ध्यान मे रखते हुए स्वय को उन प्रयोजनो के अनुकूल अवश्य ही बना लूं। यहाँ फिर एक बार मै जर्मन भाषाभिज्ञ पाठक से अनुरोध करूँगा कि वह प्रोफेसर मस्टरबर्ग कृत Grundziige der Psychologic के खड १ के अध्या० १–३ तक का अध्ययन करें। अक्टूबर १९०२ के 'इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स' मे प्रकाशित मेरा लेख 'माइण्ड एण्ड नेचर' भी देखिये।

दूसरे मयोजन मे हमें नीतिशास्त्रीय, कला सम्बन्धी तथा धार्मिक उच्चाकाक्षा के अभिप्राय और मूल्य-नैतिक स्वातन्त्र्य के प्रत्यय तथा वैयक्तिक तादात्म्य के स्वरूप आदि से सवद्ध समस्याओं को विचारना पड़ता है। गुण तथा सख्या आदि की वे श्रेणियाँ जो एक ही नजर मे भौतिक वस्तुओ तथा मनों पर बहुत आसानी से लागू होती मालूम देती हैं—वैषम्य के उपर्युक्त दोनो मामलों मे हमारे लिए वडी कठिनाइयाँ पैदा कर देती हैं। इस प्रकार के अभिसधान से ही हमारा मन सवन्धी तत्त्वदर्शन को प्रकृति सम्बन्धी तत्त्व-मीमासा से पृथक रखना उचित प्रतीत होता है। मन. सम्बन्धी तत्त्वमीमासा की अनेक समस्याओं की कठिनाइयाँ और भी बडी हैं इस कारण से भी इन दोनों उपविभागों के पारपरिक क्रम का अनुसरण करके तार्किक मनोविज्ञान को ब्रह्माण्ड विज्ञान के बाद रखना उचित मालूम देता है। तार्किक धर्मदर्शन की समस्याये जहाँ तक सामान्य जीवविकास विज्ञान की समस्याओ से अलहदा की जा सके वहाँ तक, उन्हे तार्किक मनोविज्ञान के उस खण्ड मे स्थान दिया जा सकता है जिसका विषय हमारी धार्मिक अनुभूतियों के अर्थ तथा अर्हता का विवेचन करना है।

३—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले प्रयुक्त तत्त्वमीमासा के दोनों विभागो और अनुभववादी विज्ञानो के निकाय के पारस्परिक सबन्ध के विषय में चेतावनी स्वरूप दो शब्द कह देना उचित मालूम देता है। विद्यार्थी को इसके लिए कि यदि वह समझता हो कि भौतिक, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र विषयक विज्ञानों के परीक्षणात्मक अध्ययन के बजाय तार्किक ब्रह्माण्ड विज्ञान और मनोविज्ञान से ही काम चला सकेगा। पहले से ही सावधान करने की शायद जरूरत नही है क्योंकि इस प्रकार की स्थानापन्नता एकदम बेकार साबित होगी। उपर्युक्त दोनों विज्ञान तत्त्वमीमांसा के मौलिक विभाग हैं और इसी कारण, निर्धारित तथ्यों-सम्बन्धी हमारी ज्ञान-राशि मे एक भी अन्य तथ्य जोड सकने मे वे असमर्थ हैं। वास्तविक विज्ञान के विद्यार्थियों मे, तत्त्वमीमासा की साख—उसके अभ्युपगम के मौन तथा अचेतन स्वरूप को छोड़कर गिर जाने का अधिकतर कारण शेलिग और उससे कुछ कम सीमा तक स्वय हीगेल की वह दुर्भाग्यपूर्ण प्राक्कल्पना है जिसके द्वारा उन्होने तत्त्वमीमासीय विचार पद्धति को, प्रकृति और मन सम्बन्धी तथ्यों के अनुसधान की परीक्षणात्मक पद्धति का स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। आज यह गलती मुश्किल से ही हो सकेगी उल्टे खतरा इस बात का है कि किसी दिन तत्त्वमीमासा को ही एकदम निरर्थक न करार दे दिया जाय केवल इसलिए कि वह हमारी ज्ञान राशि मे जरा भी वृद्धि नही कर पाती। लेकिन सत्य यही है कि वह भी वास्तव मे मूल्यवती है किन्तु उसका मूल्य वह नहीं है जो कभी-कभी उसे प्रदान किया गया है। तथ्यो का सग्रह करना उसका काम नही है अपितु पूर्वत निर्धारित तथ्यों को उनके समग्र और बृहद् रूप मे रखकर उनकी अभिव्यक्ति

करना ही उसका काम है। यदि परीक्षण, प्रेक्षण तथा गणितीय परिकलन की सभी उपलब्ध और अत्यन्त पर्याप्त विधियों द्वारा भौतिक प्रकृति तथा मन सम्बन्धी तथ्य और उनके सयोजन विषयक विशिष्ट नियमों का पता लग भी जाय तथा उन्हे व्यवस्थित भी कर लिया जाय तो भी यह प्रश्न तो बाकी रह ही जाता है कि इस प्रकार के तथ्यो के समग्र क्षेत्र की सकल्पना, तर्कानुगत और सगत विचार की सामान्य परिस्थितियो के साथ सामजस्य बनाये रखते हुये कैसे की जा सकती है। यदि हम वास्तविक विज्ञान की परिभाषा तथ्यों के पारस्परिक सयोजन के विशिष्ट नियमो की व्यवस्थाबद्ध स्थापना कहकर करें तो यह भी कहा जा सकता है कि तथ्यो के व्यवस्थाबद्ध करने की वैज्ञानिक समस्या के अतिरिक्त और उसके बाद उन तथ्यो को व्यक्त करने की 'दार्शनिक' समस्या शेष रह जाती है। इस बाद वाली समस्या की तर्कसगति केवल इसीलिए समाप्त नही हो सकती चूँकि कुछ विचारको ने कुतर्कपूर्वक उसे पहले वाली समस्या के साथ सकरित कर दिया है।

अपनी उपर्युक्त बात को दूसरे तरीके से भी प्रस्तुत कर सकते है। वैज्ञानिक व्यवस्थापना अथवा तन्त्रीकरण की समग्र प्रक्रिया मे व्यवस्थाप्य तथ्यो के चरम स्वरूप या प्रकृति सम्बन्धी कुछ निर्धारित अभ्युपगम अन्तर्ग्रस्त रहते है। इस प्रकार किसी सुझाई हुई परिकल्पना के सत्यापन हेतु किसी परीक्षण के उपयोजन मात्र मे यह अभ्युपगम अन्तर्ग्रस्त रहता है कि उस परिकल्पना से सम्बद्ध तथ्य सामान्य नियमो के अनुरूप है और यह कि ये नियम ऐसे है जिनका निरूपण मानवी प्रज्ञा द्वारा किया जा सकता है। यदि 'प्रकृति' किसी अर्थ मे 'एकरस' नही है तो किसी सफल परीक्षण या प्रयोग की परिणामी शक्ति तर्कानुसार 'शून्य' होगी। यही कारण है जिससे वैज्ञानिक क्रियाविधि मे अन्तर्ग्रस्त पूर्वगृहीतो के स्वरूप की जाँच करने और उनके लिए कितना औचित्य प्राप्त हो सकता है, यह पता लगाने की जरूरत पडेगी। प्रायोगिक प्रयोजनार्थ, आगमनात्मक विज्ञान के पूर्वगृहीतो का औचित्य निस्सन्देह उस विज्ञान की वास्तविक सफलताओं से, पर्याप्त सिद्ध हो चुका है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि तत्त्वमीमासको की हैसियत से जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह उपर्युक्त विभागो की उपयोगिता सिद्ध करने का नही है बल्कि उनकी सत्यता का है।

लोग कह सकते है कि हर हालत मे इस प्रकार की जाँच का काम स्वय भौतिकविज्ञान तथा मनोविज्ञान के विशिष्ट विद्यार्थियो के लिए छोड देना चाहिए। परन्तु इसमे श्रम-विभाजन के महान् सिद्धान्त की गहरी अवहेलना का प्रश्न भी सम्मिलित हो जायगा। निश्चय ही यह सच है कि यदि अन्य बातें समान हो, तो दार्शनिक का मन वैज्ञानिक तथ्यो से जितना ही अधिक परिपूर्ण होगा तथ्यो के समग्र निकाय की अभिव्यक्ति तथा विवक्षाओं के विषय मे उसका निर्णय उतना ही अधिक

ठोस और गहरा होगा। लेकिन इसके साथ यह भी है कि जिस देन के कारण लोग सफल परीक्षणकर्ता तथ्यों के अनुसन्धायक बन जाते हैं, वही देन तथ्यों के अभिप्रेतार्थ का दार्शनिक विश्लेषण करने के लिए आवश्यक नही हुआ करती ना ही दोनों बातें एक ही व्यक्ति मे सदा संयुक्त पायी जाती हैं। जहाँ एक ओर ऐसी कोई वजह नहीं जिसके आधार पर किसी योग्य परीक्षणकर्ता को प्रकृति संबंधी तथ्यों की खोज से तब तक वर्जित रहने को बाध्य किया जाय जब तक कि वह भौतिक तथ्यों के संसार के अस्तित्व मात्र द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक समस्याओं को हल कर सकने योग्य न हो जाय वहाँ दूसरी ओर ऐसी भी कोई वजह नही जिसके आधार पर किसी ऐसे विचारक को जिसे प्रकृति ने दार्शनिक विश्लेषण की शक्तियाँ प्रदान कर रखी है उन शक्तियों के उपयोग से तब तक वंचित रखा जाय जब तक कि वह उन सब तथ्यों को जिन्हें विशेषज्ञ लोग जानते है—स्वयं अधिगत न कर ले। दार्शनिक को अपनी खोज का काम शुरू करने के लिए विशेषज्ञों के तथ्य मात्र को जानना जरूरी नही है। उसे तो इसके लिए उन सामान्य सिद्धान्तो का जानना आवश्यक होता है जिनका प्रयोग विशेषज्ञगण अपनी खोज और तथ्यो के पारस्परिक सबंधन हेतु किया करते है। ऐसे व्यक्ति का अध्येतव्य 'विज्ञानों का विज्ञान' कहा जा सकता है पर इस अर्थ मे नहीं कि वह शिक्षाप्रद और रोचक ज्ञान का सार्वदेशिक विश्वकोश है बल्कि इस छोटे से अर्थ मे कि वह उन प्रत्ययों और विधियो सबन्धी विचार-विमर्श की एक व्यवस्थित रूपरेखा है—जिनके आधार पर विज्ञानों की तथा दैनंदिनीय क्रियात्मक जीवन की तदपेक्षा कम व्यवस्थित विचार पद्धतियाँ अपना काम किया करती हैं और इस अर्थ मे भी कि वह इन प्रत्ययों और विधियो को चरम संगति और बुद्धिगम्यता के मापदण्ड से नाप-जोख करने का एक प्रयत्न है।

नोट—यदि हम मानस तत्वमीमांसा की अभिधा, 'मनोविज्ञान' ही रखे, जैसा कि उदाहरणत. लोत्से ने किया है, तो यही संगत होगा कि हम इस शब्द या अभिधा को अत्यधिक विस्तृत अर्थ मे ग्रहण करें। मानसतत्वमीमांसा जिन तथ्यो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करती है उनमे न केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानस-प्रक्रिया के नियमों के अमूर्त या गुणवाची अध्ययन के ही तथ्य शामिल नहीं हुआ करते अपितु उन सब विविध विज्ञानों (नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, तथा धर्माध्ययन आदि) के तथ्य भी उसमे शामिल होते हैं—जिनका काम मानव जीवन मे मन की मूर्त अभिव्यक्ति पर विमर्श करना है। पारंपरिक अभिधा 'तार्किक मनोविज्ञान' की अपेक्षा हीगेलीय नाम 'मानस-दर्शन' या 'फिलासफी आफ माइण्ड' को अधिक पसन्द करने का यह भी एक कारण है। किन्तु अंग्रेजी भाषा मे फिलासफी शब्द के सम्पर्क इतने अधिक

अनिश्चित हूँ कि हीगेलीय अभिधा को आत्मसात कर लेने से तत्त्वमीमांसा के इस विभाग का, मानस विज्ञानों की समग्र विषयवस्तु के साथ तादात्म्य है, ऐसा मान लिये जाने की आशंका है। यदि 'मानवसमाजीय तत्त्वमीमांसा' नाम इतना अपरिचित न होता, तो मैं अपने विज्ञान की इस शाखा के लिए इसी प्रकार के नाम की सिफारिश करता।

द्वितीय खण्ड

जीव-विकास विज्ञान—वास्तविकता की सामान्य संरचना

अध्याय १

वास्तविकता तथा अनुभूति

१—एक अर्थ में, 'वास्तविकता' का अर्थ, हम मे से प्रत्येक के लिए वह वस्तु है जिसका ख्याल रखना हमारे लिए उस हालत मे जरूरी है जब हमारे विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति आवश्यक हो। २—किन्तु अन्ततोगत्वा संसार मे ऐसी सरचना का होना जरूरी है जिसका ख्याल रखना 'सभी' प्रयोजनो के लिए, अपने-अपने तरीके पर, जरूरी हो। यह वस्तु ही तत्त्वमीमासा की 'चरम वास्तविकता' अथवा 'निरपेक्ष सज्ञ वस्तु है। ३—तत्त्वमीमासा मे हम इसे वैज्ञानिक प्रज्ञा के स्थिति-बिन्दु से देखते है। किन्तु उसके प्रति अन्य प्रकार की वैध अभिवृत्तियाँ भी हैं, जैसे कि प्रायोगिक धर्म की अभिवृत्ति। अव्यवहृत अनुभूति की वास्तविकता से अवियोज्यता मे, उसके साध्यवादी तथा अनन्य व्यष्टिपरक स्वरूप की स्वीकृति अन्तर्ग्रस्त है। ४—ऐसी अनुभूति जिसमे समग्र वास्तविकता समाविष्ट हो—मेरी अपनी अनुभूति नही हो सकती न ही वह समस्त चेतन सत्ताओ की 'सामूहिक' अनुभूति ही हो सकती है। अस्तित्व की सफलता के एकल लक्ष्य को एक समरस निकाय रूप मे ग्रहण करने वाली अनुभूति अवश्य ही व्यष्टीय अनुभूति होगी। हमारा अपना जीवन इस प्रकार की अनुभूति का जो निकटतम अनुरूप प्रस्तुत कर सकता है वह वैयक्तिक प्रेम की तुष्ट अर्न्तदृष्टि मे प्राप्त हो सकता है। ५—इस प्रकार के 'निरपेक्ष' की अनुभूति को किसी प्रकार भी, हमारी अपनी अनुभूति का पुनर्द्विरूपीकरण मात्र नही समझना चाहिए न उन वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ का ही जिनके द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हम तथ्यो का समन्वय किया करते है। ६—हमारा प्रत्यय बर्कले के प्रत्यय से निकटतर सम्बद्ध है। उससे यह अनुभूति के सोद्देश्य तथा चयनात्मक पहलू पर जोर देने के कारण भिन्न है। ७—दोनो ही प्रकार का यथार्थवादी चाहे वह अनीश्वरतापरक हो या कट्टरतापरक 'वास्तविकता' के उस अर्थ से जिसे हम उसके साथ जोड़ने के लिए बाध्य हुए है, मेल नही खाता। लेकिन वास्तविकता सम्बन्धी हमारे ज्ञान के सीमा-बंधनो पर जोर देना अनीश्वरवाद के लिए उचित ही है। इसी तरह कट्टरतापरक यथार्थवाद द्वारा ऐसी अनुभूति के साथ जो परिमित परिग्राहको की सज्ञानात्मिका क्रियामात्र हो—वास्तविकता के तादात्म्यीकरण को अस्वीकार कर देना भी उचित है। ८—ऐसी व्यक्तिनिष्ठता भी, जिसके अनुसार जो कुछ मै जानता हूँ वह सब मेरी अपनी चेतना की स्थितियाँ मात्र है—जीवन के प्रतिपन्न तथ्यो के साथ

समाधेय नही हुआ करती । उसका उद्भव मनोविज्ञान के 'अन्तर्निवेशी' हेत्वाभास से होता है ।

१—पूर्वगामी खण्ड मे हम देख चुके है कि तत्त्वमीमासीय समस्याओ के स्वरूप से ही हमारे द्वारा देय उनके उत्तर का सामान्य गुण-धर्म पूर्व निश्चित हो जाया करता है । हम देख चुके है कि जिसे हमारी प्रज्ञा अन्तिम रूप से वास्तविक स्वीकार कर सकती है, उसका क्रियात्मक अनुभूति के साथ अविच्छेद्यरूप से एकरूप होना आवश्यक है, उसके आन्तरिक रूप का सश्लिस्ट व्यवस्थावद्ध होना भी जरूरी है । इस खण्ड मे उपर्युक्त सामान्य गुणोपेत किसी भी वास्तविकता के लिए आवश्यक सरचना पर हमे सविस्तार विचार करना है । इसीलिए यह अध्याय वास्तविक 'अस्तित्व या सत्ता' के अनुभूत्यात्मक स्वरूप की विवक्षाओ के परीक्षार्थ ही समर्पित रहेगा । अगले अध्याय मे हम एकल व्यवस्था के रूप मे उसकी एकता की प्रकृति पर विचार करेंगे ।

अपने विचार-विमर्श का प्रारभ हम, सभवत अपने मुख्य-मुख्य पदो के पुन परिभाषीकरण द्वारा अत्यन्त सुविधापूर्वक कर सकते हैं । अब तक तत्त्वमीमासीय ज्ञान के लक्ष्य को हम उदासीनतापूर्वक 'अस्तित्व' या सत्ता 'जो है' 'जो सत्य ही वर्तमान है', इत्यादि नामो से पुकारते रहे हैं तथा 'वास्तविकता' और 'चरमरूप से वास्तविक' आदि शब्दो से भी उसे व्यक्त किया गया है । एक ही वस्तु के लिए प्रयुक्त नामो के इन दोनो समूहो मे जहाँ तक पहचान की जा सकती है वहाँ तक हम कह सकते हैं कि इनमे से प्रत्येक शब्द-शृखला हमारे विषय के किसी न किसी अलहदा पहलू पर विशेष जोर देती है । जब हम कहते है कि अमुक वस्तु 'है' या 'अस्तित्व रखती है' तब ऐसा कहने का हमारा प्रारम्भिक या मौलिक अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह हमारी ज्ञानात्मिका चेतना का 'लक्ष्य' या 'उद्देश्य' है या यह कि वस्तुओ अथवा लक्ष्यो की उस व्यवस्था मे जो ससक्त विचार द्वारा अभिज्ञात हुआ करती है—उसका अपना एक स्थान है । जब हम किसी पदार्थ या लक्ष्य को 'वास्तविक' अथवा एक 'वास्तविकता' कह कर पुकारते है तब हमारा जोर इस अभिसधान पर अधिक होता है कि वह ऐसी कुछ वस्तु या लक्ष्य है जिसे हम पसन्द करे या न करें, लेकिन जिस पर निरुपाधि रूप से विचार करना हमारे लिए तब आवश्यक है जब उसके द्वारा हमारे अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि होना है ।[1] इस

---

१ इस सम्बन्ध मे विशेषतः देखिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' सेकेंड सीरीज, लेक्चर १, जहाँ इस विचार की प्रभावी विस्तृत व्याख्या दी गयी है । मै ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि मैं स्वय 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग, जैसा कि लोग अक्सर किया करते हैं, काल तथा अवकाश के किसी निश्चित या विशिष्ट विन्दु पर हुई ज्ञेय घटना की उपस्थिति के विशिष्ट रूप से परिसीमित अर्थ नहीं किया करता ।

प्रकार तव 'नास्ति' का मौलिक अर्थ होगा वह वस्तु जिसे संगत वैज्ञानिक विचार-पद्धति द्वारा अवेक्ष्य लक्ष्यो की योजना मे कोई स्थान नही मिल सकता, 'अवास्तविक' वह वस्तु है जिससे हमे किसी भी मानवीय प्रयोजन हेतु कोई सरोकार नही।

वास्तविकता क्या है यह वतलाते हुए कहा जाता है कि वह, वह है जो हमारी अपनी इच्छाशक्ति के अधीन नही अपितु उससे स्वतत्र है, जो प्रतिरोध का प्रयोग करती है, जो हठात् हमे मान्यता देने को वाध्य करती है अथवा हमारी प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करती है, भले ही हम ऐसा करना चाहे या न चाहे। दार्शनिको ने वताया है कि विषय की इस प्रकार की प्रस्तुति अर्व सत्य मात्र है। वे हठीले तथ्य अथवा वास्तविकताएँ जो उनको मान्यता देने के लिए हमे वाध्य किया करती है, इस तरह की वात इसलिए किया करती है चूंकि हमारे भीतर ऐसी निर्धारित अभिरुचियाँ और ऐसे प्रयोजन मौजूद है जिन्हें हम अपने आपको 'तथ्यों' के अपने विवरण द्वारा व्यक्त की गयी परिस्थिति के अनुकूल वनाये विना, कार्यान्वित नही कर सकते। मेरी अपनी अभिरुचियों और योजनाओ के एकदम वाहर की जो वात है, उसे मेरा प्रत्यभिज्ञान या मेरी मान्यता किसी प्रकार की भी, नही मिलती, वह मेरे लिए 'अवास्तविक' है, ठीक इसलिए क्योकि अपने विशिष्ट प्रयोजनो या उद्देश्यो के अनुगमनार्थ उससे मुझे कोई सरोकार नही होता। अतः जहाँ तक हम इस शव्द का प्रयोग सापेक्ष्यार्थ मे और इस या उस विशिष्ट कारक के विशिष्ट प्रयोजनों के सम्वन्ध मे करते हैं वहाँ तक, 'वास्तविकता' के उतने ही क्रम हो सकते हैं जितने कि विशिष्ट प्रयोजन हों, साथ ही एक उद्देश्य या प्रयोजन द्वारा प्रेरित कारक के लिए जो 'वास्तविक' है, वह सभव है उसके साथी उन अन्य कारकों के लिए जिनके प्रयोजन भिन्न हैं, अवास्तविक हो। उदाहरण के तौर पर, एक ऐसे अग्रेज ईसाई के लिए जो इग्लैंड मे अपने घर पर रहता है भारत के वर्ण या जाति सम्वन्धी नियम, सभी क्रियात्मक प्रयोजनों की दृष्टि से अवास्तविक ही है, उसे कोई जरूरत नही कि वह उनके अस्तित्व का, अपने किन्ही उद्देश्यो या अभिरुचियों के सफल कार्यान्वयन की एक शर्त के रूप मे ध्यान रखे, उसके लिए उन नियमों की सार्थकता, आश्चर्य देश द्वारा स्वीकृत विधि-प्रक्रिया के नियमों से अधिक नही है। लेकिन भारतीय समाज के ऐतिहासिक अध्येता, हिन्दू से हुए ईसाई और शिवजी के भक्त उपासक के लिए तो वर्ण अथवा जाति सम्वन्धी वे नियम एक सच्ची 'वास्तविकता' ही हैं। इन तीनो मे से एक भी अपने विशिष्ट प्रयोजन का निष्पादन उनका ध्यान रखे विना तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के तरीके के निर्धारण मे उन नियमों द्वारा सचालित मार्गदर्शन के विना, नही कर सकता। इसके अतिरिक्त

तव इस शव्द का इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है तव निस्सन्देह इसका क्षेत्र सत्य शव्द के अर्थक्षेत्र से कहीं सकीर्णतर हुआ करता है।

हमारे इन तीन प्रकार के व्यक्तियो के लिए जातिभेद के उपर्युक्त नियमो की वास्तविकता का प्रकार उनके अपने-अपने भिन्न-भिन्न विशिष्ट गुणीय प्रयोजनो के अनुसार भिन्न ही होगा । इतिहासवेत्ता के लिए वे इस कारण वास्तविक होगे चूंकि उन्होने विचारो की एक व्यवस्था के रूप मे उस समाज के व्यवहार को, जिसका इतिहास वह इतिहासवेत्ता लिख रहा है इतना प्रभावित किया है और अब भी कर रहे है—कि उन नियमो को समझे बिना उसे हिन्दुत्व की सामाजिक सरचना के अन्तर्भाग का स्पष्ट दिग्दर्शन हो ही नही सकता। भारतीय ईसाई के लिए वे इस कारण वास्तविक है कि वे कठिनाइयो के स्थायी स्रोत है और उसके उच्चतम व्यावहारिक या चारित्रिक आदर्शों के प्रति अनास्था जागृत करने के लुभावने स्रोत भी । एक शैव के लिए वे इसलिए वास्तविक है चूंकि वे कायिक और आत्मिक पापमोचन के अथवा भवताप से मुक्ति दिलाने के दैव-निर्मित साधन है ।

२—यहाँ तक तो ऐसा शायद लगे कि 'वास्तविकता' एक शुद्ध सापेक्ष शब्द है तथा यह कि पहले हमने वास्तविकता का जो मापदण्ड, उसे 'आत्मविरोध से एकान्ततः स्वतत्र' कह कर निर्धारित किया था, वह इस आकस्मिक घटना के कारण मनमाना था कि तत्त्वमीमांसा के अध्ययन के लिए जब हम तैयार हुए, तब हमारा विशिष्ट प्रयोजन सगतिपूर्वक विचार करने का था। निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि जब आप कोई खेल खेलने को तैयार होते हैं, तब उस विशेष खेल के नियम आप के लिए मूर्धन्य वास्तविकता जरूर होगे और तब तक रहेगे, जब तक वह खेल आप खेलते रहेगे। लेकिन यह आप के ऊपर निर्भर है कि आप कौन-सा खेल खेलेंगे और कब तक उसे खेलते रहेगे। ऐसा कोई एक खेल नही है जिसे खेलने के लिए अपनी-अपनी व्यक्तिगत पसन्द के बावजूद हम सब मजबूर हो और इसीलिए ऐसी कोई चरम वास्तविकता भी नही है, जिसे मानने के लिए हम सब बाध्य हो। केवल हमारे अपने-अपने विशिष्ट वैयक्तिक प्रयोजनो के अनुरूप विशिष्ट वास्तविकताएँ ही अवश्य है । आप को कोई अधिकार नही कि आप वैज्ञानिक विचार रूपी खेल के लिए ऐसे विशिष्ट नियम बनायें जो उस विशिष्ट खेल[1] को खेलने के लिए अनिच्छुक लोगो से भी वास्तविकता के नाम पर निरुपाधिक मान्यता प्राप्त करने का तकाजा करें ।

किन्तु इस प्रकार का तर्क, विचार बाह्य होगा । यह सही है कि तथ्यो का वह विशिष्ट स्वरूप जिसे हममे से कोई वास्तविक मान लेता है, उसके वैयक्तिक या व्यष्ट प्रयोजनो के विशिष्ट स्वरूप पर ही निर्भर होता है और यह भी सच है कि चूंकि हम

---

१. तुलना कीजिए 'दि विल आइ बिलीव' में प्रस्तुत प्रोफेसर जेम्स के अधिक विश्वासप्रद न होते हुए भी चमत्कारी तर्कों से ।

किसी हद तक यथार्थ व्यष्टियाँ हैं, इसलिए किन्ही भी दो मनुष्यों के व्यष्ट प्रयोजन परस्पर एकदम तदात्म या सदृश नही हो सकते है। इसलिए, बहुत करके यह सही है कि हम मे से हर एक के लिए वास्तविकता का रूप अलग-अलग और अपना-अपना हुआ करता है। लेकिन जोर देकर कहा जा सकता है कि यह सही नही कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के प्रयोजनो और उनकी अभिरुचियो के स्वरूप में कोई साम्य ही नही हुआ करता। यह मान लेने से ही कि कोई भी व्यष्ट प्रयोजन अथवा अभिरुचि तभी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकती है जब कि वह उन परिस्थितियो के निर्धारित समूह के, जिनके मिलने से उस प्रयोजन या अभिरुचि के अनुरूप वास्तविकता का गठन होता है, अपने आपको अनुकूल न बना ले—यह ध्वनि भी निकलती है कि अन्ततोगत्वा यह दुनिया एक व्यवस्थित वस्तु है, न कि विभ्राट मात्र, दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो यह कि परिणामी रूप से वह वस्तुओं की एक ऐसी संरचना या ऐसा एक संगठन है जो अपने किसी न किसी रूप मे सभी व्यक्तियो या व्यष्टियों के लिए महत्त्वमय होता है और ऐसे प्रत्येक प्रयोजन के लिए जिसे सिद्धि प्राप्त करना है, उस सरचना को ध्यान में रखना जरूरी होता है। यदि यह ससार तनिक भी एक व्यवस्थित संगठन है—और यदि वह एक व्यवस्थित स रचना नहीं, तो किसी प्रकार के भी निश्चित या निर्धारित प्रयोजन के लिए कोई स्थान भी नही हो सकता—तो उसका परिणामी संगठन अवश्य ही इस किस्म का होना चाहिए कि जो प्रयोजन उसकी ओर से मुँह मोड़े कभी सिद्ध न हो अतएव प्रयोजन के प्रत्येक सश्लिष्ट अनुगमन के लिए, वह चाहे जिस प्रकार का भी क्यों न हो, अन्ततोगत्वा, विश्व व्यवस्था के कुछ ऐसे लक्षणों की मान्यता पर निर्भर रहना आवश्यक है—जिनका बिना शर्त और निरपेक्ष रूप से ध्यान रखना सभी व्यष्ट कारकों के लिए जरूरी होता है चाहे उनके विशिष्ट प्रयोजन का स्वरूप कैसा भी हो। उपर्युक्त अभिप्राय ही हमारे इस कथन का कि तत्त्वमीमांसा द्वारा अनुसंध 'वास्तविकता' निरपेक्ष है—अभीष्ट हुआ करता है। यही आशय हमारा तब भी होता है जब हम तत्त्वमीमांसीय अध्ययन के लक्ष्य को 'निरपेक्ष' कहते है।

वास्तव मे हम निरपेक्ष की सुविधापूर्ण परिभाषा यह कह कर कर सकते हैं कि वह विश्व-व्यवस्था की ऐसी सरचना है जिसे मान्यता देना हर एक और हर प्रकार के अन्त सगत प्रयोजन की स्वय अपनी सिद्धि के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के नामधेय निरपेक्ष की सत्ता से इनकार करने के माने होंगे, सिद्धान्ततः इस विश्व और जीवन की महत्ता को घटा कर उन्हे विभ्राट मात्र बना देना। लेकिन इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि तत्त्वमीमासा मे यद्यपि हमारा विचार्य विषय चरम अथवा निरपेक्ष वास्तविकता ही होती है किन्तु उस पर विमर्श करने का हमारा दृष्टिकोण भी एक विशेष प्रकार का होता है। हमारा खास उद्देश्य होता है उन परिस्थितियों को 'जानना'

या उनके विषय मे सश्लिष्ट रूप से विचार करना, जिनको मान्यता देना सभी बौद्धिक प्रयोजनो के लिए आवश्यक है। वैज्ञानिक अनुसन्धान का इस प्रकार का अभ्युपगम ही ऐसा एकमात्र अभ्युपगम नही जिसे चरम वास्तविक के प्रति ग्रहण किया जा सकता हो। उदाहरण के लिए हम भावनात्मक एकतानता तथा मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए अपने कार्यात्मक जीवन का सचालन निश्शक होकर विश्व सरचना के उन तत्त्वो के मार्गदर्शन पर छोड सकते है, जिन्हे हम प्रत्यक्ष रूप मे गहनतम और नित्यतम समझते है। कार्यात्मिक धर्म का तो यह एक बहु-ज्ञात अभ्युपगम है ही। ऊपर से देखने पर जहाँ इस प्रकार का अभ्युपगम इसी प्रकार अनुज्ञेय प्रतीत होता है जिस प्रकार कि सत्यान्वेषी के लिए विशुद्ध वैज्ञानिक अभ्युपगम, वहाँ 'विज्ञान और धर्म की सदाबहार लडाई' से यह भी अच्छी तरह जाहिर है कि दोनो अभ्युपगम एक से नही हैं। ये दोनो अभ्युपगम एक दूसरे से किस तरह सम्बद्ध है इस समस्या को हम इस अनुसन्धान के अतिम भाग मे हल करेंगे। इस समय तो हमारे काम के लिए इतना ही काफी है कि हम उन्हे उस चरम वास्तविकता के प्रति जो अन्तत एक ही रूप मे अवश्य चिन्तनीय है, परस्पर अपसारी किन्तु प्रत्यक्षत एक समान तर्कसगत अभ्युपगम स्वीकार कर लें। श्री ब्रैडले ने ठीक ही कहा है कि 'निरपेक्ष' के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही एक मात्र तर्कसम्मत समझने वाले तत्त्वदर्शी के अपने ही आक्रामक पाप से बढ कर तत्त्वमीमासानुसार कम तर्कसगत पाप दूसरा नहीं है।

३--आइये अब हम तत्त्वदर्शी के लिए उपर्युक्त रूप से परिमापित वास्तविकता तथा अनुभूति के अन्त सम्बन्ध की विशद खोज की ओर फिर से लौट पड़ें। अब हम शायद पहले से अधिक पूर्णतापूर्वक देख सकेंगे कि केवल अव्यवहृत अनुभूति मे ही वास्तविकता क्यो पायी जाती है। हम जिस कारण से वास्तविकता को अव्यवहृत अनुभूति का तदात्म मानते हैं उसका उस सिद्धान्त से कोई सरोकार नही है जिसके अनुसार 'सवेदनाएँ' 'मनोनीत' किसी वस्तु की उत्पादन होने के कारण अपने 'बाह्य' कारण के स्वतत्र अस्तित्व का सीधा प्रमाणपत्र अपने साथ लिये फिरती समझी जाती हैं। अत हम देख चुके हैं कि (१) अव्यवहृति का अर्थ है अनुभूति के समग्र से एकदम अविभाज्य सयुक्ति और यह भी कि यह अव्यवहृति ऐसी प्रत्येक मनोदशा से सपृक्त होती है जो कार्यात्मक रूप से जीयी गयी है अथवा क्रियात्मक जीवन मे मे होकर गुजरी है; (२) यह कि सवेदनाओ की किसी 'बाह्य' कारण पर विशेष रूप से निर्भरता किसी अर्थ मे भी अनुभूति का अव्यवहृत दत्त नही होती बल्कि वह एक ऐसी विमर्शात्मक प्राक्कल्पना होती है जो अन्य सभी इस प्रकार की प्राक्कल्पनाओ के समान वैध घोषित किये जाने से पहले परीक्षा की तथा औचित्य-निर्णय की अपेक्षा करती है, (३) यह कि वास्तविक का हमसे 'स्वतंत्र' मान के साथ तादात्म्य बैठाना एक दार्शनिक भूल है। जैसा कि हमने अभी

पाया, जो कुछ केवल स्वतत्र है वह हमारे लिए केवल अवास्तविक ही होगा। जो कुछ भी वास्तविक है उस सब का अव्यवहृत अनुभूति मे उपस्थित होना, उस वास्तविक का सार्वत्रिक लक्षण है क्योंकि जहाँ तक कोई वस्तु अनुभूति के वस्तुनिष्ठ जीवन की अव्यवहृत एकता मे इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है वहाँ तक ही उसे ऐसी परिस्थिति अथवा तथ्य के रूप मे पेश किया जा सकता है जिसका ध्यान रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि उसके विना सिद्धि, अथवा पूर्णता अन्यथा प्राप्त न हो सकेगी। कार्यरत जीवन, जैसा कि हम पहले ही जान चुके है, सदा ही अनुभूति की ऐसी वस्तुनिष्ठ एकता का नाम है जिसमे किसी मानसिक तथ्य के दोनों ही प्रभेदक पहलू, उसका अस्तित्व और उसकी अन्तर्वस्तु, उसके तत् और कि, प्रभेद्य होते हुए भी पृथक् नही किये जा सकते। किसी दी हुई वस्तु का वैज्ञानिक विमर्श, जैसा कि हम देख चुके हे, सदा निरपेक्ष या गुणपरक इस अर्थ मे होता है कि अन्तर्वस्तु का प्रक्रिया से मानसिक पृथक्करण ही उस विमर्श का सार हुआ करता है। इस प्रकार के पृथक्करण द्वारा हम व्यवहृत रूप मे, उस पृथक्कृत अन्तर्वस्तु के स्वरूप को ज्यादा अच्छी तरह जानने लगते हैं लेकिन अधिक परिपक्व या पूर्ण होते हुए भी हमारा यह ज्ञान अमूर्त या गुणपरक ही रहता है. फिर भी वह एक ऐसे लक्ष्य या पदार्थ का तद्विषयक ज्ञान तो है ही जो उससे वाह्य है। हम तभी पुनः एक वार वास्तविक अस्तित्व की वस्तुनिष्ठ क्रियात्मकता की ओर लौटते है जव विमर्शात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप हमे व्यष्ट प्रक्रिया सार की पुनरावृत्ति मे नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है।

इसी परिणाम या निष्कर्ष को हम एक और अधिक सार्थक रीति से व्यक्त कर सकते हैं। यह कहना कि वास्तविकता और अव्यवहृत अनुभूति सारतः एक ही है, यह कहने का ही दूसरा तरीका है कि वास्तविक मूलत वह ही है जो प्रयोजन की प्राप्ति के लिए सार्थक हो। अनुभूति मूलत. उद्देश्यपरक होती है जैसा कि हम साधारण आनन्द और पीड़ा के सम्बन्ध मे देख सक्ते है। अनुभूति के इन सीधे से सीधे रूपों के विषय में जो मनोवैज्ञानिक प्रश्न या समस्याएँ उठाई जा सकती है उनसे उत्पन्न होने वाली सब तरह की गडवडी और जटिलता के वीच एक वात जो जरूर ही स्पष्ट दिखायी देती है वह यह है कि आनन्द और पीडा मौलिक रूप से तन्त्रिकाओं की क्रियाशीलता के क्रमश. अप्रतिहत तथा प्रतिहत विसर्जन से सम्वद्ध रहते है। आनन्द सफल प्रवृत्ति से अवियोज्य प्रतीत होता है और पीडा पराजित अथवा व्यारुद्ध प्रवृत्ति[1] से। और अगर हम

---

[1] डा० स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ साइकोलॉजी' मे अनुभूति विषयक सभी समस्याओ का समग्र विवेचन देखिए। निस्सन्देह मेरा यह मतलब नहीं कि 'क्रियाशीलता की सज्ञानता' चाहे वह सफल हो या व्यारुद्ध, तथ्यरूपेण, आनन्द या पीड़ा

'सामान्य प्रकार के आनन्द' और 'सामान्य प्रकार की पीडा' नामक विविक्तियो पर अधिक ध्यान न देते हुए उन्हे विशिष्ट अथवा निर्धारित आनन्द या पीडा के रूप मे अथवा

की पूर्वगामिनी और अनुकूलक होती है। इसके विपरीत यह हमारे अनुभव का एक परिचित तथ्य है कि अपने प्रयोजनो या उद्देश्यो की पराजय की अनुगामिनी पीड़ा द्वारा ही हमे पहले-पहल पता चलता है कि हमारे प्रयोजन या उद्देश्य क्या थे। उदाहरण के लिए, किसी आदमी को तभी पता चलता है कि वह किसी से प्रेम करता था, जब उसकी प्रेमिका द्वारा उसके प्रतिद्वन्द्वी को दी गयी अधिमान्यता से उत्पन्न पीड़ा का उसे अनुभव होता है। और इससे अधिक अन्य कुछ भी इतना निश्चित नहीं प्रतीत होता कि अनेक आनन्द जैसा कि प्लैटो ने बहुत पहले ही जान लिया था, 'कार्यात्मक सकल्प' से एकदम स्वतत्र अर्थात् उस सकल्प के आधीन नहीं हुआ करते।

इस अवसर पर मुझे एक ही बार मे यह चेतावनी दे देना उचित प्रतीत होता है कि कुछ निम्नलिखित भ्रान्त धारणाओ से हमे सावधान रहना चाहिए। (अ) जब मै अनुभूति या सवेदना को 'प्रयोजनात्मक' अथवा 'उद्देश्यपरक' कहता हूँ तब मेरा अभिप्राय उसके बारे मे ऐसा कोई अभ्युपगम बना लेना नहीं होता कि उसके लिए किसी मार्गदर्शी लक्ष्य अथवा उद्देश्य के चैतन्य प्राग्ज्ञान का पूर्वग्रहण आवश्यक होता ही है, ऐसा अभ्युपगम स्वयं मेरे ही मनको अत्यन्त उत्तेजक लगेगा। मेरा मतलब तो केवल इतना ही है कि तथ्य रूपतः चेतन जीवन की प्रक्रियाएँ उन परिणामो द्वारा ही बोद्धव्य हुआ करती हैं, जिनमें जाकर वे स्वय समाप्त हो जाती हैं तथा जिन्हें अनुरक्षित रखने का वे यत्न करती हैं, इसके अतिरिक्त यह भी कि वे सब मिलकर अभिरुचि सातत्य के उस प्रकार को अन्तर्ग्रस्त किये रहती हैं जो अवधान का अंग हुआ करता है। (ब) यदि अवधानात्मिका अभिरुचि आवश्यक रूप से वास्तविक सकल्प या वास्तविक चेतन प्रयत्न नहीं तो वास्तविक 'इच्छा' तो वह उससे भी कम आवश्यकरूपेण है। मेरे लिए, श्री ब्रैडले के समान, (देखिए अक्टूबर, १९०२ के 'माइण्ड' मे प्रकाशित उनका लेख) जहाँ किसी प्रक्रिया के परिणाम का कोई आदर्श प्राग्ज्ञान नहीं होता वहाँ न तो वास्तविक वांछा ही होती है न ही कोई वास्तविक सकल्प और चूँकि मै नहीं देख पाता कि सब प्रकार के अवधान में आदर्श प्राग्ज्ञान भी सन्निहित होता है अतः प्रोफेसर रॉयस से इस बात मे सहमत नहीं हो सका कि अतिम या चरम वास्तविकता 'किसी विचार का आन्तरिक आशय' मात्र ही होती है।

मेरा अपना अभिप्राय, इस नोट के प्रारम्भ मे दिए गये उदाहरण के सदर्भ से

एक जटिल भावनात्मक स्थिति के रूप मे ग्रहण नही करते तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। ऐसा अस्तित्व ही, जिसके व्यवहार का निर्धारण, चेतनतापूर्वक अथवा अचेतन रूप मे लक्ष्यो या प्रयोजनो द्वारा हुआ करता है—अस्तित्व प्राप्त करने मे उमी सीमा तक समर्थ प्रतीत होता है जहाँ तक वे प्रयोजन अग्रगत अथवा वाधित आनन्दपूर्ण या पीडाप्रद, हर्षमय, दुखमय अथवा भले या बुरे हो। इसलिये हमारा प्रारम्भिक निर्णय कि वास्तविकता उसमे पायी जाती है जो अव्यवहृत रूप से अनुभव किया जाय न कि उसमे जो अनुगत विमर्शीय विश्लेषण द्वारा अनुभूति के साथ हुए अपने सयोजक से पृथक्कृत हुआ हो, तथा हमारा वाद का यह कथन कि वास्तविक वह है जिसका ध्यान रखने को हम अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वाध्य हैं, दोनों ही पूरी तरह संपाती हैं।

इस बात को एक उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए छोटे या बडे महत्व के किसी प्रयोजन के कारण अगले शहर मे मेरा तुरन्त उपस्थित होना जरूरी हो जाता है तव वे सव रास्ते जिनके द्वारा उस शहर तक पहुँच सकूँ, मेरे लिए ऐसी परिस्थितियाँ वन जाती है उन सवका ख्याल रखना मेरे लिए जरूरी हो जाता है और अगर मै चाहता हूँ कि मेरा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन असफल या व्यारुद्ध न हो तो मुझे अपने चलने को उन परिस्थितियो के अनुकूल बनाना ही पडेगा। हो सकता है कि उस शहर तक पहुँचने के वैकल्पिक मार्ग हो और यह भी सभव है कि मार्ग एक ही हो। हर हालत मे, मेरे उद्देश्य या प्रयोजन के लिए जो भी विकल्प शेष रहेंगे वे कठोरता-पूर्वक मर्यादित ही होंगे। गणितीय सभाव्यता की तौर पर मैं या तो 'अ' से 'व' तक अनिश्चित सख्याक मार्गों से पहुँच सकता हूँ। यदि मुझे यही यात्रा एक वास्तविक तथ्य के रूप मे किसी दत्त दिवस पर और सचरण के तत्काल वर्तमान साधनों द्वारा ही करनी पडे तो सभाव्य मार्गों की सैद्धान्तिक अनन्तता अतिशीघ्र ही घटकर, लग-

---

अधिक स्पष्ट हो जायगा। कोई आदमी तभी पहले-पहल समझ पाता है कि उसे प्रेम हो गया है जव प्रतिद्वन्द्वी की सफलता से उसे पीड़ा पहुँचती है। जहाँ तक यह बात इस प्रकार घटित होती है वहाँ तक कोई वास्तविक या क्रियात्मक संकल्प नहीं होता। न अतितरांभावी वास्तविक ही होती है न वास्तविक वांछा। लेकिन—और यही मेरा कथन विन्दु है—उसे पीड़ा का अनुभव तव तक न हुआ जव तक कि उसके प्रतिद्वन्द्वी सफलता से मौलिकतः अग्रिमायामी अथवा उद्देश्यपरक प्रकार की निर्धारित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का सफल वाद-विन्दु व्यारुद्ध नहीं होता। हो सकता है कि असफलता पहली वार इस प्रकार की प्रवृत्ति की उपस्थिति से अवगत कराये लेकिन उस प्रवृत्ति को अपनी असफलता की एक परिस्थिति के रूप में वहाँ पहले से जरूर मौजूद रहना चाहिए।

मग दो या तीन की संख्या तक ही रह जायगी । इसे और सरल रूप मे प्रकट करने के लिए हम ऐसा उदाहरण लेंगे जहाँ एक ही मार्ग ग्राह्य हो। यह उपलब्ध एक मार्ग ही मेरे लिए ,'वास्तविक' मार्ग होगा । और वह गणितीय रूप से संभाव्य मार्गों की अनिश्चित या अनन्त संख्या की तुलना मे विषम होगा ठीक इसलिये कि मेरे प्रयोजन अथवा उद्देश्य की निष्पत्ति मेरे लिए उस एक मार्ग को ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नही रखती अपितु उसे ही ग्रहण करने को मैं बाध्य हो जाता हूँ। गणितीय रूप से संभाव्य असंख्य मार्ग मेरे लिए इसलिए अवास्तविक हैं चूँकि उन सबको एक सदृश सभाव्य मार्गमात्र मान लिया गया था। किसी वास्तविक उद्देश्य या प्रयोजन द्वारा उनमे से किसी एक या किसी निश्चित सख्यक मार्ग या मार्गो की मर्यादा मेरे लिए निर्धारित नही है न उसके द्वारा मैं उनकी विचित्रताओ के अनुसार अपने आपको ढाल लेने के लिए अथवा अपने लक्ष्य मे असफल होने के लिए ही मैं बाध्य हूँ। वे मार्ग 'काल्पनिक' अथवा 'केवल संभव' ठीक इसलिये हैं कि उनका ऐसी अनुभूति या अनुभव के साथ कोई निर्धारित सम्बन्ध नही है जो निर्धारित प्रयोजन की अभिव्यक्ति हो।

इस उदाहरण द्वारा हम संभवत. परम महत्व के एक अगले बिन्दु तक जा पहुँचे क्योकि उससे इस सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है कि वह वास्तविक जो केवल 'संभाव्य' अथवा 'केवल विचारित' का प्रतिमुख हो सदा व्यष्ट ही होता है। 'अ से ब' तक पहुँच सकने के गणितीय रूप से कल्पना संभाव्य मार्गो की संख्या की कोई निश्चित गणना नहीं है, किन्तु किसी वस्तुनिष्ठ या ठोस व्यष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिये केवल एक ही, अथवा परिशुद्धरूपेण निर्धारित संख्याक मार्ग हुआ करता है। (इस प्रकार मैं यदि 'ब' तक की यात्रा एक दत्त समय के भीतर करने के लिए बाध्य होऊँ तो मुझे रेलवे द्वारा अनुसरित मार्ग का ही अवलम्बन करना पड़ेगा।) अत. सर्वत्र रूप से यह बात सामान्यत: सर्वविदित ही है कि जहाँ विचार सर्व सामान्य है वहाँ वास्तविकता जिसके विषय मे हम विचार करते हैं तथा जिसे हम अपने विचार के परिणाम के रूप मे विवेय मान कर चलते हैं, सदा व्यक्तिनिष्ठ या व्यष्ट ही हुआ करती है। केवल प्रकल्प्य की सामान्यवर्तिता के मुकाबले मे वास्तविक की इस व्यक्तिनिष्ठता का स्रोत या सिद्धान्त क्या है, अब यह देखना है। यह स्रोत वास्तविक प्रयोजन के साथ वास्तविकता का ठीक वह सम्बन्ध ही है जिसके बारे मे हम ऊपर बता चुके हैं । विचार के निष्कर्ष सामान्य इसलिए होते हैं क्योंकि वैज्ञानिक चिन्तन के प्रयोजनार्थ हम अनुभव के 'कि' को उनके 'तत्' से पृथक् कर एकाकी बना देते हैं, हम जो कुछ हमारे सामने प्रस्तुत होता है उनके स्वरूप पर, उसे उस अनन्य प्रयोजन से जो हम तक पहुँचने वाली अनुभूति मे व्यक्त होता है, पृथक् कर के विचार किया करते है। दूसरे शब्दो मे वैज्ञानिक चिन्तन की समस्याओं का एक ही प्रारूप हुआ करता है अर्थात् यह कि 'हमारे चिन्तन और क्रिया अथवा कार्य को परस्पर

सगत बनाये रखने का हमारा सामान्य उद्देश्य अमुक प्रकार की परिस्थितियों मे किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है ?' उसका प्रारूप कभी भी इस प्रकार का नही हुआ करता कि 'इस निर्धारित प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुझे किस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा।' इन दोनो प्रारूपों की इस भिन्नता का कारण एकदम स्पष्ट है। 'इस निर्धारित प्रयोजन' को विचार या चिन्तन का विषय बनाकर मैं स्वत ही उसके 'तत्' में से उसके 'कि' को निकाल बाहर करता हूँ और उसे एक मामूली दृष्टान्त अथवा एक विशिष्ट प्रकार का उदाहरण मात्र मान लेता हूँ । जब तक यह प्रयोजन वास्तविक जीवन में वस्तुत ओतप्रोत या अन्तर्हित तथा उसकी अव्यवहृत अनुभूति का निर्धारक बना रहता है तब तक वह एक ऐसा पूर्णत परिमित अनन्य 'तत्' रहता है जिसपर विचार किया जाय तो वह अनिर्धारित सख्याक सदृश समाव्यताओ का एक प्रकार ही बन जाता है।

अब, यहाँ अत्यन्त सावधान होकर यह बात ध्यान मे रख लेना आवश्यक है कि अव्यवहृत अनुभूति के तथ्यो अथवा पदार्थों की उस व्यष्टता का स्रोत जिसके द्वारा हम विज्ञान की सामान्यताओं अथवा उसकी अमूर्त या गुणपरक समाव्यताओं से उनका वैषम्य बैठा पाते है, किसी वास्तविक अनुभूति मे अभिव्यक्ति हुई, प्रयोजन की अनन्य व्यष्टता ही है । इस विचार-विन्दु पर और भी विशद विचार करना इसलिए भी अधिक आवश्यक है क्योंकि यह जनविदित किन्तु भ्रान्त मत लोगो मे घर कर गया है कि अवकाश तथा कालक्रम मे स्थान ग्रहण करना ही वास्तविक अस्तित्व की व्यष्टता का स्रोत है। लोग बहुधा कहा करते है कि वैज्ञानिक सत्य इसलिए सामान्य होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध सभी स्थानो तथा कालो से रहता है। 'वास्तविक' तथ्य इसलिए व्यष्ट होता है क्योंकि वह होता है वह जो 'यहाँ' और 'अभी' अथवा 'अत्र' और 'अधुना' है। लेकिन हमे यह समझ लेने योग्य होना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार के विवरण से तार्किक निर्भरता का वास्तविक क्रम एकदम पलट जाता है । अवकाश और काल मे अवस्थिति मात्र, केवल इस कारण से ही व्यक्तीकरण का एक सच्चा सिद्धान्त कभी नही हो सकती कि अवकाश का कोई विन्दु तथा काल का कोई क्षण, उन वस्तुओं और घटनाओं से विलग होने पर भी जो उस अवकाश और काल को आपूरित करती हैं, हमारे प्रेक्षणार्थ[1] किसी तरह अन्य सभी विन्दुओ तथा क्षणो से अप्रभेद्य होता है।

---

१ क्या 'स्थिति' स्वयं 'सापेक्ष' होती है या 'निरपेक्ष', इस अत्यन्त कठिन समस्या के पूर्व-निर्णय की बात को बरकाने के लिए इस प्रकार की उपाधि या शर्त जोड़ देना आवश्यक है। सौभाग्य से हमारी तर्कना, समस्या के निर्धारण पर निर्भर नहीं है। अगर लाल और नीला जैसी निरपेक्ष बातो तक मे भिन्नता पायी जाय तो हमारी इस तर्कना का जोर कम न होना चाहिए, वह जोरदार ही रहेगी।

दूसरी ओर इसके विपरीत वे स्थान और समय, तथा वे वस्तुएँ और घटनाएँ जो उन स्थानों और समयों को घेर कर बैठी होती हैं, जीवनो की उन अनन्य अवस्थाओ के साथ, जो अनन्य और व्यष्ट प्रयोजन का मूर्तरूप होती हैं—केवल अपने सहसम्बन्ध के कारण ही हमारे लिए स्वय अनन्य और व्यष्ट वन जाती हैं। मेरे लिए 'यहाँ' अथवा 'अत्र' का अर्थ है वह स्थान जहाँ इस समय मैं हूँ, और 'अभी' या 'अधुना' का अर्थ है वे प्रयोजन जिनकी अपनी अनन्यता के कारण मैं इस दुनिया मे अनन्य वन जाता हूँ, इस प्रकार लगता है कि हम इस सार्थक निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि निष्पादन की यह अनन्य अवस्था हमारे इस कथन मे निहित है कि 'वास्तविकता अनुभूति है' उसमे आगे के ये तर्कवाक्य कि 'वास्तविकता पारस्पार सोद्देश्य होती है' तथा 'वास्तविकता अनन्यत व्यष्ट होती है' भी शामिल हैं।

४—हम पहले ही देख चुके हैं कि जब हम वास्तविकता का अनुभूति से तादात्म्य बैठाते हैं तब इसका यह मतलब नहीं होता कि हम अपनी उस अनुभूति के साथ जो वास्तविक जीवन मे हमे जिस रूप मे प्राप्त होती है उस वास्तविकता को तदात्म मानते हों या उससे भी घटिया यह बात मानते हों कि वह मेरी अपनी उस अनुभूति की तदात्म है जिसे हमने किसी चेतन या अचेतन दार्शनिक अभिमत के अनुसार पुनर्गठित किया हो। वास्तव मे मेरी अनुभूति पूर्णतया और एकतानता की उन परिस्थितियों की शर्त को पूरा करने मे एकदम असमर्थ हुआ करती है जिन्हे पिछले खण्ड में हमने 'शुद्ध' अथवा पूर्ण अनुभूति के लिए अनिवार्य पाया था। हमारी उस अनुभूति की सदोषता तीन प्रकार से प्रकट होती है: (१) जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उसके अन्त तत्त्व सदा ही खडित हुआ करते हैं। अस्तित्व के समस्त ऐश्वर्य का रद्दी से रद्दी अंश ही उसमे पाया जाता है। जिन प्रयोजनो और अभिरुचियो से मेरा चैतन्य जीवन वनता है वे उस अनुभूति मे अत्यन्त सिकुडी-सिकुडी सी और सीमित होती हैं। विश्व के अधिकांश तथ्य अर्थात् उन परिस्थितियो का अधिक भाग, जिनका ध्यान रखना दुनिया के निवासियो के अभीष्ट प्रयोजनो अथवा लक्ष्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक होता है मेरी अपनी वैयक्तिक अथवा व्यष्ट अभिरुचियो के—कम से कम उन अभिरुचियो के, जिनके प्रति मैं कभी भी स्पष्ट रूप से जागरूक होता हूँ—क्षेत्र के वाहर ही हुआ करता है। अब चूँकि मेरे व्यष्ट प्रयोजनो के हेतु उन तथ्यों का कोई मूल्य नही होता इसलिए वे मेरी विशिष्ट अनुभूति मे सीधे ही प्रविष्ट नही होते। या तो मैं उनके विषय मे कुछ भी नही जानता या उन्हे जितना भी जान पाता हूँ, वह अप्रत्यक्ष रूप से उन अन्य लोगो के साक्ष्य के आधार पर ही जान पाता हूँ, जिनके जीवन मे वे वास्तव मे और प्रत्यक्ष रूप से सार्थक हो चुके है। और फिर ये अन्य लोग भी अपनी-अपनी उन व्यष्ट अभिरुचियो के आधार पर ही, जिनके द्वारा वे मुझसे अलग पहचाने जा सकते हैं, उस तथ्यात्मक वास्तविकता के, वाहरी रूप से

उतने ही अवगत होते हैं, जितना कि मैं स्वयं।

(२) इसके अतिरिक्त अपने ही लक्ष्यों और अभिरुचियों मे भी मेरी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त सीमित प्रकार की होती है। पहले तो वह उन लक्ष्यों और अभिरुचियों का एक छोटा-सा खड भर ही होती है जो अनुभूति के किसी वास्तविक क्षण मे अव्यवहृत रूप से अनुभूत विषयक सदा प्रदत्त रूप से पायी जाती है। वस्तुतः अनुभूत को, हमे, ज्यादातर सैद्धान्तिक रूप से ऐसी बुद्धिपरक अर्थ योजनाओं द्वारा, जो भूतकाल तक स्मृति के रूप मे और भविष्य तक प्राग्ज्ञान के रूप मे चला करती है व्यक्त करना होता है। और दोनों ही प्रकार की ये बौद्धिक अर्थ योजनाएँ अपरिहार्य होने पर भी, तर्काभासो द्वारा बुरी तरह दूषित होती है। दूसरी बात यह कि इस प्रकार की बौद्धिक अर्थ योजना की पूरी-पूरी सहायता होते हुए भी मैं, एकाकी और सगत लक्ष्य या प्रयोजन के मूर्त रूप अपने इस जीवन के समग्र अर्थ, को पूरी तरह से समझ पाने मे कभी सफल नही हो पाता। मेरे प्रयोजनों मे से बहुत-से प्रयोजन कभी भी स्पष्ट चेतना में पर्याप्त रूप से इतने नही उभर पाते जिससे उन्हे स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सके। उनमें से जो इस प्रकार उभर भी पाते हैं उनकी शक्ल देखकर लगता है कि उनमें परस्पर कोई व्यवस्था—क्रमिक सम्बन्ध ही नही है। तब कोई आश्चर्य नही कि वे 'वास्तविकताएँ' अथवा 'तथ्य', अपने प्रयोजनो के निष्पादन हेतु जिनको ध्यान मे रखने की बात मैं सीखता हूँ, प्रायः किसी विभ्राट के अश-से लगते है न कि किसी ऐसी क्रमबद्ध व्यवस्था के जैसा कि इस दुनिया को, अगर हम उसे उसके सच्चे रूप में देख पायें तो, मानने के लिए बाध्य हों।

(३) अन्त मे हमारे पास इतने गंभीर आधार यह मानने के लिए मौजूद हैं कि जिन वास्तविकताओ का ध्यान हम रखते भी है उनके भी उन पहलुओं के सिवाय जो मेरी विशिष्ट अभिरुचियो या स्वार्थों के लिए सार्थक होने के कारण मेरा ध्यान आकर्षित करते है अन्य किन्ही पहलुओ पर मेरी नजर नही जाती। अपने साथी मनुष्यों से सम्बद्ध आश्चर्यजनक अनुभवो से मैं जो कुछ सीख पाता हूँ वह सार्वाधिक सत्य भी हो सकता है अर्थात् प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु के अनन्त पक्ष या पहलू उन पहलुओं के सिवाय भी होते है जिनकी ओर हमारा ध्यान इसलिए आकर्षित होता है चूंकि वे हमारे प्रयोजनो के लिए अधिक महत्त्व के होते है। हमारी परिचित वस्तुओं मे से अधिकांश मे, लक्षणों की ऐसी अनन्तराशि मौजूद हो सकती है जिसे हम केवल इसलिए नही देख पाते चूंकि उसका कोई आर्थिक मूल्य इंसानी बाजार के लिए नही होता। इन्ही सब कारणो से, हमे अपनी सीमित अनुभूतियों का उस अनुभूति के साथ जिसके बारे मे हम कह चुके है कि 'वास्तविक' होने के लिए उसके साथ नत्थी होना पडता है और नत्थी होने अथवा ओतप्रोत होने से ही वास्तविक बनता है, तादात्म्य बिठाने से एकदम

वर्जित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस अनुभूति को हम विश्व की मानवीय या अन्य परिमित और इन्द्रिय-वेद्यी सत्ताओं की समष्टि की 'सामूहिक अनुभूति' का तदात्म्य भी नहीं कह सकते हैं। यह बात एक नहीं अनेक कारणों से स्पष्ट हो जाती है। पहले तो 'सामूहिक अनुभूति' पद का यदि कोई अर्थ है तो वह एक व्याघाती पद है। क्योंकि हम देख चुके हैं कि लक्ष्य और अभिरुचि या स्वार्थ की अनन्य या अद्वितीय व्यष्टिता अनुभूति का आवश्यक या मौलिक लक्षण है, और कम से कम इस माने में तो एक सही या सच्ची अनुभूति का किसी व्यष्टकर्ता की अनुभूति होना आवश्यक ही है, और किसी प्रकार का समुदाय या समूह, व्यष्टकर्ता हो नहीं सकता। अतः यह तथाकथित 'सामूहिक अनुभूति' किसी प्रकार की एक अनुभूति नहीं है अपितु वह अनुभूति की ऐसी अनिर्धारित बहुलता है जिसे किसी एक अभिधान के नीचे डाल कर केवल इकट्ठा भर कर दिया गया है। यदि हम इस कठिनाई से किसी तरह पार पा भी लें तो एक और बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ खड़ी होती है। परिमित व्यष्टियों की विभिन्न अनुभूतियाँ, सब, जैसा कि हम कह चुके हैं, खण्डखण्डीय तथा कम या अधिक असश्लिष्ट होती हैं। इन सबको जोड़ मिलाकर आप कभी भी ऐसी एक अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते जो सर्वार्थग्राहिणी और सर्वतः एकतान हो। अगर खण्डखंडिता ही उनका एकमात्र दोष होता तो यह सोचा जा सकता था कि अगर ऐसा कोई बाहरी प्रेक्षक मौजूद हो सकता जो इन सब खण्डों को एकदम देख पाता तो सम्भव था कि इन सबकी कमियों की पूर्ति मात्र एक दूसरे के द्वारा करके उन्हें एक समग्र रूप दिया जा सकेगा। लेकिन हमारी परिमित अनुभूतियाँ न केवल खंडीय ही हैं बल्कि बहुतायत से परस्पर व्याघातिनी और आन्तरिक रूप से दुर्व्यवस्थित भी। निस्सन्देह हमारा विश्वास हो सकता है कि उनके परस्पर व्याघात आभासी मात्र हैं और यह कि अगर हम स्वयं अपने अन्तरतम लक्ष्यों और प्रयोजनों के प्रति पूर्णतः जागरूक या सचेत हो सकते तो तत्काल ही हम एकतान व्यवस्था के रूप में समग्र वास्तविकता के प्रति भी जागरूक हो सकते। लेकिन हम ऐसा कभी कर नहीं पाते, और आगे चलकर हम देखेंगे भी कि अपनी इस परिमिति के कारण ही हम अपने जीवनों की सार्थकता के प्रति इस प्रकार की आपूरित अन्तर्दृष्टि कभी भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इसीलिए ऐसी अनुभूति जिसके लिए सारी वास्तविकता एकतान समग्र के रूप में प्रस्तुत हो, हमारे द्वारा अविकृत आंशिक और अपूर्ण अनुभूतियों की कोई नकल या अनुकृति मात्र नहीं हो सकती।

इस प्रकार, हम जोर देकर यह कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि ऐसी अतिमानव अनुभूति का अस्तित्व आवश्यक है जिसमें एक पूर्ण और एकतान व्यवस्था के रूप में सत्य का समग्र संसार प्रत्यक्षतः प्रस्तुत रहे। यह देखा जा चुका है कि किसी इन्द्रियवेद्य अनुभूति ने अथवा संवेदना के समग्र में प्रस्तुत होने के अतिरिक्त,

वास्तविकता का कोई अर्थ ही नही होता साथ ही उसे उस सब को अनियत रूप से अनुभवातिक्रान्त करते भी देखा गया, जिसे किसी भी सीमित अनुभूति के क्षणों मे प्रत्यक्षत प्रस्तुत पाया जा सकता है। यदि यह निष्कर्ष ठीक हो तब हमारे निरपेक्ष को ऐसे चेतन जीवन की सज्ञा दी जा सकती है जो अपनी अनुभूति की अन्तर्वस्तु के रूप मे, अस्तित्व की सकलता को एकदम समेट कर एक आदर्श और व्यवस्थित इकाई बन गया हो। इस प्रकार की परिकल्पना की अपनी कठिनाइयाँ होती है। इस प्रकार की सर्वाधानी अनुभूति को भौतिक प्रकृति के साथ और हमारी अपनी परिमित अनुभूति के साथ क्योकर सबद्ध मानना जरूरी है । ये ऐसी समस्याएँ है जिन पर हम इस पुस्तक के अगले दो खण्डों मे विचार करेगे । इन समस्याओ को काफी पेचीदी पायेगे अत यह ठीक ही होगा अगर हम पहले से ही इस सभावना का सामना करना शुरू करदे कि सभव है निरपेक्ष अनुभूति संबधी हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित सिद्ध हो, साथ ही अत्यन्त परीक्षणात्मक भी। वह ऐसा ही है, ऐसी बात जोर देकर कहने को हम मजबूर-से मालूम उस प्रयत्न के कारण ही देते है जो वास्तविकता विषयक अपनी धारणा मे सगत अर्थ का अध्याहार करने के लिए हम किया करते है, लेकिन वह है क्या इससे स्वय अधिकार अनभिज्ञ होने की बात हमे स्वीकार तो करना ही होगा।

अपने विवेचन की वर्तमान परिस्थिति मे हम कम से कम यहाँ तक जरूर आ सकते है। सर्वाधानी और सगत अनुभूति की ब्योरेवार सरचना या बनावट हमारी अपनी खडखडीय और असगत अनुभूति से कितनी भी भिन्न क्यो न हो लेकिन अगर उसे अनुभूति जरा भी बन रहना है तो उसे अपने अन्त सार को उस सामान्य तरीके से ही ग्रहण करना होगा जो प्रत्यक्ष अनुभूति मात्र के लिए एक स्वाभाविक तरीका बन चुका है। उसे उन अन्तर्वस्तुओ का ध्यान रखना होगा और उनके प्रति जागरूक रहना होगा और अगर उसे किंचित् मात्र भी प्रत्यक्ष अनुभूति बने रहना है तो, वह और भी अधिक बाध्य होगी कि उन अन्तर्वस्तुओं की उस सरचनात्मक एकता का जो किसी सश्लिष्ट योजना अथवा प्रयोजन की प्रतिमूर्ति हुआ करती है—ध्यान रखे। हमे उसका ध्यान एक ऐसी व्यवस्थागत इकाई के रूप मे करना होता है जिसमे न केवल वे सब 'तथ्य' ही शामिल हों जिनका ख्याल 'हमारी विभिन्न अनुभूतियों को रखना पड़ता है बल्कि वे सब प्रयोजन भी जिन्हे वे व्यक्त करती है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि जब हम इस प्रकार की किसी चरम अनुभूति की, अपने चेतन जीवन के रूप मे, कोई निकटतम परिकल्पना करें तो उसका ध्यान परिपूरित ज्ञान के अविभेद्य समग्र के साथ हुए सर्वोच्च सकल्प के समेल के रूप मे ही करे । लेकिन हमे याद रखना होगा कि इस प्रकार की अनुभूति के लिए ठीक इसीलिए कि वह स्वभावत. सर्वाधानी होती है—उसके 'तत्' और 'किं' दोनो ही अवियोज्य होते है। अत तद्विषयक ज्ञान का

स्वरूप तथ्य जगत् की व्यष्ट रचना विषयक प्रत्यक्ष अनादृष्टि प्रकार का होना चाहिए न कि संभाव्यताओ के सबधी सामान्यीकरण प्रकार का तथा उसके संकल्प का स्वरूप भी ऐसा प्रयोजनात्मक होना आवश्यक है जो हमारे अपने प्रयोजन के असदृश सदा चेतनापूर्वक इस तरह व्यक्त किया जा सके कि जिन तथ्यो के प्रति वह जागरूक[1] हो उनसे पूर्णत एकतान तथा स्वय परिपूर्ण हो। चूंकि ज्ञान और सकल्प मे हमारे लिए अनुभूति की 'कि' और 'तत्' विषयक असगति अन्तर्ग्रस्त रहती है अत वे ऐसी पूर्णत. सतोषजनक अभिधाएँ नही हैं जिनके द्वारा निरपेक्ष[2] के जीवन का स्वरूप बखाना जा सके। इस प्रकार के जीवन का पर्याप्ततम अनुरूपी संभवत प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि के साथ उस सन्तुष्ट अनुभूति या भावना के उस सयोजन मे हमे शायद मिले, जिसका अनुभव व्यक्तियो के गहरे और बुद्धिपरक प्रेम से हमे होता है। प्रेम की अन्तर्दृष्टि को हम 'ज्ञान' कह सकते है लेकिन विज्ञान के सापेक्षिक प्रकार के सार्वत्रो से यह ज्ञान बिलकुल ही दूसरी तरह का है। मैं अपने मित्र को जानता हूँ लेकिन ऐसे व्यक्ति के रूप मे नही जो इस या उस साधारण श्रेणी का विषय हो जिसके बारे मे शरीरशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र सबधी कुछ समस्याएँ खडी की जा सकती हो, बल्कि वैयक्तिक अभिरुचि के एक अद्वितीय—कम से कम मेरे लिए—केन्द्र के रूप मे। इसके अतिरिक्त मेरे मित्र के साथ के मेरे सम्बन्धो मे, जब तक कि वे संतुष्ट प्रेम के सम्बन्ध बने रहते हैं—मेरी व्यष्ट अभिरुचियाँ पूर्णतम रूप मे मूर्त रहती है। लेकिन स्नेह या प्रेम करने का सकल्प या इच्छा वहाँ पहले असन्तुष्ट रूप मे नही हुआ करती और न पूर्वता ही बाद मे, उद्देश्यपरक उपायों द्वारा किसी प्रक्रिया के परिणाम के रूप मे उसके साथ जोड़ी जाती है। प्रयोजन और उसका कार्यान्वयन दोनों ही साथ-साथ शुरू से आखीर तक अखण्ड एकाकार रूप मे वहाँ मौजूद रहते हैं और जब तक ऐसा नही

---

१. चूंकि यदि ऐसा न हो तो जो तथ्य निरपेक्ष के प्रयोजनो और स्वार्थों से बाध्य होंगे, वे उसके लिए ऐसे 'परदेशी' तथ्य होगे जो बाहर से 'दत्त' होगे और अनुभूति के समग्र स्वरूप से उनकी कोई व्यवस्थित एकतानता न होगी। इस प्रकार सब, तथ्यो की संपूर्णतः व्यवस्थित एकता, उस सर्वाधारो अनुभूति के बाहर की वस्तु होगी जिसे 'प्राक्कल्पनाश्रित' या 'एक्स हाइपोथिसोइ' होना चाहिए था।

२ 'विचार और सकल्प के समेल' के रूपमे निरपेक्ष की ऐसी परिकल्पना के असतोष-पूर्ण होने के विषय मे अधिक विवेचन यदि अभीष्ट हो तो उसके लिए देखिए खण्ड ४ अध्याय ६ अनुच्छेद १ जहाँ यह दिखाया गया है कि ज्ञान और सकल्प, वास्तविक ज्ञान और वास्तविक संकल्प के रूप मे परिमित सत्वो मे ही पाये जाते हैं।

होता तब तक मित्रता—सच्ची पारस्परिक मित्रता का वहाँ अभाव ही रहता है।[1] इस प्रकार के किसी सामान्य चलन के अनुसार हम अपने लिए इस प्रकार की चेतना का सर्वोत्तम निरूपण करेंगे जिसका श्रेय हम सर्वग्राहिणी जगदनुभूति को ही देंगे। लेकिन इतना ध्यान हमे जरूर रखना होगा कि हमारे अपने जीवनो की खडखडीयता के कारण प्रयोजनो के जिस तादात्म्य पर मित्रता आधारित रहा करती है वह कभी भी इतना निकट और घनिष्ठ नही हो सकता कि उसे निरपेक्ष[2] मे वर्तमान समग्र अनुभूति विषयक चरम एकता का पर्याप्त प्रतिनिधि कहा जा सके।

५—यहाँ एक सुखद तर्काभास के बारे मे चेतावनी के दो शब्द कह देना उचित होगा। यदि हमारी माँग के अनुरूप निरपेक्ष अनुभूति कही मौजूद हो तो उसके सामने उन सब वास्तविकताओ का जिन्हे हम अपने पर्यावरण की अन्तर्वस्तुओ के रूप मे जानते है—प्रस्तुत होना आवश्यक है। साथ ही उनका अपने उस रूप मे—जिसमे अपनी पूर्णता के समय वे वास्तव मे आ जाती है—प्रस्तुत होना भी आवश्यक है। लेकिन इस बात की भी सावधानी हमे रखना है कि कही हम यह अनुमान लेकर न चले कि हमारा पर्यावरण किसी उस अनुभूति को जो उसे उसके वास्तविक रूप मे ग्रहण करती है, जिस

---

१. अर्थात् यदि सकल्प या इच्छा का अर्थ वास्तविक अध्यवसाय या इच्छा माना जाय, तब प्रेम और 'प्रेम करने की इच्छा या सकल्प' दोनों का स्वतः अस्तित्व नहीं हो सकता, उस हालत मे जब सकल्प का अनुचित अर्थ 'स्थायी' अभिरुचि या प्रयोजन लगायें तो बात दूसरी ही होगी।

२ दर्शन शास्त्र के इतिहास के विद्यार्थी को फिर से उन आधारों की याद आ जायेगी जिनके कारण स्पिनोजा ने अपने ईश्वर में 'बुद्धि' और 'इच्छा' नामक वस्तुओं के उनके सही मानो में अध्याहार के प्रति एतराज किया था, साथ ही ईश्वर की तीसरे प्रकार के अथवा 'अन्तः प्रज्ञान' की तथा अपने प्रति उस अनन्त बौद्धिक प्रेम की भी याद आ जायगी जिसका इतने जोरों के साथ प्रतिपादन 'एथिक्स' के पाँचवें भाग में किया गया है। इसी तरह के कारणों से अनुभूति की चरम एकता को व्यक्त करने के लिए 'प्रयोज्य अथवा उद्देश्यपरक 'अभिधाओं' की अपेक्षा 'आंगिक एकता' को अधिमान्यता दी गयी है। लेकिन आंगिक शब्द से वृद्धि, बाह्य पर्यावरण पर निर्भरता आदि की कल्पनाओं के सुझाव सामने आ सकते हैं जो यहाँ ठीक नहीं बैठते। लेकिन विद्यार्थी यदि चाहे तो यहाँ स्पिनोजा की किसी वस्तु की सत्ता से सरबद्ध कल्पना 'कोनेटस इन सु ओ एसे परतीवेराण्डि' की तुलना व्यष्टता के प्रयोज्य अथवा प्रयोजनीय स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा जा चुका है उससे कर सकता है।

रूप मे दिखायी देता है, वह रूप उसके उस रूप की प्रतिवृत्ति या पुनरावृत्ति मात्र नही होता जिस रूप मे वह हमे प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मुझे यह मानकर न चलना चाहिए कि जिसे मैं ऐसी भौतिक वस्तु के रूप मे देखता हूँ जो एक दूसरे से वाह्य किन्तु यान्त्रिक तरीके से एक दूसरे के साथ दिखावटी रूप मे सयुक्त ऐसा समग्र है जो भागो का ऐसा समूह मात्र अथवा योग मात्र है जिसके विभिन्न भाग एक दूसरे से अलहदा किये जा सकते है, आवश्यक रूप से निरपेक्ष अनुभूति द्वारा सदृश अथवा तदनुरूप भागो के योग के रूप मे वोद्धव्य होती है। वह वस्तु मेरी सीमित अन्तर्दृष्टि के सामने जिस रूप मे आती है वह उस वस्तु से जो अपने सही रूप मे इस प्रकार की अनुभूति के सम्मुख आती है, उतनी ही भिन्न हो सकती है जितना कि मेरी नजर के सामने पडने वाली आपकी देह उस देह से भिन्न होती है जिसका वोध आपको आगिक सवेदन द्वारा होता है। विशेष रूप से हमे यह नही मान लेना चाहिए कि निरपेक्ष अनुभूति के लिए वस्तुओं का अस्तित्व उसी रूप मे हुआ करता है जिस रूप मे हम विज्ञान के सामान्य सिद्धान्त के लिए उनका विश्लेपण करते हैं, उदाहरणत जैसे भौतिक वस्तुएँ उस हेतु अणुओं का सकलन और व्यष्ट मन मानसिक स्थितियों का अनुक्रमण या पौर्वापर्यमात्र हुआ करता है। वास्तव मे आगामी खडिकाओ के परिणामो का पूर्वानुमान किए विना, हम तत्काल कह सकते है कि सिद्धान्तत यह असम्भव होगा क्योकि सव तरह का वैज्ञानिक विश्लेपण स्वभाव से ही सामान्य और प्राक्कल्पनात्मक हुआ करता है। उसे केवल प्रकारो और गुणपरक सम्भावनाओ से ही काम पडता है, व्यष्ट वस्तुओ के वास्तविक गठन मे उसे कभी कोई सरोकार नही रहता। लेकिन सारा वास्तविक अस्तित्व व्यष्ट अथवा वैयक्तिक ही होता है।

इसी वात को दूसरी तरह पर यो कहा जा सकता है कि वस्तुओं के गुण सबधी उन लक्षणो को जिनका हम ध्यान रखते है वैज्ञानिक सिद्धान्त उन्हे ही अपने व्यवहार मे इसलिए लाते है चूँकि वे लक्षण हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए महत्त्वपूर्ण होते है। और वस्तुओ के इन लक्षणो का उपयोग करके वह उनके वीच की कडियाँ जोडने वाले उन सामान्य नियमो की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं जिनका उपयोग हम स्वय अपने विभिन्न मानवीय स्वार्थों की प्राप्ति के क्रियात्मक प्रयोजन के लिए कर सकते है। यद्यपि ऊपर से न दिखायी देने पर भी यह क्रियात्मक उद्देश्य ही शुरू से आखीर तक हमारी सारी वैज्ञानिक प्रक्रिया का अनवरत रूप से नियत्रण किया करता है। इसलिए किसी भी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की एक मात्र कसौटी उसकी तथ्यो के किसी समूह से एक समूह की अवतारणा कर सकने की क्षमता हमे प्रदान करने मे सफल होना ही है। क्या उन मध्यवर्तिनी कडियो का जिनके द्वारा हम एक समूह से दूसरे समूह तक जा पहुँचते है, कोई प्रतिरूप वास्तविक अनुभूति की इस दुनिया मे है

या नही या वे सिद्धान्त की ही सृष्टि मात्र है ठीक उसी तरह जिस तरह गणितीय अवकलन के प्रतीक या चिह्न अव्यक्तव्य हुआ करते है—यह बात इस दृष्टिकोण से उपेक्षा की वस्तु है । अपनी प्राक्कल्पना से हम इतना ही चाहते है कि जब हम परीक्षणात्मक सत्यापन योग्य तथ्यों से काम लेना शुरू करे तो उसके विनियोग से हम परीक्षणात्मक सत्यापन के योग्य अन्य तथ्यों तक पहुँच सके । इस तर्कना द्वारा हम इस तर्कसगत निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऐसी किसी भी अनुभूति के सम्मुख, जो वस्तुओं की वस्तुपरक व्यष्टि से परिचित है, वस्तुओ के वे पहलू प्रस्तुत होना आवश्यक है जिनकी पुन प्रस्थापना हमारी वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं मे नही होती तथा जो उन योजनाओ के जिनके अनुसार वैज्ञानिक अनुसधान हेतु हम एकदम तर्कानुमोदित रूप मे उनका पुनर्गठन कर सकते हैं—शुद्ध प्रतिरूप की शक्ल मे उसके सम्मुख प्रस्तुत नही हो सकते । आगे के लिए, जब हम भौतिक विश्व रूप से भासमान वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर विचार करेंगे, हमे इस बात को ध्यान मे रख लेना जरूरी है ।

६—यहाँ तक हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह, 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' तथा 'दि डायलाग्ज विट्वीन हायलस एण्ड फिलोनस' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थो मे लिखित बर्कले की भौतिकवाद विरोधिनी तर्कना से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु दोनों निष्कर्षो मे एक ऐसा महत्त्वपूर्ण भेद है जिसके परिणाम भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते है। अप्रत्यक्षीकृत द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व के विरुद्ध बर्कले द्वारा प्रस्तुत तर्कना इस सिद्धान्त पर ही शुरू से आखिर तक चलती है कि 'अस्ति' का अर्थ है किसी अनुभूति मे उपस्थित होना। इस सिद्धान्त के अपवर्जन से वैज्ञानिक भौतिकवाद के पृष्ठपोषक को जिन व्याघातों का सामना करना पड़ता है—उनका बर्कले द्वारा किया गया प्रदर्शन प्रतिपक्षी आदर्शवादी दृष्टिकोण की सत्यता का एक वरण्य निरूपण बन गया है। लेकिन यह नोट करने की बात है कि उपर्युक्त पृष्ठपोषक 'अनुभूति' और 'अनुभूति मे उपस्थिति' की अपर्याप्त सकल्पना से ही लगातार काम किया करता है। अनुभूति को वह प्रत्यक्षण के लिए प्रस्तुत किसी विशेषता के प्रति केवल निष्क्रिय 'जागरूकता' का समकक्ष समझता है । उसके लिए अनुभव करने का अर्थ है किसी प्रस्तुत गुण या विशेषता के प्रति चैतन्य मात्र होना, अनुभूति को वह, मनोवैज्ञानिक शब्दावली के अनुसार स्वभावत प्रस्तुति-धर्मिणी मानता है । अत वह इसी अनुमान पर पहुँचता है कि अनुभूति जिन वस्तुओं से हमारा सामना कराती है वे प्रस्तुत की गयी विशेषताओ या गुणो की जटिलताओं या गुत्थियों के अतिरिक्त और कुछ भी नही है अथवा जैसा कि वह कहता है उनका समस्त अस्तित्व प्रत्यभिज्ञात होने मे ही निहित हुआ करता है। भौतिक वस्तुओ की 'अस्ति' का प्रत्यक्षण के साथ इस प्रकार के तादात्म्य मे अन्तर्ग्रस्त विरोधाभास की सीमा या मात्रा तब और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी

जब इस पुस्तक के अगले खण्ड मे हम द्रव्य विषयक समस्या पर विचार करेंगे। इस समय तो मैं उसके अनेक पहलुओ मे से एक पहलू की ओर ही ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस सिद्धान्त पर कि अनुभूति विशुद्धत. निष्क्रिय और प्रस्तुतिपरक तथा कुछ संवेदनो के सम्प्रापन मे गठित हुआ करती है, यह प्रश्न तत्काल उठ खड़ा होता है कि किसी दत्तक्षणपर प्राप्त सवेदन विशेपरूप से क्याहोगे यह बातकौन निर्धारित करता है ? वर्कले के मतानुसार उन सवेदनो के क्रम का निर्धारण एकदम बाहर से ही किसी ऐसे अनुभूतिबाह्य सिद्धान्त द्वारा होता है जिसका वर्कले के पूर्वग्रहणानुसार अपने सामने प्रस्तुत गुणो या विशेषताओ को ज्ञानाश्रित करने के सिवाय और कोई काम नही होता। इसीलिए मजबूर होकर उसे ईश्वरीय माध्यम का आश्रय ढूंढना पड़ा जिसे वह मेरी अनुभूति मे प्रत्यक्षणो के एक निर्धारित क्रम मे पौर्वापर्य से प्रविष्ट होने का प्रेरक मानता है। विवृत्ति विषयक अन्य आगे की कठिनाइयो को छोडकर यह सिद्धान्त हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वस्तु जगत के प्रति ईश्वर की भावना, अनुभूतिकर्ता हम लोगो की भावना से एकदम भिन्न होती है। मेरे लिए अनुभूति प्रस्तुतियो की विशुद्धत. निष्क्रिय ग्राहकता का ही नाम है। किन्तु दूसरी ओर प्रस्तुत किये गये पदार्थो के साथ ईश्वर का सबंध सक्रिय उत्पादन का है। मौलिकत विरोधित इन सम्बन्धो मे एक भी तत्त्व ऐसा नही जो दोनो मे समान रूप से पाया जाय अत वर्कले द्वारा ईश्वर की गणना भी उन्ही पदार्थो मे किया जाना जिनका विनियोग वह मानवीय अनुभूति को व्यक्त करने के लिए करता है तथा उस ईश्वर के मत्थे ऐसी वस्तुओ की चेतना थोपा जाना, जिन्हे ईश्वरीय माध्यम द्वारा मानवीय मन[1] मे प्रेरित प्रस्तुतियाँ मात्र घोपित किया गया है, वास्तव मे वाद-बाह्य विषय मात्र है।

वास्तव मे वर्कले दो परस्पर विरोधिनी विचारधाराओ को असगत रूप मे जोड़ना चाहता था। एक ओर तो वह कहता था चूँकि प्रस्तुतियाँ एक के बाद दूसरे

---

१ अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' के ६६–७०–७५ के पढने से लगता है कि वर्कले अवश्य ही इस बात से इन्कार कर रहा है कि जिन विचारों को ईश्वर अपनी क्रिया से हमारे हृदय मे जागृत करता है वह स्वयं प्रत्यक्षण भी किया करता है। किन्तु ६–३९ मे हम लिखा पाते हैं कि 'आत्मा' उसे कहते हैं 'जो विचारो का प्रत्यक्षण किया करती और इनके विषय मे संकल्प तथा तर्क भी करती है, और तृतीय कथा प्रकथन (डायलॉग) मे तो स्पष्ट ही लिखा है कि इन्द्रियवेद्य वस्तु ईश्वर द्वारा प्रत्यक्षित हुआ करती है, वर्कले, के सवेदनात्मकतावाद को यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो ईश्वर को विचारो (अर्थात् ऐंद्रिय वस्तु) का स्वामी मानने का अर्थ होगा उसकी आध्यात्मिकता से इनकार करना।

के पूर्वापर क्रम से मेरे मानसिक जीवन मे प्रविष्ट होती है अत. इस क्रम का कोई कारण अवश्य होना चाहिए और उस कारण का स्रोत मुझसे विलग या स्वतत्र होना चाहिए। इस स्रोत को ही वह ईश्वर का तदात्म बताते है लेकिन जहाँ तक तर्कना का सवाल है वहाँ तक तो यह स्रोत समान रूप से, लाक की तरह, द्रव्य की मौलिक सरचना मे ही पाया जा सकता था। तर्कना के लिए केवल इतना ही अभीष्ट है कि इस स्रोत को स्वय प्रस्तुतियो के पौर्वापर्य के वाहर की किसी वस्तु पर आधारित किया जाय। दूसरी ओर उसका यह भी कहना है कि भौतिक जगत के अस्तित्व का अर्थ चूँकि उसका चेतना के लिए प्रस्तुत किये जाने का तथ्य मात्र ही है अत जव उस जगत की अन्तर्वस्तुएँ मेरी चेतना के लिए प्रस्तुत होना वंद हो जायँगी तव ईश्वर की चेतना के लिए वे अवश्य ही प्रस्तुत रहेगी। लेकिन यहाँ भी एक एतराज यह उठाया जा सकता है कि मेरी अनुभूति के लिए जिस काल तक वह जारी रहे तव तक, प्रस्तुत रहना, किसी वस्तु की अस्ति का पर्याप्त विवरण है अत. कोई वजह नही मालूम होती है कि क्यों मैं किसी अन्य अनुभूति की वास्तविकता को मान्यता दूँ। यदि मुझे यह मानना पड़े कि मेरी अनुभूति से तिरोहित होने के कारण ही किसी वस्तु की वास्तविकता नष्ट नही हो जाती तव मेरे लिए यह मानना भी तर्कानुगत होगा कि उसका अस्तित्व, जव तक मेरे लिए प्रत्यक्ष है तव तक उसके प्रति मेरी सतर्कता के कारण वह निष्कासित नही होता। उसका अस्ति 'प्रत्यक्षण' मात्र नही हो सकता।

हमारे विवेचन की वर्तमान परिस्थिति मे वर्कले की कठिनाई को यहाँ पूरी तरह हल करना समय पूर्व होगा। किन्तु हम उसके प्रधान उद्गम स्थल का निर्देश तो तुरन्त ही कर सकते है। यह कठिनाई इसलिए उठ खड़ी हुई चूँकि वर्कले ने अनुभूति के प्रयोजनात्मक पहलू का पर्याप्त ध्यान नही रखा। जैसा पहले ही देखा जा चुका है, अनुभूति प्रस्तुत किये गये पदार्थो के अनुक्रम की चेतना मात्र नही होती वह ऐसे पूर्वापर अनुक्रम की चेतना होती है जिसका नियंत्रण किसी अभिरुचि अथवा प्रयोजन द्वारा होता है। मेरी अनुभूतियों का क्रम मुझे वाहर से दी गयी कोई वस्तु नही अन्तस्थ आत्मनिष्ठ अभिरुचि द्वारा नियन्त्रित और निर्धारित क्रम ही है। वास्तव मे वर्कले ने मानव मन की अन्तर्वस्तुओं की मनोवैज्ञानिक गणना करते समय वरणक्षम अभिरुचि को उसमे शामिल नही किया। वह भूल गया कि अभिरुचियों के कारण ही मैं उन तथ्यो की ओर ध्यान देता हूँ जो मुख्यत यह निर्धारित करते है कि किन तथ्यों को मैं अपने ध्यान मे रखूँ और उसकी यह गलती और भी अधिक टिप्पणीय इसलिए है क्योंकि उसने 'क्रियाशीलता' को 'आत्माओं'[1] का विशेष गुण मानने पर वड़ा जोर दिया

---

१. दुर्भाग्य से वर्कले ने भी अन्य वहुत से दार्शनिकों की तरह 'क्रियाशीलता' को

है। अनुभूति के उद्देश्यपरक पक्ष पर जोर देकर जब हम उसकी गलती को दुरुस्त करते हैं तब हमें तत्काल स्पष्ट दिखायी देने लगता है कि सर्वोच्च मन तथा आधीन मन के तथ्य जगत् विषयक पारस्परिक सम्बन्धों की मौलिक असमानता गायब हो जाती है। प्रस्तुत तथ्यों को मैं सर्वोच्च मन द्वारा बाहर से ही मेरे लिए निर्धारित क्रमानुसार एकदम निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं किया करता अपितु अपनी वरणक्षम अवधान शक्ति के बूते पर, सीमित मात्रा में तथा अत्यन्त अपूर्ण रूप में मैं अपने लिए स्वयं उन तथ्यों के पूर्वापर क्रम की पुनः सृष्टि किया करता हूँ।

इसके अतिरिक्त समग्र अनुभूति के उद्देश्यपरक पक्ष को मान्यता देकर हम उन असतोष को बहुत कुछ दूर कर सकेंगे जिनका सकारण अनुभव हमें बर्कले की तर्कना के दूसरे भाग से हो सकता है। जब मैं अनुभूतिगत 'तथ्यों' को मेरे बाहर प्रस्तुत पदार्थों या लक्ष्यों के रूप में विचारता हूँ तो ऐसा कोई पर्याप्त कारण मुझे नहीं दिखाई देता जिसके आधार पर मैं मान सकूँ कि ये तथ्य जिस रूप में प्रस्तुत हुए हैं उसके अतिरिक्त अन्य किसी रूप में भी उनकी सत्ता वर्तमान रहती है। लेकिन ज्यों ही मैं प्रस्तुत तथ्यों के पौर्वापर्य को वरणक्षम अवधान में व्यक्त हुई आत्मपरक अभिरुचियों द्वारा स्वयं निर्धारित पौर्वापर्य के रूप में देखने लगता हूँ त्यों ही मामला दूसरा ही हो जाता है। 'वरण-क्षम अवधान' शब्द मात्र के साथ ही हमें फिर से तुरन्त याद आ जाता है कि वे तथ्य जिनपर मेरी अभिरुचियों की प्रतिक्रिया होती है एक अधिक बड़े समग्र में से वरित या चुने हुए तथ्य हैं। मेरे अपने स्पष्ट रूप से निर्धारित और चेतन प्रयोजनों की सिद्धि जिस तरीके से आंगिक एकता-सम्पन्न और विस्तृततर सामाजिक समग्र की अभिरुचियों और प्रयोजनों के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर हुआ करती है उस तरीके के विषय में प्राप्त मेरे क्रियात्मक से मुझे यह समझने में सहायता मिलनी चाहिए कि विभिन्न प्रेक्षकों के वरणक्षम अवधान की निर्धारक अभिरुचियों और प्रयोजनों की सफलता किस प्रकार निरपेक्ष अनुभूति की एकतान और व्यवस्थित एकता का निर्माण, जैसा कि हम मान चुके हैं कि उसे अवश्य करना चाहिए—कर सकती है। इस विचारधारा पर विशद विवेचन अगले अध्यायों के लिए छोड़ देना यद्यपि आवश्यक है तथापि इतना कह देना अत्युक्ति न होगा कि अनुभूति का जो उद्देश्यपरक रूप उसे संवेदन के साथ उसके संयोग के कारण प्राप्त है वह विश्व[1] के आदर्शवादी निर्वाचन की कुंजी है।

मूलतः 'कारण' और उस द्रव्य के बीच का, जिसपर वह 'कार्य करती है,' बाह्य संबंध ही माना है। यही कारण है जिससे प्रत्यक्ष प्रक्रिया के 'क्रियाशील' या सक्रिय स्वरूप को वह समझ नहीं पाया।

१. अच्छा हो यदि पाठक उपर्युक्त अनुच्छेद की तुलना डा० स्टाउट की 'मैनुअल ऑफ

आदर्शवाद का यह सिद्धान्त कि समग्र वास्तविकता मनोजनित हुआ करती है तव अबोध्य हो जाता है—जैसा कि देखने के कई अवसर आगे आयेंगे—जव मानसिक जीवन की कल्पना 'दत्त' प्रस्तुतियों के प्रति जागरूकता मात्र के रूप मे की जाती है।

७—इससे पहले कि हम, वास्तविक होने मे क्या-क्या वाते शामिल होती है—एतद्विषयक अपने सामान्य विचारों को विस्तार रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रारम्भ करें—वास्तविक अस्तित्व के स्वरूप के वारे मे ऐसे दो एक दार्शनिक मतों की गिनती कर दे जिन्हें निरस्त्र करना हमारे वास्तविकताओं और अनुभूति के पारस्परिक सम्वन्ध विषयक निष्कर्ष के कारण हमारे लिए तर्कसगत हो गया है। और सवसे पहले हम तत्काल देख सकते है कि जिस परिणाम पर हम पहले पहुँच चुके है यदि वह ठोस है तो वह 'रीयलिज्म' अथवा यथार्थवाद नाम से साधारणत. अभिहित वस्तु के सभी रूपो के लिए घातक सिद्ध होता है। यथार्थवाद अथवा रीयलिज्म का सिद्धान्त है कि उस वस्तु का, जो वास्तव मे मौजूद है, मूलभूत स्वभाव उस वस्तु के जिसके मौजूद होने की कल्पना मात्र की गयी है, स्वभाव को छोड़कर—व्यक्ति या कर्ता की अनुभूति से सव प्रकार

साइकालाजी' पुस्तक ३, खण्ड १ अध्याय २ से करें।

मुझे यह कहने की जरूरत शायद ही हो कि मानसिक जीवन के लिए वरणता प्रयोजन की मौलिक सार्थकता को मान्यता देने मात्र से, मनोविज्ञानशास्त्र में कृतिवादी दृष्टिकोण को अपना लेना जरूरी नहीं हो जाता। वास्तविक मानसिक जीवन कुछ आधारभूत होता है। उसमें मनोविज्ञान के प्रयोजनार्थ अधिक सादे प्राक्कल्पनात्मक तत्त्वो मे विश्लेषित हो सकने की गुंजाइश रहा करती है। अतः इस बात के मान लेने से कि सारा मानसिक जीवन उद्देश्यपरक और वरणात्मक होता है यह अभिप्रेत होना आवश्यक नहीं कि क्रियाशीलता विषयक वह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त जिसकी प्रतिकूल आलोचना श्री ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'अपीयरेंस एण्ड' रियलिटी' के सातवें अध्याय मे की है तथा मनोविज्ञान शास्त्र, मे एक विचित्र प्रकार की क्रियाशीलता विषयक चेतना की एक अविश्लेष्य दत्त के रूप में प्रस्तुति को भी मंजूर कर लिया गया है। यदि जीवन की वास्तविकताओं या क्रियात्मकताओ तथा मनोविज्ञान के दत्तों के वीच प्रतिस्थापना प्रो० मस्टर वर्ग ने अपनी साइकालाजी आफ लाइफ तथा ग्रुउजूज डर साइकालाजी मे वतलायी है यदि उसे उसके द्वारा निर्दिष्ट उग्र रूप में अग्राह्य भी मान लिया जाय तो भी वह उस विरोधी रुख को, जिसके लिए परम महत्त्व की प्रत्येक वस्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए परमतत्व मानी जाती है, दुरुस्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

असम्बद्ध उसकी स्वतत्रता में पाया जाता है। यथार्थवादी का दावा है कि जिसका अस्तित्व है या जो कुछ मौजूद होता है वह अनुभूत होने या न होने की दोनों ही अवस्थाओ मे बराबर मौजूद रहता है। न उसके अस्तित्व विषयक तथ्य और न उसके अस्तित्व का प्रकार ही किसी तरह भी अनुभूति विषयक उसकी प्रस्तुति पर निर्भर हुआ करते है। अनुभूत होने से पहले भी उसकी सत्ता ठीक उसी प्रकार की थी जिस प्रकार की अव जव आप उसका अनुभव कर रहे है। और वह तव भी उसी प्रकार की रहेगी, जव वह अनुभूति के बाहर हो जायेगी। एक शब्द मे कहा जाय तो इस परिस्थिति से कि मन—गले ही वह मन आपका हो, मेरा हो या ईश्वर का या किसी का इससे इस वहम का कोई सम्बन्ध नही कि अनुभूति के घटको मे उसके एक घटक होने की बात जानता है—वास्तविक वस्तु की वास्तविकता मे कोई अन्तर नही पडता। अनुभूति वह वस्तु है जिसे प्राविधिक या तकनीकी भाषा मे एक-पक्षीय निर्भरता का सबध कहा जाता है। इसके लिए कि अनुभूति किसी तरह हो और इसका इस या उस तरह का लक्षण या स्वभाव हो, निर्धारित स्वभाव या लक्षण वाली वास्तविक वस्तुओ का होना आवश्यक है, लेकिन वास्तविक वस्तुएँ हो या उनका अस्तित्व रह सके, इसके लिये अनुभूति का होना किसी प्रकार भी आवश्यक नही होता। सक्षेप मे यथार्थवाद का सार यही है और जो दर्शन उसे वैध मान लेता है वह भावना रूप से यथार्थवादी दर्शन है।

स्वतंत्र वास्तविक वस्तु रूप मे कल्पित वस्तुओ की सख्या तथा स्वभाव के सम्बन्ध मे विभिन्न यथार्थवादी प्रतिनिधियों के विभिन्न विचार हो सकते है और होते भी आये हैं। तदनुसार कुछ यथार्थवादियो ने एकलचरम वास्तविकता का ही अस्तित्व माना है, जबकि अन्यों ने स्वतत्र वास्तविकों की अनिर्णीत वहुलता को प्रश्रय दिया है। परमेनिडीज़, जिसका मत है कि वास्तविक विश्व एक सकल, एक रूप अपरिवर्तनशील भौतिक वलय या गोला है, प्राचीन काल के यथार्थवादियो तथा हर्बर्ट स्पेन्सर अपने अविज्ञेय सिद्धान्त के साथ आधुनिक युग के यथार्थवादियों का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते है जो एकवादी प्रकार का है। प्राचीन परमाणुवादी और आधुनिक काल के लीविनिट्ज जिसका मत स्वतत्र परस्पर असम्बद्ध मौलिक तत्त्वो की अनन्त वहुलता पर आधारित है तथा सरल 'वास्तवों' के जगत् के विश्वासी, हर्बर्ट स्पेन्सर आदि व्यक्ति वहुलतापरक यथार्थवादी सिद्धान्त के उदाहरण है। इसी प्रकार और भी विविध सिद्धान्त 'वास्तवों' के स्वरूप के बारे मे लोगो ने प्रस्तुत किए हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परमाणुवादियों ने उन्हें द्रव्यात्मक माना है और शायद यथार्थवादी सिद्धान्त का यह रूप ही वडी आसानी से जन-साधारण के दिमाग को ठीक प्रतीत होता है। यद्यपि भौतिकतावादी तत्त्वमीमासक आवश्यक रूप से यथार्थवादी होता है। लेकिन यथार्थवादी को भौतिकतावादी होना जरूरी नही। हर्बर्ट ने स्वतत्र 'वास्तवो' को गुणात्मक

रूप से सरल ऐसे अस्तित्वो के रूप मे माना है जिनके स्वरूप का और अधिक निर्धारण संभव नही होता। लीविनिट्ज ने उन्हे मन माना है जबकि स्पेन्सर जैसे अनीश्वरवादी दार्शनिक अपनी चरम वास्तविकता को एक प्रकार के ऐसे निष्पक्ष तृतीयक के रूप मे देखते है जो न तो मानसिक ही है, न भौतिक । जिस बिन्दु पर सभी सिद्धान्त एकमत है वह यह है कि जिसको वे सत्य सत्ता स्वीकार करते है उसकी वास्तविकता, इसको अपने अस्तित्व अथवा स्वरूप के लिए किसी अनुभूति से सम्बद्ध होने पर निर्भर होने मे निहित नही होती। स्वतत्र 'वास्तवो' के सख्या तथा स्वरूप विषयक विवरणों मे पाये जाने वाले अन्तर यद्यपि व्यष्ट यथार्थवादी की दार्शनिक स्थिति का पूरा-पूरा अन्दाजा लगा सकने मे हमारे लिए बडे काम के है, किन्तु यथार्थवाद के पहले व्यय की मान्यता विषयक हमारे सामान्य अधिमत पर उनका कोई असर नही पडता।

जिस एक बात पर यथार्थवादियो का भिन्न मत है और जो हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए गौण से अधिक महत्त्व का समझा जा सकता है, वह है अनीश्वरवाद और कट्टरवादी यथार्थवाद का पारस्परिक अन्तर। अनीश्वरपरक यथार्थवाद जहाँ हमारी अनुभूति को ऐसी वास्तविकता पर अन्तिम रूप से निर्भर रहने का समर्थन करता है, जो अनुभूति से स्वतत्र होकर रहती है, वहाँ इस बात से इनकार भी करता है कि इस स्वतत्र वास्तविकता के स्वभाव या स्वरूप का कोई ज्ञान हम प्राप्त कर सकते है। समग्र अनुभूति की रूपरेखा की निर्धारक स्वतत्र वास्तविकता इस दृष्टिकोण के अनुसार एक ऐसी अविज्ञेय या आत्मवर्तिनी वस्तु[1] है जिसके विषय मे तर्कसगत रूप से हम केवल इतना कह सकने के अधिकारी है कि वह अवश्य ही ऐसी है। लेकिन हम तनिक भी नही जानते कि वह है क्या ? अनीश्वरपरक यथार्थवाद के सिद्धान्त को किसी विचारक ने समवत कभी भी दृढ सगतिपूर्वक नही चलाया। लेकिन वह काण्ट के दर्शन का एक मुख्य लक्षण है जिसे उसने अपने "फर्स्ट क्रिटीक" मे व्यक्त किया है। वह काण्ट द्वारा सर विलियम हैमिल्टन और मिस्टर हर्बर्ट स्पेसर की व्यवस्थाओं की नीव के रूप मे इग्लिश विचारधारा मे शामिल हो गया है।[2]

---

१ आत्मवर्तिनी वस्तु अर्थात् वह जो उन बाह्य शर्तों से, जो इस मत के अनुसार उस पर अनुभूतिकर्ता मन के साथ सम्बन्ध होने के कारण लगायी गयी हों, प्रभावित नहीं होती।

२ काण्ट और स्पेंसर दोनों ही की असगत बातों से, मानवीय मन को विशुद्ध अनीश्वरवाद को अंगीकार करने की अनिच्छा पर प्रकाश पड़ता है। 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन्' मे काण्ट ने यहाँ तक आत्मविरोधी बातें लिखी हैं कि उसने आत्मवर्तिनी वस्तु को वेदना या संवेदन का हेतु बता दिया है। यद्यपि उसके शास्त्र

कट्टर यथार्थवाद, जिसका प्रमुख प्रतिनिधित्व आज के दर्शनशास्त्र मे पहले लीबिनिट्ज और बाद मे हर्बर्ट स्पेंसर ने किया है, इसके विपरीत इस मत की पुष्टि करते हुए भी कि वास्तव मे सत्ता अनुभूति मे स्वतन्त्र होती है, साथ ही साथ यह भी मानता है कि उसके अस्तित्व का ही नही अपितु उसके स्वरूप का भी निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से यथार्थवाद के इन दोनो ही रूपों का अपवर्जन खण्ड १ अध्याय २, ४ मे लिखित तर्कनाओ द्वारा पहले ही किया जा चुका है। उस तर्कना के आधारभूत सिद्धान्त के सर्वोच्च महत्त्व के कारण शायद हम फिर उसे सक्षेप मे दुहराने का साहस कर सकते हैं। आपको याद होगा कि इस बारे मे हमारी तर्कना का स्वरूप एक आह्वान जैसा था। हमने यथार्थवादी को, जिसे हम तब तक इस नाम से नही जानते थे, ललकारा था कि वह जिस किसी वस्तु को स्वय अपने लिए नयी वास्तविकता मानता है, उसका चाहे जो उदाहरण वह पेश करे और हम उसी को लेकर दिखा देंगे कि यथार्थवादी द्वारा मानी हुई उस उदाहरण की वास्तविकता इसी बात से प्राप्त हुई है कि वह कर्तृ विषयक अनुभूति से अन्ततोगत्वा पृथक नही की जा सकती। एक वस्तु आपके लिए काल्पनिक मात्र न होकर वास्तव मे ठीक इसलिए है चूँकि अपने स्वभाव के किसी पहलू पर वह आपकी अपनी अनुभूति मे प्रविष्ट हो जाती है और उसे प्रभावित करती है। अथवा दूसरे शब्दो मे वही वस्तु क्या है वह आपके लिए इस कारण वास्तविक है, चूँकि वह आपके अपने किसी आत्मनिष्ठ स्वार्थ को अनुकूलत अथवा अन्यथा प्रभावित करती है। निश्चय ही, जिस रूप मे वह वस्तु आपकी अनुभूति मे प्रविष्ट होती है तथा जिस रूप मे वह आपके आत्मनिष्ठ हितो को प्रभावित करती है वह उस रूप मे पूर्णावस्था प्राप्त वह वस्तु स्वय नही होती, क्योंकि वह अपने अनेक पार्श्वो मे से किसी पार्श्व द्वारा ही आपके जीवन का स्पर्श मात्र करती है। और इस आधार पर आप दलील पेश कर सकते है कि वास्तविक वस्तु आपकी अनुभूति के किसी रूपान्तरण की 'अनुभूत स्थिति' या 'अवस्था' मात्र है। लेकिन तब हमे फिर पूछना पडता कि

का मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि कार्य-कारण संबध का प्रमेय वैध रूप से केवल अनुभूति के अन्तर्भूत तथ्यों को सम्बद्ध करने के ही लिए प्रयुक्त हो सकता है। अपनी बाद वाली पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ जजमेण्ट' के विषय मे तो यह सही ही कहा गया है। शायद यह बात, मेरा ख्याल है, श्री एफ० सी० एस० शिलर ने "रिड्ल ऑफ स्फिक्स" नामक पुस्तक मे लिखी है कि अपनी पुस्तक 'सिन्थेटिक फिलासफी' के दस भागो मे उसने अविज्ञेय के स्वरूप के विषय मे, कट्टरतावादी धर्मशास्त्र, ईश्वर के स्वरूप-विषय मे हिम्मत करके अपेक्षाकृत कहीं अधिक निश्चयात्मक बात लिखी है।

आपके इस कथन का क्या यह मतलब है कि वे तथ्य, जिनका अनुभव आपने नही किया है, आपकी 'अनुभूति की अवस्थाओं' के रूप मे वास्तविक है। पर हम देख चुके हैं कि 'अवस्था' की वास्तविकता के साथ हम जिस अर्थ को सपृक्त कर सकते हैं, वह है उस अनुभूति के लिए जो आपकी अनुभूति का अतिक्रमण करे—प्रस्तुत होना।

उपर्युक्त सामान्य तर्कना के साथ हम ऐसे दो उप-सिद्धान्त अथवा दो पूरक विचार भी जोड़ सकते है जो कोई नयी वात कहे विना ही इस तर्कना की समग्र शक्ति को और भी स्पष्ट कर देने मे सहायक हो सकते है।

(१) मौलिक रूप मे प्रस्तुत किये जाते समय इस तर्कना का सीधा सबंध वास्तविकता के तथ्य अथवा उसके अस्तित्व विपयक तथ्य मात्र से था। लेकिन उसे हम, अगर चाहें तो, उसके किसी पक्ष अथवा वास्तव द्वारा अधिगृहीत स्वरूप अथवा प्रकृति पक्ष से भी वाद प्रस्तुत कर सकते है। आप किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व के वारे मे कोई अभिमत दृढतापूर्वक तव तक सिद्ध नही कर सकते जव तक कि उसके साथ ही साथ उसके स्वरूप अथवा प्रकृति विषयक अभिमत भी अन्तर्ग्रस्त न किया जाय। अगर आप इतना ही कहे कि 'वास्तविकता अविज्ञेय है' तो आप इस कथन मे अपनी वास्तविकता के साथ अनुभूति से स्वतंत्र होने के गुणो के अलावा और कुछ भी जोड़ देते है। ऐसा कहते समय आप इस वात पर जोर दे रहे होते है कि जो कुछ इस प्रकार स्वतंत्र है, उसमे संज्ञान का अतिक्रमण कर जाने का एक निश्चयात्मक अन्य गुण भी अधिक मौजूद है। अव तर्कशास्त्र के अनुसार आपकी स्वतंत्र वास्तविकता के अन्य गुण की अपेक्षा इस गुण का समावेश करने का क्या आधार होना आवश्यक है? यह आधार केवल यह तथ्य अथवा कल्पित तथ्य ही—जिसकी दुहाई अनीश्वरवादी अपने विश्वास के मूलाधार के रूप में लगातार दिया करता है—हो सकता है कि हमारी अनुभूतियाँ स्वयं, सारी की सारी आत्म-व्याघातिनी पायी जाती है। वास्तविकता की अविज्ञेयता को सत्य मान लेने का कोई आधार तव तक नही होता जव तक आपका मतलव ऐसे स्वभाव या स्वरूप से न हो, जिसका किसी ऐसी वस्तु से सम्वन्ध न हो जो समग्र अनुभूति-बाह्य हो वल्कि जो स्वय अनुभूति से ही सम्बद्ध हो। यही तर्क अन्य किसी भी ऐसे विधेय पर भी लागू होता है जिसे यथार्थवादी अपनी चरम वास्तविकता के विषय मे सत्य सिद्ध करता या वतलाता है।

(२) हम अपने इस तर्क को और भी प्रभावी तरीके से निषेधात्मक रूप मे प्रस्तुत कर सकते है। हम कह सकते है कि एकदम मे अवास्तविक का ध्यान करने की कोशिश कीजिए और तव देखिए कि आप को उसकी कल्पना कैसे करनी होती है। क्या एकान्त अवास्तविकता के विषय मे इसके सिवाय कि वह ऐसी कुछ है जिसका ज्ञान किसी भी मन को कभी नही हुआ है और जिसकी खवर रखने की जरूरत किसी भी प्रयोजन को

अपनी सिद्धि की जरूरी शर्त के रूप मे कभी नही पडती—आप कुछ और भी सोच सकते हैं लेकिन उसे इस रूप मे विचारने का मतलब होगा उसे उसकी परिमाण के रूप में, उस स्वतत्रता से विभूषित कर देना जिसे यथार्थवादी चरम वास्तविकता का चिह्न वतलाता है। और यदि निर्भरता-रहितता अथवा स्वतन्त्रता से अवास्तविकता का गठन होता है तो अनुभूति के लिए प्रस्तुति उसके साथ सयोजन अवश्य ही वे वस्तुएँ होगी जिनमे वास्तविकता का गठन होता है।

लेकिन यथार्थवादी मत के सिद्धान्तो के लिए यह तर्कना चाहे जितनी घातक क्यो न हो हमे इस तरह के सामान्य खण्डन मात्र मे संतुष्ट नहीं हो जाना होगा। हमे पता लगाने की कोशिश करनी होगी कि यथार्थवादी दृष्टिकोण मे ऐसा कौनसा सत्य का अश है जिसके कारण कुछ खास किस्म के मनो को वह सदा से ही सही लगता आया है। दर्शनशास्त्र मे हम कभी भी किसी गलती या भ्रान्त धारणा से तब तक छुटकारा नही पा सकते जब तक यह न जान लें कि उसका उद्गम कैसे हुआ और यह कि उसमे सत्य का कितना अंश है।

(१) अनीश्वरवादी यथार्थवाद: आइये हम अनीश्वरवाद से ही शुरू करे क्योंकि उसके बारे मे अब हमारे सामने कोई गहरी कठिनाई नहीं आनी चाहिए। अनीश्वरवादी यथार्थवाद, जैसाकि बताया जा चुका है, सिद्धान्तत एक दुगुना आत्मविरोधी मत है, क्योंकि एक ही साँस मे वह ऐसी असमाधेय घोषणाओं को जोड डालता है कि वस्तुओ की वास्तविकता अविज्ञेय होती है तथा यह कि वास्तविकता उसे ऐसा ही जानती भी है।[1] इसके अतिरिक्त जैसाकि हमने अभी बताया, वह ऐसे तथाकथित व्याघातो की

१ प्राचीन काल के संशयवादी आजकल के अनेक अनीश्वरवादियो की अपेक्षा इन व्याघातों के प्रति कहीं अधिक जागरूक थे और इस कठिनाई का निवारण वे यह कह कर किया करते थे कि वस्तुओ की अविज्ञेयता का समर्थन 'निरूपित नैश्चित्य के रूप में नहीं अपितु संभाव्य मत' के रूप मे करते हैं। लेकिन इस तरह का विभेद स्वय अतार्किक है, क्योंकि जब तक कोई प्रमेय निश्चित न हो तब तक किसी एक प्रमेय की अपेक्षा दूसरे को अधिक सम्भाव्य समझने के लिए कोई आधार ही नहीं होता। उदाहरणतः अगर मैं जानता हूँ कि किसी पाँसे के छः पहलू हो और उनमे से हर दो पहलुओ पर एक पहलू पर पाँच गुटके हो तो तर्कानुसार मैं कह सकता हूँ कि 'इस पाँसे से पंजे की अपेक्षा चोका अधिक बार फेंका जा सकता है।' लेकिन अगर मुझे एकदम निश्चय न हो कि विभिन्न पहलुओ पर बने गुटको की संख्या क्या है तो मैं एक दाँव या प्रक्षेप की अपेक्षा दूसरे दाँव को अधिक संभाव्य नहीं बता सकता।

रचना करता है जिसकी सत्ता अनुभूति मे तथा उसके लिए ही होती है—ऐसी अनुभूति, जो उसका एकमात्र आधार यह प्रतिपादन करने के लिए है कि वह वस्तु जिसके विषय मे हम केवल इतना ही बता सकते है कि वह समग्र अनुभूति से वाह्य है, समस्त सज्ञान का अतिक्रमण करती है। इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लेने पर कहा जा सकता है कि अनीश्वरवाद के तत्त्वमीमासीय सिद्धान्त होने की बात को निरस्त कर दिया है।

किन्तु इतना सदोष होते हुए भी अनीश्वरवाद मे सत्य का एक अश भी मौजूद है जिसे तत्त्वमीमासक अक्सर भूल जाया करता है। चूंकि तत्त्वमीमासक की वास्तविकता के विपय मे अतिम और निश्चित कुछ वात जानने की विशेष अभिरुचि हुआ करती है अत. अन्य सव लोगों की अपेक्षा अपने निश्चयात्मक ज्ञान की इयत्ता को वहुत वढा-चढा कर पेश करने की प्रवृत्ति रहा करती है। यह याद दिलाना ठीक होगा कि जिस निश्चयात्मकतापूर्वक हम . कह सके कि वास्तविकता अनुभूति है उतनी ही अनुभूति विषयक अत्यन्त अपूर्ण और सीमित तथा सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि के साथ सगत बैठती है। वास्तविक जीवन का यह अत्यन्त सुपरिचित तथ्य है। सामान्य बोधगम्य साहित्य मे इस वात का जगह-जगह उल्लेख पाया जाता है कि अपने दिल की वात हम ही कभी नही जान पाते और यह कि ऋषियों का सबसे कठिन कर्त्तव्य है अपने आपको जानना आदि यानी ऐसी शिकायतें जिनका एक ही अभिप्राय होता है यह वताना कि हमारे अपने अभिप्रायो और प्रयोजनों की हमारी अपनी मीमित प्रत्यक्ष अनुभूति उस वस्तु से बहुत आगे अतिक्रान्त हो जाती है—जिसे हम किसी भी क्षण विमर्शात्मक ज्ञान की शक्ल मे व्यक्त कर सकते है। लेकिन जव हम तत्त्वमीमासा के अन्तर्गत चरम वास्तविकता के स्वरूप पर विचार करने लगते है तव इसे भूल जाना आसान होता है और यह कल्पना आसानी से कर ली जाती है कि जितने निश्चयपूर्वक हम कह सके कि अन्तिमतथ वास्तव एक अनुभूति है उतनी ही तर्कसगत उस अनुभूति के स्वभाव, विशिष्ट स्वभाव, के विषय मे हमारी कट्टरवादिता भी होगी। वास्तविकता के स्वरूप के वारे मे हमारे सैद्धान्तिक ज्ञान की इयत्ता के इस प्रकार के बढे-चढे अनुमान के विरोध का कारण अनीश्वरवाद मे असली और महत्त्वपूर्ण सत्य का एक अकुर मौजूद है जिसका उद्गम, हमारी अनुभूति के केवल वौद्धिक पक्ष पर दिए जाने वाले अनुचित बल के विरुद्ध हुई प्रकनिमोव प्रतिक्रिया से है। तत्त्वमीमासापरक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों को अभिभूत करने वाली इस कमजोरी के वारे मे शिकायत करने का यह आधार हम पहले ही जान चुके है और उसे अधिक अच्छी तरह जानने के अवसर हमे आगे भी मिलेंगे।

(२) कट्टरतापरक यथार्थवाद अर्थात् स्वीकृत रूप से ज्ञेय स्वतत्र 'वास्तवो' का यथार्थवाद, वहुत अधिक कार्य योग्य सिद्धान्त है। अपने तथाकथित 'प्रकृत-यथार्थ-

वाद' नामक रूप मे जिसके मतानुसार अनुभूत वस्तुओ के इस संसार का अस्तित्व अपने समग्र प्रेक्षित गुणों सहित, किसी अनुभवकर्त्ता के साथ सम्बद्ध रहे बिना स्वतन्त्र रूप से ठीक उसी शक्ल में जिसमे हम उसे अनुभव करते है—मौजूद रहा करता माना गया है, वह अदार्शनिक 'सामान्य बुद्धि,' लोगों के सामान्य विचारों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता है। 'सामान्य बुद्धि' को इससे बढकर और कुछ इतना स्पष्ट नही दीखता कि अपने प्रेक्षण द्वारा मैं अभाव से किसी वस्तु का भाव उत्पन्न नही कर सकता न उसमे ऐसे गुणो का जो पहले से उसमे न थे अध्याहार ही कर सकता हूँ। अत वह वस्तु पहले से ही वर्तमान है और पहले से ही उसकी प्रकृति अमुक प्रकार की है अत मैं 'सामान्य बुद्धि' पुरुष उसे इसीलिए उस रूप मे तथा उन गुणो सहित उसे ऐसा देखता हूँ। इसलिए प्रेक्षित वस्तुओं के उस ससार का भी उसी शक्ल मे जिसमे उन वस्तुओ का प्रत्यक्षण किया गया, स्वतन्त्र अस्तित्व होना, और मेरे तत्सबधी प्रेक्षण की शर्त के रूप मे, आवश्यक है।

'प्रकृत यथार्थवाद' के उपर्युक्त मत पर जब दार्शनिक सिद्धान्त के रूप मे विचार किया जाता है तब आमतौर पर उसका चोला कुछ बदल जाता है। भ्रान्ति अथवा माया के तथ्य तथा व्यष्ट प्रेक्षकों[1] के परीक्षणो द्वारा निर्धारित आत्मनिष्ठ भिन्नताएँ या एक ही प्रेक्षक की विविध दशाओ के कारण उत्पन्न वैविध्य आदि ऐसे कारक हैं जिनसे वैज्ञानिकताभिमानी यथार्थवादी के लिए यह प्रतिपादन करना कठिन हो जाता है कि अनुभूतिगत वस्तुओ की सभी प्रेक्षित विशिष्टियाँ अनुभूतिकर्त्ता से एक समान स्वतंत्र होती हैं। विमर्श आमतौर पर दैनन्दिन जीवन के 'प्रकृत यथार्थवाद' की जगह 'वैज्ञानिक यथार्थवाद' के एक ऐसे सिद्धान्त को ला देता है जिसके अनुसार अस्तित्व तथा अनुभूतिगत जगत के कुछ ज्ञात गुणधर्म तो अनुभूतिकर्त्ता से स्वतन्त्र माने जाते हैं जबकि अन्य गुणधर्मो को ऐसे गौण प्रभाव मात्र माना जाता है जिनका उद्गम कर्त्ता की चेतना पर हुई स्वतन्त्र वास्तविकता की क्रिया द्वारा होता है। वैज्ञानिक यथार्थवाद के विविध प्रकारो के उन पारस्परिक विभेदो से जो प्रेक्षककर्त्ता से स्वतन्त्र वस्तुओं के कथित विशिष्ट गुण-धर्मों पर आधारित है, इस समय हमारा कोई सरोकार[2] नही है।

---

१. उदाहरण के लिए व्यक्ति की वैयक्तिक विचित्रताएँ या विशेषताएँ—जैसे रंगो का स्पेक्ट्रम या वर्ण-क्रम, सपूर्ण अथवा आंशिक वर्णान्धता, सागीतिक स्वर तारत्व के प्रति सवेदनशील शक्ति का उतार-चढ़ाव आदि-आदि।

२. इस सिद्धान्त के सबसे अधिक ज्ञात तथा सबसे अधिक जनप्रिय रूप लॉक का मत तथा हमारे प्रचलित विज्ञान का अधिकांश भाग हैं। दोनो ही के अनुसार द्रव्य के 'मूलभूत गुण' यानी वे गुण जिन्हे भौतिक विज्ञानो मे मूलाधार रूप

निस्संदेह इतना तो स्पष्ट ही है कि अनुभूति के विना किसी वास्तविकता के अस्तित्व के रह सकने के विरुद्ध हमारी सामान्य तर्कना 'प्रकृत' यथार्थवाद के तथा उसी की अधिक विमर्श-प्रधान उपशाखा 'वैज्ञानिक' यथार्थवाद के भी विरुद्ध उतनी ही जोरदार है जितनी कि अनीश्वरवाद के। लेकिन इस प्रकार के यथार्थवादी विचारो के आभासी औचित्य तथा विस्तृत विसरण के कारण हमे यह दिखा करकि यथार्थवाद का सत्य वास्तव मे क्या है तथा वह सत्य वास्तव में क्या है तथा वह सत्य कहाँ मार्ग भ्रष्ट होकर तर्कभास मे परिणत हो जाता है—अपनी तर्कना को और भी जोरदार वनाना आवश्यक हो जाता है। और ऐसा कर सकने मे कोई विशेष कठिनाई भी नही है। यथार्थवाद मे पाये जाने वाले सत्य के प्रमुख तत्त्व दो है: (१) यह निश्चित है कि मेरी अनुभूति के प्रभेद्य पहलू के रूप मे चेतनतापूर्वक प्रस्तुत हुए विना भी कोई वस्तु वास्तव या वास्तविक हो सकती है। वस्तुओ का अस्तित्व तभी से प्रारभ नही हुआ करता जव से मैं उनके प्रति जागरूक होना शुरू करता हूँ न ही उनका भाव या अस्तित्व त्योही समाप्त हो जाता है ज्यो ही मैं उनके प्रति जागरूक रहना वद कर देता हूँ। साथ ही साथ यह तथ्य भी कि मै गलतियाँ करता रहता हूँ और मुझ में भ्रम भी सभाव्य होते है —सिद्ध करता है कि वस्तुओ के गुण, आवश्यक रूप से उस रूप मे वास्तविक नही जिस रूप मे मैं उन्हे ग्रहण करता हूँ। (२) इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि चूँकि मैं अपने ही सवेदनो तथा प्रयोजनो को पूर्णरूप से नही समझ पाता इसलिए हो सकता है कि कोई वस्तु मेरे अनुभूतिकर्त्ता रूप मे मेरे जीवन का ऐसा अविकल अग वन जाय जिसे अपनी अनुभूति की अन्तवस्तुओ पर विचार करते समय मै उसे स्पष्टतः और चेतनतापूर्वक उस रूप मे पहचान न सकूँ।

लेकिन उपर्युक्त दोनो वातो से ठीक-ठीक कहाँ तक सिद्ध होता है? केवल इतना ही तो पहला विचार-विन्दु सिद्ध कर पाता है जैसा कि हम पहले भी जोर देकर कह चुके है कि वास्तविकता का गठन मेरी अनुभूति द्वारा नही होता, दूसरे विचार-विन्दुओ से भी इतना ही सिद्ध होता है, जैसा कि हम पहले ही वार-वार देख चुके है कि अनुभूति केवल संज्ञानात्मिका नही हुआ करती। लेकिन इन दोनों विचार-विन्दुओं को स्वीकार कर लेने के वाद भी यथार्थवादी द्वारा इन दोनो वातो से निकाले गये

समझा जाता है, स्वतंत्र रूप से 'वास्तव' है, जवकि शेष गुण ऐसे प्रभाव मात्र हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो पर हुई उनकी क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं। चूँकि लीविनिट्ज तथा हर्वर्ट जैसे यथार्थवादियों के कहीं अधिक सूक्ष्मान्वेषी तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अविमर्शक सामान्य प्रज्ञावानों के प्रकृत यथार्थवाद से कहीं अधिक भिन्न होने के कारण कभी भी उसकी तरह ही प्रचलित नहीं हो पाये।

इस निष्कर्ष के कि वास्तविक अस्तित्व समग्र अनुभूति से स्वतत्र होते हैं—एक कदम और अधिक पास भी नही पहुँच पाते । चूंकि यह सिद्ध करना आसान है कि किसी वस्तु की वास्तविकता किसी भी निश्चित एक प्रेक्षक द्वारा अथवा निश्चित प्रेक्षको के योग द्वारा स्पष्ट रूप से मान्य होने पर ही निर्भर नही हुआ करती और यह कि किन्ही भी निश्चित प्रेक्षको की किसी भी अनुभूति मे उससे कही अधिक और कुछ भी मौजूद रहता जितना उन प्रेक्षको को मालूम रहता है । इसलिये यथार्थवादी समझता है कि वह यह अवतारण आसानी से कर सकता है कि ऐसी वास्तविकताएँ है जो किसी अनुभूति के अन्तर्गत हुए विना भी वास्तविक बनी रह सकेंगी। लेकिन इस अवतारण के आधार वाक्यो और उनसे निकाले गये निष्कर्ष के बीच किसी प्रकार का भी कोई मेल या सयोजन नही है ।

यह बात दो-एक उदाहरणो से और भी स्पष्ट हो जायगी। शुरू करने के लिए आइए अपने साथी मानवजीवो के मानसिक जीवन को ही ले लिया जाय। और तत्सवद्ध विषय को यथार्थवादियो के निष्कर्ष के अत्यधिक पृष्ठपोषक प्रतीत होने वाले रूप मे प्रस्तुत करने के लिए आइये कल्पना की जाय कि कोई अलेक्जैण्डर सिल्कर्क नामक व्यक्ति सागर मध्यस्थित किसी अनुपजाऊ पहाडी पर वेवस रुका पडा है। हमारे इस सिल्कर्क की आशाएँ और आशकाएँ उसी प्रकार और उसी माने मे एकदम मेरे ज्ञान के अधीन नही है, मेरे ज्ञान से उसी प्रकार पूर्ण स्वतत्र हैं जिस प्रकार और जिस माने मे उस पहाडी चट्टान का अस्तित्व और वनावट मेरे ज्ञान के वाहर की वात है, जिस पर सिल्कर्क वैठा है। मैं तथा इस पृथ्वी के अन्य सव निवासी भी सिल्कर्क के अस्तित्व से तथा उसके विचारो से उतने ही अनभिज्ञ हो सकते है जितने कि हम सव उसकी अधिष्ठित चट्टान के अस्तित्व तथा उसके भूगर्भीय गठन से वेखवर है । इसके अतिरिक्त अपने आभ्यन्तरिक जीवन के जितने भी अश का सज्ञान सिल्कर्क स्पष्ट रूप से ग्रहण करता है वह समग्र जीवन का अनुपातत. उतना ही कम अश हो सकता है जितना कि चट्टान का सिल्कर्क द्वारा अधिष्ठित भाग पूरी चट्टान का अश है तथा चट्टान के जिस अश के गुणो का सज्ञान वह प्राप्त कर सका है वह समग्र चट्टान के समग्र गुणो या प्रकृति का भी उतना ही अश है। लेकिन इस सवसे यह प्रकट नही होता कि सिल्कर्क की आशाएँ-निराशाएँ तथा उसका शेष मानसिक जीवन अनुभूति नही है तथा उनकी वास्तविकता अनुभूतिः वाह्य अत. स्वतत्र है। ऐसी आशाएँ और आशकाएँ, जो अनुभूति नही मानसिक तथ्य पदार्थ या द्रव्य नही, वास्तव मे निर्धारित अभिधाओ के पारस्परिक व्याघात का उदाहरण होगी। और इस तर्कना द्वारा सिल्कर्क के मानसिक जीवन के विषय मे जो कुछ सिद्ध नही किया जा सका, उसी कारण से सिल्कर्क की चट्टान के विषय मे भी वह सिद्ध नही होता।

एक साथी मानव के मानसजीवन के इस उदाहरण को पीछे छोड़कर आइए अप्रेक्षित भौतिक वास्तविकता का एक मामला हाथ में लें। अभी हाल ही के एक यथार्थ-वादी दार्शनिक श्री एल० टी० हाव्हाउस ने स्वतंत्र भौतिक वास्तविकता का एक उदाहरण सामने रखा है जो किसी सुरग से तत्क्षण वाहर आती हुई एक रेलवे ट्रेन का है। वह कहता है कि मैं ट्रेन को तव तक नही देखता जवतक वह सुरग से वाहर नही आ जाती लेकिन ट्रेन तो सुरग मे मौजूद ही है और उतनी ही वास्तविक भी तव थी, जव सुरंग के भीतर थी। इसलिए उसकी वास्तविकता प्रेक्षण की क्रिया से स्वतंत्र है। हम उसे न देखें तव भी उसकी स्वतत्र सत्ता रहती है। लेकिन तर्कना की पहली शर्त है कि ट्रेन विलकुल खाली हो और वह भगोडी ट्रेन भी हो जिसमे न ड्राइवर हो, न गार्ड और न मुसाफिर क्योंकि तर्कारंभ के आधार ही यह रखे गये हैं। फिर दूसरी जवावी वात यह कही जा सकती है कि ऐसी एकदम खाली और भगोड़ी ट्रेन को किसी ने कहीं से चालू करके रवाना तो किया ही होगा। साथ ही साथ हमारी रेलवे यातायात व्यवस्था मे व्यक्त प्रयोजनो और हितो की साधारण योजना के साथ उसका कोई न कोई सम्वन्ध होना जरूरी है और प्रयोजनार्थ तथा हितो की इस योजना के साथ का यह सम्वन्ध ही इस भगोडी ट्रेन को वास्तविकता प्रदान करता है। वह किसी विदग्धदार्शनिक की कल्पना-प्रसूत कल्पितार्थ मात्र नही रहती। अगर हाव्हाउस की तर्कना सुरग स्थित ट्रेन की स्वतंत्र सत्ता या वास्तविकता सिद्ध कर सकती है, तो उससे एकान्त चट्टान पर वैठे सिल्कर्क की आशा और निराशा के और निराशा से आशा के वीच की दोलायमान स्थिति की स्वतत्र सत्ता भी सिद्ध होती है, और ठीक इसलिए कि इस तर्कना से दोनों ही निष्कर्ष समान रूप से सिद्ध होते है। अत जिस प्रकार की स्वतत्रता की स्थापना उसके द्वारा होती है वह अनुभूति की स्वतत्रता नहीं हो सकती। यथार्थवादियो की सारी तर्कनाओं के समान यह तर्कना भी अनुभूति के संज्ञानात्मक पक्ष को ही अनुभूति का तादात्म्य मान लेने के कारण ही इस प्रकार का चक्कर पैदा हो जाता है। इस प्रकार के तादात्म्य की ध्वनि स्वय आदर्शवादियो की वातो से भी निकलती है।[1]

---

१. तुलना कीजिए, वार्ड की पुस्तक, 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसीज्म' भाग २ पृष्ठ १७८ तथा रॉयस की पुस्तक 'वर्ल्ड एण्ड इण्डिविजुअल,' फर्स्ट सीरीज, ले० ३। प्रो० रॉयस का यथार्थवाद विषयक विवेचन रोचक और ध्वन्यात्मक होते हुए भी प्रतिपक्षी के प्रति सक्षिप्त और आसान तरीका अख्तियार करने के कारण विश्वासोत्पादक नहीं है। श्री हाव्हाउस की आदर्शवाद विरोधिनी तर्कना (थियरी ऑफ नौलेज, ५१७-५३९) मुझे तो अगले अनुच्छेद में चर्चित व्यक्ति-'निष्ठावाद' मात्र के विरुद्ध ही रुक सकने वाली लगती है। किन्तु अच्छा हो यदि पाठक उसकी स्वय अच्छी तरह परीक्षा कर लें।

८—यथार्थवाद की लगातार बनी रहने वाली जीवनी शक्ति का रहस्य, उस विरोधी मत के तर्काभासो के विरुद्ध उसकी अभ्यापत्ति मे निहित है—जिसे अभी हाल मे प्रकृतिविज्ञान के कुछ विशिष्ट विद्यार्थियो का विशेष पृष्ठपोषण प्राप्त हुआ है। व्यक्तिनिष्ठावाद नाम से उसे अभिहित किया जा सकता है।[1] जैसा कि हम देख चुके है, यथार्थवाद इस सत्य तर्काधार को लेकर ही चला था कि ऐसे वास्तविक तथ्य मौजूद है, जिनके प्रति मेरी अनुभूति मुझे विशेष रूप से जागरूक नही बनाती। और यह कि मेरी अपनी ही अनुभूति विषयक मेरा सज्ञान अपूर्ण होता है। लेकिन इसके बाद तर्कना द्वारा वह इस झूठे निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि इसी कारण ऐसी वास्तविकताएँ भी है जो सभी प्रकार की अनुभूति से स्वतत्र होती है। व्यक्तिनिष्ठावाद की तर्कना इससे उल्टी है। वह सत्य ही प्रतिपादन करता है कि अनुभूति बाह्य वास्तविकता होती ही नही, किन्तु इस असत्य निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मैं अपनी सज्ञानात्मक स्थितियो के अतिरिक्त अन्य किन्ही वास्तविकताओ के बारे मे जान ही नही सकता। उसके प्रिय प्रमेय सूत्र इस तरह के वाक्य हुआ करते है, 'हम जो कुछ जान पाते हैं, वे स्वय हमारे ही प्रेक्षण होते है।' 'हम केवल अपनी चेतना के रूपान्तरणो को ही जान पाते है।' चेतना की दशाओ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अस्तित्व नही होता। इन सूत्रो मे स्पष्टत कोई भी अर्थ-सादृश्य नही है। लेकिन तो भी व्यक्तिनिष्ठावाद के हिमायती उनमे किसी तरह का सज्ञप्रभेद किये बिना ही इन सूत्रो का प्रयोग किया करते है। अत इस सिद्धान्त

---

१ इसे उदयनीयतावाद अथवा प्रेजेण्टेशनलिज्म नाम से यदि पुकारें तो अनुचित न होगा लेकिन यह तभी उचित होगा जब यह नाम मनोविज्ञान के कुछ सिद्धान्तो के विभेद के लिए भिन्नार्थ वाचक के रूप मे पहले ही से निर्धारित न कर लिया गया हो। अग्रेजी जानने वाले पाठको को व्यक्तिनिष्ठावाद का एक संविलयित (भ्रान्ति भरा) किन्तु उपलक्षक निर्वचन प्रोफेसर कार्ल पीयर्सन की पुस्तक 'ग्रामर ऑफ साइंस' के प्रारंभिक अध्यायो मे मिलेगा। व्यक्तिनिष्ठावादी लेखक अपने आपको 'आदर्शवादी' कहते हैं और अपने आपको बर्कले तथा ह्यूम का शिष्य समझा करते है। मान भी लिया जाय कि बर्कले व्यक्तिनिष्ठावादी था भी तो सिर्फ भौतिक जगत् के मामले मे। लेकिन ह्यूम के निष्कर्ष तो विशुद्ध संशयवादी ही हैं। प्रोफेसर पीयर्सन के ग्रन्थ के पाठको को ध्यान-पूर्वक नोट कर लेना होगा कि भौतिक विज्ञान के 'वर्णनात्मक' सिद्धान्त का कोई विशेष संबंध व्यक्तिनिष्ठावाद से नहीं है और यह कि उस सिद्धान्त के मानने वाले दार्शनिक प्रो० वार्ड तथा रॉयस जैसे व्यक्ति हैं, जो व्यक्तिनिष्ठा-वादी नहीं है।

के साथ अन्याय न होगा, यदि हम उसकी आलोचना इस पूर्व ग्रहण को मानकर करे कि ये सूत्र एकार्थ वाचक माने जाने के लिए ही प्रयुक्त होते है।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्तों के तर्क सम्बन्धी परिणाम उन सब क्रियात्मक पूर्वानुमानो के लिए, जिन पर दैनिक जीवन आधारित है, इतने विध्वसकारी है कि उन्हे स्वीकार करने से पहले हमे उनकी सत्यता का दृढतम प्रमाण पा लेना जरूरी है। यदि व्यक्तिनिष्ठावाद साध्य सिद्ध हो जाय तो उसका तात्कालिक परिणाम यह होगा कि न केवल स्वर्ग का समवेत सगीत और भूमि का यह सब शृंगार 'अपितु यह समग्र मानवता, जहाँ तक उसके अस्तित्व का मुझे पता है—मेरी चेतना' के व्यक्तिनिष्ठ भाव मात्र होंगे अथवा जैसा कि विज्ञानपरक व्यक्तिनिष्ठावादी किन्ही अस्पष्ट कारणवश, प्राय कहना अधिक पसन्द करता है—'मेरे मस्तिष्क के व्यक्तिनिष्ठ भावमात्र'। ऐसी प्रत्येक तर्कना जो व्यक्तिनिष्ठावादी यह दिखाने के लिए प्रस्तुत कर सकता है कि 'वस्तुएँ कम से कम मेरे लिए तो, मेरी अपनी चेतना की रूपान्तरण मात्र होती हैं'—मेरे साथी मानवो के मामले मे भी उतनी ही जोरदार साबित होती है जितनी कि निरिन्द्रिय जगत् के मामले मे। व्यक्तिनिष्ठावादी के तर्काधारो से जो तर्कानुमोदित निष्कर्ष निकालता है तथा जिसे वह मुश्किल से, या बिलकुल ही नही, निकालने को तैयार होता, यही होगा कि हवाई कल्पना-मूर्तियों की इस दुनिया मे— जहाँ इन कल्पना-मूर्तियो मे से एक भी मूर्ति निश्चयपूर्वक किसी वास्तविक वस्तु की प्रतिरूप कही जा सकती है—वह स्वय ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। उलट कर यदि कहा जाय तो मेरे साथी मानवों की सत्ता को मेरी अपनी चेतना की दशा मात्र से अधिक और कुछ मानने का कोई भी वैध आधार, दैहिक जीवन की अनुभूतियो के कारण सुपरिचित शेष वस्तु[1] जगत् की वास्तविकता को भी उसी माने मे स्वीकार कर लेने का भी एक आधार होगा। क्योंकि यदि क्रियात्मक जीवन की इस दुनिया को गठित करने वाली वस्तुओ मे से किसी एक की भी वास्तविकता ऐसी है, जो मेरी विशिष्ट अनुभूति के लिए अपनी प्रस्तुति पर निर्भर नही होती, तो यह मान लेने के लिए

---

१. भौतिक जगत् के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व के एकमात्र प्रमाण के रूप में मेरे साथी मानवों के विषय मे देखिए रॉयस की 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' में 'नेचर कांशेसनेस एण्ड सेल्फ कांशेसनस' नामक निबंध तथा इस पुस्तक के लेखक का अक्तूबर नेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स में प्रकाशित लेख 'माइण्ड ऐण्ड नेचर'। इस में मैंने, शायद, उन लचर दलीलों को, जिनके द्वारा व्यक्तिनिष्ठावादी अपने दृष्टिकोण के अनुसार अन्य मानव सत्ताओं के अस्तित्व में विश्वास करने की बात को तर्कसंगत ठहराने की कोशिश करते हैं, अच्छी तरह लेकर सिद्ध किया है।

भी कि हर एक ऐसी अन्य वस्तु की भी वैसी ही वास्तविकता है वह कारण ही तब तक रहेगा जब तक कि उस प्रेक्षण को, जिसके लिए वह वस्तु प्रस्तुत हुई है, एक निर्मूल भ्रम मात्र समझ लेने के कोई विशेष कारण न हो ।

लेकिन व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्त को सक्षेपत इस प्रकार से चलता कर देना ठीक नही। हमे उसकी विस्तृत परीक्षा करना चाहिए इसलिए आवश्यक है जिससे हम अच्छी तरह जान सकें कि तर्काभास का प्रवेश उसमे कहाँ से होता है और वह कैसे उठ खडा होता तथा गम्भीर दार्शनिक के तीन विचार-बिन्दु निम्नलिखित है—

(अ) व्यक्तिनिष्ठावाद की पक्षपोषक चालू तर्कनाएँ प्राय इस तरीके से पेश की जाती है जिससे दो स्पष्टत भिन्न स्थितियो मे गडबड पैदा हो जाय। जब कहा जाता है कि हम जो कुछ देखते है वे 'हमारी अपनी व्यक्तिनिष्ठ स्थितियाँ होती है', तो इस कथन के अभिप्रेतार्थ या तो यह हो सकता है कि मेरी ''चेतनात्मक स्थितियो' के अतिरिक्त इस विषय मे, जहाँ तक मैं मालूम कर सकता हूँ, कम से कम वहाँ तक तो, अन्य कोई वास्तविक सत्ता नही है, अथवा यह कि—इस तरह की वास्तविकताएँ है जरूर लेकिन उनके जिन गुण-धर्मों का प्रेक्षण मैं करता हूँ, व स्वभावत उनके अपने गुण-धर्म नही है अपितु वे मेरी चेतना पर हुई उनकी क्रिया द्वारा प्रस्तुत वस्तुनिष्ठ प्रभावमात्र है, अथवा यदि आपको शरीरशास्त्रीय भाषा मे कहना ज्यादा पसन्द हो तो आप मेरी चेतना पर हुए प्रभाव की जगह, मेरे तान्त्रिक तत्र पर प्रभाव कह सकते है। व्यक्तिनिष्ठावादी द्वारा साधारणत प्रयुक्त अनेक तर्कनाएँ ज्यादा से ज्यादा उस दूसरे निष्कर्ष को ही प्रमाणित कर पाती है, जिसके विषय मे व्यक्तिनिष्ठावादी विज्ञानपरक यथार्थवादी से अधिकाश मे सहमत है। अत इस तरह की दलील पेश करना मानो निर्मूल भ्रम सबधी तथ्य, माया, विभिन्न प्रेक्षको द्वारा प्रस्तुत विवरणो के वैभिन्न्य एक ही प्रेक्षक की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत विवरणो के वैभिन्न्य से व्यक्तिनिष्ठावाद के मत को बल मिलता हो, विषयान्तर तर्काभास अथवा 'इग्नोरेंशिया एलेन्श्चाई' ही है । व्यक्तिनिष्ठावादियो की तरह ही विज्ञानपरक यथार्थवादियो द्वारा भी दुहाई के विषय बनाय गये। इन तथ्यो से जैसा कि हम पहले ही देख चुके है, इससे ज्यादा और कुछ साबित नही होता कि हम वस्तु जगत् को सदा उसी रूप मे नही देख पाते जैसा कि वह है अथवा जैसा कि उसे अवश्य ही तब होना चाहिए जब हम उसके विषय मे सत्य विचार करें यानी दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि त्रुटि नामक वस्तु भी कोई है।

जैसा कि ग्रीक अथवा यूनानी दर्शन के विद्यार्थी को पहले ही से मालूम है— यह समस्या कि 'हमारे लिए असत्य रूप से विचार करना अथवा असत्य प्रेक्षण क्यों कर संभव होता है?' महत्त्वपूर्ण और कठिन दोनो ही है। लेकिन त्रुटि के अस्तित्व से किसी

प्रकार भी यह सिद्ध नही होता कि मैं जिन वस्तुओं का प्रेक्षण करता हूँ वे 'मेरी ही अनुभूतियों की स्थितियाँ है?' इसके विपरीत व्यक्तिनिष्ठावाद सिद्धान्त की गलती को समझा सकना अन्य सिद्धान्त की गलती की अपेक्षा कही ज्यादा मुश्किल है। क्योंकि अगर मैं जो कुछ देखता हूँ, उसका किसी भी तरह का अस्तित्व मेरे तत्संबधी प्रेक्षण के तथ्य से एकदम अलग, मौजूद है तो कम से कम यह समझ सकने की संभावना तो रहती ही है कि वास्तवकता मे और मेरे द्वारा हुए उसके प्रेक्षण मे गलती कैसे होती है। लेकिन अगर किसी वस्तु का अस्तित्व उसके मेरे द्वारा प्रेक्षित होने का ही दूसरा नाम हो तो यह असभव लगता है कि मै उस वस्तु को जैसी कि वह है, और किसी तरह का देख सकूं। व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्त के अनुसार—जैसा कि प्लैटो ने थियाएटेट्स मे सिद्ध किया है प्रत्येक प्रेक्षक सत्ता को अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण मे अचूक होना ही चाहिए।

अब हमे अपना ध्यान उन आधारों पर ही केन्द्रित रखना चाहिए जिन्हें व्यक्ति-निष्ठावादी अपने इस प्रथम निष्कर्ष के लिए आवश्यक बताता है कि मेरी 'आनुभूतिक दशाओं या स्थितियों' के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अस्तित्व नही जाना जा सकता। ऐसा करके हम त्रुटिपूर्ण प्रेक्षण की सारी समस्या को वाद-बाह्य कह कर विसर्जित कर सकते हैं। अब व्यक्तिनिष्ठावाद की सामान्य तर्कना, जिसे भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न शब्दों मे व्यक्त किया है. सिद्धान्तत. केवल एक ही अभिकथन मे सीमित की जा सकती है। सजातीय मनोविज्ञान द्वारा यह अभिकथन तथ्य रूप मे पेश किया जाता है कि हमारी अपनी सवेद शक्ति के रूपाकरणो के रूप में ही वस्तुएँ हमारे द्वारा तत्काल प्रेक्षित हुआ करती है अथवा हम उन्हे अपनी चेतना की दशाओं के रूप मे ही देखा करते है, और यह कि इसीलिए समग्र प्रेक्षण की इस अन्तिम शर्त का अतिक्रमण करना असंभव है। मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त के विरोध मे हमारा कथन है कि (१) वास्तविक जीवन के कुछ तथ्यों का वह महान् विरोधी अथवा भ्रान्तिमय व्याघात है। (२) यह कि मनोविज्ञानशास्त्र मे एक सिद्धान्त की हैसियत से उसे निश्चयात्मक रूप मे असत्य सिद्ध किया जा सकता है।

(१) कुछ ऐसी वास्तविकताएँ भी है जिन्हे व्यक्तिनिष्ठावादी स्वयं ही मान चुके है कि वे ऊपर से देखने मे ही 'मेरी चेतना की दशाएँ' नही है। उनके विषय में अब तक, जैसा कि व्यक्तिनिष्ठावादी भी मानता है, मेरा ज्ञान खरा होते हुए भी अपूर्ण है। ऐसी वास्तविकताएँ उदाहरण के लिए है मेरे साथी मानवों के लक्ष्य और प्रयोजन और मेरे अपने लक्ष्य और प्रयोजन भी। यह सभी को स्वीकार है कि मैं न केवल अन्य मनुष्यो के अस्तित्व विषयक तथ्य को ही जान सकता हूँ अपितु किसी हद तक उनके विविध प्रयोजनो और हितों या अभिरुचियों को भी जान सकता हूँ। उदाहरण के लिए

यह बातें इसलिए मामूली अन्तर्ग्रस्त हैं कि जब मैं कोई पन्ना (पृष्ठ) पढ़ता हूँ तो लेखक के अभिप्राय को समझ सकना मेरे लिए साधारणतः सम्भव होता है। यह बात इन तथ्य मे भी उतनी ही अन्तर्ग्रस्त है कि मैं किसी भी सामान्य ऐतिहासिक तथ्य वस्तु की सच्चाई जान सकता हूँ। जैसे कि लन्दन के महान् अग्निकाण्ड की तिथि। लेकिन न तो लन्दन के महान् अग्निकाण्ड की 'तिथि' न मेरे पत्र लेखक के वाक्यो का अर्थ ही 'मेरी चेतना की दशा अथवा स्थिति" इन शब्दों के बोधगम्य आशय के अनुसार है, तथापि दोनों ही उदाहरण उन तथ्यो की किस्मो के उपलक्षक नमूने हैं—जिनसे मिलकर हमारे दैनिक जीवन की दुनिया का समग्र ज्ञान गठित होता है। और जो बात दूसरो के कार्यों और प्रयोजनो से सम्बद्ध तथ्यो के विषय मे सही है, वही मेरे अपने कार्यों और प्रयोजनो के विषय मे भी समान रूप से सही है। जिन तथ्यों से मेरा जीवन गठित हुआ है, वे भाषा के साथ बलात्कार किये बिना किसी प्रकार भी, मेरी अपनी चेतना की दशाओं मे परिणत नहीं किये जा सकते। उदाहरण के तौर पर शायद मैं जानता होऊँ कि मेरी प्रकृति अथवा तबीयत एक खास किस्म की है यानी स्वभावतः मैं चिड़चिड़ा हूँ अथवा भावुक प्रकृति का हूँ। लेकिन अपने बारे मे इन सत्यो का जानना यद्यपि एक तरह मे मेरी चेतना की एक दशा भले ही कही जा सके, तथापि इन सत्यों को 'मेरी चेतना की दशा' तर्कशास्त्रानुसार मध्यपद सम्बन्धी अनेकार्थक दोषी हेत्वाभास का आश्रय लिए बिना किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता।

(२) यह बात व्यक्तिनिष्ठावादियो द्वारा साध्यमान मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर विचार करने से और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी। वस्तुनिष्ठावादी जब यह कहता है कि प्रेक्षण मे मैं सिर्फ अपनी चेतना की दशाओ से अथवा उनके वस्तुनिष्ठ रूपान्तरणो से ही अवगत हुआ करता हूँ तब उसका आशय यह होता है कि प्रेक्षण की प्रत्येक दशा या स्थिति जिस लक्ष्य से अवगत होती है वह लक्ष्य ही स्वय एक प्रेक्षण की एक दशा, रूप होता है। प्रेक्षण स्वयं अपना ही प्रेक्षण किया करता है और कुछ नही। उदाहरण के लिए, जब मैं कहता हूँ कि मैं लाल देखता हूँ तो जिससे मैं वास्तव मे अवगत हुआ हूँ वह है लाल देखने की दशा। जब मैं कहता हूँ कि मैं एक शोर सुनता हूँ तो जिससे मैं अवगत होता हूँ वह यह है कि मैं शोर सुनने की दशा मे हूँ और यही तर्कना दुनिया भर की बातो पर भी लागू होती है। लेकिन यह बात सत्य तो क्या सत्य से इतनी दूर है कि वह एकदम और प्रामाणिक रूप से झूठी है। वास्तव मे हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसी एक वस्तु, जिससे अन्त: प्रेक्षक मनोवैज्ञानिक के अतिरिक्त अन्य कोई भी कभी अवगत नहीं होता, प्रेक्षण कार्यगत स्वयं अपनी प्रेक्षण की स्थिति ही है। और यह कि ऐसे मनोवैज्ञानिक के मामले मे भी, जो जानबूझ कर स्वय अपनी स्थितियो या दशाओं के अध्ययन का व्रत लेता है, कोई भी प्रेक्षण की दशा कभी भी अपना प्रश्न नही

किया करती। जब मैं किसी लाल धरातल को देखता हूँ तब जिससे मैं अवगत होता हूँ वह 'लाल देखता हुआ मैं अपने आप' से नही अपितु लाल रग की झलक ही होती है। जब मैं किसी आदमी को देखता हूँ तो मै आदमी देखते हुए अपने आप से अवगत नही होता बल्कि मै उस अन्य व्यक्ति को ही देख रहा होता हूँ। इसी प्रकार मैं जब किसी विशेष प्रकार से कार्य करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता हूँ अथवा यह जान लेता हूँ कि मैं एक विशेष मनोदशा मे हूँ तो मैं जिस वस्तु से अवगत हुआ होता हूँ वह 'प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए मैं स्वय' अथवा 'उस मनोदशाग्रस्त मैं स्वय' नही होती बल्कि वह प्रतिज्ञा और वह मनोदशा ही वह वस्तु होती है। अन्तर्दर्शी मनोविज्ञानी के रूप मे भी, जब मैं निश्चयों की निर्मित अथवा भावनात्मक मनोदिशाओं की विशिष्टियों का अध्ययन अपनी अनुभूति पर पडे प्रतिबिम्ब द्वारा करने बैठता हूँ, तब निश्चय के निर्माण की वह दशा अथवा आवेगी भाव का वह स्वरूप स्वय उस सम्बद्ध निश्चय अथवा भाव के गृहीत या अनुभूत होने की दशा या स्थिति नही होती। हम कितना भी जोर देकर कहे फिर भी वह कम होगा कि यदि 'आत्मचेतना' शब्द से ऐसी कोई सज्ञानात्मिका स्थिति अभिप्रेत हो जो स्वयं अपना लक्ष्य हो तो इस तरह की कोई चीज नही होती और आत्म-चेतना जैसी वस्तु होना एक मनोवैज्ञानिक असमाव्यता है। कोई भी सज्ञानात्मिका स्थिति स्वय अपना ही लक्ष्य कभी नही हुआ करती। प्रत्येक संज्ञानात्मिका स्थिति का लक्ष्य अपने आप से अतिरिक्त अन्य कुछ भी हुआ करता है।[1]

अपनी व्यक्तिनिष्ठावादी स्थिति के बारे मे जब मैं इस प्रकार की बात कह

---

१. आत्म ज्ञान, जो कि वास्तविक जीवन का एक तथ्य है, कुछ मनोविज्ञानशास्त्रियों की काल्पनिक आत्म-चेतना से भिन्न है। वह एक बिलकुल ही अलग चीज है और उसमे सज्ञान के दो स्पष्ट कार्य अन्तर्ग्रस्त होते हैं: (१) कुछ संज्ञानीय लक्ष्यों की अवगति और (२) उन लक्ष्यो का किसी प्रकार मेरे 'आत्म' को विशेषित करने वालों के रूप में, स्वीकार करना। और जिस आत्म को इस प्रकार विशेषित रूप से मैं स्वीकार करता हूँ वह फिर अनुभूति का अव्यवहृत-दत्त नहीं होता अपितु वह प्राक्काल्पनिक बुद्धिजात एक निर्मिति ही होता है जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे।

और भी एक बात कह देने का शायद यह भी उचित स्थल है। वह यह कि अगर हम मनोवैज्ञानिक शब्दावली के विषय में अधिक कठोरतापूर्वक सही रहना चाहते हैं तो हमें अपनी भाषा से चेतना तथा 'चेतना की दशाएँ' ये पद ही बहिष्कृत कर देने होंगे। जो कुछ अनुभूति के लिए प्रस्तुत या प्रदत्त होते हैं वे हैं एक से

रहा होता हूँ कि 'मैं बहुत ही क्रुद्ध हूँ' तब भी मेरे सवेदन के बारे मे जानने की स्थिति उसी प्रकार सवेदन से भिन्न है जिस प्रकार कि मैं लाल देखता हूँ इस बात को जानने की दशा जिस लाल रग को मैं देखता हूँ उससे भिन्न होती है। वस्तुनिष्ठावादी इस बारे मे जो कुछ करता है वह इतना ही कि वह इन दोनो मे गड़बडी पैदा करता है। चूँकि जानने की क्रिया स्वय जानने वाले कर्त्ता की एक दशा होती है और चूँकि कुछ मामलो मे इस ज्ञान का कुछ सबंध उसी कर्त्ता की किसी अन्य दशा से भी हो सकता है, अत वह यह अवतारणा करता है कि मैं किसी भी क्षण पर जो कुछ जान पाता हूँ वह जानने की क्रियान्तर्गत मेरी अपनी व्यक्तिनिष्ठीय स्थिति होती है दूसरे शब्दो में अधिक तन्त्रीय है। कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठावादी मंज्ञानीय कार्य अथवा स्थिति उसके अपने लक्ष्य के साथ सविलयन कर रहा है। दोनों को गड़बड कर रहा है । इस तरह के सविलयन अथवा गड़बड से यदि वह इससे निकलने वाली अनुमितियो मे तर्काश्रयी बना रहता है तो वह किन ऊटपटाग या अनर्गल नतीजो पर पहुँचेगा, यह हम पहले ही देख चुके है। अब हम देख सकते हैं कि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सभ्रान्ति दुहरी है: (१) व्यक्तिनिष्ठावादी अनुभूति को प्रस्तुत अन्त सार के प्रति अवगति मात्र के साथ सम्विलयित करता है। वह अनुभूति मे लगातार वर्तमान चयनात्मक अवधान के सही निष्ठाकारक की उपस्थिति की उपेक्षा करता है, इसीलिए वह भूल जाता है कि सभी अनुभूतियो मे ऐसा तत्त्व अन्तर्हित रहता है जो अनुभूतिकर्त्ता मन मे ही मौजूद रहता है। लेकिन उसके लिए प्रस्तुत नही किया जाता । (२) और अनुभूति के प्रस्तुत्यात्मक अथवा उपयानात्मक पक्ष तक ही अपने अवधान को केन्द्रित करके वह प्रस्तुत किये गये अन्तर्सार के साथ उसकी प्रस्तुति के तथ्य को सकरित कर देता है और इस द्वितीय सभ्रान्ति का निराकरण करने हेतु ज्ञान के एक सत्य सिद्धान्त के लिए जरूरी

सामान्य स्वभाव वाली कुछ संचेतक प्रक्रियाएँ। हम इस स्वभाव को विविक्त कर लेते और उसे 'चेतना' का नाम दे देते हैं । और तब इन मूर्त प्रक्रियाओं को इस विविक्ति की स्थितियो अथवा रूपान्तरणो का नाम देने की भारी गलती कर बैठते हैं ठीक उसी तरह जिस तरह हम भौतिक वस्तुओ के मामले मे पहले उनके सामान्य गुण-धर्मो को पृथक् करके उन्हे 'द्रव्य' नाम से पुकारते । और उसके बाद उनके बारे में ऐसे बात करते हैं मानो वे वस्तुएँ ही स्वय द्रव्य के रूप हो। सही तरीके से कहा जाय तो भौतिक वस्तुएँ भी हैं और मानस भी, लेकिन वास्तविक जगत् मे द्रव्य तथा चेतना जैसी चीजें कहीं नहीं हैं और जहाँ तक बन पड़े इन शब्दो का प्रयोग न करना ही अच्छा है।

हो जाता है कि वह प्रस्तुत अन्तःसार अथवा सज्ञानात्मिका स्थिति के लक्ष्य तथा अनुभूतिकर्ता पुरुष के इतिहास की एक प्रक्रिया रूप मे परिलक्षित स्थिति के बीच विभेद करने की तीन बातों पर जोर दे: (१) संज्ञान की दशा स्वय अपना लक्ष्य कभी नही होती वह किसी ऐसे लक्ष्य का या तो निर्देश करती है या उसका सज्ञान प्राप्त करती है जो भौतिक घटना के रूप मे उसके अपने अस्तित्व से बिलकुल विलग होता है। यह वह सत्य है जिसे तोड-मरोड कर यथार्थवाद अपने इस मतव्य के रूप मे प्रस्तुत करता है कि ज्ञान के लक्ष्य की वास्तविकता अनुभूति से स्वतत्र होना आवश्यक है। (२) ज्ञान का लक्ष्य कभी भी ऐसी मानसिक स्थिति के घटन के कारण सृष्ट नही हुआ करता, जिसमे कोई विशिष्ट प्रेक्षक उसके अस्तित्व से अवगत हो उठता हो । यह बात केवल विचारात्मक लक्ष्यों के विषय मे उतनी ही लागू होती है जितनी कि मौलिक वस्तुओं के विषय मे। स्वाभाविक लघुगुणकों के तथा त्रिकोणमिति के वृत्तीय फलनों के गुण-धर्म मेरे बहिर्विषयक ज्ञान से उतने ही स्वतत्र है जितने कि उन वृक्षो और जीवों के गुण, जिन्हे यदि मै अपनी लिखने की मेज से जरा मुड़कर खिडकी के बाहर झाँक कर देखना चाहूँ तो देख सकता हूँ। (३) ज्ञान के लक्ष्य का हमेशा कोई न कोई स्वरूप हुआ करता है जिसका एक खड मात्र ही मेरे प्रेक्षण अथवा विमर्श के लिए, किसी सज्ञानात्मिका स्थिति मे प्रस्तुत हुआ करता है। प्रत्येक सज्ञानात्मिका स्थिति, जो कुछ उसमे मेरे लिए प्रत्यक्षत. अभिप्रेत है उससे कही बहुत अधिक अर्थ का या तो निर्देश करती है अथवा उसका प्रतिनिधित्व करती है।

(३) जैसा कि अवेनारियस ने बडी अच्छी तरह सिद्ध किया है व्यक्ति-निष्ठावादीय तर्काभास का मूल उद्गम, अपनी-अपनी अनुभूतियों को एक दूसरे तक पहुँचा सकने मे समर्थ बहुसख्यक प्रेक्षको के 'कर्ताभ्यन्तरिक संसर्ग' मे स्वय अपने आपसे ही मुझे सरोकार होता अथवा अपने पर्यावरण के प्रति मेरे अपने सबध का प्रश्न होता है, वहाँ तक इन दोनों के बारे मे व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति संभव ही नही होती। मेरी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय मे मुझे मानसिक दशाओं अथवा केवल सज्ञान लक्ष्यो से कोई मतलब नही रहता। मुझे तो उन वस्तुओ से ही काम पडता है जो अपनी अनुमितियो द्वारा अनेक प्रकार से मेरे विभिन्न प्रयोजनो की परिपूर्ति मे सहायता पहुँचाती अथवा बाधक होती है । इन वस्तुओं का इसीलिए ध्यान रखना होता है जिससे मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने के अपने तरीकों को उन वस्तुओं के व्यवहार तरीकों के अनुकूल बना सकूँ । अत. एकल अनुभूतिकर्तृ सत्ता के लिए जगद्विषयक स्वाभाविक दृष्टिकोण प्रकृत यथार्थवादी दृष्टिकोण ही होगा जिसके अनुसार मेरे पर्यावरण की निर्मात्री वस्तुएँ उसी अर्थ मे वास्तविक हैं जिस अर्थ मे मै स्वयं वास्तविक हूँ। लेकिन ज्यों ही मुझे अन्य प्रेक्षकों की अनुभूतियों की विवृत्ति लेनी पड़ती

है तभी ऐसा अपरिहार्य तर्काभास उठ खड़ा होता है जिसके दार्शनिक परिणाम अत्यन्त गंभीर होते हैं। जो वस्तुएँ मैं देखता हूँ वे वास्तविक वस्तुएँ है इस पूर्वानुमान पर चलने मे मुझे एक कठिनाई यह महसूस होती है कि उन्ही एकसी वस्तुओं का प्रेक्षण मेरे आस-पास के अन्य प्रेक्षक किस प्रकार कर सकते है। उदाहरण के तौर पर जिस सूर्य को मैं देखता हूँ यदि वह वास्तविक है तो जिस सूर्य का दर्शन किसी अन्य ने किया है वह कैसा है? इस प्रश्न की यह सही व्याख्या ढूँढ निकालने के वजाय कि सभी प्रेक्षक एक ही ऐसे पर्यावरण से सम्बद्ध है जो किसी एक प्रेक्षक की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने के लिए बाध्य नही अथवा अनुभूत्यर्थ प्रस्तुति से स्वतत्र है—मैं विलकुल स्वाभाविक तरीके से यह मान लेने की गलती कर बैठता हूँ कि दूसरे लोगो द्वारा प्रेक्षित वस्तुएँ मेरी प्रेक्षित वास्तविक वस्तुओं के प्रत्यय अथवा 'प्रत्यक्ष' है। वास्तविक वस्तुओ की इन प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक प्रतिलिपियों का पता मैं स्पष्ट कारणोवश, अपने साथी मानव प्रेक्षको अथवा परिग्राहको के अग सगठनों मे लगाया करता हूँ। इससे आगे वढकर मैं अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति उस सिद्धान्त के नियमो के अनुसार, जिसे मैने स्वय अपने साथी मानवो के मामले को सुलझाने के लिए गढा था, किया करता हूँ। और अनुमान करता हूँ कि मैं जिसका स्वय प्रेक्षण करता हूँ वह प्रत्यक्षो का अथवा प्रत्ययो का एक कुलक है जिसे मेरे आंगिक गठन मे सकल अनुभूतिवाह्य वास्तविकता ने उत्पन्न किया है। और तब इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना वहुत आसान हो जाता है कि जहाँ तक ज्ञात है वहाँ तक सभी ज्ञात और ज्ञेय वस्तुएँ किसी के सिर के प्रत्यय मात्र हैं। उनके अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही होती अथवा अन्य किसी का अस्तित्व नही होता। इस प्रकार इस तर्काभास के विकास का जिसका आरंभ अवेनारियस द्वारा अभिहित, अन्तर्निवेश से होता है—आखिरी कदम व्यक्तिनिष्ठावाद है। जैसा कि हम जान चुके है कि हमारे साथी मानवों का अस्तित्व अनुभूति का ऐसा प्रमुख तथ्य है जिसके द्वारा व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्त का तत्काल निराकरण हो जाता है और इस प्रकार अपनी अनुभूति का, हमारी अनुभूति की वास्तविकता के समान स्तर पर होना स्वीकार न कर सकना ही, व्यक्तिनिष्ठावादी तर्काभास का मूल स्रोत है।

(४) सत्य का जो कुछ तत्त्व विकृत रूप मे व्यक्तिनिष्ठावाद अपने मे सुरक्षित रखे है उसके वारे में बहुत कुछ नही कहना है। हम देख चुके है कि यथार्थवाद के विरुद्ध वास्तविक सत्ता की अनुभूति के साथ अविच्छेद्य एकता का निरूपण करने में व्यक्तिनिष्ठावाद सही रास्ते पर है यद्यपि वह इस सत्य स्थिति को मरोड कर अनर्गलता मे इस प्रकार परिणत कर देता है कि वह पहले तो अनुभूति को मेरी अपनी सीमित अपूर्ण अनुभूति का तदात्म वतलाता है और फिर स्वय उस अनुभूति की ही प्रकृति का झूठा मनोवैज्ञानिक भाषान्तरण प्रस्तुत करता है। कोई वास्तविकता किस

प्रकार एक ओर तो मेरी अनुभूति मे प्रस्तुत होने से स्वतंत्र हो सकती है और दूसरी ओर अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने स्वभाव और अस्तित्व के लिए अनुभूति पर निर्भर भी, यह बात पहले ही पर्याप्त मात्रा मे निर्दर्शित की जा चुकी है। लेकिन शायद हम इतना तो कह ही सकते है कि अनुभूति को मेरी अपनी अनुभूति का तदात्म मानने मे असली दार्शनिक सत्य का एक अन्त. स्तर जरूर अवस्थ है। हम अनेक बार जोर दे चुके है कि अभिव्यक्त रूप से मेरी अपनी अनुभूति मे उससे कही बहुत ज्यादा मौजूद रहता है जितना कि चैतन्य सज्ञान के लक्ष्य रूप मे किसी भी समय प्रस्तुत होता है। अथवा जैसा कि श्री ब्रैडले बडे शौक से कहा करते थे कि मेरे मन मे उससे कही अधिक सदा रहता है जो मेरे मन के सामने रहता है। किसी भी समय मे अपनी भावनाओं और प्रयोजनो की सपूर्ण प्रकृति से पूरी तरह से अवगत नही होता, इसीलिए मेरे अपने हृदय की छलपूर्णता धार्मिक आत्म-परीक्षा तथा ससारी प्रज्ञान की सामान्य पृष्ठ-भूमि बन गयी है।

इसके बाद यह भी है कि हमारी अपनी वास्तविक भावनाओं तथा प्रियजनों की अन्तर्दृष्टि की प्रत्येक वृद्धि के साथ उन अन्य भावुक सत्ताओं की भावनाओं और प्रयोजनों विषयक अन्तर्दृष्टि भी अन्तर्ग्रस्त होती है जिनके साथ सामाजिक ससर्ग का विविध प्रकार का सबध होता है।[१] अत औचित्यपूर्वक यह कहा जा सकता है कि आपके अपने अभिप्राय को जानने का तथा आप क्या चाहते है इसको पूरी तरह समझने का अन्तर्हित अर्थ यह है कि आप वास्तविकता के सकल ससार की रचना के पूर्ण अन्तर्द्रष्टा बने, तथ्यत यह कहिए कि आत्मज्ञान और विश्वज्ञान अन्ततोगत्वा एक ही वस्तु होनी चाहिए। अनुभूति के सकल जगत् की व्यवस्थित एकता सभवत: इतनी पूर्ण हो सकती है कि उसमे ऐसा कुछ कही भी मौजूद न हो जो उस जगत् के प्रत्येक अग के अथवा अनुभूति के किसी तत्त्व का प्रतिरूप न हो। लीबनिट्ज के मूलाणुओं की तरह, जगत् का प्रत्येक अग सकल व्यवस्था का प्रतिनिधित्व कर सकता है यद्यपि प्रत्येक की सगति का स्तर तथा दृष्टिकोण अत्यन्त भिन्न होगा। लेकिन इस प्रकार की कल्पना, यद्यपि व्यक्तिनिष्ठावाद के इस मत से कि वास्तविक सत्ताओ की व्यवस्था

---

१. सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि की अग्रगति में भी, जो पहली ही नजर में एक आपवादिक मामला मालूम होता है, यह बात सही है। उन समस्याओं के, जिनकी ओर आपके अपने बौद्धिक अनुसरण आपको ले जाते हैं, स्वरूप को जितना ही अधिक स्पष्ट रूप से आप देख पायेंगे, उतनी ही आप की अन्तर्दृष्टि उसी क्षेत्र में काम करने वाले अन्य व्यक्तियो की समस्याओं और प्रयोजनो के बारे मे स्पष्टतर होती जायेगी।

का अंगमूत जो कुछ भी हो वह किसी न किसी तरह मेरी व्यष्ट अनुभूति के अन्तर्भूत हो जाता है—सहमत होते हुए भी, अपने दावे के आधार के रूप मे, उसी भिन्नता को पेश करेगी, जो मेरी अनुभूति मे अन्तर्हित रूप से प्रस्तुत तथा उसके सामने स्पष्ट रूप से मौजूद के बीच हुआ करती है तथा व्यक्तिनिष्ठावाद जिसकी उपेक्षा लगातार किया करता है। इस प्रकार पुन प्रस्थापित यह सिद्धान्त एक आकर्षक सम्भाव्यता से भी अधिक किसी बडे रूप मे निरूपित हो सकता है या नही इस वात का निर्णय हम तव ले सकेंगे जब हम अपने अगले अध्याय मे वास्तविकता की व्यवस्थित एकता का विवेचन करेंगे।

अधिक ज्ञानार्थ देखिए —ए० एच्० ब्रैडले कृत 'अपीयरेंस एण्ड रीयलिटी' अध्याय—१३ १४; टी० केस लिखित 'फिज़िकल रीयलिज्म' भाग १; एल्० टी० हावहाउस की 'थियरी ऑफ नौलेज' भाग ३, अध्याय ३, दि 'कासेप्शन ऑफ एक्सटर्नल रीयलिटी'; एच० लोत्जे की 'मेटाफिजिक्स' पुस्तक १ अध्याय ७ (पृ० २०७–२३१ खण्ड १ अंग्रेज़ी संस्करण); जे० एस० मैकेंजी की 'आउटलाइस ऑफ मेटाफिजिक्स' पु० १ अध्याय ३ 'थियरीज़ ऑफ मेटाफिजिक्स'; जे० रॉयस कृत० 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल,' फर्स्ट सीरीज़ (लेक्चर्स ऑन दि फर्स्ट कासेप्शन ऑफ वीइग)।

अध्याय २

वास्तविकता की व्यवस्थित एकता

१—अतिमेत्थ रूप मे वास्तविकता केवल एक है अथवा अनेक यह समस्या अनिवार्य रूप से हमारे सामने, जगत् सम्बन्धी हमारी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के विविध रूपो द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस समस्या के अपने-अपने प्रकार के समाधान के अनुसार ही विभिन्न सिद्धान्तो का एकवादी, बहुतवादी अथवा एकाणुवादी नामों से वर्गीकरण। २—बहुतवाद मानव आत्माओं की पारस्परिक स्वतत्रता के अनुमानित तथ्य को लेकर ही चलता है और बतलाता है कि एक दूसरे से इस प्रकार की स्वतत्रता सकल वास्तविक सत्ताओ में भी प्राप्त होती है। लेकिन (अ) अनुभूतिदन स्वतत्रता कभी भी पूर्ण नही हुआ करती न 'आत्मा' की सयुक्ति अथवा एकता ही परिपूर्ण। (ब) ज्ञान और कर्म मे ही पूर्वानुमित रूप वाली सकल वास्तविकता के व्यवस्थित स्वरूप के साथ इस सिद्धान्त की सगति नही बैठती। ३—एकाणुवाद के अनुसार भी वास्तविक की एकता को या तो माया मानता है या अव्याख्येय दुर्घटना। ४—वास्तविकता चूंकि व्यवस्थित होती है अतः वे वैविध्याभ्यन्तर तथा वैविध्य मध्यागत एकमात्र प्रमुख नियम की अभिव्यक्ति वह अवश्य होगी। एकता और वैविध्य दोनो ही अवश्य वास्तविक होने चाहिए और दोनो ही एक दूसरे मे ओतप्रोत भी जरूर होने चाहिए। ५—यदि दोनो को एक समान वास्तविक होना है तो समग्र व्यवस्था का एक अनुभूति होना भी जरूरी है और उसका गठन भी अनुभूतियो द्वारा ही हुआ होना चाहिए। कोई परिपूर्ण व्यवस्थित समग्र न तो कोई समष्टि ही हो सकती है न भागों से बना कोई यांत्रिक समग्र न शारीर-गठन। भागो के लिए समग्र का अस्तित्व आवश्यक है और समग्र के लिए भागो का। ६—इसी बात को यो कह कर भी व्यक्त किया जा सकता है कि वास्तविकता वह विषय है जो अधीन विषयो की एकता का विषय है अथवा वह ऐसी व्यष्टि है, जिसकी गठक अथवा घटक—लघुतर व्यष्टियाँ है। ७—इस प्रकार के व्यवस्थित समग्र का निकटतम परिचित अनुरूप, हमारे समग्र 'आत्म' तथा आशिक मानसतत्रो या लघुतर 'आत्मो' के बीच का सबध ही है। ८—इस मत का निकटतम ऐतिहासिक समान्तर स्पिनोजा के मानवमन और 'ईश्वर की अनन्त बुद्धि' के पारस्परिक सबध विषयक सिद्धान्त मे पाया जा सकता है।

१—एक और अनेक की समस्या उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वय दर्शनशास्त्र। उसका जन्म उन बहुत ही सीधे-सादे और प्राचीनतम प्रयत्नो से हुआ है जो इस विश्वरगमच के, जहाँ अपनी-अपनी भूमिका हम भी प्रस्तुत करते है, स्वरूप के विषय मे, सगत रूप से विचार करने के लिए किये जाते रहे है। एक ओर जहाँ हमारी अनुभूति मे तद्विषयक विमर्श प्रारभ करते ही शुरू शुरू मे टुकडो की शक्ल मे ही प्राप्त होती है, कम-बढ रूप से स्वतत्र-सी वस्तुओ की अनन्त बहुलता प्रतीत होती है और उनमे से प्रत्येक वस्तु का अपना अलग रास्ता और अलग चलन होता है। अपने सर्वोत्तम रूप मे वह हमारे पर्यावरण के अन्य सदस्यो मे से कुछ थोडे से सदस्यो से ही सबद्ध होती है। उदाहरण के लिए किसी एक आदमी की वृत्ति का उसके समकालीन बहुतेरे व्यक्तियो की वृत्तियो से अगर उसके पूर्वगामी तथा दाये-बायें आने वाले लोगो की फौज को छोड दिया जाय—इस जीवन सग्राम मे कोई सम्बन्ध नही होता। इसी प्रकार पहली नजर मे ही एक निर्जीव वस्तु का व्यवहार उसके आसपास की बहुत-सी वस्तुओ मे से अधिकाश के व्यवहार से अप्रभावित ही दिखायी पडेगा। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि यह ससार ऐसी असख्य और अनन्त सत्ताओ से मिलकर बना है जो एक ही रगमच के नाटक-पात्र रूप मे अपनी-अपनी भूमिका प्रस्तुत करने के लिए इकट्ठे हो गये है लेकिन जिनमे से ज्यादातर पात्रो का एक दूसरे की भूमिका पर कोई प्रभाव नही है।

किन्तु दूसरी ओर भी इतने ही सशक्त और स्पष्ट कारण इस जगत् को एक सकल एकता मानने के लिए मौजूद है। वस्तुओ की सरचना को भीतर से देख सकने वाली हमारी सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि मे ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है त्यो-त्यो ही उन वस्तुओ और प्रक्रियाओ के, जो पहले असबद्ध लगती थी, गहरे पारस्परिक सबध को पहचानने की हमारी शक्ति भी बढती जाती है। भौतिक विज्ञान मे भी ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है त्यो-त्यो वह प्रकृति को, अन्तसम्बद्ध घटनाओ के ऐसे साम्राज्य के रूप मे जहाँ कोई-सा भी तथ्य अन्ततोगत्वा किसी भी अन्य तथ्य से एकदम स्वतत्र नही हुआ करता, देखने को अधिकाधिक अभ्यस्त होता जाता है। राजनीति का अनुभव तथा समाजविज्ञान भी समान रूप से, मानव जीवनो तथा उनके प्रयोजनो की गहरी अन्तर्निर्भरता ही प्रकट करते है। अनुभवजात उन निर्धारित तथ्यो से जो ससार की अस्तिमेत्थ एकता का निर्देश करते है—कही बहुत आगे बढा हुआ एक अन्त शक्त प्रभाव और भी है जिसे हम जगत् की एकता का विश्वास दिलाने वाला "निसर्गवृत्तिक" आधार कह सकते है। मेरा पर्यावरण चाहे जितना विच्छिन्न क्यो न लगता हो लेकिन वह एक असबद्ध बहुलता मात्र किसी तरह भी नही है। चूंकि यह पर्यावरण लगातार मेरा ही पर्यावरण रहता है और इसीलिए उन

लक्ष्यों का सापेक्ष होता है जिनसे मेरा अवधान निर्धारित होता है अत. यह परिस्थिति ही स्वय उसे एक ससक्त तत्र में परिणत कर देती है। दार्शनिक विमर्श की नीची से नीची सीढी पर भी हम अपने इस विश्व को सिद्धान्तत एक जान लेने से सदा के लिए कभी भी ठीक इस लिए नही चूक सकते क्योकि वह हमारा विश्व है और हम स्वय किसी न किसी अश तक स्थिर और व्यवस्थित प्रयोजनो वाली व्यक्तियाँ या सत्ताएँ है न कि असम्वद्ध और परस्पर विरोधी आवेगो के गट्ठर मात्र, लेकिन फिर भी यह हमारे अपने हितो का सीमावन्धन ही है जिसके कारण तथा उन हितो के पूर्ण आशय को समझ सकने वाली स्पष्ट अन्तर्दृष्टि की कमी के कारण भी हमे कभी-कभी अपनी इस दुनिया में आभासी असम्बद्ध वहुलता और ससक्ति का अभाव दिखाई पडने लगता है।

आनुभूतिक विश्व सम्वन्धी इन दोनो प्रतिद्वन्द्वी पक्षो से काम लेने की इस दार्शनिक समस्या का रूप तव यह हो जाता है कि उन दोनो पक्षो मे से किसे सत्य मानकर दूसरे को उससे कैसे अलहदा रखा जाये। और अगर दोनो मे से एक भी समग्र सत्य नही तो फिर हमे अपने से प्रश्न करना होगा कि यह विश्व एक ही साथ एक और अनेक क्यो कर हो सकता है और कैसे एक ही वास्तविकता के दोनो रूपों की जिनसे एक व्यवस्थित अथवा व्यवस्थावद्ध एकतापरक और दूसरा अनिश्चित विविधतापरक—परस्पर सगति वैठायी जा सकती है। हमे पूछना होगा कि क्या वास्तविकता एक है अथवा अनेक और अगर वह दोनो ही है तो एकता और वहुलता दोनो एक दूसरे से किस प्रकार सवद्ध है?

विभिन्न दार्शनिक शास्त्रो ने इन प्रश्नो के जो उत्तर दिये है वे सुविधा की दृष्टि से तीन सामान्य कोटियो मे श्रेणीवद्ध किए जा सकते है। पहला है (१) एकतावादी या एकवादी मत जिसका सवसे ज्यादा जोर वास्तविक के एकत्व पर है। वह उसके वहुलतापरक तथा विविधतापरक पक्षो को भ्रामक अथवा कम से कम, गौण महत्त्व का मानता है। (२) दूसरे है वहुलतावाद के विभिन्न रूप जिनके अनुसार वास्तविक सत्ताओ या व्यक्तियो की वहुलता तथा विविधता मौलिक तथ्य है और उनकी व्यवस्थागत एकता या तो भ्रान्ति है या उनकी प्रकृति का एक अधीन पहलू। तीसरा है (३) एकाणुवादी मत जिसका उद्देश्य है 'एकाणुओ' अथवा वास्तव मे स्वतत्र वस्तुओ की वहुलता को ही ससार का प्रतिरूप मानकर एकतावादी और वहुलतावादी की स्थितियो को समेल और एकसार वनाना। ये एकाणु ही किसी प्रकार वाह्य शक्ति द्वारा एक दूसरे से मिलाये जाकर व्यवस्थावद्ध हो जाते है और ससार का रूप धारण कर लेते है। इस अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार वहुलता तथा व्यवस्थागत एकत्व दोनो ही समान रूप से वास्तविक और इस विश्व को समझने के लिए एक समान ही महत्त्वपूर्ण

हैं लेकिन दोनों का मूल भिन्न-भिन्न है। बहुलता स्वयं वस्तुओं में ही अन्तर्हित होती है, पर एकत्व उनमें बाह्य होता है और किसी बाह्य स्रोत से ही उन्हें प्राप्त होता है। सिद्धान्त के इन तीनों प्रमुख रूपों में से प्रत्येक रूप में निश्चय ही, वास्तविक के विशिष्ट स्वरूप के बारे में अधिकतम विचार वैभिन्न्य की काफी गुंजाइश है। एकतावादी विचारधारा हो सकता है, पार्मेनिडीज़ के समान जिसके कथनानुसार यह विश्व एक सकल समांग ठोस गोला है, शुद्ध भौतिकतावादी हो अथवा शोपेनहॉवर की तरह 'आदर्शवादी' अथवा वह मन और द्रव्य को सर्व सामान्य वास्तविकता का एक 'पक्ष' या 'पहलू' भी मान सकता है। इनके अतिरिक्त कोई बहुलतावादी अथवा कोई एकाणुवादी अपनी-अपनी स्वतंत्र वास्तविक वस्तुओं में से हर एक को भौतिक परमाणु मान सकता है या किसी भी संगठनात्मक की आत्मा अथवा आजकल की विचारधारा के समकालीन चलन के अनुसार वह उसे एक व्यक्ति ही मान ले सकता है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के इस प्रकार के वर्गीकरण तथा विगत अध्याय के वर्गीकरण के पारस्परिक संबंध के विषय में मुझे यहाँ इतना ही कहना है कि जहाँ एकतावादी का आदर्शवादी होना आवश्यक नहीं है वहाँ समझा जाना चाहिए। क्योंकि विविध वास्तविक वस्तुओं की पारस्परिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व तब तक नहीं रह सकता जब तक कि वह उन वस्तुओं की अनुभूति से स्वतंत्रता अथवा अनुभूतिबाह्यता को भी अपने में शामिल न कर ले। मान लीजिए कि 'अ' और 'ब' एकदम आत्मनिर्भर या स्वतंत्र दो वस्तुएँ हैं। तब 'अ' का अस्तित्व और स्वरूप 'ब' की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने से स्वतंत्र अवश्य ही है। 'अ' इसी तरह 'स' की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने से भी स्वतंत्र है अथवा दुनिया की अन्य किसी भी वस्तु से, सिवाय अपने के, भी वह इसी तरह स्वतंत्र है। और हम यह भी जान चुके हैं कि किसी भी परिमित प्रेक्षक या परिग्राहक की प्रवृत्ति में सदा ही उससे कहीं अधिक मौजूद रहा करता है जितना कि उसमें से उसकी अपनी अनुभूति के लिए प्रस्तुत हो सकता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा 'अ' का अस्तित्व और उसके गुण सभी अनुभूति से, जिसमें स्वयं 'अ' की भी अनुभूति शामिल है,[१] स्वतंत्र जरूर होना चाहिए। इस कारणवश मैं यही समझ सकता हूँ कि

१. 'इस बात ने लीबिनिट्ज़ को भी प्रभावित किया था। इस विचारतंत्र का यह बहुश आलोचित मत है कि प्रत्येक एकाणु अथवा सरल वास्तविक वस्तु अपनी आन्तरिक स्थितियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का प्रेक्षण या परिग्रहण नहीं करती। ऐसी कोई 'खिड़कियाँ' नहीं होतीं जिनसे होकर एक एकाणु दूसरे एकाणु की दशाओं या स्थितियों को देख सके। यह सिद्ध करना आसान है कि विभिन्न एकाणुओं के बीच के आभासी संचार की बात का जवाब देने के लिए इस

बहुलतावाद को यह प्रतिपादित करके कि विश्व बहुसंख्यक और आत्मनिर्भर अथवा स्वतंत्र 'आत्माओं' या 'व्यक्तियों' से मिलकर बना है, आदर्शवाद के साथ संयुक्त करने के प्रयत्न विचारों की गड़बड़ी पर ही निर्भर है। ये सिद्धान्त उनकी अन्तर्भावना को देखते हुए सारतः यथार्थवादी ही प्रतीत होते है।

२—सबसे पहले ऐसे मतों का जो सिद्धान्ततः भ्रान्त प्रतीत होते हैं, परित्याग करके या बहिष्कार करके ही हम एक और अनेक विषयक अपने मत या सिद्धान्त का सुविधापूर्वक निर्माण करने का प्रयत्न कर सकते है तथा इसी तरह धीरे-धीरे अपनी वृत्त-रेखा को सँकरा करते जा सकते है। मजबूर होकर मुझे इन भ्रान्त धारणाओं मे संगत और पूर्ण बहुलतावाद के सभी रूपों को भी गिनना पड़ रहा है। जहाँ तक मैं जान सका हूँ बहुलतावाद का आरंभ ही, उन तथ्यो के मिथ्या ज्ञान से होता है जिनको वह अपनी आधार-भूमि कहता है और उसकी समाप्ति उन तथ्यों की उसके द्वारा की गयी ऐसी व्याख्या से होती है जो सारतः अयुक्तिक है। समग्र अनुभूति के अन्तिमेत्य दत्त के रूप मे जिस मौलिक तथ्य को लेकर बहुलतावाद चलता है वह एक सुपरिचित तथ्य है और वह यह कि इस जगत् मे मेरे अतिरिक्त और भी आदमी है। मेरी दुनिया कोई रंगमंच ही तो नही है जिसपर मैं अपने उद्देश्यो को कार्य रूप मे परिणत किया करता हूँ या अपनी जरूरतें पूरी किया करता हूँ। उसमे ऐसे भी स्वार्थ या हित है जो मेरे नही है और जिनके प्रति मुझे अपने आपको इसलिए अनुकूल बनाना आवश्यक है कि जिससे मैं खुद अपने प्रयोजनों की प्राप्ति कर सकूँ। इस प्रकार इस विश्व मे मेरे अपने मानस के अतिरिक्त दूसरे मानस अथवा अन्य मन भी है तथा जिस कारण वे मानस 'अन्य' कहलाते है वह यह है कि जिन प्रयोजनो तथा हितो या अभिरुचियो द्वारा उन मानसो के जीवन निर्धारित होते है, वैसे ही जैसे कि मेरा मन का जीवन निर्धारित होता है, वे अद्वितीय और असचार्य हुआ करते है। इस प्रकार वर्णित तथ्यो को, विश्व की हमारी कल्पना के लिए नमूने के रूप मे ग्रहण करने का ही अनुरोध बहुलतावाद किया करता है। बहुलतावाद के वास्तविकता संबंधी विचार जिस साँचे मे ढाले गये है वह ऐसे समुदाय का है जो बहुत-से या बहुसंख्यक ऐसे स्व या व्यक्तियों से मिलकर बना है, जिनके अपने-अपने अनन्य अथवा

सिद्धांत का आसरा लेने से अत्यन्त दूरानीत और हवाई प्राक्कल्पनाएँ पैदा हो जाती हैं। लेकिन यह सिद्ध करना आसान नहीं कि बहुलतावाद इसके बिना भी काम चला सकता है। विशेषतः देखिए लीबिनिट्ज की पुस्तक 'न्यू सिस्टम ऑफ दि नेचर आफ सब्स्टेन्सेज' (वर्क्स, सं० एडीमेन, एडि० जहार्ट, अंग्रेजी अनुवाद लोट्टा की पुस्तक 'लीबिनिट्ज, दि मोनाडोलाजी' आदि पृष्ठ २९७ विशेषतः अनुच्छेद १३–१७ तथा मोनाडोलाजी ७–९, ५१

अद्वितीय हित है, और इसीलिए जिनमे से हर एक-एक ही समय है अन्त सरल, अविभाज्य तथा सभी से अनन्य। अपनी चरम वास्तविकताओ का चाहे जिन विशिष्ट रूपो मे, वहुलतावादी ध्यान करे—चाहे सरल और भौतिक रूप से अविभाज्य कणो की शक्ल मे या गणितीय विन्दुओ के रूप मे अथवा सवेदनशील सत्ता के रूप मे, लेकिन आखीर मे जाकर उसे मानव के सामाजिक जीवन के उन तथ्यो से ही जिनकी कल्पना वह उपर्युक्त अति-व्यक्तिनिष्ठ तरीके से किया करता है—उनकी सरलता और पारस्परिक विकर्षण का स्रोत पाता है ।

किन्तु (अ) तथ्य स्वय ही ठीक तरह से प्रतिपादित नही किये गये। मानवीय अनुभूतियाँ, जिनपर वहुलतावादी अपने निष्कर्ष के लिए निर्भर होता है, उसके मन्तव्य की सिद्धि के लिए एक ही साथ, अत्यन्त अतिशय और अत्यन्त न्यून एकत्व प्रस्तुत करती है। तो समाज को गठित करने वाले सत्व अथवा व्यक्ति स्वय ही सरल अव्यतिरिक्त एकत्व नही होते। ठीक जिस तरह आपके और मेरे हित अक्सर भिड जा सकते है, उसी तरह मेरे अपने व्यक्तित्व मे भी, जिसे वहुलतावादी पहले से ही एक अविभाज्य इकाई मान लेता है, इसी तरह की भिडन्त हो सकती है । जिन्हे मैं 'स्वय अपने हित या अभिरुचियाँ' अथवा मेरे अपने 'सप्रत्यक्षीय निकाय' अथवा 'विचार सरणि या विचारो की शृखला" कहा करता हूँ उन मे भी उसी प्रकार की असयोज्यता और प्रवरता के लिए उसी प्रकार का सघर्ष पाया जा सकता है जिस तरह का कि तव दिखायी पडता है जव आपके विचार मेरे विचारो से टकराते है। इस प्रकार नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान को मेरे सच्चे 'स्व' या 'आत्म' तथा मेरे झूठे आत्मो या स्वो के वीच विभेद करना पडता है। ये झूठे आत्म कभी-कभी मेरे सच्चे आत्म को दवा लेते हैं । इसी प्रकार उसे मेरे 'उच्चतर' आत्म तथा उन 'नीचतर' आत्मो मे भी विभेद करना होता है जिन्हे नैतिकतार्थ दवाना जरूरी होता है। उन्हे मेरे स्थायी 'आत्म' तथा मेरे उन अस्थायी हितो का विभेद भी करना होता है जो मेरे 'स्थायी' आत्म पर प्राय आक्रान्त हो जाते है। इनके अतिरिक्त 'अवसीमीय' चेतना और 'द्वैध' अथवा 'प्रत्यावर्ती व्यक्तित्व' की तो वात ही न पूछिए। 'आत्म' एक इकाई मात्र होने से तो इतना दूर है कि उसकी अन्तर्वस्तुओ की विविधता और उनकी पारस्परिक असयोजनीयता दैनिक अनुभव की वस्तु वन गयी है ।[1]

---

१. इस विषय के अभी हाल मे किये गये विवेचन के लिए देखिए श्री व्रैडले का, जुलाई १९०२ के 'माइण्ड' नामक पत्र मे प्रकाशित 'मेण्टल कन्फ्लिक्ट एण्ड इम्प्यूटेशन' शीर्षक लेख जिसमे इस मत का संकल्प तथा नैतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर प्रभाव वतलाया गया है। मनोविज्ञान का ऐसा कोई भाग शेष नहीं है जिसे भोडे तथ्यो के अनुचित अति-सरलीकरण के कारण इससे अधिक हानि पहुँची हो ।

बहुलतावाद इस बात को शायद बाचा मान भी ले, और कई बार उसने माना भी है। हमे बताया जाता है कि बहुलतावादी की इकाइयाँ विविधता से शून्य विविधताएँ मात्र नही होती अपितु वे ऐसे समग्र होती हैं जो भिन्नताओ का सयोग होते है। लेकिन इस बात को मान लेना बहुलतावादी के तलवो-तले की जमीन हटा लेने जैसा है। आत्म के तत्वो के वैविध्य और उनके पारस्परिक सघर्ष से ही यदि उसकी एकता नष्ट नही होती तो हेतु साम्यानुमान द्वारा विश्व के आत्मों की बहुलता तथा उनके पारस्परिक विकर्षणो से ही यह सिद्ध नही होता कि अपने अगोपांगो की बहुलता के रहते होने पर भी वास्तविकता का साकल्य हमारी अनुभूतियों का आशिक प्राप्य एकत्वो की अपेक्षा कही अधिक पूर्णएकता है। तथ्य तो यह है कि बहुलतावादी को निम्नलिखित समस्या का समाधान करना होता है । या तो उसकी इकाइयाँ ऐसी इकाइयाँ मात्र है जिनमे कोई आन्तरिक वैविध्य नही होता और तब यह सिद्ध करना ही असामान्य होगा कि वे इकाइयाँ केवलातिकेवल अवस्तुएँ है अथवा उनकी अन्तर्भूत। न स्वय अपनी विविधता मौजूद है जिससे वे उन समस्याओं की, जिनका समाधान करना उनका कर्त्तव्य समझा जाता है, पुनरावृत्ति-सी करती प्रतीत होती है।

दूसरी ओर, आनुभूतिक तथ्यों से जिस प्रकार अनुमानित इकाइयो के आभ्यन्तर सघर्ष और विकर्षण का पता चलता है उसी प्रकार विभिन्न इकाइयो के बीच के पारस्परिक अपवर्जन के सिवाय अन्य सबवो का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए मानव के व्यक्तिगत हित कभी भी परस्पर-अपवर्जक मात्र नही होते। किसी भी समाज में ऐसे ही व्यक्ति नही रहते जिनके हित और प्रयोजन केवल अन्योन्यतः प्रतिकर्षी हों। मेरे उद्देश्य और प्रयोजन सभवतः कभी भी समुदाय के अन्य सदस्यों के उद्देश्यो और प्रयोजनो के एकदम या पूर्ण सपाती भले ही न हो सके, तो भी उनका कोई अर्थ ही न रहे और न उनकी सिद्धि ही हो सके अगर वे सामाजिक हितों और प्रयोजनो के उस बृहत्तर समग्र के भाग न हों जो उन सामाजिक सगठनो को जिनका मैं एक सदस्य हूँ, जीवन प्रदान करता है। यदि एक दूसरे के अनुकरण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के तरीके के बारे में किये गये मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान के परिणाम की बाबत कुछ न भी कहा जाय तो भी 'समाज' और 'समुदाय' जैसे शब्दो की व्युत्पत्ति मात्र से ही पता चलता है कि मानव आत्म ऐसी स्वतंत्र या स्वच्छन्द इकाइयाँ हैं जो किसी तरह आकस्मिक अथवा बाह्य बन्धन मे बँधी एकत्र खड़ी है, किन्तु मानव आत्मो की इस प्रकार की कल्पना हमारे समाज के अत्यन्त आधारभूत अनुभव के एकदम विरुद्ध है। तथ्य का व्यवस्थित अविलघन करके वैयक्तिक अथवा व्यष्ट और सामाजिक या समष्ट जीवन को बहुलतावादी प्राक्कल्पनाओ का समर्थक बनाया जा सकता है।

(ब) तथ्यों विषयक बहुलतावादी विवरण यदि हम स्वीकार भी कर लें तो

उन्हे सिद्ध करने के लिए जो सिद्धान्त बहुलतावादी हमारे सामने प्रस्तुत करता है वह अन्ततोगत्वा बोधगम्य नही रहता। जान-बूझ कर हो चाहे अनबूझे, बहुलतावाद जो कुछ करता है वह इतना ही कि वह विश्व के एकत्व को उसकी बहुलता से विलग कर देता है। वह बहुलता को तो स्वय वास्तविक वस्तुओं की चरम प्रकृति मे ही ओत-प्रोत मानता है किन्तु एकत्व को एक व्यवस्था के रूप मे, यदि वे वास्तव मे एक व्यवस्था रूप हो तो उन पर बाहर से थोपी गयी वस्तु मानता है। अत. हमारे सामने दो ही वैकल्पिक मार्ग रह जाते हैं। एक यह कि इस विश्व को हम एक व्यवस्थित समग्र बिलकुल ही न मानें बल्कि उसे एकदम स्वतत्र परमाणुओं का एक संघट्ट या दुर्व्यवस्थित रूपमात्र समझें तब उस हालत मे हमारा सब सोचा-विचारा, ज्ञान के लक्ष्य की व्यवस्थागत एकता के अपने अपरिहार्य पूर्वानुमान सहित एक भ्रान्ति मात्र प्रतीत होगा अथवा अगर विश्व वास्तव मे एक व्यवस्था या क्रम माना जाय तो, कहना होगा कि वह दुर्घटनावश या अकस्मात ही व्यवस्था या क्रम बन गया है। जिन वस्तुओ से यह व्यवस्था बनी है वे अनासक्त पृथक इकाइयो के रूप मे वास्तविक है लेकिन किसी सुभग घटनावश एक बाह्य तृतीयक (उदाहरण के लिए ईश्वर) के साथ उन सबका कुछ अन्योन्य सम्बन्ध पैदा हो गया लगता है और इस सबध के कारण वे एक क्रम के रूप मे सयुक्त हो गयी है और इसीलिए एक परस्पर सबद्ध समग्र के रूप मे ज्ञेय भी।

अब अगर हम बौद्धिक रूप से अन्तर्भावनाशील है तो कभी भी इस तरह के कथन से सतुष्ट नही रह सकते क्योकि वह वास्तविक ससार की बहुलता और क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित एकता की बात को एक साथ ही प्रस्तुत करके उन्हे दो स्वतत्र असम्बद्ध तथ्यो की शक्ल मे पेश करता है। अगर विश्व की अन्तर्वस्तु से वास्तव मे किसी तरह भी किसी प्रकार का कोई क्रम निर्मित करती है तो वह एक क्रम ही स्वय, अन्य तथ्यो के बीच एक ऐसा मुख्य तथ्य है जिसे तत्त्वमीमासा के गभीर सिद्धान्तो को मान्यता देनी ही होगी और उसके विषय मे कोई बोधगम्य विवेचन भी। उदाहरणार्थ मान लीजिए आप कुछ बहुलतावादियो के साथ मिलकर कहे कि यह विश्व ऐसे अनेक स्वतत्र व्यक्तियो अथवा आत्माओ से मिल कर बना है जो अनेक होने के बावजूद एक सम्बद्ध व्यवस्था या क्रम की 'नैतिक बादशाहत या राज्य' की रचना इस तथ्य के कारण करते हैं कि उन्हे अपना नैतिक आदर्श ईश्वर मे, जो उन आत्माओ मे सबसे अधिक पूर्ण है, देखने को मिलता है। अब आप के सामने स्वतत्र आत्माओ की बहुलता का ही एक चरम तथ्य नही रहता बल्कि दो तथ्यो का आपको सामना करना पडता है, एक तो उपर्युक्त बहुलता का और दूसरे तदन्तर्भूत प्रत्येक तत्त्व के ईश्वर के साथ सबध का। जब तक आप इन द्वितीय तथ्य को 'अन्तिमेस्य अव्याख्येयता' अथवा सुभग घटना मानने को तैयार नही होते तब तक आप बाध्य हैं आत्मो के ईश्वर के साथ

व्यवस्थित सम्बन्ध को और ईश्वर के द्वारा उसमे से एक दूसरे के साथ के संबंध को भी, उनकी चरम प्रकृति का उतना ही भाग मानने के लिए जितना कि आप उनके पारस्परिक विभेद को मानते है। उनकी पृथकता और स्वतन्त्रता, इस प्रकार आपके लिए अब अन्तिमेत्थ सत्य नही रहती, आपके कथनानुसार वे उतने ही सच्चे रूप मे एक हैं जितने सही कि वे अनेक। उनका व्यवस्थात्मक सयोग उनकी अपनी प्रकृति से अमेल, कोई बाहरी संबंध तब नही रहता बल्कि वह स्वयं प्रकृति के ही विषय का गहनतम सत्य बन जाता है।

इस तर्कना के सार को दुबारा दूसरी शक्ल मे पेश करना चाहता हूँ। किसी भी प्रकार के बहुलतावाद को अगर वह असली है, तो इतना दृढप्रतिज्ञ होना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्र वास्तविकताओ के अन्त सम्बन्ध को मानव मन की भ्रान्ति मानने का ख्याल ही मन से निकाल दे। लेकिन ऐसा करते समय सगतता के ख्याल से उसे उनके आपस मे एक दूसरे की दशाओ के अन्यान्य ज्ञान की सभावना से भी इनकार करना होगा। प्रत्येक वास्तविक वस्तु तब निश्चय ही अपने ही आन्तरिक अन्तसार के वन्दवृत्त मे कैद एक छोटा-सा अपना संसार होगी। इस प्रकार यदि मैं भी अपने आपको बहुलतावादी योजना की वास्तविक वस्तुओं मे से एक मान लूं तो मेरे पास उसे सत्य जानने का कोई साधन नही रह जायगा। दार्शनिक सिद्धान्त की परीक्षा के लिए श्री ब्रैडले के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न के सामने ठहरने मे बहुलतावाद असमर्थ है। वह प्रश्न है 'क्या इस सिद्धान्त की सत्यता, उस तथ्य से जिसमे जानता हूँ कि वह सही है, संगत है?' बहुलतावाद की बहुव्यापी अनवरत जनप्रियता का कारण यह है कि तत्त्वमीमांसा दर्शन मे विशुद्धत दार्शनिक हितों से अतिरिक्त अन्य बहुत से हित घुस पड़े है। उसका मडल एक संगत मतव्य रूप में उसके अपने दार्शनिक गुणो के कारण नही किया जाता बल्कि इसलिए कि उसके नैतिकता और धर्म के कुछ हितो का सरक्षक होने का दावा उसके कुछ अनुयायी करते है। हमे बताया जाता है कि वह हमे एक वास्तविक ईश्वर और वास्तविक नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है लेकिन इस प्रश्न को छोड़कर कि क्या निष्पक्ष परीक्षा द्वारा इस सिद्धान्त के ये दावे[1] सही भी साबित होते है या नही, किसी

---

१. जैसा कि पाठक को विगत विवेचन द्वारा स्पष्ट हो गया होगा कि मै स्वयं उन्हे तर्कसगत मानने को तैयार नहीं। इसके विपरीत मुझे यह कहना चाहिए कि बहुलतावाद को चाहिए कि वह अनीश्वरवादिता की ओर मुंह करे और अपेकाकतालीय न्याय के सिद्धान्त को ही समग्र वस्तुओं का भाग्य विधाता माने। इस बारे में जुलाई सन् १९०२ के माइण्ड में पृष्ठ ३१३ पर उल्लिखित श्री ब्रैडले के जोरदार विरोध से पूरी तरह सहमत होना पसन्द करूँगा साथ ही साथ

तत्त्वमीमासीय विवेचन मे उनको जरा-सा भी स्थान दिए जाने का हमे जोरदार विरोध करना चाहिए । तत्त्वमीमासा शुरू से आखीर तक एक परिकल्पनात्मक कार्यवाही है। उसका एक ही काम है। वास्तविकता की रचना के विषय मे तर्कसगत विचार करना और जिन हितो के विषय मे ही विचार करने का उसे अधिकार है वे है सगत तार्किक विचार के हित। यदि नैतिक तथा धार्मिक समस्याओ सम्बन्धी सगत तार्किक विमर्श मे 'वास्तविक ईश्वर' तथा 'वास्तविक स्वातत्र्य' की मान्यता का भी समावेश है और यदि यह सब केवल बहुलतावादी सिद्धान्त द्वारा ही सभव हो तो सगत विचार की प्रक्रिया द्वारा ही हम अन्त मे जाकर अवश्य ही बहुलतावादी नतीजे पर ही जा पहुँचेंगे इसलिए तर्कबाह्य हितो की दुहाई इस काम के लिए देते फिरना बेकार ही है। लेकिन अगर उन लोगो की, जो बहुलतावाद की हिमायत इस आधार पर करते है कि वह हमे 'सच्चा ईश्वर या वास्तविक ईश्वर' और 'वास्तविक स्वतत्रता' देता है, मशा यह हो कि इस प्रकार के मतव्य, उन प्रश्नो के बौद्धिक औचित्य के अतिरिक्त इसलिए भी समर्थित किये जायें कि उनके बिना कुछ लोग कही कम नीतिशास्त्रानुसारी, कम सुखी न रह जायँ तो हमे ऐसे लोगो को जवाब देना होगा कि हमे नैतिकता सिखाना अथवा सुखी बनाना तत्त्वमीमासा का काम बिलकुल भी नही है। किसी मन्तव्य की सत्यता का प्रमाण यह नही हुआ करता कि वह मेरे सद्‌गुण बढाता है या मुझे अधिक सुखी बनाता है, न उन गुणो या सुख मे कमी आना उसकी असत्यता का ही सबूत। और यदि तत्त्वमीमासा के अध्ययन के कारण किन्ही लोगो का कम सद्‌गुणवान् अथवा कम सुखी बन जाना सिद्ध भी किया जा सके तो भी तत्त्वमीमासा का मामला किसी हालत मे भी वे नीतिशास्त्र या औषधिशास्त्र के अध्ययन-विषयक परिणामो से कम न होगा। हो सकता है कि कुछ ऐसे भी लोग हो जिनके लिए, सुख अथवा नैतिकता के आधार पर परिकल्पनात्मक सत्य के अनुसधान का अनुसरण अवाछनीय हो लेकिन इस पर भी ऐसे आदमी के लिए जिसने परिकल्पनात्मक

श्री बी० रसल की टिप्पणी से भी जो उनकी पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ लीब्निज' के पृष्ठ १७२ पर छपी है । मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि मैं यह बातें अपमान करने की खातिर नहीं लिख रहा हूँ । यदि निरीश्वरवाद ही सगत तर्कना का तर्कानुमोदित परिणाम निकलता हो तो निश्चय ही हमें वैसा ही कह देना चाहिए, मुझे तो एतराज यह है कि ऐसे ऐसे तत्त्वमीमांसक, जिन्हे जहाँ तक मुझे मालूम है अगर वे अपनी स्थिति के प्रति वफादार होते तो, निरीश्वरवादी होना चाहिए था, लगातार धार्मिक विश्वासो की दुहाई दिया करते हैं ।

विसगत अथवा परिकल्पनावाह्य विचार-वस्तुओ की लगातार दुहाई दे-दे-कर, उल्लघन करना वौद्धिक एकोद्दिदष्टता से च्युत होना ही कहा जायगा।[1]

३—लीविनिट्ज का एकाणुवाद वहुलतावाद और एकत्ववाद मे समझौता कराने का एक प्रयत्न है। इस दृष्टि से यह ससार मूलत पृथक् सत्ताओ की अपरिमीमित वहुलता द्वारा निर्मित है। ये सत्ताएँ एकदम सरल और अविभाज्य हैं और साथ ही साथ उनमे से हर एक मे आन्तरिक दशाओ की अपरिसीमित विविधता भी होती है। चूँकि वे अन्योन्यत स्वतत्र होती है अत एकाणुओ का एक दूसरे के साथ कोई विशुद्ध सम्वन्ध नही होता, उनमे से प्रत्येक एकाणु केवल अपनी ही दशाओ के पूर्वापर क्रम के प्रति ही चेतन हुआ करता है। जैसा कि लीविनिट्ज ने एक रूपक द्वारा, जो अव एक अभिजात वन चुका है, वताया कि एकाणु मे एक भी खिडकी नही है। यहाँ तक तो वह शास्त्र शुद्ध वहुलतावाद है। लेकिन इसके साथ-साथ ही एकाणुओ की समग्र व्यवस्था के एकत्व को 'आदर्श' अथवा 'प्रत्ययी' होते हुए भी 'वास्तविक' न होकर, असली या विशुद्ध ही होना है। वे सव मिलकर प्रत्ययहेतु से अथवा आदर्शहेतु अपनी व्यवस्था या क्रम का निर्माण करते है—यानी सर्वज्ञ द्रष्टा को समझ सकने के लिए—जिससे कि प्रत्येक एकाणु, आन्तरिक दशाओ का शेप एकाणुओ की आन्तरिक दशाओ के साथ मेल वैठाया जा सके अथवा जैसा कि लीविनिट्ज का कहना है कि प्रत्येक एकाणु अपने विशेष दृष्टिविन्दु से उसी क्रमिक व्यवस्थागत रचना का प्रतिनिधित्व करता रहे। अत यद्यपि कोई भी एकाणु किसी अन्य एकाणु का न तो प्रेक्षण या प्रत्यक्षण ही करता है न उस पर किसी प्रकार का कोई कार्य करता है, फिर भी प्रत्येक एकाणु इस प्रकार व्यवहार करता है जैसा कि वह तव करता यदि उन सव के वीच अन्योन्य प्रेक्षण और अन्योन्योक्तियाँ चलती होती। इस 'पूर्व-

---

१. यहाँ जिन धार्मिक और नैतिक हितों की दुहाई देने की वात पर एतराज किया जा रहा है उसके जनप्रिय उदाहरणीकरण के लिए देखिए प्रो० जेम्स की पुस्तक 'विल टु विलीव' का प्रथम निवध। मैं कभी नहीं समझ पाया कि अगर ये दुहाइयाँ उचित हैं तो मनोविज्ञानशास्त्र अथवा किसी भी अन्य विज्ञान में भी तत्त्वमीमांसा की तरह उनका उपयोग उतनी ही आसानी से क्यों न करने दिया जाये। क्या प्रो० जेम्स, कालानवच्छिन्न आत्मा के लिए इस तरह की दुहाई देने को वैध-तर्कना मानने को तैयार होंगे, जिससे कि उस पर विश्वास लाकर लोग ज्यादा सुखी या ज्यादा अच्छे इन्सान वन सकें? अगर नीतिशास्त्र का अध्ययन करके कुछ लोग कम सुखी अथवा कम चरित्रवान वन जाये तो क्या यह वात खुद ही नीतिशास्त्र के अध्ययन के विरुद्ध मत वन जायगी?

स्थापित एकतानता' के स्रोत के विषय मे जब हम पूछ-ताछ करते हैं तब हमे दोहरा जवाब मिलता है—एक तो यह कि तथ्य के रूप मे उसका वास्तविक अस्तित्व ईश्वर की सृजनात्मिका इच्छा पर निर्भर है। दूसरा यह कि इसके विविध एकाणुओ की आभ्यन्तर दशाओ के पूर्व समंजन ने ही वास्तव मे ईश्वर को उन अपरिमित रूप से बहुसख्यक किन्तु तर्कानुसार सभव ऐसे अन्य क्रमो की अपेक्षा जिन्हे ईश्वर पहले से जानता था और अगर चाहता तो उन्हे चुन भी सकता था—वर्तमान विश्व-क्रम के अस्तित्व की कामना करने के लिए प्रेरित किया। ईश्वर और विश्व क्रम का यह अन्योन्य सबंध और भी पेचीदा बन जाता है जब लीविनिट्ज, यदा-कदा ईश्वर को भी एकाणुओ मे से एक एकाणु ही—भले ही सर्वोच्च एकाणु सही—मानता है।

इस प्रकार के क्रम मे बहुलतावाद के सब दोष तो दिखायी ही पडते है, किन्तु उनके साथ-साथ उसकी स्वय अपनी कठिनाइयाँ भी ऊपर से लदी प्रतीत होती है। यह एतराज सयुक्तिक होगा अगर हम कहे कि अनुभव से हमे ऐसे असली क्रम का एक ही उदाहरण नही मिला जिसमे सकल तत्त्व असली तौर पर स्वतत्र हो। इस प्रकार के उदाहरण का निकटतम नमूना कृत्रिम वर्गीकरण के वर्गो मे मिल सकता है जिनमे अन्योन्य-क्रिया-सम्बन्ध-विरहित वस्तुओ को हम एक जगह इसलिए जमा कर देते है कि हमारे अपने कुछ बाह्य प्रयोजनो के लिए एक ही दृष्टिबिन्दु के अन्तर्गत उनका ज्ञान प्राप्त करना सुविधाजनक हो। लेकिन इस प्रकार के किसी वर्गीकरण की रचना कर सकने की असभाव्यता को छोडकर जो अपेक्षाकृत रूप से कही अधिक कृत्रिम होगा, इस प्रकार का समुच्चय मात्र अथवा सग्रह मात्र एक वास्तविक क्रम नही होता। किसी सच्ची व्यवस्था अथवा सही क्रम मे, किसी सग्रह से एकदम भिन्न, एकत्व के नियम या सिद्धान्त का कुछ-कुछ महत्त्व या अर्थ स्वय उस क्रम या व्यवस्था के सदस्यो के लिए अवश्य ही हुआ करता है। कम से कम वह उस तरीके का प्रतिनिधित्व तो अवश्य ही करता है जिसके अन्तर्गत सदस्यगण आपस का पारस्परिक व्यवहार चलाया करते है। (पाराकोटिक उदाहरण के लिए किसी सग्रहालय मे सगृहीत काटने के औजारो के उस श्रेणिक क्रम को ही ले लीजिए जिसके अन्तर्गत प्रस्तर युग के शल्कल पत्थर से लेकर शेफील्ड के काटने वाले औजारो के आधुनिकतम नमूने वर्गीकृत है। किन्तु यह श्रेणी विभाजन मात्र ही नही है बल्कि उससे कुछ ऊँची चीज है ठीक इसी वजह से कि वह समानता और असमानता के आधार पर विभिन्न वस्तुओ के समूहीकरण मात्र से कही अधिक अच्छा विभाजन है और एक सतत ऐतिहासिक विकास की विभिन्न स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है)। अब एकाणुवाद के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि चूंकि एकाणु अन्ततोगत्वा स्वतत्र होते हैं इसलिए अन्योन्य क्रिया पर मात्र प्रतीत हो। वे ऐसे एकल विश्व का रूप धारण करते प्रतीत होते हैं जिसका अपना इतिहास है तथा

प्रत्येक एकाणु की प्रत्येक दशा जिसकी अपनी अवस्थिति है। किन्तु, जहाँ व्यष्ट एकाणु की क्रमिक दशाएँ—जैसी कि वे दिखायी भी पड़ती है—विकास की परस्पर सबद्ध प्रक्रियाएँ है, वहाँ इन विविध प्रक्रियाओ से एकल विश्व इतिहास की रचना बिलकुल नही होती। केवल अपरिहार्य भ्रान्तिवश ही वे ऐसी रचना करती प्रतीत होती है। अतः सकल व्यवस्था या क्रम का एकत्व, अन्ततोगत्वा न केवल आदर्श अथवा प्रत्ययात्मक ही होना आवश्यक है अपितु—सही कहा जाय तो उसका काल्पनिक होना भी जरूरी है।

इस योजना में ईश्वर को दी गयी गड़बड़ जगह के कारण इसी तरह की कठिनाइयाँ उठ खडी होती है। यदि व्यष्ट एकाणुओ की स्थितियों के बीच पहले ही सस्थापित 'एकतानता' ईश्वर की सृजनात्मिकता वृत्ति का ही परिणाम होती तो हमे यह सिद्ध करने के लिए कि अस्तित्व दुर्व्यवस्थात्मक क्यों नही केवल स्वेच्छया पृच्छा को ही उसके कारण स्वरूप, यदि उसे कारण नाम योग्य समझा जाय तो, प्रस्तुत करने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प न रह जाता। लेकिन अगर ईश्वर ने वस्तुओं कीवर्तमान योजना को दूसरी योजना की अपेक्षा अधिक सृष्टियोग्य, अधिक आकर्षक इसलिए समझा कि उसकी दैवी बुद्धि को दुनिया का सम्बद्ध और व्यवस्थित रूप अधिक रुचा हो तो, सृष्टि के पूर्व वैकल्पिक सभावनाएँ जिस रूप मे मौजूद थी[१] तथा दूसरों की अपेक्षा व वर्तमान रूप की सभावना को ही ईश्वर ने क्यो चुना इन बातों का कारण हमे अन्ततोगत्वा दैवी मन की गठन मे ही खोजना होगा। और इस प्रकार एकाणुओं के अन्तिमेत्थ और स्वतंत्र होने की बात आगे के लिए बिलकुल खतम हो जाती है तथा ईश्वर की प्रकृति ही सकल वास्तविकता का एकमात्र निर्धारित आधार रह जाती है।

इतना और कह देने की जरा भी जरूरत नही मालूम देती कि एकाणुवाद मे भी वे ही दोष पाये जाते है जो हमें बहुलतावाद मे मिले थे। यदि एकाणु को आभ्यन्तरिक विविधताशून्य इकाई मात्र बना दिया जाय तो वह निर्धारित स्वभाव युक्त वस्तु ही नही रहता और यदि उसका एकत्व उसके दशावैविध्य के अनुकूल पड़ता है तो कोई विशेष कारण नही कि क्यो दुनिया के अस्तित्व वैविध्य की दौलत हमे स्वतत्र सार-घटको की बहुलता को अपना आधार मान लेने को प्रेरित करे। यह बताया जा चुका है कि लीबिनिट्ज़ को एकत्ववाद की अपेक्षा एकाणुवाद के पक्ष-पोषण निश्चय इस

---

१. याद रखने की बात है कि, संख्या में अपरिमित होते हुए भी इन संभावनाओं या सभाव्यताओं को गुणात्मक रूप से परिमित मान लिया गया है क्योंकि वे तार्किक अव्याहति सिद्धान्त के प्रति अनुकूल होने की शर्त के अनुसार गठित हैं। अब स्वतंत्र वस्तुओ की बहुलता के रूप में ऐसा कोई कारण नहीं जिससे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के बजाय अस्वीकार किया जाय।

अनुमान के कारण करना पडा था कि व्यष्ट मानव-आत्म आन्तरिकत' सरल इकाइयाँ हैं पर वाह्य रूप मे वे एक-दूसरे की एकदम अपवर्जक होती है। इस अनुमान या कल्पना को रद्द कर देने का कारण हम पहले ही जान चुके हैं।

४—अत ऐसा लगता है कि हमे इस मत को अस्वीकार ही कर देना होगा कि अनुभूति जगत्, अन्तिमेत्थतया भिन्न और विजातीय सारघटकों की वहुलता की अभिव्यक्ति है। क्योकि अपने ज्ञातरूप मे अथवा व्यावहारिक प्रयोजनो की सिद्धि के साधन के रूप मे, वह एक क्रम-वद्ध व्यवस्था है। उसके वारे मे किसी अन्य प्रकार की पूर्वकल्पना कर लेने से सगत ज्ञान और सश्लिष्ट क्रियाकलाप दोनो ही असभव हो जाते है। इसलिए तत्त्वमीमासीय विश्व को किसी सकल अन्तिमेत्थ नियम या सिद्धान्त का ससिद्ध पूर्व रूप अथवा उसकी अभिव्यक्ति माना जाना जरूरी है। अत लगता है कि हमे, एकत्ववाद नामधेय सिद्धान्त के साथ किसी न किसी रूप मे वँधे रहना होगा। भले ही एकत्ववाद का विल्ला हमे न लगाना पडे क्योकि उस नाम के कुछ ऐसे सहचारी लग गये है जिनसे उसकी नाम पट्टिका लगाकर चलना भ्रान्तिजनक होगा। एकात्मक नाम से वहुवार्चित सिद्धान्तो मे से कुछ ऐसे सिद्धान्त भी है जिनके अनुसार अस्तित्व विषयक दृश्य वैविध्य तथा वाहुल्य, केवल इन्द्रजालात्मक ही है। इसके अतिरिक्त हाल मे ही इस नाम का उपयोग, उस स्वयभू सिद्धान्त ने भी अपने आपको जाहिर करने के लिए किया है जिस सिद्धान्त के अनुसार 'मन' और 'पदार्थ' किसी ऐसे तीसरे सारतत्त्व का 'रूप' अथवा 'अभिव्यक्ति' है जो स्वय न तो पार्दाथिक या भौतिक है न मानसिक। यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि पहले हो चुके विचार-विमर्श मे जिस सिद्धान्त की चर्चा की जा चुकी है वह एकत्ववाद के इन दोनो ही रूपो या पहलुओ से वहुत ज्यादा भिन्न है। हमने इस वात पर वहाँ आग्रह किया था कि वाहुल्य-वाद और एकाणुवाद मे पाये जाने वाले तर्काभास दोष का कारण वह एकपक्षीय वल है जो एक और अनेक की प्रति-स्थापना की अन्य कडियो की उपेक्षा करते हुए एक कडी पर दिया गया है और उसी गलती को अपने मामले मे भी हम दुहराया नही चाहते। इसके अतिरिक्त हम इस नतीजे पर भी पहुँचे थे कि वास्तविकता की वैवृत्तिक रचना चाहे जो कुछ भी हो, पर उसका सामान्य स्वरूप मनस्तत्वीय ही होता है। 'तदस्थ' अथवा 'नास्तिक' एकत्ववाद से इसीलिए हमारा कोई सरोकार नही हो सकता। विश्व के एकत्व तथा उसकी वहुलता के मध्यगत सम्वन्ध विषयक हमारे सविवरण सिद्धान्त का दोनो ही के लिए सम-दृष्टिक होना आवश्यक है। साथ ही वास्तविक की, हमारे द्वारा पहले ही से मान्यता प्राप्त आनुभाविक स्वरूप के साथ, सगति वैठना आवश्यक है।

हमारे सिद्धान्त की विशद विवृत्ति निम्न प्रकार से शायद हो सकती है। हम देख चुके हैं कि विश्व विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस विश्व का एक व्यवस्थित

समग्र अथवा एकव्यवस्था रूप होना आवश्यक है और व्यवस्था का रूप ग्रहण करने के लिए उसका किसी एकल नियम अथवा सिद्धान्त की विशद अभिव्यक्ति अथवा उसका सिद्धान्त विवृत विकास रूप होना आवश्यक है। अत विश्व का एक होना जरूरी है। वह ऐसे स्वतत्र तत्वों का गड्डमगड्डा नही हो सकता जो सौभाग्य से एक सगत झुड मे इकट्ठे हो गए हों। और फिर चूँकि विश्व एक व्यवस्थित तत्र रूप है इसलिए वह एकदम एक इकाई रूप नही हो सकता। उसका किसी एकल नियम अथवा सिद्धान्त के पदो और कारको के वहुल माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होना आवश्यक होता है। न केवल उसका एक औरअनेक दोनो ही होना जरूरी है अपितु उसका अनेक होना ठीक इस वजह से आवश्यक है चूँकि वह दरअसल एक है और उसका एक होना इसलिए जरूरी है क्योकि सही तौर पर वह अनेक है।[1] इसके साथ ही हम यह भी कह सकते है कि चूंकि विश्व-व्यवस्था एक यथार्थतया व्यवस्थित समग्र है इसलिए बाहुल्य उसके एकत्व के लिए न केवल सामान्यत आवश्यक ही है, अपितु उस वहुलता के प्रत्येक विशिष्ट तत्त्व का, समग्र के एकत्व के स्वरूप के रक्षार्थ उस वहुलता मे मौजूद रहना तर्कानुसार वेहद जरूरी भी है। किसी परिपूर्ण व्यवस्था का कोई भी विशिष्ट अग तव तक कभी न तो गायव ही हो सकता है, न जैसा वह है उससे भिन्न ही वन सकता है जव तक कि समग्र अस्तित्व का मौलिक नियम ही न वदल जाय। आनुषगिक रूप से यह भी कह सकते है कि किसी परिपूर्ण व्यवस्था की विशिष्ट कडियो अथवा पदों की सख्या वस्तुत. अनन्त हो सकती है जव कि रचना-विषयक नियम यथार्थतया परिमित ही रहता है। अत विश्व को एकल व्यवस्थित इकाई मानने के माने होते हैं उसे एक पूर्णतया परिमित या निर्धारित सारतत्त्व की विवृत्ति-वहुल अभिव्यक्ति मानना और निस्सन्देह ही, जिनको हमने वहुलता के व्यष्ट तत्त्व नाम से पुकारा है वे ही अच्छी तरह जॉच-पडताल करने पर खुद अनन्त जाटिल्यमयी ऐसी व्यवस्थाएँ दिखायी पडने लगते है, जिनका निर्धारण-रचना विषयक ऐसे नियम के अनुसार होता है जो नियम

---

१. स्वतत्र वस्तुओं का स्वतत्र गड़बड़झाला तक वस्तुतः 'अनेक' तव तक नहीं हो सकेगा, जव तक कि पहले पहला, दूसरा, तीसरा आदि आपकी गॉठ में न हो। अनेक की गिनती ही एक दो तीन की गिनती पर निर्भर होती है। किसी सगत और सम्बद्ध शृखला के पद उसकी कडियाँ ही तो गिनी जा सकती है। जो कुछ गिन कर आप उसे अनेक कह पाते हैं वह इस वात को जाहिर करता है कि उस सव की एक ही-सी प्रकृति है और वह एक ही सर्वसामान्य व्यवस्था का ऐसा अग है जिसे व्यवस्थित क्रम मे रखा जा सकता है। तुलना कीजिए—प्लेटो लिखित 'पारमेनाइड्स' पृ० १६४—१६५।

स्वय पूर्ण व्यवस्था से किसी निर्धारित तरीके पर विनिमृत होता है और यह सिलसिला इसी प्रकार अनन्त श्रृखला के रूप में बढता ही जाता है। इसीलिए वास्तविक के लिए सारतत्त्व विषयक जिस प्रकार का अन्तिमेत्थ एकत्व हम चाहते हैं उसमे अनन्त रूप से अपरिमित विवृतियो की सम्पद् को किसी प्रकार भी त्याज्य नही माना जाता ।

५—हम महत्त्व का एक कदम और भी आगे बढा सकते है। इस सर्व-व्यवस्थित समग्र के एकत्व और अनेकत्व दोनो ही का समान रूप से वास्तविक होना आवश्यक है और प्रत्येक को दूसरे के द्वारा वास्तविक होना चाहिए। लेकिन यह सम्भव क्यो कर है ? ऐसा होना एक ही शर्त पर सभव है—वह यह कि समग्र व्यवस्था एक एकल अनुभूति बन जाय और यह कि व्यवस्था के निर्माणकर्ता तत्त्व एकल अनुभूतियाँ हो। यह बात और भी अधिक तरह तब समझ मे आ सकेगी, जब हम अनेकता मे उस प्रकार की एकता जो हमारे प्रयोजनार्थ अपर्याप्त है उपलक्ष मामलो की जाँच करे। (अ) किसी सग्रह अथवा योग मे जिस प्रकार का एकत्व पाया जाता है, विश्व का एकत्व वैसा नही है। किसी भी योग मात्र के तत्त्व 'योगागीभूत सत्त्वो' के रूप अपने पारस्परिक सम्बन्ध पर अनिर्भर रूप में वास्तविक होते है। जब तक हम उस वस्तु के, जो एक योगसे अधिक और कुछ नहीं मान लेनेपर ही विचार करेंगे तब तक उन तत्वो का गुण योग मे उन तत्वो के शामिल होने के कारण, अप्रभावित ही रहेगा। उस योग का कोई ऐसा अपना एकात्मक स्वरूप नही हुआ करता जो उसके अपने तत्त्वो मे अथवा उन तत्त्वो के व्यवहार मे प्रकट होता हो उसका एकत्व केवल इसी बात मे है कि हमने उसके तत्त्वो या कारको के विषय मे एक साथ विचार करना उचित समझा। उदाहरण के तौरपर दस ईंटो के जमाव अथवा योगका अपना कोई स्वरूप अथवा उपलक्षण इसके अतिरिक्त और कुछ नही होता कि हम एक ही मानसिक क्रिया के अन्तर्गत उन सब के बारे में एक साथ सोचते है। उस योग का कोई सयुक्त वजन भी तब तक नही होता जब तक कि आप अपनी दसो ईंटो को एक ही गाडी पर अथवा तराजू के एक पलडे पर नही रखते। जहाँ आपने एक बार ऐसा किया वहाँ ही, एक धरातल पर उनका भार एक साथ पडना ज्योही शुरू होता है त्यो ही वे ईंटें एक सच्ची पदार्थीय व्यवस्था बन जाती है।

(ब) ना ही वास्तविकता के विश्व को अशो का समग्र मात्र ही समझा जा सकता है। अशो अथवा खण्डो का समग्र एक योगतन्मात्र की अपेक्षा, व्यवस्थित एकत्व के आदर्श के कही अधिक निकट होता है, क्योकि समग्र रूपेण उसका एक निर्धारित या परिमित एकल स्वरूप ऐसा होता है जो समग्र के विभिन्न भागो की सरचना मे अपने आप को व्यक्त किया करता है। कोई आकृति अथवा मशीन इसी कारण वैभिन्न्यो की सच्ची इकाई होती है। लेकिन इस मामले मे हम वस्तुत यह नही कह सकते कि एकत्व और

वैविध्य दोनो ही समानतः वास्तविक है क्योंकि खण्डो के बिना समग्र का अस्तित्व नही रह सकता, जहाँ कि खण्ड, निस्सन्देह इस समग्र के खण्ड रूप में नही, अपितु समग्र के बिना विद्यमान रह सकते हैं। समग्र बनता ही खण्डो के क्रमिक प्रजनन अथवा सरचन से और इसीलिए उसे पहले से वर्तमान खण्डो द्वारा निरूपित कहा जा सकता है किन्तु खण्ड समग्र का नाश हो जाने के बाद भी वर्तमान रह सकते है। इस उदाहरण के मामलो मे दोनो ही पक्षों की वह समतुल्य वास्तविकता तथा पारस्परिक पूर्ण अन्तर्ग्रस्तता नही दीखती जिसे हमने यथार्थ और व्यवस्थित एकत्व के लिए आवश्यक माना था।

(स) कुछ बातो में खण्डों के समग्र तन्मात्र की अपेक्षा जैवतन्त्र कहीं सच्चा एकत्व होता है। उस का अपना ऐसा व्यवस्थित स्वरूप हुआ करता है जो उसके विभिन्न अगो द्वारा तथा इन अगो में स्वय व्यक्त हुआ करता है। वह उन अगों का परिणामी नहीं होता अपितु वह उनका जीवित एकत्व होता है। अग, समग्र के साथ, तथा समग्र के वृद्धिक्रम के दौरान ही अस्तित्व प्राप्त करते है और वे अग समग्र से विलग कर दिये जाने के बाद भी विद्यमान भले ही रहे लेकिन उनका अस्तित्व तब वैसा नही होता जैसा कि समग्र के अस्तित्व के समय था।[1] किन्तु मशीन जैसे किसी सगठन में एक और अनेक की वह यथार्थतः पूर्ण तथा व्यवस्थित एकता, जिसकी हमे तलाश है, हमे नही दिखायी पडती। मशीन मे बहुलता का रूप अपेक्षतया अधिक वास्तविक है, एकत्व का बहुत कम। किसी पूर्णतया विकसित सगठन अथवा तन्त्र में बहुलता की अपेक्षा एकता अधिक पूर्णतया वास्तविक दिखायी पडा करती है। क्योंकि वह एकता चैतन्य प्रकार की होती है और किसी हद तक कम से कम, उसका अस्तित्व स्वय अपने लिए ही होता है। और उसके अग उसके वास्ते विद्यमान रहते है। जब कि यह बहुत अधिक सन्देहास्पद होना चाहिए कि क्या अग का अस्तित्व अपने ही लिए होता है या नही और इससे भी ज्यादा सन्देहास्पद यह होना चाहिए कि क्या समग्र का अस्तित्व अपने अगो के हेतु है या नही। और अग, यद्यपि समग्र के अग होने के नाते प्राप्त अपने विशिष्ट रूपयुक्त अस्तित्व को, उस अगत्व के बिना भी अपने साथ बनाए नही रख सकता तो भी उच्चतम

---

१. जैसा कि अरस्तू ने अनेक बार कहा है कि, उदाहरणार्थ मनुष्य के हाथ को जब शरीर से अलहदा कर दिया जाता है तब 'हाथ' नहीं रहता, वह केवल मूर्ति के हाथ का पर्यायवाची मात्र रह जाता है। जिस प्रकार मूर्ति का हाथ सच्चा हाथ नहीं होता उसी तरह वह कटा हाथ भी एक बेमाने चीज हो जाता है। वह चीज सच्चा हाथ तभी कहलाती है जब सच्चे हाथ की-सी हरकत करती है। कप्तान कटल का आँकड़ा शायद कटे हाथ से कहीं अधिक, हाथ कहलाने योग्य प्रतीत होता है।

तत्र मे भी एकत्व अपेक्षतया इतना अधिक अनिर्भर हुआ करता है कि कुछ अगो के हटा दिए जाने पर भी वह एकत्व अप्रभावित ही बना रहता है।

ना ही प्रत्येक अग को जीवित रखने के लिए जीवनदायी महत्त्व की वस्तु होता है। किन्तु किसी परिपूर्ण व्यवस्थित एकता मे, जैसा कि हमने देखा, व्यवस्थागत एकत्व और वाहुल्य दोनो ही का सामान रूप से वास्तविक और समान रूप से ही अन्योन्य-निर्भर होना आवश्यक होता है। और यह तभी हो सकता है, जब कि समग्र का अपने अगो के लिए अस्तित्व हो और अगो का समग्र के लिए। मामला ठीक ऐसा ही बन सके इसलिए, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, जिस प्रकार कि सर्वग्राही वास्तविकता के समग्र का अनुभूति रूप होना आवश्यक है उसी प्रकार उस समय के प्रत्येक अग का स्वय भी अनुभूतिरूप होना आवश्यक है। और चूंकि अग मिल कर एक एकल व्यवस्था का निरूपण करते है और जिस प्रकार कि किसी अग की अनुभूति मे ऐसी कोई बात नही हुआ करती जो अनुभूति के समग्र मे मौजूद न हो उसी प्रकार दूसरी ओर भी समग्र मे ऐसी कोई चीज नही हो सकती जो प्रत्येक अग की अनुभूति को किसी न किसी तरह प्रभावित न करे। ऐसा होने पर ही हम ऐसी व्यवस्थापूर्ण वास्तविकता की कल्पना कर सकते है जिसमे व्यवस्था विषयक ऐसा और वाहुल्य दोनो ही समान रूप और समानत वास्तविक हो। सही कहा जाय तो इस प्रकार का अभिमत मुश्किल से ही वाहुल्यवाद अथवा एकत्ववाद कहा जा उकेगा। वह अभिमत वाहुल्यवाद इसलिए नही है चूंकि वह व्यवस्थागत ऐक्य को भ्रान्ति नही मानता न अव्याख्यायेय आकास्मिक घटना। उसे एकत्ववाद भी इसलिए नही कहा जा सकता क्योकि वह वहुलता को भ्रान्तिजनक नही मानता। इसके लिए अगर किसी नाम की जरूरत हो तो हम शायद उसे व्यवस्थित आदर्शवाद का नाम दे सकते है।

६—तब हम कह सकते है कि वास्तविकता एक ऐसी व्यवस्थागत अनुभूति का नाम है जिसके विधायक अग भी अनुभूतियाँ ही होती हैं। अगर हम उसे ऐसा विषय कहे जो अपने अधीनस्थ विषयो की इकाई है तो भी बात वही रहेगी। पहले-पहल तो यह कहना लुभावना लगता है कि वह स्वात्मो का स्वात्म है। लेकिन सामयिक मनोविज्ञान स्वात्म शब्द का उपयोग जिस अर्थ मे करता है उस अर्थ के बारे मे वर्तमान सन्देहास्पदता के कारण यह उचित जान पडता है कि इस शब्द का प्रयोग ही न किया जाय, जिससे उसके दुरुपयोग का मौका ही न आये।[१] यह कह सकना

---

१. आगामी किसी अध्याय मे (चतुर्थ खण्ड, अध्याय ३) यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि स्वात्म के किसी भी उपयोगी यथार्थतानुसार 'स्वात्म' शब्द वास्तविकतावाचक नहीं होता न 'स्वात्मो' का समूह ही उसका वाचक है।

सभव-सा ही है कि सही तौर पर किसी एक 'स्वात्म' से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है जब कि सामान्य तौर पर यह कह सकना सभव होता है कि एक अनुभूति से हमारा क्या अभिप्राय होता है । किसी अनुभूति को एक और वही उस हद तक कहा जा सकता है जहाँ तक कि वह, किसी एकल सगत प्रयोजन अथवा हित की, उस सीमा जहाँ तक कि तथ्यत: उसका कोई साध्यपरक एकत्व हो, एक व्यवस्थीकृत अभिव्यक्ति हो। व्यवहार मे ठीक तौर पर यह बता सकना असभव हो सकता है कि कब यह शर्त पूरी होगी किन्तु सामान्य मानस जीवन की प्रतिद्वद्विनी विचार-व्यवस्थाओं तथा असामान्य मानस जीवन के 'द्वैत' और 'बहुल' व्यक्तित्वो के बीच चलने वाले सघर्ष के मनोवैज्ञानिक तथ्यो से थोडा-सा भी परिचय सिद्ध कर देगा कि एकल अनुभूति के लिए हमारी परिभाषा द्वारा निर्धारित मर्यादाएँ, 'स्वात्म' अथवा 'व्यक्तित्व' विषयक अस्थिर अर्थो के अनुसार मेरे 'स्वात्म' और मेरे 'व्यक्तित्व' सम्बन्धी अर्थों से मेल नही खाती । जिन सीमाओ के भीतर रहता हुआ अनुभव, हमारी परिभाषानुसार एक अनुभूति बना रहता है, जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध है, वे प्राय सकीर्णतर ही होती है। किन्तु परिभाषा के अनुसार वे सीमाएँ 'स्वात्म' के लिए आमतौर पर निर्धारित की जा सकने वाली सीमाओ से विस्तृततर भी हो सकती है।

इसके अतिरिक्त हमारी व्यवस्था के प्रत्येक अग के स्वय अन्य लघुतर व्यवस्थाओ की एक व्यवस्था रूप हो सकने की सभाव्यता के विषय मे हम जो कुछ पहले कह चुके है उसके कारण हम अपने अभिमत को किसी ऐसे सिद्धान्त के साथ एकाकार नही कर सकते जो आणविक और सरल 'स्वात्मो' को वास्तविकता के तत्त्व घोषित करता है।

इसी विचार को दूसरे तरीके से कहने का तरीका यह भी होगा कि वास्तविकता ऐसा व्यष्ट है जिसके तत्त्व भी लघुतर व्यष्ट ही होते है। इस प्रकार के कथन का फायदा यह है कि उससे वास्तविक के ऐक्य का मूलत. साध्यपरक स्वरूप और उभर आता है और साथ ही उसके कारको में से प्रत्येक कारक का और सब कारको का मूलत साध्य पत्रक स्वरूप भी स्पष्टतर हो उठता है। जैसा कि हम देख चुके है, कोई वस्तु उसी सीमा तक व्यष्ट हुआ करती है जिस सीमा तक कि वह अनन्य होती है। अनन्य केवल वही हो सकती है जो किसी एकल प्रयोजन अथवा हित का मूर्त रूप हो। अनुभूति का वह समग्र जिसकी समग्रता के एकत्व का कारण वह पूर्णता और एकतानता है जिसके अनुपातानुसार वह किसी एकल प्रयोजन अथवा हित को व्यक्त करता है, निश्चित रूपेण व्यष्ट होता है । इस प्रकार वास्तविकता की निर्मायिका सर्वग्राहिणी अनुभूति अपने आभ्यन्तरतम स्वरूप मे एक पूर्ण व्यष्ट हुआ

करती है। और वास्तविकता के पादार्थिक अन्तर्विषय स्वरूप तत्त्वो की निरूपिका लघुतर अनुभूतियो मे से प्रत्येक अनुभूति उस सीमा तक जहाँ तक वह स्वय एक सही अनुभूति रूप होती है, व्यष्ट उसी माने मे होती है जिस माने मे कि समग्र अनुभूति व्यष्ट होती है। अत. वास्तविकता को हम अवर अथवा अपूर्ण व्यष्टो का एक पूर्ण और पूर्णात्पूर्णतर व्यष्ट कह सकते है।

महान्‌तम व्यष्ट समग्र तथा लघुतर व्यष्टो का पार्थक्य किस वात मे हुआ करता है इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। इसी वीच आइए हम दो बातें नोट कर लें—(१) सख्यात्मक एकता मात्र किसी व्यष्ट की महत्ता की द्योतक नही होती। उसकी गुणात्मक अनन्यता ही महत्त्वपूर्ण होती है। ऐसी किसी भी अनुभूति को जिसे हम व्यष्ट कह सकें, केवल इसलिए ही व्यष्ट नही कहना पडेगा चूँकि उसकी सख्या एक है अनेक नही, अपितु इसलिए कि वह एक सश्लिष्ट प्रयोजन की सगत और एकरस अभिव्यक्ति है। गणना की दृष्टि से देखें तो, इस प्रकार का हर एक व्यष्ट आवश्यक रूप से अनेक और एक ठीक इस वजह से होगा क्योंकि वह व्यवस्था रूप है। अनुभूति की परिपूरित व्यवस्था, निरपेक्ष व्यष्ट अथवा परम व्यष्ट पर यह वात खास तौर पर लागू होती है। वह प्रारभ से ही इसलिए व्यष्ट नही होता चूँकि वह गिनती मे एक होता है अपितु वह व्यष्ट इसलिए हुआ करता है चूँकि वह किसी सश्लिष्ट विचार अथवा प्रयोजन की परिपूर्ण अभिव्यक्ति होता है। इस तथ्य को आँख ओझल कर देना ही वहुतेरे एकत्ववादी सिद्धान्तो का दोष रहा है। इस पर जोर देने के वजाय वे वास्तविक की गणनात्मक एकता को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

(२) पहले ही व्याख्यात अर्थों मे व्यष्ट किसी अनुभूति को ही हम 'स्पिरिट' अथवा 'आत्मा' नाम से पुकारते हैं। 'प्राकृतिक पदार्थ' जैसी अनुमानित अनात्मवान् वस्तुओ के साथ वैषम्य-निदर्शन द्वारा आत्म को परिभाषित नही किया जा सकता क्योंकि इस आधार पर की गयी परिभाषा का अर्थ यह दृढ कथन मात्र ही होगा कि आत्म वह वस्तु है जो अनात्म नही होती। इससे आत्म शब्द द्वारा अभिधेय वस्तु के विषय मे हमे कुछ भी न पता लगेगा, न 'आत्म' शब्द की सही परिभाषा उसे 'चेतनता' नामक विविक्त विचारणा की विविध दशाओ अथवा परिवर्तनो की शृखला वता कर ही की जा सकती है। आत्मात्मक अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व जिस निश्चयात्मक लक्षण द्वारा पहचाना जा सके वह यह है कि उसके 'कि' और 'तत्' दोनो ही अव्यवहृत भावना के ऐक्य मे मिल जाते है। और अव्यवहृत भावना जैसा कि हम देख चुके है, साररूपेण साध्यपरक होती है। जहाँ कारको की ऐसी सम्वद्ध व्यवस्था आपको मिले जिसे उस व्यवस्था की एकता के आधारभूत किसी स्पष्ट या अस्पष्ट लक्ष्य के सदर्भ मे आप समग्रत समझ सकते हो वहाँ ही आपको स्पिरिट, आत्म या भावना के दर्शन

हो सकते है। जहाँ इस प्रकार की 'आत्मा' अथवा ऐसी 'भावना' आपको मिले वहाँ ऐसी व्यवस्था भी आपको मिलेगी। अत वास्तविकता को व्यष्टो का व्यष्ट कहने के माने यह कहना ही है कि वह ऐसी आत्मिक अथवा भावनात्मक व्यवस्था है जिसके तत्त्व, कारक अथवा पद भी अपने कई आत्मक अथवा भावनात्मक व्यवस्था रूप होते है।[1] इस प्रकार हमारा सिद्धान्त आदर्शवाद नाम से अभिहित होने का बहुत कुछ अधिकारी प्रतीत होता है जबकि प्रचलित प्रथानुसार यह नाम इस अभिमत को दे दिया गया है कि समस्त अस्तित्व अन्तिमेत्यरूपेण मानस होता है।

७—वास्तविकता के व्यष्ट समग्र तथा उस समग्र के अन्तर्गत तत्त्वो अथवा कडियो या पदो का मध्यगत उपर्युक्त प्रकार का सबध आवश्यकरूपेण अनन्य होता है और दैनदिनीय अथवा वैज्ञानिक विचारणा द्वारा मान्यीकृत किसी कम पूर्ण प्रकार के एकत्व द्वारा उसे पर्याप्तरूपेण उदाहृत नही किया जा सकता। 'अगो' के 'अंगो के समग्र' के साथ अथवा 'पुर्जो' के 'पुर्जो के समग्र—पूरी मशीन' के साथ सम्बन्ध के समान ही उपर्युक्त तत्त्वों तथा समग्रता के सबध की भी यान्त्रिक सम्बन्धवत् कल्पना हमे न करना चाहिए। साथ ही शरीर के अथवा प्राणितन्त्र के अगो और पूरे प्राणी के मध्यगत जैवशास्त्रीय सबध मे समान ही तत्त्वो और तत्त्व समग्र के मध्यगत सम्बन्ध की कल्पना से भी हमे बचना होगा। इस प्रकार के सादृश्यो मे प्राय सयोजन के उस गहरे सम्बन्ध को नजरन्दाज कर दिया जाता है जो तत्त्वो और सकलता के बीच न केवल आपस मे अथवा एक दूसरे के द्वारा मौजूद होता है अपितु वह सम्बन्ध भी आँख-ओझल कर दिया जाता है जो उन दोनो का एक दूसरे के प्रति होता है।

परम अनुभूति की निर्मायक व्यष्ट अनुभूतियो की स्वय अपनी भी एक यथार्थ व्यष्टता, भले ही वह अपूर्ण और आशिक क्यो न हो, हुआ करती है। वे उस परम अनुभूति 'वैचारिक रूपेण' अथवा अभिप्रेतार्थतया इस प्रकार नही रहते जिस प्रकार कि किसी वृत परिधि के वक्र पर अवस्थित विन्दु वृत्तान्तर्गत कहा जाता है। दूसरी ओर

---

१. हमे पाठको को पुनः स्मरण दिलाना होगा कि मन के इस उद्देश्यपरक स्वरूप को स्वीकार कर लेने से मानसिक दशाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता का पूर्व-परिहार नहीं होता। उस विश्लेषण में, मानसिक दशा के अन्य कारकों के साथ-साथ एक विशेषीकृत पहलू के रूप मे अथवा एकाकीकृत मानस-दशा के निर्मायक के रूप में प्रस्तुत्यात्मक और आवेगात्मक पक्षों आदि जैसे सकल्पात्मक तत्त्व को भी शामिल कर लेने की आवश्यकता उसके कारण नहीं होती। कहा जा सकता है कि 'तिपहल' अथवा त्रि-पक्षीय मनोविज्ञान, समग्र मनस्तत्वीय तथ्य को स्वयं अपना अंगभूत यदि मानता है तो गलती करता है।

समग्र भी एक वास्तविक व्यष्ट होता है न कि ऐसा सामूहिक झुड मात्र जिसके भाग तो वास्तविक होते है पर उनका एकत्व केवल कल्पनात्मक ही होता है। अगर चाहे तो हम यो भी कह सकते है कि वह परम अनुभूति अनुभूतियो अथवा मानसो से बनी होती है किन्तु हमे यह कभी न कहना होगा कि वह अनुभूति मानसो का सचय अथवा समूह है। क्योकि समूह तन्मात्र मे, जैसा कि हमने देखा, जहाँ तक वह एक सचय अथवा समूह मात्र से अधिक कुछ नही होता वहाँ तक यथार्थ व्यष्टता विद्यमान है ऐसा इसलिए नही कहा जा सकता क्योकि उसमे उद्देश्यपरक रचनात्मक एकत्व उतने से अधिक नही होता जितना कि हम उसके खण्डो की गणना करते समय अर्थात् उन्हे क्रमानुसार सज्ज करते समय ही मनमाने तौर पर तथा उसकी अपनी प्रकृति से बाह्य लक्ष्यो के सदर्भ मे उसमे अध्यादृधृत कर देते है। क्या निरपेक्ष समग्र को मानसो का समाज कह सकते है, यह नहीं, एक और भी कठिन अगला प्रश्न हमारे सामने आता है। समाज किसी समूह से बहुत बढी-चढी वस्तु है। उसकी सरचना किसी एक उद्देश्य को लेकर की जाती है। और वह औद्देश्यीय एकता केवल बाहर ही उसे देखने वाले समाजशास्त्रीय प्रेक्षक के लिए ही नही होती अपितु वह अपने सदस्यो का, अन्य सदस्यो के साथ उनके सबध के अनुसार विशिष्ट स्थान निर्देश करने वाली सक्रिय शक्ति के रूप मे वर्तमान रहती है। समाज मे इस प्रकार की एकता किस हद तक स्वय अपने लिए होती है इस प्रश्न का उत्तर हम सब तब तक न दे पायेंगे जब तक कि स्वात्मत्व और व्यष्टत्व के पारस्परिक सबध की समस्या का पूर्णत विवेचन न कर लेंगे। और जब तक हम उस प्रश्न का उत्तर नही दे लेते तब तक हमे इस बात के फैसले को स्थगित रखना पडेगा कि क्या निरपेक्ष की व्यवस्थित व्यष्टता को तब पर्याप्त मान्यता प्राप्त हो सकेगी जब हम उसे एक समाज मान लें। (देखिए आगामी खड ४, अध्याय ३)

यदि इस मौके पर हमे किसी एकल परम व्यष्ट के अन्तर्भूत व्यष्टो के उस प्रकार के एकत्व के विषय मे, जैसा कि हम वास्तविकता-विषयक व्यवस्था मे चाहते है, अपनी व्यावहारिक आंशिक अनुभूति के अन्तर्गत कोई ऐसा अनुरूप दरकार हो तो इस दुनिया की सबसे ज्यादा परिचित वस्तु अपनी वैयक्तिक अनुभूति की ओर मुडना ही हमारे लिए सर्वोत्तम होगा। यदि हम किसी सश्लिष्ट प्रयोजन अथवा 'मानस तन्त्र' के स्वरूप या उसकी प्रकृति पर विचार करे तो हम देखेंगे कि प्रयोजन की सश्लिष्ट मूर्तता के रूप मे उसकी अपनी ही व्यष्टता की कुछ न कुछ मात्रा उसमे मौजूद है। उसमे व्यापकता तथा हित विषयक आभ्यन्तर एकरूपता और व्यवस्थित सरचनात्मकता जितनी मात्रा मे होगी उसी अनुपात मे वह एक यथार्थ, आत्मास्तित्ववान, उस प्रकार का व्यष्ट समग्र होगा जिसे मनोविज्ञानी

'स्वात्म' नाम से पुकारते हैं। और फिर जिस सीमा तक मेरे जीवन मे निर्धारित चरित्र जिस मात्रा मे प्रकट होता है उतनी ही मात्रा मे इन प्रयोजनों अथवा अवर 'स्वात्मो' की वृहत्तर क्रम व्यवस्था निरूपित होगी तथा वह व्यष्ट भी जिसे मेरा 'सकल स्वात्म' भी कह सकते हैं। और लघुतर या अवर स्वात्म तथा वह वृहत्तर क्रम व्यवस्था दोनो ही वास्तविक शब्द के उसी अर्थानुसार वास्तविक होगे। दोनों मे से कोई भी केवल अन्य में अथवा दूसरे के लिए विद्यमान नही होता। विस्तृततर अथवा समग्र 'स्वात्म' विशिष्टता स्वात्मों का न तो समूह तन्मात्र ही होता है न विशिष्ट स्वात्मों का परिणामी मात्र अथवा उत्पाद। ना ही वे विश्लेषण और अपकर्षण की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओ के ही परिणाम मात्र ही होते हैं। वे स्वात्म जब तक जरा से भी यथार्थ व्यवस्था रूप होते हैं तब तक समग्र के अंग नही होते अपितु उनमे से प्रत्येक, मूर्त चेतन जीवन के अन्तर्गत, एक विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार, वृहत्तर समग्र के स्वरूप की अभिव्यक्त करता है। समग्र भी प्रत्येक भाग मे बराबर से यदि उपस्थित नही होता तो भी समग्रत-प्रत्येक भाग मे मौजूद रहता है और ठीक इसी वजह से समग्र और खण्ड का श्रेणी विभाजन उनके आपसी सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त होता है। कुछ-कुछ इस तरीके से ही लघुतर व्यष्टों के किसी भी व्यष्ट समग्र की सरचना भी हमे प्रकल्पित करनी होगी। इस आनुरूप्य के होते हुए भी समग्र वास्तविकता या सत् को स्वात्म कहना क्यों वांच्छनीय नही है यह बात ज्यों-ज्यो हम आगे बढ़ेंगे त्यो-त्यों स्पष्टतर होती जायगी।[1]

८—यहाँ हमने जिस मत का निरूपण किया है वह इतिहास-प्रसिद्ध अन्य सभी अभिमतो की अपेक्षा स्पिनोज़ा की, मानव-मन और 'अपरिमित ईश्वरीय प्रज्ञा' के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक परिकल्पना से अधिक मिलता-जुलता है। स्पिनोज़ा के मतानुसार मानव मन 'चेतना की एक ऐसी अनन्त विधा' है जिसे यदि इसी प्रकार की अन्य विधाओ के साथ मिला लिया जाय तो वह 'ईश्वर की अपरिमित प्रज्ञा' बन जाय। 'अनन्त' के अर्थ सम्बन्धी पचड़े मे हम तब तक पड़ना नही चाहते जब तक कि हम कालीय प्रक्रिया के साथ अनुभूति के सबध पर विचार नहीं कर लेते हैं। परिभाषा के शेष भाग का सामान्य अभिप्राय स्पष्ट रूप से हमारे उस अभिमत से एकदम मिल-जुल जाता है जो हमने परम अनुभूति तथा उसकी कारक अनुभूतियों के संबंध के विषय मे व्यक्त किया है। क्योंकि स्पिनोज़ा की 'विधाओं' के विषय मे लोगों का

---

१. आगामी खण्ड ४ अध्याय ३ देखिए जहाँ से पता चलेगा कि सामाजिक समग्र के साथ व्यष्ट स्वात्म का संबंध हमारे इस नियम का पूर्णतया संतोषजनक न सही पर और भी अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

पक्का ख्याल है कि वे स्पिनोज़ीय चरम सत, 'पदार्थ' अथवा 'ईश्वर' के स्वरूप की यथार्थत. व्यष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। उनकी व्यष्टता तथा उनकी अपरिमित बहुलता माया या भ्रान्ति का परिणाम नही है न वह अवैध विविक्त विचारणा का ही परिणाम है। और दूसरी ओर 'पदार्थ' अथवा 'सारतत्त्व' स्वय भी यथार्थत. व्यष्ट है। वह अन्तिमेत्थतया अनिर्भर अनेक वस्तुओं के सामान्य गुणधर्मों का अमूर्त नाम मात्र भी नही है।

स्पिनोज़ीय सिद्धान्त के मानव मन के स्वरूप विषयक अश के विरुद्ध की गयी आलोचना का अधिकाश इन विचार-विन्दुओ मे से पहले विचार के अन्यथा ग्रहण पर आधारित प्रतीत होता है। स्पिनोज़ा ने चूंकि खण्ड और समग्र के सख्यात्मक 'पदार्थ' का उपयोग सारतत्व और उसकी विधाओं के सबध को व्यक्त करने के लिए किया है इसलिए लोगो ने उसका गलत मतलब यह लगाया कि वह परिमित अनुभूति की यार्थायिक व्यष्टता को नही मानता और इसीलिए परिमित के अस्तित्व को निराधार भ्रान्ति मात्र घोषित करता है। इस प्रकार मिथ्या-व्याख्यात उसके सिद्धान्त के साथ निस्सन्देह हमारे सिद्धान्त का कोई सादृश्य नही है। उसे भ्रान्ति कहने से भी किसी बात का स्पष्टीकरण नही होता। उसे चाहे जितने कठोर नामो से पुकारिए फिर भी 'भ्रान्त' तथ्य तो वर्तमान रहेगा ही, किसी भी अन्य तथ्य के समान वह भी व्याख्यापेक्ष्य है। हमारा सिद्धान्त परिमित व्यष्टता को भ्रान्तियुक्त कह कर उडा नही देना चाहता बल्कि वह उसके अर्थ का अभिनिश्चयन चाहता है। वह उसकी सीमाएँ भी जानना चाहता है और साथ ही यह कि अनुभूति के इस पूर्ण व्यष्ट समग्र के साथ जिसे स्पिनोज़ा ईश्वर की 'अनन्त प्रज्ञा'[1] कहता है, उसका क्या सबध है।

चूंकि स्पिनोज़ा का यहाँ जिक्र आ गया इसलिए, निस्सन्देह पाठको के मन मे उस प्रसिद्ध सिद्धान्त का सुझाव उठना स्वाभाविक है, जिसने दार्शनिक एकत्ववाद के वास्तविकता विषयक 'द्विपक्षीय' अथवा द्विगुणात्मक रूप के अनुक्त विकास मे बहुत बडा योगदान किया है। आधुनिक एकत्ववाद ने स्पिनोज़ा से ही यह बात सीखी कि मानस तथा भौतिक क्रम व्यवस्थाएँ उभयनिष्ठ अन्तर्हित वास्तविकता की दो समान्तर पर पृथक् अभिव्यक्तियों के रूप मे, इस प्रकार एक दूसरे से सबद्ध हैं कि एक क्रम व्यवस्था प्रत्येक भाग का निर्धारित प्रत्येक अनुरूप भाग दूसरी व्यवस्था मे मौजूद रहता है। इस आधारभूत बात पर आकर हमारा सिद्धान्त स्पिनोज़ा के सिद्धान्त से पूर्णतया पृथक् हो जाता है जैसा कि हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। यह बात कि एक ही

---

१. स्पिनोज़ा के सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेषतः देखिए 'एथिक्स' १. १५, २५; २. ११, ४०; ३. ६–९; ५. २२, २३। साथ ही उसके सिद्धान्त का कोई अच्छा भाष्य भी देखिए उदाहरणतः पोलक और जो आर्भ्रिम कृत टीकाएँ।

उभयनिष्ठ समग्र दो एकदम अविघटनीय रूपों मे समान रूप से अभिव्यक्त हो, कभी भी सभाव्य नही है। संगत रूप से यदि हम विचार करना चाहेगे तो या तो हमें समग्र के एक होने की वात छोड देनी होगी या फिर उसकी जुडवा अभिव्यक्तियों के एकान्त पार्थक्य की वात का त्याग करना होगा। इसीलिए हम यह पूछे विना रह ही नही सकते कि माना हुआ उभयनिष्ठ स्वरूप इन दोनो ही शृखलाओ मे से किसमे ज्यादा अच्छी तौर पर अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रश्न के उत्तर के अनुसार ही अन्त मे हम अपने आपको या तो ठेठ भौतिकवाद की ओर धकेला जाते पायेगे या फिर ठेठ आदर्शवाद की ओर। हमारी पूछें तो हम तो इस प्रेक्षण द्वारा कि वास्तविकता या सत् अनुभूति का ही नाम है और वह अन्य कुछ भी नही, यह मानने के लिए पहले ही से बाध्य हो चुके हैं कि आभासत: पृथक् दिखायी पडने वाली दोनो शृखलाओं का अन्तत: अवश्य ही मानसिक होना चाहिए। इस प्रकार हमारा सिद्धान्त स्पिनोजा के 'सिद्धान्त' से वहुत ज्यादा मिलता-जुलता तब कहा जा सकता है जब उसमे से 'विस्तृत' विशेषण को उसकी योजना मे से निकाल दिया जाय और समग्र वास्तविकता या सकल सत् को ईश्वर की 'अनन्त प्रज्ञा' मान लिया जाये।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए —वी० वोसाक्ये कृत 'एसेंशियल्स ऑफ लाजिक', ले० २, 'लाजिक' वॉ २, अध्याय ७, एफ० एच० ब्रैडले लिखित, 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अ० १३, १४, २०; एल० टी० हॉवहाउस कृत 'थियरी ऑफ नालेज' भाग ३, अध्याय ६, 'रियलिटी ऐज ए सिस्टेम' एच० लोत्जे कृत 'मेटाफिजिक्स' वु० १ अध्याय ६ (अग्रेजी अनुवाद वॉ० १ पृ० १६३–१९१); जे० एस० मैकेजी लिखित, 'आउट लाइन्स ऑफ मेटाफिजिक्स' वुक १, अध्याय २, ३, वुक ३ अध्याय ६; जे० ई० मैकटेगार्ट कृत 'स्टडीज इन हीगेलियन कास्मालाजी' अध्याय २।

अध्याय ३

सत् अथवा वास्तविकता और उसका आभास

१—यत. सत् एक एकल व्यवस्थित समग्र है इसलिए उसके निर्मायक तत्त्वो का स्वरूप समग्र व्यवस्था की ज्ञान-प्राप्ति द्वारा ही पूर्णतया बोद्धव्य है। अत उसके 'आभासो' मे से प्रत्येक आभास को जब तक स्वत. एक समग्र नही माना जाता तब तक वह न्यूनाधिकतया व्याघाती ही रहता है। २—किन्तु कुछ 'आभास' समग्र की सरचना को दूसरो की अपेक्षा अधिक पर्याप्त प्रदर्शित करते हैं इसीलिए उनमे वास्तविकता की मात्रा उच्चतर होती है। ३—वास्तविकता की मात्रा की इस कल्पना को, गणितीय अनन्त और अत्यणु के अनुवर्ती क्रमों की तुलना द्वारा निर्दर्शित किया जा सकता है। विश्व की अन्तर्वस्तुओं को वास्तविकता की क्रम शृखलाओं मे उपयुक्त स्थान दिलाने का काम पूर्ण दर्शनशास्त्र का होगा। ४—सामान्यतया कोई भी अधीनस्थ समग्र उसी अनुपात मे वास्तविक हुआ करता है जिस अनुपात मे कि वह एक आत्मपरिपूर्ण समग्र होता है। और वह एक आत्मपरिपूर्ण समग्र उसी अनुपात मे हुआ करता है जिस अनुपात मे कि वह (अ) 'व्यापक' और (ब) व्यवस्थित होता है। अर्थात् कोई वस्तु वहाँ तक ही वास्तविक होती है जहाँ तक कि वह सही तौर पर व्यष्ट होती है। ५—व्यष्टता की दोनों ही कसौटियाँ संपातिनी होते हुए भी, हमारी अन्तर्दृष्टि हेतु विशेष मामलो मे इसलिए एक दूसरे से विलग हो जाती हैं क्योंकि मानवीय ज्ञान सीमित होता है। ६—अन्ततोगत्वा केवल अनुभूति की समग्र व्यवस्था ही पूर्णतया व्यष्ट होती है। अन्य सभी व्यष्टता सन्निकटीय ही होती है। ७—दूसरे शब्दो मे अनुभूति की समग्र व्यवस्था एक अनन्त व्यष्ट है और सभी अधीनस्थ व्यष्टता परिमित या सान्त होती है। इस स्थिति की लीबिनिट्ज़ के सिद्धान्त के साथ तुलना। ८—वास्तविकता अथवा सत् के उसके आभास के साथ के संबंध के विषय मे पुनरावृत्तिपरक विवरण।

१—हम जान चुके हैं कि वास्तविक को व्यष्ट अनुभूति के निरूपक एक ऐसे व्यवस्थित समग्र के रूप मे ही देखना होगा जो ऐसे तत्त्वों अथवा कारको से बना है जो अपने तईं भी व्यष्ट अनुभूति रूप होते हैं। इन कारकों मे से प्रत्येक कारक मे समग्र व्यवस्था का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार से अपने आपको व्यक्त किया करता है। उनमे से प्रत्येक अपनी विशिष्ट अन्तर्वस्तु का प्रतिदान समग्र व्यवस्था के निर्माणार्थ किया करता है और चूँकि उनमे से किसी एक के भी दमन अथवा परिवर्तन से समग्र व्यवस्था

का स्वरूप भी बदल जाता है इसलिए समग्र की प्रकृति ही समग्र के प्रत्येक कारक के स्वरूप की निर्धारिका होती है। इस प्रकार समग्र तथा उसके अंगीभूत कारक परस्पर पूर्णतया अन्तर्विद्ध रहते है और पूर्णत्पूर्णता विशुद्ध इकाई बने रहते है। लीबिनिट्ज के सुखद शब्दों मे हम यो कह सकते है कि प्रत्येक खण्डानुभूति अपने विशिष्ट 'निदर्शन बिन्दु' के अनुसार समग्र को प्रतिबिम्बित किया करता है। स्वरूपस्थ इस परिपूरित व्यवस्था को यदि हम उत्कृष्टतम वास्तविकता अथवा श्रेष्ठतम सत् कह सके तो उन खण्डानुभूतियों को जिनमे उस वास्तविकता का स्वरूप विभिन्नतया अभिव्यक्त हो रहा होता है सही तौर पर हम उसका आभास कह सकेंगे। फिर भी हर तरह से हमे यह याद रखना होगा कि उन खण्डानुभूतियों को आभास की सज्ञा देना उन पर 'भ्रान्तिमयी' अथवा 'अवास्तविक' का ठप्पा लगा देना नही है। वे उसी समय मायावी अथवा भ्रान्त मानी जायँगी जब भूल जायेगे कि वे सब की सब एक ऐसे समग्र के खण्डीय रूप अथवा अभिव्यक्तियाँ है जिसकी अन्तर्वस्तु का पर्याप्ततया विरेचन उनमे से कोई भी नही कर पाता।

जब उपर्युक्त तथ्य को भूल कर हम किसी भी खण्डानुभूति से ऐसा व्यवहार करने लगते है मानो वह वास्तविकता के समग्र स्वरूप की पूर्ण तथा पर्याप्त अभिव्यक्ति हो—दूसरे शब्दों मे, जब हम अस्तित्व अथवा विश्व के समग्र स्वरूप मे उन परिकल्पनाओं का विनियोग करने लगते है जो केवल अस्तित्व के विशिष्ट रूपों या पक्षो पर ही वैध रूप से लागू की जा सकती है, तो अनिवार्यतः ही हम अपने आपको व्याघात दोषयुक्त और अनर्गल परिणामों की ओर घसीटे जाते पायेगे ही। किसी भी समग्रीय व्यवस्था के प्रत्येक खण्डीय पक्ष या रूप को उसके समग्र रूप के सन्दर्भ मे ही ठीक तरह से समझा जा सकता है इसीलिए तो यदि खण्ड को समग्र से अपकृष्ट करके उसे एक आत्मपूर्ण समग्र रूप मे देखने का प्रयत्न अथवा दूसरे शब्दो मे, उन धारणाओं को, जिनका विनियोग हम अनुभूतिजगत् के किन्ही विशिष्ट रूपों मे ही किया करते है, समग्र व्यवस्था के विनियोगार्थ भी अन्तिमेत्थतया वैध मान लेने का प्रयत्न, निश्चित रूप से हमे व्याघात के गड्ढे मे ला पटकेगा। फिर व्यवस्था के समग्र स्वरूप के विषय मे हमारा वर्तमान ज्ञान जहाँ अपूर्ण है वहाँ उसके कारकों की संरचना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि भी सीमित है। इसलिए आम तौर पर यह होता है कि अपने विनियोग क्षेत्र के भीतर भी हमारे विज्ञानो की विभिन्न विशिष्ट धारणाओं पर जब विचार किया जाता है तो वे आन्तरिक व्याघात से रहित नही पायी जाती। उदाहरण के लिए, भौतिकवाद की तरह, जब हम अस्तित्व की समग्र व्यवस्था की व्याख्या विशुद्ध भौतिक विज्ञानों मे प्रयुक्त होने वाली शब्दावली द्वारा करने लगते है, तब हम अत्यन्त अनर्गल निष्कर्षों पर जा पहुँचते हैं। और फिर इन धारणाओं का भौतिक पदार्थरूपेण प्रतिबद्ध

उपयोग करने पर भी हम उन्हे इस प्रकार परिभाषित नही कर पाते कि व्याघात दोष का कोई न कोई तत्त्व उस परिभाषा मे न आ पाये।

इन दोनों ही प्रकार के बोधो मे आभास के साथ व्याघात का पुट मिला रहता है। केवल इसी अन्तर्दृष्टि को ही जो अस्तित्व की समग्र व्यवस्था को एक साथ ग्रहण कर सके, उसे आभास की विवृत्तियाँ पूरी तरह सगत और एकतान दिखायी पड सकती है। लेकिन इससे यह तथ्य बदल नही जाता कि समग्र के किसी भी अग या भाग के तथा अन्य भागो या अगो के साथ उसकी सयुक्ति के बारे मे हमारी अन्तर्दृष्टि जहाँ तक आत्म-सगत रहे वहाँ तक वह समग्र विषयक असली ज्ञान का, भले ही वह अपूर्ण हो, परिवहन अवश्य ही किया करती है । भले ही समग्र की सरचना विषयक हमारी विव्यक्तिमय अन्तर्दृष्टि आत्मसगत परिशुद्ध आदर्श तक न पहुँच पाये लेकिन हो सकता है कि वह विभिन्न अशों मे, विभिन्न अवस्थितियों मे अथवा विभिन्न पहलुओ के सिलसिले मे, उस आदर्श के लगभग तो पहुँच ही सके। और जितना ही सान्निकट्य गहरा होगा हमारे ज्ञान को उतना ही कम रद्दोबदल, उस आभास को अपने साथ पूरी तरह एकरूप बनाने के लिए करना पडेगा और उसमे वर्तमान वास्तविकता विषयक सत्याश भी उतनी ही मात्रा मे अधिक होगा।

वास्तविकता और उसके आभासो की दुनिया को दो अलग और पृथक् राज्य मानने की गलती का परिहार करते रहने का हमे विशेष रूप से ध्यान रखना पडेगा। हमे याद रखना होगा कि किसी व्यवस्थागत एकत्व मे समग्र का अस्तित्व तभी तक रह सकता है जब तक कि वह अपना स्वरूप अपने अगो या भागो की व्यवस्था द्वारा व्यक्त करता रहता है और इसके साथ ही अगो अथवा भागों का भी अस्तित्व भी उनके द्वारा समग्र के स्वरूप की अभिव्यक्ति बने रहने तक ही रहता है। व्यवस्था के हमे ज्ञात प्रकारो मे से कोई भी प्रकार जितने अश तक इस उपर्युक्त परिस्थिति से दूर हटता है, पूर्णत व्यवस्थित होने की स्थिति से वह उतना ही नीचे रहता है। वास्तविकता का व्यवस्थागत समग्र होने के कारण, अपने आभास से पृथक् कोई अस्तित्व नही रह सकता फिर भी उनमे से यदि एकल रूप मे किसी को लिया जाय या दोनों को मिलाकर[1] उनके योग को लिया जाय तो उनमे से एक भी समग्र की

---

१. उनका योग नहीं, क्योकि वास्तविकता का व्यवस्थागत समग्र योग नहीं होता अपितु एकल अनुभूति ही हुआ करता है। आभासो के योग के साथ उसे तदात्म बताना वैसी ही गलती होगी जैसी कि नीतिशास्त्र मे प्रसन्नता को सुखो के योग का तदात्म्य बताने के कारण हुआ करती है। (प्रसन्नता गुणात्मक समग्र है जब कि सुखो का योगफल एक राश्यात्मक समग्र)।

अन्तर्वस्तुओं को नि शेप नही कर सकता। यद्यपि कोई भी आभास वास्तविकता का समग्र नही होता तथापि उन आभासो मे से किसी भी आभास मे समग्र वास्तविकता अपने समग्र रूप मे अभिव्यक्त होने से नही चूकती । समग्र सही तौर पर, अपने समग्र रूप मे अपने प्रत्येक भाग या अग मे वर्तमान रहता है जब कि कोई भी भाग या अग स्वय समग्र नही हुआ करता।[1]

आइये अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का उदाहरण देकर हम एक बार फिर इसी बात को स्पष्ट करें। सोचिए, किसी विशेप विज्ञान अथवा किसी विशेप व्यापक विषय पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने जैसी किसी व्यवस्थित योजना को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए हम किस मनोयोगपूर्वक उसमे जुट पडते है ? उपर्युक्त प्रकार के मामले मे हमारे विचार का केन्द्र कोई लक्ष्य या प्रयोजन ऐसा होता है जो कार्यान्वियन प्रक्रिया के बीच ऐसे समग्र मे व्याप्त किसी सर्वनिष्ठ लक्ष्य को लेकर एकीभूत हुए अधीनस्थ विचारो और हितों के परस्पर सबद्ध क्रम मे विस्तार ग्रहण कर लेता है या फैल जाता है। अधीन अवस्थितियो के पूर्वापर साधन द्वारा ही यह सर्वोच्च अथवा केन्द्रीय लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता है लेकिन साथ ही साथ जहाँ यह लक्ष्य ही व्यवस्थागत सभी अगों को जीवन दान दिये रहता है वहाँ उन अगों से पृथक् उसका अपना कोई अस्तित्व ही नही होता, यद्यपि वह न तो उन अगों मे से किसी एक का न समष्टि रूप से गृहीत उनके योग का ही स्वरूप होता है।

२—यदि हमारा यह विश्वास कि वास्तविकता एक ऐसी एकल व्यवस्थित इकाई है जो लघुता व्यवस्थित इकाइयों मे व्याप्त तथा उनमे ही अभिव्यक्त है, सही हो तो हम आशा कर सकते है कि क्रियात्मक जीवन विविध विज्ञानों मे हमे जिन कुछ लघुता व्यवस्थित इकाइयों या एकत्वो से काम पडता रहता है वे अन्य इकाइयों की अपेक्षा उस समग्र के, जिसकी वे अग हैं, सकल स्वरूप को कही अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित करेगी। जिन 'दृष्टि विन्दुओं' से प्रत्येक लघुतर व्यवस्था समग्र का प्रतिविम्ब प्रस्तुत करती है उसका पूरी तरह सही होते हुए भी, समान रूप से सब सही होना जरूरी नही। किसी भी विशुद्ध या असली व्यवस्था मे, यद्यपि समग्र का प्रत्येक भाग मे

---

१. प्रोफेसर सिज्विक किस प्रकार अज्ञात रूप से कल्पना कर बैठते है कि वास्तविकता तथा आभास में परस्पर प्रभेद का मतलब दो न्यूनाधिक स्वतन्त्र 'विश्वो' या 'वस्तुओं' की पारस्पर भिन्नता है, पाठक को पर्याप्त मनोविनोद होगा (देखिए 'फिलासफी इट्स स्कोप ऐण्ड रिलेशन', लेक्चर १ व ४) । उक्त प्रोफेसर महोदय को आलोचनाविधि को हमारे जैसे मन्तव्यों के विरुद्ध समग्र वैधता की प्रतिस्थापना से वचित रह जाना पड़ता है ।

भी समग्र रूप मे उपस्थित या प्रस्तुत रहना आवश्यक है तथापि उसका सब भागो मे बराबर अश मे या समान रूप से प्रस्तुत होना आवश्यक नही । हो सकता है कि वह 'एक बाल मे उतने ही पूर्ण और उतने ही विशुद्ध रूप मे मौजूद न हो जितना कि एक हृदय में' आइये एक ठोस उदाहरण द्वारा इसे समझाएँ । द्रव्यमान कणो का पुज, मशीन जीवित शरीर-तन्त्र, और सत्य के चैतन्य तथा व्यवस्थित इकाइयाँ है और इसीलिए इन सब मे हमे किसी न किसी अश मे उस समग्र विषय की जिसकी ये सब इकाइयाँ अग है सरचना की पुनरावृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन इससे यह नतीजा नही निकलता कि ये सब इकाइयाँ उस समग्र की सरचना को एक समान पर्याप्त और पूर्ण रूप मे भी व्यक्त करती है । वास्तव मे ऐसा कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त जो विकास को विश्व प्रक्रिया का असली लक्षण मानता हो यही कहेगा कि वे इकाइयाँ ऐसा नही करती तथा यह कि वास्तविकता की समग्र व्यवस्था का स्वरूप द्रव्यमानकण व्यवस्था की समाकृति के परिवर्तनो की अथवा भौतिक जैवतन्त्र की जीवनी प्रक्रियाओ तक की अपेक्षा चेतन मन के कार्यकलाप मे कही अधिक अपरिमितत. पर्याप्त और स्पष्ट रूप मे दिखायी पड़ता है।

क्रियात्मक जीवन मे हमारे अनेक असूलोच्छेद्य विश्वासो मे से एक अन्यतम विश्वास यह भी है कि अर्हता की ऐसी मात्राएँ मौजूद है जो बृहत्तर समग्र के स्वरूप को प्रकट करने वाली तत्सबद्ध आशिक व्यवस्थाओ की पर्याप्तता एकदम समरूप हो। उदाहरण के लिए उन्हे मानसिक व्यवस्थाओं मे, जिन्हे मेरे आशिक 'आत्मा' के नाम से अभिहित किया जा सकता है कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ भी है जिन्हे मै अन्यो की अपेक्षा 'सत्यतर' इस आधार पर कहता हूँ कि ये एक मानव सत्ता की हैसियत से मेरे समग्र स्वरूप या चरित्र को कही अधिक पूर्णरूप मे प्रकट करती है। नि सन्देह मेरे मानसिक जीवन की निर्णायक अधीनस्थ व्यवस्थाओ मे मेरा समग्र स्वरूप दिखायी देता है और वह ही उन व्यवस्थाओ के स्वरूप का निर्धारण भी किया करता है। उन व्यवस्थाओं मे से प्रत्येक किसी एक पहलू के रूप मे या सकेतो की किसी विशेष व्यवस्था पर होने वाली प्रतिक्रिया के रूप मे स्वय समग्र स्वरूप ही है लेकिन उन व्यवस्थाओ मे से किन्ही मे, अन्यो की अपेक्षा वह समग्र कही अधिक विकसित और स्पष्ट दशा मे पाया जाता है। मै चाहे जहाँ होऊँ और चाहे जो कुछ करता होऊँ किन्तु एक माने मे मै स्वत्व मे ही रहता हूँ लेकिन बीमारी की हालत वाले मै की अपेक्षा स्वस्थ दशा वाला मै कही 'अधिक मै' होता हूँ। इसी प्रकार स्वाध्याय के स्वेच्छापूर्वक अगीकृत स्वतन्त्र व्यवसाय मे रत मै, जीविकार्थ आय की आवश्यकता द्वारा चालित और इसी कारण अनिच्छापूर्वक कार्यों के रत मै की अपेक्षा कही 'अधिक मै' हुआ करता हूँ।

इसीलिए, तान्त्रिकता के साथ आत्माओ के सम्बन्ध के विषय मे इसी प्रकार की

वस्तुस्थिति सार्वत्रिक रूप से पाने के लिए हमें तैयार रहना ही पडेगा। ऐसी दुनिया मे जहाँ 'उच्चतर' और 'लघुतर' 'अधिक' और 'कम' सत्य का कोई न कोई अर्थ हुआ करता है, वहाँ वे लघुतर व्यवस्थाएँ, जिनमे समग्र का स्वरूप अभिव्यक्त पाया जाता है अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा उस स्वरूप की कही अधिक पूर्ण और पर्याप्ततर प्रतिदर्शना किया करती हैं। यह कथन न्यूनाधिक ऐसा कहना ही है कि यह दिखलाने के लिए कि वास्तविकता की समग्र व्यवस्था का स्वरूप उनमे किस प्रकार अभिव्यक्त होता है हमारे ज्ञान द्वारा मान्यीकृत आंशिक व्यवस्थाओं मे से कुछ ही व्यवस्थाओं का अपेक्षाकृत वहुत कम रूपान्तरण करने की आवश्यकता होती है। इसके मामलात मे यह दिखलाने के लिए कि समग्र किस प्रकार अपने भागो या अगों मे स्वयं पुनरावृत्त हुआ करता है आवश्यक रूपान्तरण की मात्रा वहुत अधिक होगी। एक ही उदाहरण ले लीजिए, यदि वास्तविकता के सामान्य स्वरूप के वारे मे हमारा विश्लेपण ध्रुव हो तो हम और भी स्पष्ट रूप से देख सकेंगे कि वह स्वरूप मानव मन की संरचना मे किस प्रकार भौतिक वस्तु नामधेय वस्तुओं की अपेक्षा कितनी अधिक मात्रा मे पुनराविर्भूत हुआ करता है और इसलिए हम कह सकते हैं कि समग्र व्यवस्था के मौलिक स्वरूप को, हमारे बोधार्थ वर्तमान भौतिक प्रकृति की अपेक्षा मानव मन वहुत अधिक पूर्ण और पर्याप्त रूप मे व्यक्त करता है। यही वात और सक्षेप मे यों कह सकते हैं कि वास्तविकता की डिग्रियाँ या श्रेणियाँ हुआ करती हैं और आभास के उन रूपो मे जिनके द्वारा उसकी सामान्य प्रकृति अधिकतम पूर्ण और स्पष्ट व्यक्त होती है वास्तविकता की उच्चतम मात्राएँ मौजूद रहती है।

३—मात्रासाप्य वास्तविकता की यह कल्पना एकाएक देखने पर विरोधाभास पूर्ण ही लगेगी। लोग पूछ सकेंगे कि कोई वस्तु वास्तविक होने के अतिरिक्त 'कम' या 'अधिक' वास्तविक क्यो कर हो सकती है? क्या उस वस्तु का या तो एकदम वास्तविक होना अथवा विलकुल ही वास्तविक न होना आवश्यक नही है लेकिन उन अन्य मामलात मे भी जहाँ मात्रा या डिग्री की वैधता सर्वत्र स्वीकृत हो चुकी है, मात्रा विपयक यही वाधा खडी की जा सकती है। इसी कारण कुछ लोगो के मन मे यह वात उठ खड़ी हुई कि अनत और अत्यणु की कोई मात्रा या डिग्री हो ही नहीं सकती, और उन्होंने सभी अपरिमितों या अनन्तो को तथा सभी शून्यो को भी व्यक्त रूप से वरावर अथवा समान घोपित कर दिया है। इसके वावजूद भी इस निष्कर्प से वचा न ी जा सकता कि अनन्तन्तोवृहद् तथा अनन्तत लघु परिमाणो के पूर्वापर क्रमों की कल्पना न केवल वुद्धिगम्य ही है अपितु, यदि हमे अपने मात्रामूलक विपय विचार को सगत वनाये रखना है तो, नितान्त आवश्यक भी। उदाहरण के लिए, जव किसी आयत की भुजाएँ अनन्तन्तोवृहद् अथवा अनन्ततः लघु, हमारे निर्धारित किसी भी आदर्श मापदण्ड के

हिसाब से, हो भी जायं तो भी वह आयत तो रहेगा ही और इसलिए उसका क्षेत्रफल भी न केवल हमारे निर्धारित आदर्श मापदण्ड के अनुसार ही अपितु स्वयं उसकी भुजाओं के अनुपात के अनुसार भी अनन्तन्तोवृहद् अथवा अनन्तत. लघु अपने-अपने विषय क्रम से होगा। एक अर्थ में जहाँ कोई माला मात्रा का विषय नहीं होती वहाँ दूसरे अर्थ में उसी के लिए न केवल मात्रा की गुंजाइश ही हो सकती बल्कि न्यूनाधिक रूप में मात्राओं द्वारा विभेद करने की निश्चित आवश्यकता भी पड़ सकती है। विविध आभासों में अपने आप को व्यक्त करने वाली वास्तविकता का मामला ठीक ऐसा ही मामला है। इस अर्थ में कि एक ही एकल अनुभूति-व्यवस्था जो समग्र रूप में भी प्रकट होती है और अपने समग्र रूप में ही अधीनस्थ अनुभूति व्यवस्थाओं में से प्रत्येक व्यवस्था में भी प्रस्तुत रहती है, वे सब एक समान ही वास्तविक है और उनमें से प्रत्येक व्यवस्था समग्र के अस्तित्व के लिए उतनी ही अपरिहार्य है जितनी कि दूसरी प्रत्येक व्यवस्था। इस माने में कि समग्र किसी एक व्यवस्था में दूसरी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में मौजूद है, वास्तविकता और अवास्तविकता की समाप्य मात्राओं की अनन्तता हो सकती है। आभासों और वास्तविकता के बीच इस प्रकार के द्वैत सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए गणितीय विज्ञान का शब्द यदि हम उधार ले लें तो उचित ही होगा, उस हालत में हम इस द्वैत सम्बन्ध को वास्तविकता के पूर्वापर क्रम नाम से अभिहित कर सकेंगे। तब हम कह सकेंगे कि जहाँ तक हमारे ज्ञान के बन्धन हमें अनुज्ञा दे सके, वहाँ तक वास्तविकता के क्रमों को निर्धारित कर के उन उचित अनुक्रमों को सज्जित करना पूर्ण दर्शनशास्त्र की अनेक समस्याओं में से एक प्रधान समस्या है।

४—इस प्रकार का कार्य ऐसी बुद्धि ही कर सकती है जो तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण तथा विशिष्ट विज्ञानों के निष्कर्षों से एक समान परिचित हो ऐसा कार्य ही व्यावहारिक तत्त्वदर्शन का उचित कार्य होगा। तत्त्वमीमांसा के सामान्य सिद्धान्तों पर होने वाले विचार विमर्श में उन कसौटियों या निकषों के सामान्य स्वरूप का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा जिनके आधार पर किसी विशिष्ट आंशिक व्यवस्था द्वारा प्रदर्शित वास्तविकता की मात्रा का निर्धारण करना आवश्यक होता है। इस सामान्य स्वरूप का समुचित स्पष्टी करण, वास्तविकता के एकत्व विषयक पूर्वगत अनुसन्धान द्वारा पहले ही किया जा चुका है। वहाँ हम देख ही चुके हैं कि वास्तविकता एक आत्मपूर्ण व्यष्ट आनुभूतिक समग्र होने के नाते ही एक कही जाती है। और इसका व्यष्टित्व इसी में है कि वह ऐसे घटकों अथवा अंगों या भागों की बहुलता के बीच एकल और संगत संरचना की व्यवस्थित प्रतिमूर्ति है, जो घटक अपने समग्र स्वरूप के लिए इस तथ्य पर निर्भर रहते है कि वे ठीक इसी संरचना की प्रतिमूर्ति हैं। अगर यह बात सही है तो हम कह सकते है कि वास्तविकता की मात्राओं का वही अर्थ है जो व्यष्टत्व की मात्राओं

का और और यह कि कोई वस्तु ठीक उसी सीमा तक वास्तविक होती है जिस सीमा तक वह सही तौर पर व्यष्ट होती है।

कोई भी अस्तित्ववती वस्तु, भले ही वह किसी भी प्रकार की क्यो न हो, वास्तव मे वैसी ही होती है जैसी कि वह दिखायी देती है और वह उसी हद तक हमारे बोध के लिए प्रकट दिखायी पड़ती है जिस हद तक कि वह वस्तु स्वय आत्मपूर्ण तथा इसी कारण एक अद्वितीय व्यवस्थित समग्र होती है। दूसरे शब्दो मे, जिसको एक वस्तु स्वीकार करते है वह दार्शनिक आलोचना और विश्लेषण के सामने अपने आपको जिस सीमा तक एक आत्मपूर्ण व्यवस्थित समग्र प्रदर्शित करती है उसी सीमा तक हम भी उस वस्तु को वास्तविकता के मौलिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के रूप मे सही तौर पर ग्रहण करते है अथवा उसे इसी रूप मे देखते है जैसी कि वह और उसी हद तक हमारा ज्ञान भी असल वास्तविकता हमे प्रदान करता है । दूसरी ओर जहाँ तक कि वह, जो पहले-पहल एक आत्मपूर्ण समग्र प्रतीत होता था, बाद के विश्लेषण द्वारा वैसा नही पाया गया, उसी हद तक हम भी वास्तविकता के एकत्र समग्र मे तथ्यो को उनके सही स्थान पर देखने मे चूक गये और उसी हद तक हमारा ज्ञान भी भ्रान्ति तथा अवास्तविकता से प्रभावित हुआ अथवा यो कहिए कि कोई चीज जितनी ही सही तौर पर एक आत्मपूर्ण समग्र व्यष्टि होगी, वास्तविकता के मापदण्ड मे उसका उतना ही ऊँचा स्थान होगा।

जब हम पूछते है कि वे ऐसे चिह्न कौन से है जिससे किसी वस्तु का दूसरी की अपेक्षा अधिक सही व्यष्ट समग्र होना सिद्ध किया जा सके, तब हम पाते है कि उन चिह्नों की कम से कम सख्या दो है और दोनों ही, सिद्धान्तत एक है, यह बात आसानी से दिखायी पड़ती है। लेकिन चूँकि हमारी अन्तर्दृष्टि सीमित है इसलिए किसी दत्त मामले मे वे कभी-कभी एक-दूसरे से मेल खाते नही दिखायी देते। यदि अन्य सब बाते एक समान हों तो कोई वस्तु अन्य की अपेक्षा अधिक सही तौर पर व्यष्ट समग्र तब होती है, जब उसमे दूसरी की अपेक्षा, अपनी अकगत अन्तर्वस्तुओ की विस्तृति अधिक हो, दूसरे जब विस्तृति को समेट कर आत्मसात् अथवा अंकगत कराने वाली एकता की मात्रा दूसरी की अपेक्षा उस वस्तु मे अधिक हो। अथवा यूँ कहिए कि किसी व्यवस्था द्वारा अभिकृत व्यष्टत्व की मात्रा निर्भर होती है: (१) उसके अर्थग्राही व्यापकत्व पर, तथा (२) उसके आन्तरिक व्यवस्थीकरण पर जितना ही कोई वस्तु अस्तित्व का अधिक आत्मसात्करण करती है और यह आत्मसात्करण जितने ही अधिक एकतानता से किया जाता है उतनी ही व्यष्ट वह वस्तु होती है।

निस्सन्देह यह बात तो स्पष्ट ही है कि किसी भी व्यवस्थित समग्र के उपर्युक्त दोनो लक्षण अन्योन्यापेक्षी है। अत ठीक इस कारणवश कि समग्र वास्तविकता

अन्ततोगत्वा एक एकलसंगत व्यवस्था होती है इसलिए किसी आंशिक व्यवस्था के बहिर्गत जितना भी अधिक कुछ होगा उस व्यवस्था के घटकों को अपने स्वरूप के लिए उतना ही अधिक निर्भर अपने उस सम्बन्ध पर रहना होगा। जो बाह्य वास्तविकता का उनके साथ है और उतनी ही कम मात्रा में वह व्यवस्था अपने अन्तरतम में पूर्ण स्पष्टीकरण योग्य होगी। आंशिक व्यवस्था जितनी ही अधिक व्यापक होगी उसके घटक अपने निर्धारण के लिए उससे बाह्य किसी वस्तु के साथ उसके सम्बन्ध के आधार पर उतने ही कम निर्भर होंगे और उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ उसका संगठन, उसकी अपनी संरचना के आन्तरिक नियम के आधार पर व्याख्येय भी होगा। अर्थात् व्यवस्था की अर्थग्राहिता जितनी ही अधिक व्यापक होगी उसकी आन्तरिक संगतता भी सामान्यतः उतनी ही अधिक पूर्ण होगी और विलोमतः समग्र व्यवस्था का कार्यकलाप जितना ही अधिक ब्योरेवार पूर्णता के साथ आन्तरिक संरचना के एकल नियम की अभिव्यक्ति के रूप में आंतरिकतः व्याख्येय होगा उसकी अन्तर्वस्तुएँ उतनी ही कम निर्भर किसी बाह्य वास्तविकता पर होंगी और इसीलिए, यह जानते हुए कि सकल वास्तविकता अन्ततोगत्वा अन्तःसम्बद्ध हुआ करती है यह मानना पड़ेगा कि विवादग्रस्त व्यवस्था से बाह्य वस्तु की मात्रा कम ही होगी। अर्थात् आंतरिक एकत्व जितना ही बृहद् होगा व्यवस्था की अर्थग्राहिणी व्यापकता सामान्यतः उतनी ही अधिक होगी। इस प्रकार व्यष्टता के दोनों निकष अन्ततोगत्वा एकरूप हो जाते हैं।

५—किन्तु अनुष्ठान में यह देखा गया है कि जिस खंडखंडीय रूप में हमारी अनुभूतियाँ हम तक पहुँच पाती हैं उसके परिणामस्वरूप अर्थग्राहिणी व्यापकता तथा पूर्णतापेक्षिणी व्यवस्थागत एकता दोनों परस्पर विरोधिनी प्रतीत होती हैं। अतः हम इस साधारण नियम पर ही आ पहुँचते हैं कि ज्ञान का व्यवस्थित संगठन उसके विस्तार पर ही निर्भर होता है। जितना ही विस्तृत अथवा व्यापक हमारा ज्ञान होगा समग्र रूप से उतनी ही अधिक मात्रा में उसकी संगठनात्मक संरचना व्यक्त होगी। विज्ञान का व्यवस्थीकरण और उसका सीमा-विस्तार दोनों ही अन्ततोगत्वा सहगामी ही होते हैं। लेकिन कोई एकाग्र क्षण ऐसा भी आ जाता है जब ज्ञान के विकास काल में नवीन सत्यों को मान्यता देने के कारण विज्ञान के स्वीकृत सिद्धान्तों या नियमों में संगठन और विसंगति का अस्थायी अव्याहार आवश्यक हो सकता है। उदाहरणतः ज्यामिति के इतिहास में उस विज्ञान के स्वीकृत सिद्धान्त अस्थायी रूप से तब विसंगठित हो गये थे जब इस बात का पता लगाने पर कि किसी वर्ग की भुजा और विकर्ण का कोई समापवर्तक नहीं होता, प्राचीन कालिक यूनानी गणित असंख्येय परमाणों को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो गये। और यह असंगति तभी दूर की जा सकी जब संख्याओं के सिद्धान्त के मौलिक नियमों का संशोधन संभव हो सका। इसी तरह आज भी असमञ्जसता इन

वात का मौजूद है कि मनोविज्ञान के अध्ययन को उसके विषय के ठीक-ठीक निश्चयन और अन्य भौतिक तथा मानसिक विज्ञानों के साथ उसके सबन्ध निर्धारण द्वारा एक विशुद्ध व्यवस्थित रूप देने की समग्र पूर्व उत्कठा कही आध्यात्मिक जीवन के तथ्यो विषयक हमारे ज्ञान के विस्तार मे बाधक न बन जाय। बहुधा हमारा महत्त्वपूर्ण ज्ञान विस्तार नियमों अथवा सिद्धान्तों के अस्थायी सविलय का वलिदान देने पर ही हमे प्राप्त होता है और हमे बाद में होने वाली प्रगति की दौड़ के मध्य, तथ्यो और नियमो के पारस्परिक भावी पुन. समंजन की प्रतीक्षा करते रहकर ही सन्तुष्ट होना पडता है।

अपने नैतिक जीवन मे भी हम इसी तरह, किसी आदमी के चरित्र या स्वभाव को दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यष्ट या तो उसकी अभिरुचियों और हितो की प्रवर विशालता के कारण या आत्मसंगत समग्र मे उसके हित और अभिरुचियाँ जिस संगत रूप मे खचित हों उसकी प्रवरता के कारण ठहराया करते है। विविध-रुचि व्यक्ति की व्यष्टता न्यून रुचि वाले आदमी की अपेक्षा अधिक सत्य होती है। इसी प्रकार दृढ उद्देश्यी व्यक्ति भी उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसकी क्रियाशीलताएँ द्वन्द्वात्मक प्रतीत होने वाले व्यापारो मे व्यर्थ नष्ट होती रहती है, कही अधिक सही तौर पर व्यष्ट होती है, लेकिन हमारी अन्तर्दृष्टि मे दोनो कसौटियाँ सदा एक रूप नही हो पाती। अभिरुचियो और हितों के वैविध्य और उनकी विशालता की वृद्धि के साथ-साथ ही शायद लक्ष्य की सलग्नता या सगतता में भी कमी आना शुरू हो जाती है तथा किन्ही विशेष लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित होने मे कभी-कभी लक्ष्य की संगतता मे बढ़ोत्तरी भी होती है। हमारे लिए यह निर्धारित करना कि व्यष्टता के ये दोनो पक्ष कहाँ जाकर एक दूसरे से इस प्रकार विलग होते है कठिन ही नही अपितु असम्भव ही होना चाहिए, साथ ही यह निर्धारित करना भी कि न्यून रुचि वाले किन्तु उन रुचियों पर गहन रूप से सकेन्द्रित ध्यानी व्यक्ति तथा बहुरुचि किन्तु अपेक्षाकृत विसरित अथवा ध्वंस्त क्रियाशील वाले व्यक्ति मे से व्यष्टता किसमे प्रवर रूप मे दिखायी पड़ती है, क्योंकि हो सकता है कि जो बात ऊपर से देखने पर असम्बद्ध लक्ष्यो के पीछे दौडकर आत्म-विसरण करना मात्र दिखायी देती हो वह वास्तव मे कही किसी ऐसे सगत प्रयोजन का क्रमबद्ध अनुधावन ही न हो जिसकी विशालता के कारण न तो समसामयिक द्रष्टा अथवा स्वयंकर्ता ही उसके एकत्व को समझ न सका हो, किन्तु वह एकत्व ऐसे इतिहासज्ञ के लिए बिलकुल स्पष्ट होता है जो किसी एक जीवन की सार्थकता समाज पर पड़े उसके समग्र प्रभाव द्वारा आँकने का अभ्यस्त है। इसी प्रकार जो कुछ समय किसी एकोद्देश्यी व्यक्ति का एकल लक्ष्य प्रतीत होता था, अन्तिम परिणाम को देखते हुए मूलत असंगत लक्ष्यों का अदूरदृष्ट सयोजन मात्र ही सिद्ध हो।

किन्तु इस प्रकार के विमर्श से तो यही सिद्ध होता है कि हमारी अन्तर्दृष्टि

सीमित होने के कारण उन आभासो की क्रमिक व्यवस्था मे जिनके द्वारा एकल वास्तविकता अपने आपको व्यक्त किया करती है, प्रत्येक आभास को उसका अपना स्थान निश्चयपूर्वक दिला सकने के लिए अपर्याप्त है। इस प्रकार के विचार हमारी इस सामान्य स्थिति को स्पर्श नही करते कि जहाँ कही भी अर्थग्राहिणी व्यापकता और एकतानता एक साथ जाती देखी जा सके, वहाँ ही यह व्यष्टता के मापमान के रूप मे उनका उपयोग हमारे लिए न्याय्य होगा। साथ ही साथ वह उस आंगिक व्यवस्था की वास्तविकता का भी मापमान होगा, जिसमे हमे उपर्युक्त व्यापकता और एकतानता दोनों ही दृग्गोचर होती हैं। उदाहरणार्थ यही वे आधार हैं जिनके बल पर हम सुरक्षित रूप से घोषित कर सकते है कि ऐसा कोई भी शरीरतन्त्र जिसमे उसके अंगो की एकता सजीव हुई हो, उन प्राग्वर्तमान इकाइयो के पुज मात्र की अपेक्षा जिनमे अगो की प्रकृति या उनका स्वरूप समग्रतया या मुख्यतया समग्र की सरचना से स्वतन्त्र हुआ करता है, कही अधिक व्यष्ट और इसीलिए उच्चतर मात्रा की वास्तविकता हुआ करता है। इसके अतिरिक्त यह भी हम घोषित कर सकते हैं कि वह मन जो लक्ष्यों की किसी आत्म चयित सगत व्यवस्था का चेतनतापूर्वक और क्रमानुसार अनुसरण या अनुधावन किया करता है अधिक व्यष्ट होता है। और इसीलिए वह उस शरीरतन्त्र की अपेक्षा उच्चतर वास्तविकता स्वरूपी होता है, जिसकी प्रतिक्रिया उसके अपने पर्यावरण के स्थायी स्वरूप के अनुसार अथवा उसकी तत्कालीन आन्तरिक दशा के अनुसार ऐसे तरीको से होती है जो लक्ष्यों की परस्पर सम्बद्ध योजना की व्यवस्थित कार्य परिणति नही होते। और यह स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त आधार ही हमारा एकमात्र आधार हो तो हमे कहना पडेगा कि सम्पूर्ण वास्तविकता के व्यष्ट समग्र को हम यदि एक जैवतन्त्र मानें तो उसे एक पुजमात्र मानने की अपेक्षा हम सत्य के अधिक निकट होंगे लेकिन यदि हम उसे मन रूप विचारें तो हम सत्य के उससे भी अधिक निकटतर होगे। अपने जीवनो और स्वरूप के विषय मे हमारे फैसलो का भी यही तरीका है। जहाँ तक किसी एक जीवन मे दूसरे की अपेक्षा अधिक विस्तार और लक्ष्य का अधिक चैतन्य एकत्व मौजूद हो वहाँ तक वह अधिक यथार्थतया व्यष्ट होता है और इसीलिए सपूर्ण वास्तविकता का एक अधिक पर्याप्त या पर्याप्ततर उपलक्षक भी। मैं ठीक जहाँ तक व्यष्ट हूँ वहाँ तक ही यथार्थत वास्तविक हूँ। और जिस सीमा तक मैं व्यवस्थागत व्यष्टता के आदर्श से, चाहे अपनी अभिरुचियो की कमी के कारण या उनकी पारस्परिक असंगति के कारण, कम बैठता हूँ मेरे जीवन मे एकत्व का आभास वहाँ तक ही भ्रान्तिमय रहता है और मुझे एक अवास्तविक आभास कहा जाना आवश्यक है।

यहाँ हम बता देना चाहते है कि वास्तविकता का हमारा तत्त्वमीमासीय निकष नैतिक अर्हता विषयक हमारे नीतिशास्त्रीय निकष का सपाती है क्योंकि नैतिकता

के अनुसार भी हम एक जीवन का दूसरे की अपेक्षा अर्हणीयतर या तो इसलिए मानते हैं कि उसके आदर्श अपनी अर्थग्राहिणी व्यापकता के कारण प्रवरतर हैं अथवा इसलिए कि वे आदर्श संगत प्रयोजन के एकतान समग्र में पूर्ण रूप से खचित हैं। श्रेष्ठतर व्यक्ति या तो विस्तृततर आदर्शों का व्यक्ति होता है या वह व्यक्ति जिसकी अपने आदर्शों के प्रति आत्मनिष्ठा पूर्णतर और शुद्धतर हो। इस प्रकार नैतिकता की अर्हता के लिए हमारा माप जिस प्रकार व्यष्टता में निहित है इसी प्रकार तत्त्वमीमांसा का वास्तविकता विषयक माप भी व्यष्टता में ही निहित है और नैतिकता के लिए व्यष्टता उसी प्रकार प्रधानतया मात्रा विषयक वस्तु है जिस प्रकार तत्त्वमीमांसा के लिए। इन दोनों से संबद्ध किन्हीं विशिष्ट मामलों में जैसे ही ह अपने निकष का उपयोग करने चलते हैं वैसे ही वही कठिनाई हमारे सामने आ खड़ी होती है अर्थात् दोनों ही उपर्युक्त पहलू एक दूसरे से अलहदा हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं कि अधिक अर्थग्राहिणी व्यापकता का आदर्श ही सदा अधिक उद्देश्यनिष्ठा द्वारा पोषित होता हो। इसीलिए दो विशिष्ट व्यक्तियों की अर्हता विषयक हमारे वास्तविक नैतिक निर्णय प्रायः उसी प्रकार आवश्यक रूप से अनिश्चित तथा उच्चावच होते हैं जिस प्रकार विशिष्ट वस्तुओं से सम्बद्ध वास्तविकता के क्रम विषयक हमारे तत्त्वमीमांसीय निर्णय। हम किसी आदमी को उसके आदर्शों की व्यापक बुद्धिमत्ता के कारण नैतिक रूप से बहुत ऊँचा मानते हैं तथापि उसमें शक्ति की एकाग्रता की कमी पायी जाती है; इसी प्रकार हम दूसरे व्यक्ति को, उसके उन स्थिर तथा सत्यनिष्ठ उद्देश्य के कारण, जिससे प्रेरित होकर वह ऐसे आदर्श का अनुसरण करता है जिसे हम संकुचित आदर्श कहकर दुरदुराते हैं, ऊँची पदवी देते हैं।

६—लघुतर व्यष्टों के साथ, वास्तविकता के निरपेक्ष समग्र नामधेय पूर्ण व्यष्ट के सम्बन्ध के विषय में सर्वोच्च महत्त्व की एक बात और कह दी जाय। अब चूँकि हम जान ही चुके हैं कि व्यष्टता की मात्राओं का क्या मतलब होता है इसलिए हम यह भी जान सकते हैं कि अन्ततोगत्वा पूर्ण और निष्पन्न व्यष्टि एक ही हो सकता है जो स्वयं वास्तविकता का समग्र होगा और यह कि अशेष व्यष्ट कभी भी अपने में अन्ततः तथा सकलतः व्यष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि निष्पन्न व्यष्ट होने के लिए, जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसी समग्र व्यवस्था होना आवश्यक होता है जो निरपेक्ष रूप से आत्म-पूर्ण हो और केवल आन्तरिक संरचना के संदर्भ से ही व्याख्येय भी, उसके व्यवस्थित स्वरूप के समझने के लिए जो कुछ भी आवश्यक हो, जैसा कि उसके बाह्य, किसी अस्तित्व का संदर्भ, वह भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, जब तक कि उसे शेष अस्तित्व से विलय समझा जाता रहेगा, अवश्य ही, आन्तरिक रूप से निष्पन्न व्यवस्थागत एकसारता से रहित ही रहेगा और इस तरह पर व्यष्टता के आदर्श से दोबाला कम रहेगा।

और ठीक इस कारण कि अनुभूति का समग्र स्वयं एक एकल व्यवस्था होता है इसलिए समग्र की आभ्यन्तर कोई लघुतर व्यवस्था, स्वय अपनी आभ्यन्तर सरचना के पदानुसार सकलत व्याख्येय नही होती। लघुतर व्यवस्था को पूर्णत समझने के लिए तथा उस तरीके को पूरी तरह समझने के लिए भी कि जिसके अनुसार वह अपने घटकों के वैविध्य के माध्यम द्वारा एक सामान्य स्वरूप व्यक्त करती है, आपको सदा ही अन्ततोगत्वा स्वय उस व्यवस्था के बाहर जाकर, अस्तित्व की शेप समग्र व्यवस्था के साथ उसके सम्बन्ध का लेखा-जोखा भी लेना पड़ेगा और केवल इसी कारण कोई भी अधीनस्थ व्यष्ट, स्वय आत्मरूप मे एक निष्पन्नतत' सगत आत्म-निर्धारित समग्र नही होता। चूंकि हमारे जैसे सीमित ज्ञान का, मुख्यत, अधीनस्थ व्यवस्थाओं से उनकी उसी हालत मे जिसमे वे हमे मिलती है काम पडा करता है और चूंकि उस वास्तविकता की समग्र सरचना की वह पूरी जानकारी, जिसके द्वारा हम उनके समग्रगत सही स्थानों को जान सकते है हमे तो नही होती, इसलिये यदि कोई दृढप्रतिज्ञ दार्शनिक विश्लेषण द्वारा उनकी निकटतम निरीक्षा करे तो उसे अवश्य ही भूल की अथवा विसरण की कुछ मात्रा तथा व्यवस्थित एकत्व का राहित्य उनमे दिखायी पडेगा।

उदाहरण के लिए, किसी ऐसी व्यवस्था पर विचार कीजिए जिसका निर्माण विशिष्ट व्यक्तित्व वाले अथवा प्रसिद्ध व्यष्ट किसी आदमी के जीवन भर के कार्य द्वारा हुआ हो। समग्र रूप से ऐसे आदमी के जीवन को प्रयोजनो की सगत योजना की व्यवस्थित कार्य परिणति कहना ही उचित होगा। लेकिन ऐसा कहना, अन्ततोगत्वा, केवल सन्निकटत ही सत्य होगा। हमारा मामला तो यह है ही नही कि योजना के केन्द्रीय अथवा प्रधान प्रयोजन का स्वरूप स्वय ही इतना समर्थ होता है कि वह उन पूर्वापर सब स्थितियों के स्वरूप तथा क्रमो का, जिनके द्वारा यह प्रयोजन व्यक्त होता है निर्धारण कर सके। मनुष्य की 'आनुवंशिकता' के कारणों को भी हमे अपने हिसाब मे शामिल करना पडता है और साथ ही साथ उसके सामाजिक और भौतिक पर्यावरण के उन कारकों का भी ध्यान रखना पडता है जो उसके केन्द्रीय प्रधान आदर्श के स्वरूप के कोई भाग न होते हुए भी उस प्रयोजन की सिद्धि की विधि को प्रभावित किया करते है। विवादग्रस्त व्यष्ट, व्यवस्था को पूरी तरह समझने के लिए तब हमारे पास वे परिस्थितियाँ ही रह जाती है, जो, जहाँ तक उस व्यवस्था का सम्बन्ध है, 'आकस्मिक' होती है अर्थात् वे परिस्थितियाँ स्वय उस व्यवस्था-समेत, अनुभूत तथ्य की समग्र व्यवस्था की भाग समान रूप से होती है यद्यपि हम यह जान सकने मे असमर्थ है कि यह व्यवस्था और वे परिस्थितियाँ मिलकर एक विस्तृततर सगत समग्र का निर्माण कैसे करते है। चूंकि अधीनस्थ व्यष्ट केवल

अन्तरत व्याख्येय नही होता अत अन्ततोगत्वा वह व्यष्टत्व का सन्निकट मात्र ही होता है और इसलिए ही हम जब कभी भी शेष वास्तविकता से उसे पृथक् करना चाहते है और उसे एकान्तत व्यष्ट और आत्मपूर्ण मानकर चलना चाहते है तभी हमे परस्पर विरोधी बातों मे फँस जाना पडता है ।

अधीनस्थ समग्रों पर विचार करते समय अगर हम काफी गहरे जाये तो हम सदा ऐसी जगह जा पहुँचते है जहाँ हमे बाह्य तथ्यों के ऐसे राज्य पर उनकी निर्भरता को स्वीकार करना पडता है । समग्र के साथ जिसके व्यवस्थित सम्बन्ध को हमारा ज्ञान देख नही पाता और इसीलिए उस सम्बन्ध को ,वह 'आकस्मिक' अथवा अन्तिमेत्थ 'सस्थिति' ही मान बैठता है । यही कारण है जिसके आधार पर विशुद्ध व्यवस्थागत समग्र के रूप मे हमारे अपने लक्ष्यों और हितो विषयक हमारा ज्ञान, समग्र विश्व की सरचना विपयक हमारी निष्पन्न अन्तर्दृष्टि का सपाती हो जाता है । ढचरा बन चुके किसी पद्य के भावों को उल्टा कर हम सदृश सत्यता से कह सकते है कि जब तक आप नही जानते कि ईश्वर और मनुष्य क्या है, तब तक आप यह भी वास्तव मे नही जान सकते कि 'दरारो वाली दीवार मे उगा फूल' कौनसा है । इन कथन का मतलब यही है कि हमारे दार्शनिक विश्लेषण के हेतु प्रत्येक आभास मे व्याघात का पुट अवश्य ही होना चाहिए, ठीक इसलिए कि अन्त मे जाकर हम पूरी तरह यह नही जान सकते कि कोई भी आभास वास्तविकता के समग्र के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है । लेकिन हमे यह तो सावधानी से याद रखना ही होगा कि यदि आभास आत्मरूप से व्याघाती है तो वे इसलिए व्याघाती नही होते कि वे आभास है बल्कि इसलिए कि आभास रूप से गृहीत वे किसी हद तक मात्र आभास होते है । इस सब का यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्ता के अन्तिमेत्थ समग्र से न्यून किसी भी वस्तु की व्यष्टता मात्रा और सन्निकटन का विपय होती है । हमारा यह मान लेना भी इतना ही त्रुटिपूर्ण होगा कि चूँकि कोई भी अधीनस्थ व्यवस्था पूर्णत व्यष्ट नही होती, अत. कुछ व्यवस्थाएँ अधिक व्यष्ट न होने के कारण अन्यों से अधिक वास्तविक नही होती है अथवा यह कहना भी इतना ही त्रुटिपूर्ण होगा कि जो कुछ भी किसी तरह पर भी वास्तविक है उसे अपनी मात्रानुसार व्यष्ट भी अवश्य होना चाहिए इसलिए वास्तविकता का प्रत्येक तत्त्व या घटक अपने एकाकीपन मे निष्पन्नतया वास्तविक होता है । प्रथम त्रुटि एकपक्षीय एकत्ववाद की है और द्वितीय समान रूप से एकपक्षीय एकत्ववाद की है और तृतीय समान रूप से एकपक्षी बहुलत्ववाद की ।

आइए एक बार फिर हम व्यष्टता के सामान्य तत्त्वमीमासीय सिद्धान्त तथा नैतिक अभिकर्ता रूप मे अपने अनुभव के परस्पर सादृश्य की बात ध्यान मे रख ले ।

जहाँ तक कि हम मे से हर एक व्यक्ति यथार्थत व्यष्ट है वहाँ तक उसके लक्ष्य और उद्देश्य मिलकर एक ऐसी व्यवस्था का निरूपण करते है जिसकी सरचना मे आन्तरिक एकत्व व्याप्त रहता है अतः एक व्यवस्था के रूप मे वह प्रगामी सिद्धता के योग्य होती है। फिर भी चूँकि हममे से हर एक व्यक्ति वास्तविकता के समग्र से कम है, अथवा यो कहिए कि चूँकि हमारे आभ्यन्तर जीवन का एकत्व कभी भी निष्पन्न नही होता तथा हमारे हितों, सम्बन्धों तथा आकाक्षाओं का साकल्य कभी भी एक निष्पन्नतया आत्मपूर्ण, क्रमिक समग्र नही होता अत. हमारे आदर्शों मे सदा ऐसे पहलू पाये जायँगे जो कभी भी पूरी तरह एकतान न हो पायें तथा ऐसे तत्त्व भी उसमे मिलेगे जो उस एकत्व की सरचना के क्षेत्र के बाहर ही रहते है, जो हमारे एकत्व व्यक्तित्व की सीमा के भीतर स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार हमारी समस्त विजयों मे, पराजय के अवियोज्य तत्त्व वर्तमान रहते ही है। आत्म के पराजित पक्ष, हमारी व्यष्टता की मात्रा के अनुपात से, निस्सन्देह, 'निम्नतर' और अपेक्षतया 'असत्यतर' अथवा 'अयथार्थता' आत्म के अंग हो सकते है और सामान्यत होते ही हैं, तो भी वे समग्र आत्म के अन्त.तत्त्व तो रहते ही है और उनके अधिलघन का अर्थ है आत्म का असली और शायद आवश्यक अधिलघन करना। एक माने मे पराजय का कोई पक्ष प्रत्येक अधीनस्थ और इसी कारण अपूर्ण या अनिष्पन्न, व्यष्ट के जीवन का एक अपरिहेय लक्षण भी हुआ करता है। मसीह के प्रभुत्व के इन हजार वर्षों मे भी, जैसा कि हम सही तौर पर समझते हैं, मानव जीवन, मानव जीवन न रह जाय अगर उदासी का पुट उसमे से निकल जाय। एकान्त अथवा निरपेक्ष समग्र की एकत्व अनुभूति मे ही असंगत स्वर अन्ततोगत्वा त्रुटिरहित एकतानता पुन प्राप्त कर सकते हैं।

७—निष्पन्न तथा सन्निकटित व्यष्टता मे विभेद हम प्राविधिक या तकनीकी तौर पर यह कह कर सकते है कि निरपेक्ष समग्र एक अपरिमित या अनन्त व्यष्ट होता है। और यहाँ उन बहुधा अत्यधिक दुष्प्रयुक्त पदों के यथार्थ और सही माने ध्यानपूर्वक नोट कर लेना बेहद जरूरी है कि अनन्त को अनिर्धारित और अनिष्पन्न समझ बैठने की गलती करना ठीक नही। उसका मौलिक गुण-धर्म इतना नकारात्मक मात्र नही जिसका कोई अन्त न हो या 'अन्तिम पर्यवसान' न हो अपितु वह ऐसा विध्यात्मक या सकारात्मक है कि जिसकी अपनी आभ्यन्तर गठन भी है जो किसी एकल आत्मसगत नियम की एकतान और निष्पन्न अभिव्यक्ति कही जाती है। इसी तरह परिमित केवल इसलिए ही मूलत. परिमित नही होता कि उसका एक 'अन्तिम पर्यवसान' होता है। यानी उससे बाह्य भी कुछ और है, बल्कि वह इसलिए परिमित कहलाता है कि उसका 'अन्तिम पर्यवसान' हठात् निर्धारित कर दिया गया है अर्थात्

उसकी आभ्यन्तर गठन के नियमों से बाह्य किसी अन्य वस्तु द्वारा निर्धारित कर दिया गया है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि परिमित की मूलभूत त्रुटि यह है कि वह स्वय अपनी रचना के एक मात्र नियम द्वारा ही निर्धारित नही होता।

अकगणित और बीजगणित की सुपरिचित 'अनन्त श्रेणी' के सीधे-सादे मामले में भी हमे यह बात देखने को मिल सकती है। १,½, ¼ जैसी श्रेणी केवल इसलिए ही अनन्त नही चूँकि हम उसके अतिम पर्यवसान तक नही पहुँच पाते बल्कि वह इसलिए अनन्त कही जाती है चूँकि उसके स्वरूप का निर्धारण उसके अपने भीतर से, आभ्यन्तर से, केवल मात्र उस नियम द्वारा ही होता है जिसके अनुसार प्रत्येक पद उसके पूर्ववर्ती पद से व्युत्पन्न होता है, इस श्रेणी का छोर या अन्त नही है यह बात, आत्म-निर्धारण के उपर्युक्त निश्चयात्मक गुण-धर्म का सरल परिणाम मात्र है। लेकिन मान लीजिए कि मै इस श्रेणी के पद ही लूँ अधिक एक पद भी नही और मान लीजिए एक निर्धारित संख्या हो, तब परिणामी श्रेणी परिमित होगी लेकिन मूलत. इस कारण नही कि उस श्रेणी के बहिर्गत इसी प्रकार की अन्य श्रेणी भी है बल्कि इसलिए कि ग्राह्य पदों की सख्या श्रेणी-निरूपण के नियमों द्वारा निर्धारित नही होती अपितु स्वय श्रेणी के नियम से स्वतत्र किसी वस्तु के हवाले से ही निश्चित होती है। दूसरे शब्दों मे, केवल अनन्त ही, शब्दो के पूर्णार्थ मे, निष्पन्न रूप से आत्मनिर्धारित समग्र होता है। सान्त या परिमित अपूर्ण होता है मूलत इसलिए नही कि उससे बाह्य कुछ होता है बल्कि इसलिए कि उसकी अन्तर्वस्तुओं का निर्धारण केवल मात्र उस संरचना के नियम द्वारा, जिसकी वे प्रतिमूर्ति है, नही होता। उदाहरण के लिए मुझे ले लीजिए। मैं एक परमित सत्ता हूँ लेकिन मुख्यत. अथवा केवलत इसलिए ही मै परिमिति नही चूँकि दुनिया मे और भी आदमी है बल्कि इसलिए कि मेरे विचार और प्रयोजन स्वय मे एक पूर्णत सगत व्यवस्थागत समग्र नही है।

व्यष्टता और परिमित तथा अपरिमित व्यष्टता के पारस्परिक विभेद के बारे में हमने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह बहुत कुछ लीबिनिट्ज के दर्शनशास्त्र के मौलिक विचारों से मिलता-जुलता है। यह लीबिनिट्ज का ही मत था कि उसका प्रत्येक एकाणु अस्तित्व की समग्र व्यवस्था के स्वरूप का प्रतिनिधि होता है अर्थात् एक विशिष्ट 'दृष्टि बिन्दु' से, वह स्वय अपनी विशिष्ट सरचना मे समग्र की सरचना की पुनरावृत्ति किया करता है। इस प्रतिनिधित्व अथवा 'पुन. प्रस्तुत' की पूर्णता और स्पष्टता के अनुसार अर्थात् पर्याप्तता की उस मात्रा के अनुपात से ही जिसके अनुसार एकाणु सरचना समग्र की व्यवस्था-सरचना का पुनरावर्तन किया करती है, वे एकाणु अस्तित्व के तुला-दण्ड पर 'उच्चतर', अथवा निम्नतर स्थान पाते है। एकाणु के अपने आभ्यन्तर मे समग्र की 'पुन प्रस्तुति' जितनी ही अधिक स्पष्ट होती है उसकी 'क्रियाशीलता' भी उतनी

किसी संगत हित या अभिरुचि अथवा मानसिक अभिवृत्ति की चेतन भावना के एकतान एकत्व का मूर्त रूप होना आवश्यक है। और उसके इस रूप को हम किसी प्रयोजन अथवा विचार की उदासीनतापूर्वक सप्राप्ति कह सकते है तथा एकान्त या निरपेक्ष अनुभूति को हम निरपेक्ष ज्ञान अथवा निरपेक्षण इच्छा की निष्पन्नीकृत अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

लेकिन यदि हम ऐसा करें तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ इस प्रकार के विचार का कोई सवाल ही नही जो किसी वाह्य स्रोत से अपेक्षाकृत अबोधगम्य और असम्बद्ध रूप मे मूलत प्राप्त दत्तों के समूह पर कार्य करके उनका पुनर्निर्माण करता है अथवा ऐसे किसी अध्यवसाय या संकल्प का जो किसी ऐसे उद्देश्य अथवा प्रयोजन को जो उसके सामने मूलत. एक असिद्ध विचार के रूप में प्रस्तुत हुआ हो, वास्तविकता मे परिपात कर देता है। स्पष्ट है कि किसी ऐसी अनुभूति में जिसके लिए किं और तत् कभी विभक्त नही होते, विचार की प्रक्रियाओं और अध्यवसाय का कोई स्थान नहीं हुआ करता। जैसा कि हम शनैः शनैः अधिक पूर्णतया देखेंगे, कालाभिनिवेशी अस्तित्व उनमे सपृक्त रहता है और कालाभिनिवेशी अस्तित्व परिमित और अपूर्ण का ही अग होता है। इसलिए बौद्धिक स्पष्टता तथा निश्छलता के श्रेष्टतम हितार्थ, निरपेक्ष अनुभूति के विषय मे बात करते समय ज्ञान और इच्छाशक्ति आदि शब्दो का व्यवहार यथासम्भव न करना ही अच्छा होता है। अपने अच्छे से अच्छे रूप मे वे शब्द अधिकांशत रूपकात्मक होते है और बुरे से बुरे माने मे बौद्धिक बेईमानी के हथियार भी व्यवस्था के घटक अथवा निर्मायक भी उसी सामान्य प्रकार की लघुतर अनुभूति व्यवस्थाएँ होती हैं जिनमे से प्रत्येक में समग्र का स्वरूप, भले ही वह विभिन्न मात्राओं मे ही क्यो न हो, व्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार वे सब विविध मात्राओं की व्यष्टता वाली परिमित व्यष्ट होती है। कोई व्यवस्था कितनी ही अधिक व्यापकार्थग्राहिणी तथा उद्देश्यपरक संरचना के अन्तर्हित नियम द्वारा जितनी ही अधिक आभ्यन्तरत एकीभूत होगी उतनी अधिक पूर्णतया व्यष्ट भी वह होगी और साथ ही साथ सर्वव्यापक समग्र की सरचना को भी वह उतनी ही अधिक पूर्णतया वह व्यक्त करेगी। और हमारे इस सहज विश्वास का कि हमारी मानवीय अनुभूति के लिए जो कुछ भी उच्चतम और श्रेष्ठतम है वह विश्व के संगठन मे अन्ततोगत्वा अत्यन्त पूर्णतया वास्तविक है।

अधिक जानकारी के लिए देखिए . एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अध्याय २४, 'डिग्रीज ऑफ ट्रुथ एण्ड रियलिटी'; प्लैटो कृत 'रिपब्लिक' ६, ५०९ आर० एल० नेटलशिप के 'लेक्चर्स ऑन प्लैटोज रिपब्लिक' मे दी गयी टीका सहित, अथवा बोसाक्ये की पुस्तक 'कम्पैनियन टु दि रिपब्लिक' टिप्पणी सहित।

अध्याय ४

वस्तु जगत्—(१) पदार्थ, गुण और सम्बन्ध

१—विश्व विषयक सहज अथवा पूर्व विज्ञान कालीन मतानुसार विश्व 'वस्तुओं' की ऐसी वहुलता का नाम है जिसमे प्रत्येक वस्तु के, अन्य वस्तु के साथ उसके सम्वन्ध के कारण, अपने भी गुण होते है और वे वस्तुएँ अन्योन्य क्रिया पर होती है। २—इस कारण ही, वस्तु की एकता, पदार्थ और गुण, सम्वन्ध तथा कारणता विषयक समस्याओं का जन्म होता है। ३—'एक वस्तु क्या है' इस सवाल का कोई सीधा-सादा जवाव नही दिया जा सकता। उस वस्तु का एकत्व, उद्देश्यप्रधान सरचनापरक होता है जो मात्रा का विषय हुआ करता है और अधिकाशत हमारे अपने वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का भी। ४—पदार्थ और गुण। वस्तुओं के सार पदार्थ का उनके प्रारम्भिक गुणों के साथ तादात्म्य वैठाना, भौतिक विज्ञान मे उपयोगी होते हुए भी तत्वमीमासा की दृष्टि से तर्कसगत नही। ५—सार पदार्थ, 'गुणो के अविज्ञेय अध स्तर' के रूप मे, उन वस्तुओं के परस्पर सम्वन्ध को समझ सकने मे जरा भी सहायक नही है। ६—वस्तु आभ्यन्तर-एकत्वहीन गुण-समुदाय मात्र नही हो सकती। ७—किसी वस्तु की उसकी विभिन्न दशाओ के सम्वन्ध विषयक नियम अथवा विधा रूप मे कल्पना, उपयोगी होते हुए भी तत्त्वमीमासा की दृष्टि से असन्तोपप्रद नही। अन्ततोगत्वा 'प्रति प्रस्तुत' या 'प्रतिनिधित्व' द्वारा अनेक का केवल एक मे विलय अथवा अन्तर्धान हो सकता है। वस्तुओं के अन्तर्हित एकत्व को स्पष्ट अनुभूति का एकत्व होना ही आवश्यक है। ८—सम्वन्ध। हम गुणों को घटाकर सम्वन्धों मे परिवर्तित नही कर सकते, न सम्वन्धों को गुणों मे परिवर्तित कर सकते है। ९—सम्वन्धगत गुणो के रूप मे वास्तविकता की कल्पना करने का प्रयत्न भी हमे अनन्त प्रतीपत्व की ओर ले जाता है। १०—सव सम्वन्धों को वाह्य मानकर हम इस कठिनाई से वच नही सकते। और इस अनन्त प्रतीपगायिता का प्रोफेसर रायस द्वारा किया गया समर्थन अन्तिमेत्य वास्तविकता के सम्वन्ध मे समग्र और अंश की अपर्याप्त कोटि का अनालोचित प्रयोग करने पर निर्भर रहता-सा प्रतीत होता है। ठोस अनुभूति मे एक और अनेक का सयोग करना अति सम्वन्वीय है। पूरक नोट, श्री व्रैडले के प्रति डा० स्टाउट का उत्तर।

१—किसी भी सगत दर्शन द्वारा आवश्यक रूप मे प्रकल्प्य वास्तविकता की सरचना विपयक खोज को छोड़कर हम जव उसके उस रूप की ओर मुडते है जो मामूली

अदार्शनिक विचारवान् व्यक्ति को दिखायी पडता है तो विगत दो अध्यायों में हमारे ध्यान की विषय, व्यवस्थागत एकता की जगह को हम चकरा देने वाले ही नही अपितु अगणनीय वैविध्य को घेरे-सा पाते है। क्रियात्मक जीवन की अनुभूति से सहज संभूत, अस्तित्व के उस सरल पूर्व-विज्ञान कालीन सिद्धान्त के अनुसार, जहाँ से भौतिक विज्ञानी, मनोवैज्ञानिक तथा तत्त्वमीमांसा-शास्त्री के वैज्ञानिकतर तथा व्यवस्थिततर सिद्धान्त अपना-अपना अलग मार्ग पकडते है, यह ससार प्रकटत ऐसी स्वतन्त्र वस्तुओ से, जिनमे से कुछ हमारी तरह जीवित है और कुछ जीवहीन, मिलकर बना है। इन वस्तुओ मे मे प्रत्येक को जो किसी माने मे एक इकाई होती है, मात्राओं और गुणधर्मो की अनन्त बहुलता से युक्त अन्य वस्तुओं से विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थ, अन्य वस्तुओं पर क्रिया करने वाली और उन वस्तुओं द्वारा विविध प्रकार से प्रभावित होने वाली समझा जाता है।

इन सभी बातो मे, यह देखने की चीज है कि विज्ञान काल से यह पहले की सरल यथार्थवादी विचारधारा जिसे एक ही समझती थी, जिसे अधिक विकसित दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक और भौतिक अस्तित्वो के दो भिन्नार्थो मे बाँटा जा सकता है, उस सरल विचार के अनुसार मानव व्यक्ति भी, उन्ही अन्य वस्तुओं के समान जिनसे मिलकर मेरा पर्यावरण निर्मित हुआ है, एकदम ऐसी इकाइयाँ ही माने जाते है जो विभिन्न गुण-धर्मों के स्वामी है, एक दूसरे के तथा अन्य वस्तुओं के साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध बनाने मे समर्थ तथा एक दूसरे के प्रति और शेप पर्यावरण के प्रति भी मिथ क्रिया पर। आध्यात्मिकत्व को, भौतिकता से पृथक् क्रम रूप मे, मान्यता दिया जाना, बौद्धिक विकास के बाद के और अत्यधिक सुरुचिपूर्ण युग की बात है, जिसके परिणाम तत्त्वमीमासा के सामान्य सिद्धान्तों के लिए बडे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। सरल यथार्थपरक बौद्धिकता के विपय मे यह भी नोट करने की बात है कि समानरूपी वस्तुओं के पर्यावरण मे से मैं भी एक पदार्थ या वस्तु माना जाता हूँ और उस पर्यावरण के साथ मेरे सम्बन्धों का स्वरूप भी उसी प्रकार का समझा जाता है जिस प्रकार का सम्बन्ध उस पर्यावरण के विभिन्न सघटक के बीच परस्पर है। मेरे अपने विचार के अनुसार भी, जब तक कि मेरी विचार-शक्ति का स्तर उपर्युक्त प्रकार से आदिमयुगीन रहता है तब तक, मै स्वय विविध गुण-धर्मसम्पन्न ऐसी एक वस्तु मात्र हूँ जिसके अन्य वस्तुओं के साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध है और जो उनके साथ विविध भाँति से मिथ. क्रिया करती है।

अस्तित्व के स्वरूप की कल्पना करने के इस अत्यन्त आदिमयुगीन तरीके को हमने 'पूर्व विज्ञान कालीन' इस कारण कहा है कि व्यक्ति तथा व्यक्ति-समुदायों, दोनों ही के मानसिक विकास के मामले मे यह जगत् या विश्व विपयक विचारों को एक संगत समग्र का रूप देने के अत्यन्त परीक्षणात्मक प्रयत्नों से भी बहुत पहले का है।

इसके वाद की सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक रचनाओं को, इस पूर्ववर्ती दृष्टिकोण के इतने वहुत-से ऐसे कृत्रिम रूपान्तरण मात्र समझा जा सकता है जिनका प्रवर्तन और कार्यरूप परिणति उस विचार को अधिक सगत और व्यवस्थित वनाने के लिए ही की गयी हों। लेकिन इसके वावजूद, 'पूर्व वैज्ञानिक', पद के हमारे प्रयोग को भ्रान्तिजनक न वनने देना चाहिए। 'पूर्व वैज्ञानिक' दृष्टिकोण एक ही मन मे, उन विविध रूपान्तरणों सहित जो सगतिपूर्वक विचार करने के प्रयत्न के कारण उत्पन्न हो जाते है, एक साथ ही वर्तमान रह सकता है। अनुभूति जगत् के उन रूपो के वारे मे, जो हमारे व्यक्तिगत वैज्ञानिक अध्ययनो की सीमा से वाहर की वस्तु है हम सभी स्वभावत या आदतन, सरल यथार्थवादी है। अस्तित्व जगत् के उन रूपों के सम्वन्ध मे भी, जिनके वारे मे हमारे सैद्धान्तिक विचार अत्यधिक विकसित प्रकार के हो, स्वभावत हमारा रुख तव 'पूर्व विज्ञान कालीन' हो जाता है जव हमारा तात्कालिक लक्ष्य, विचारों की तार्किक सगतता की अपेक्षा कार्यकरण मे क्रियात्मक सफलता अधिक हो। दैनदिन जीवन के प्रयोजन के लिए अत्यधिक 'अग्रवर्ती' वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला के वाहर सरल यथार्थवादी वने रहने में सन्तोष मानता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्व के प्रति आदिम कालीन भावना इस माने मे भी पूर्व विज्ञान कालीन है कि वह विचारों की व्यवस्था तथा सगति हेतु किये जाने वाले विमृष्ट प्रयत्न से अप्रभावित रहता है इसलिए वह इस हद तक वैज्ञानिक होता है कि वस्तुओं के वारे मे विचारो के क्रम और व्यवस्था की आवश्यकता विषयक हमारी वौद्धिक वाछा का वह एक वास्तविक किन्तु प्रारभिक और अचेतन उत्पाद होता है। वह अनुभूति के क्रम के वारे मे हमारे पुरातनतम विमर्श का असली किन्तु अचेतन परिणाम है और इस लिए एक विचार सरचना है न कि दत्त वस्तु मात्र का एक निष्क्रिय उत्पाद। अनुभूति के व्यवस्थीकरण का वह काम ही, वह एक अविकसित रूप मे तथा विना किसी स्पष्ट उद्देश्य के, किया करता है जिसको अधिक विस्तारपूर्वक और चेतन सकल्प सहित करने का जिम्मा, अधिक विकसित मानस के विविध वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त अपने ऊपर लिया करते है। इस प्रकार वह पूर्व विज्ञान कालीन है लेकिन सही कहा जाय तो अवैज्ञानिक नही।

ज्यो-ज्यो निश्चयित तथ्यों का ढेर इकट्ठा होता जाता है और उस पर होने वाला विमर्श अधिकाधिक विमृष्ट और व्यवस्थित होता जाता है त्यो-त्यो ही वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप के वारे मे हमारा आदिम कालीन प्रत्यय दो कारणो से अपरिहार्य रूप मे असन्तोषजनक हो जाता है। नये तथ्य ऐसे निकलते आते है जिन्हे पुरानी योजना मे ठीक से तव तक नही वैठा पाते जव तक कि उसकी सरचना मे रद्दोवदल न हो जाय और फिर यह कि जिन प्रत्ययों के रूपों को मिलाकर वह योजना मूलत वनी थी

वे प्रत्यय ही, परीक्षा करने पर, स्वयं यथार्थ में संदिग्ध और दुर्बोध सिद्ध हुए। मौलिक योजना के पुर्ननिर्माण या पुनर्गठन के लिए इस प्रकार दो उद्देश्य सदा ही कार्यरत रहते है। सद्यः तथ्यों के समावेश के लिए पुराने ढाँचे या खाके मे आवश्यक परिवर्तन करने के तरीके ढूँढ निकालने का काम मुख्यत. विविध विज्ञानों के कन्धे पर ही आ पडता है। उन्हे किस हद तक एक बोधगम्य और सगत व्यवस्था का रूप अन्ततोगत्वा दिया जा सकता है। इस बात का निर्धारण करने की दृष्टि से मौलिक योजना तथा उसमे बाद को किये गये रद्दोबदल दोनों ही की विभिन्न शर्तो की जाँच करने का काम तत्त्व-मीमासीय आलोचना का विशिष्ट क्षेत्र है।

२—विश्व विषयक इस मौलिक 'पूर्व विज्ञान कालीन' सिद्धान्त की, इस दृष्टिकोण से जब हम जाँच करेगें तो हमे दिखायी पडेगा कि उसके चार मुख्य लक्षणों के कारण महती सामान्यता और पर्याप्त कठिनाई से भरपूर चार तत्त्वमीमासीय समस्याएँ उठ खडी होती है। ऐसी वस्तुओ के जिनमे से प्रत्येक ही एक है बाहुल्य से बने हुए विश्व की कल्पना के कारण वस्तु के एकत्व की समस्या उत्पन्न होती है। गुणों की बहुलता तथा एकल वस्तु मे आहित सबन्धों के बाहुल्य के कारण भी सार पदार्थ, गुण तथा सम्बन्ध विषयक समस्याएँ उठ खड़ी होती है। और अन्त मे विभिन्न वस्तुओं के बीच मिथ. कार्य विषयक विश्वास से कारणता की विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथा कठिन समस्या का जन्म होता है। चारो ही समस्याएँ किसी न किसी हद तक आपस मे जुडी हुई है एकदम अलग नही। खास तौर से, इस बात पर विचार किये बिना कि 'एक' वस्तु का अपने बहुत से गुण-धर्मो के साथ क्या सम्बन्ध है उस अर्थ पर विचार कर सकना जिसके अनुसार किसी वस्तु को एक कहा जा सकता है, बड़ा कठिन है। साथ ही साथ सम्बन्ध का सामान्य अर्थ भी विचारणीय होता है। कारणता की समस्या भी ऐसे सामान्य रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है जिसके भीतर अन्य तीनों समस्याएँ भी समा जाये। किन्तु फिर भी विचार का एक निश्चित क्रम बनाये रखने के लिए यही उचित होगा कि जहाँ तक हो उनमे से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् ही लिया जाये और अधिक सरल से चलकर भ्रामकता की ओर बढा जाये। इन समस्याओं के खुद हमारे द्वारा निकाले गये हलो की रूपरेखा बता देने के बाद हमे पूछना पड़ेगा कि हमारे निष्कर्षो द्वारा स्थापित वस्तु की सामान्य कल्पना क्या है और यह कि हमारी उपर्युक्त कल्पना के वर्णन से मिलती-जुलती वस्तुओं के अस्तित्व मे विश्वास रखने के औचित्य क्या है तथा उसके आधार कौन से हैं। वर्तमान अध्याय मे हम कारणता के अभिप्राय पर विचार करेंगे और वस्तुओं के अस्तित्व विषयक अपने सामान्य निष्कर्ष पेश करेंगे। इस सबके परिणाम के बाद वास्तविकता की सामान्य सरचना विषयक हमारा सर्वेक्षण पूरा हो जायेगा और तब हम अपने तीसरे, और चौथे खण्डो मे क्रमशः भौतिक प्रकृति के अस्तित्व और

चैतन्य मन द्वारा प्रस्तुत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट समस्याओं की जाँच करेंगे ।

३—**वस्तु का एकत्व**—समस्या जिसका हमे सामना करना है यह है किस अर्थ मे हम किसी वस्तु को 'एक वस्तु' कहते हैं और उसे उसके एकत्व का लक्षण कौन प्रदान करता है ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर हम परस्पर व्यतिरिक्त दो दृष्टिकोणो मे से किसी एक द्वारा विचार कर सकते है। या तो हम पूछ सकते है कि अनेक वस्तुओ मे से किसी सकल वस्तु के रूप मे छाँटकर, अपने पर्यावरण के उतने से भाग को शेष भाग से क्यों अलहदा कर दिया करते है अथवा यह कि उपर्युक्त प्रकार अलहदा किये गये, पर्यावरण के उतने मात्र भाग मे जिस एकत्व का हम अध्याहार कर देते है वह उस भाग के गुण-धर्मो की बहुलता के साथ किस प्रकार सम्मेल्य हो सकता है ? उपर्युक्त रूप मे प्रस्तुत दोनो प्रश्नों मे से पहले प्रश्न पर ही हम इस अनुच्छेद मे विचार करेंगे। अवर प्रश्न पर पदार्थ और उसके गुण-धर्म के रूप मे हम अगले अनुच्छेद मे विचार करेंगे। अन्यों की बहुलता मे से जिसे भी हम एक वस्तु कहकर स्वीकार करते हैं उसे प्रदान किये गये एकत्व से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है ? इस प्रश्न का अन्तर्हित या अव्यक्त उत्तर हम एक प्रकार से, वास्तविकता की व्यवस्था के तत्वों अथवा निर्मायकों के स्वरूप का निर्धारण करते समय पहले ही दे चुके हैं। लेकिन चूँकि अपने पहले वाले अनुसन्धान का आरम्भ हमने वास्तविकता की, अनुभूति के एक व्यवस्थागत समग्र रूप की कल्पना के साथ किया था और हम इस बात की जाँच करने के लिए कि इस प्रकार की व्यवस्था के घटकों पर, उस व्यवस्था मे उसके घटक रूप मे उपस्थित होने के कारण, किस प्रकार का स्वरूप थोपा गया है, आगे भी बढते चले गये थे, इसलिए हमे अब उसी प्रश्न को दूसरी ओर से भी उठाना है। अपने पर्यावरण के वस्तुओ मे विभक्त रूप की मान्यता को लेकर जब हम चलते हैं तो हमे पूछना पडता है कि इन वस्तुओं का स्वरूप कहाँ तक ऐसा है कि जिसका अधीनस्थ व्यष्ट के व्यष्ट-समग्र के विशुद्धतः व्यष्ट अगों का भी स्वरूप होना आवश्यक है।

जाँच के प्रयोजनार्थ हमे वस्तु शब्द का उसी विस्तृत और अस्पष्ट अर्थ मे, जिसमे कि लोग अपने दैनदिन विचार और प्रवचन हेतु उसका प्रयोग करते है, ग्रहण करके अपना काम शुरू करना होगा। अपने विवादग्रस्त विषयो मे हमे मानवीय व्यक्तियों, जीवधारियो, पौधो, छोटे-बड़े अजैव संहतियो, और एक शब्द मे तो उस सब को भी गिनना पड़ेगा जिसे तथ्यविषयक साधारण बोधपरक अधिकाश विचारणा इस प्रकार के स्वरूप से युक्त मानती है जिसके द्वारा वह अनुभूतिके प्रवाह का किसी दत्तक्षण पर, समग्र रूप से निर्धारण कर सके। इस परिभाषा के कारण वह स्वरूप अथवा पक्ष जिसके आधार पर इस प्रकार का समग्र, अनुभूति के अन्य प्रकार के प्रवाह की अपेक्षा

इस विशेष प्रकार के प्रवाह-पथ का निर्धारण करता है, हमारी वस्तुविषयक कल्पना के बाहर ही रह जाता है। हमारी दूसरी और तीसरी समस्याओं का विषय, स्वयं वस्तु नही अपितु उसका गुण, अथवा गुण-धर्म, या किसी अन्य वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध ही उनके विषय हैं। इसलिए जिस अर्थ मे हम वस्तु शब्द का प्रयोग कर रहे है, उसी अर्थ मे हम उस के विषय में कह सकते है कि यह वस्तु वह है, जिसका अनुभूतियों की श्रेणी मे यहाँ ही और अभी, समग्र रूप से अस्तित्व है, यद्यपि ऐसा कहते समय हमे सावधानी से अपने मन मे यह ख्याल रखना पडेगा कि वस्तु के अस्तित्वविषयक यहाँ और अभी देश और काल से अवच्छिन्न अविभाज्य विन्दु नही है अपितु वहिर्वृद्धि और अवधि के सतत विस्तार मात्र है। अब जब हम प्रश्न करते है कि इस प्रकार की वस्तु किस माने मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा उसी जगह एक है जहाँ हम उसे एक मानते है, तो तुरन्त प्रकट हो जाता है कि उसका यह एकत्व मात्र ही विषय है। यों देखने पर तो लगता है कि हम अपेक्षाकृत वहुत आसानी से ही इस वात का निर्णय कर सकते है कि मानव जीव का जैवतत्र तथा किसी अन्य उच्चकोटि के जीव का शरीर या जैवतन्त्र दोनोंही एक ही वस्तु हैं, लेकिन जव हम निम्नतर जैवतन्त्रों पर आते हैं जो अधिकांशतः स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली कोशिकाओं के ढीले-ढाले से पूंजीभूत सघों से मिलकर वने होते हैं तो हम अनुभव करने लगते हैं कि यह घोषित करना कि एक जैवतन्त्र अथवा 'आर्गेनिज्म' क्या वस्तु है, बड़ा कठिन है यद्यपि तव भी हम यह समझते रहते है कि एक कोशिका क्या है यह हम ठीक-ठीक वता सकते हैं। इसी प्रकार ज़व हम अजैव सहतियो पर कार्य कर रहे होते हैं, तव जहाँ हम विना हिचक के कहने को तैयार हो सकते हैं कि हमारी खुद वनायी मशीन एक है वहाँ यह तय कर सकना कि जिसे हम अजैव संहति मात्र के रूप मे देख रहे है वह एक है या अनेक, हमे कठिन मालूम होना चाहिए और किसी खास मामले मे अपने इस निर्णय के लिए कारण वता सकना तो और भी वहुत अधिक कठिन होना चाहिए। और उन मामलो मे भी जहाँ हम विलकुल वेवडक फैसला दे दिया करते हैं, वाद मे विचार करने पर दिखायी पड़ता है कि मामला इतना आसान और स्पष्ट नही था जितना कि लगता था। उदाहरण के लिए, जुडवाँ शरीर वाले जोडे को जव अलग-अलग कर दिया गया हो तो उन दोनों को आमतौर पर दो जैवतन्त्र अथवा 'आर्गेनिज्म' ही माना जाता है न कि एक; लेकिन अलहदा किये जाने से पहले वे एक थे या दो, यह सवाल पूछने मे तो आसान लगेगा पर जवाव देते समय वेहद कठिन।

क्या कोई वस्तु एक है या अनेक इस वात के अपने विविध निर्णयो के वीच एक सर्व सामान्य नियम को ढूंढ निकालने की कोशिश हम करते है तो अग्रलिखित परिणाम निकलते दिखायी देते है :

(१) स्पष्ट है कि कोई वस्तु इसलिए एक नही वन जाती जैसा कि प्राय: मान लिया जाता है कि उसकी समानोच्च रेखा कही टूटी नही है अथवा इसलिए कि उसका कालिक या पार्थिव अस्तित्व अनवरुद्ध है। हो सकता है कि मेरी मनोदशाओ के पूर्वापर क्रम को लेकर एक मानसिक जीवन वना लिया जाय अथवा पालने से लेकर कब्र तक का मेरा जैवतत्र किसी न किसी माने मे एक घोषित कर दिया जाय लेकिन यह कोई भी सिद्ध नही कर सकता कि न तो मेरी मनोदशाओ के ही न मेरे जीवन क्रम के पार्थिव या कालिक अस्तित्व मे ही कोई व्यवधान पडा। अगर हम इस हिसाव-किताव से शरीरविषयक उन कणिकावादी सिद्धान्तो को अलग भी कर दें जिनके अनुसार प्रत्येक वह वस्तु जो देखने मे हमे क्षेत्रीय दृष्टि से अखण्ड या अटूट समानोच्चरेखा वाली एक सतत समग्र, प्रतीत होती है वास्तव मे ऐसे विविक्त कणो से वनी होती है जिनके वीच मे अनेक अन्तराल भी होते हैं तो यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी व्यवस्था के भागो को, जो एक सम्वद्ध समग्र के समान कार्य करती है, सामान्य वुद्धि, उनके वीच अव्यहृत सम्पर्क से या नही इसका लिहाज किये विना, एक वस्तु ही मानती है।

(२) इसके अतिरिक्त, किसी एक वस्तु का एकत्व, उसके सारद्रव्य के सादृश्य पर निर्भर नही हुआ करता, भले ही इस वाक् पद का कोई भी अर्थ हो। मेरा शरीर या जैवतन्त्र सदा एक ही वस्तु वना रहता है जव कि किन्ही तत्त्वों की हानि तथा अन्यों के अधिग्रहण द्वारा उसका सारद्रव्य लगातार वदलता रहता है।

(३) निश्चयात्मक पक्ष को अगर हम लें तो यह स्पष्ट ही है कि किसी वस्तु मे हम जिस एकत्व का अध्याहार करते हैं उसकी सरचना उद्देश्यमूलक होती है। कोई वस्तु उसी दृष्टिकोण के अनुसार एक या अनेक होती है जिससे आप उसे देखते हैं अर्थात् उस विचार या प्रयोजन के अनुसार जिसका ख्याल रखकर आप उसका अध्ययन करते हैं। वह वस्तु ही एक होती है जो एक ही की तरह काम करती है, दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि, जो सरचना की एक सगत योजना का व्यवस्थित मूर्त हो। इस प्रकार जव हम किसी जैवतन्त्र को समग्र रूप से किसी अनन्य अथवा अद्वितीय व्यष्ट लक्ष्य अथवा हित की प्राप्ति का वशवर्ती समझ रहे होते है, तव उस जैवतन्त्र को एक ही माना जाता है क्योकि उस हित के सम्वन्ध मे वह एक समग्र के समान ही व्यवहार करता है। हम जव किसी विशिष्ट तन्त्रिका की प्रतिक्रिया की किसी निर्धारित विधि का अध्ययन कर रहे होते है तो वही जैवतन्त्र, उसी सहज प्रकार से हमे, वह एक दूसरे से पृथक् किन्तु अन्त सवद्ध वस्तुओ की वहुलता प्रतीत होता है। इसी प्रकार द्रव्य कणो की कोई क्रम व्यवस्था हमे एक वस्तु रूप तव तक दिखायी पडती है जव तक हमारी उस व्यवस्था विषयक अभिरुचि उन्ही विधियो की ओर निदिष्ट रहती है जिनके अनुसार वह एक वस्तु रूप मे व्यवहार करती है। उदाहरणत उस व्यवस्था तथा उसके वाह्य अन्य

व्यवस्थाओं के बीच चलनेवाला शक्ति का आदान-प्रदान। सामान्यत यों कहा जा सकता है कि जिसे भी एक की संज्ञा दी जाय तो उसे एक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह किसी एकल लक्ष्य अथवा हित या रुचि की व्यवस्थागत अभिव्यक्ति होती है। कोई वस्तु वास्तव मे उसी हद तक एक होती है जहाँ तक उसका स्वरूप वैसा हो जैसा कि हमने पिछले अध्याय मे एक परिमित व्यष्ट का निरूपित किया था। उसका एकत्व अर्थात् सगत सरचना विषयक एकत्व कभी भी केवल सख्यापरक नही होता, अपितु गुणात्मक ही होता है।

अजैव और प्रकटत. सरचनाहीन सहृतियों के एकत्व के साक्ष्य रूप मे समानोच्चरेखा के सातत्य को पेश करने के हमारे ऊबड़-खावड़ किन्तु तात्कालिक तरीके मे भी इस नियम का ही प्रभाव हमे दीख सकता है। हम बाह्य रूप मे संतत संहृति को अनेक न मानकर एक वस्तु इसलिए निर्धारित करते है क्योंकि अनेक सुस्पष्ट विषयो मे वह एक के ही रूप मे व्यवहार करती है। (उदाहरण के लिए, अपने भार तथा अन्तरिक्ष या अवकाश के मध्य घूर्णन अथवा स्थानान्तरण के कारण होने वाले उसके भागों के विस्थापन के विषय मे) हमारी अपने शरीरों के,जो बोधात्मक रूप से सतत होते है, साम्यानुमान से भी हमारा निर्णय नि.सन्देह प्रभावित हुआ करता है। हम बोद्धव्य रूप से संतत अजैव संहृति मे भी,अपनी कल्पना द्वारा उसी प्रकार के उद्देश्य-परक एकत्व का प्रक्षेपण कर बैठते हैं जो हम अपने मानसिक जीवन मे पाते है। दूसरी ओर ज्ञेयरूप से विसतत का (उदाहरणार्थ, दो ऐसी अजैवतान्त्रिक सहृतियाँ जो प्रकटत: रिक्त अन्तराल द्वारा पृथक्कृत हो) एक वस्तु न होने की अपेक्षा अनेक वस्तु होने का निर्णय इस कारण किया जाता है चूँकि अपनी कल्पना मे हम इस प्रकार के मानसिक जीवन का प्रक्षेपण उन दोनों असतत भागो मे से प्रत्येक भाग मे कर लिया करते है।

अगर यह सब इसी प्रकार हो तो निष्कर्ष यह होगा कि एक वस्तु मे दूसरे वस्तु को विभाजित करनेवाली मध्य रेखा कभी भी निर्धारित तौर पर न खीची जा सकेगी। क्योकि अगर कोई एक वस्तु अन्ततोगत्वा एक व्यष्ट अर्थात् एक अद्वितीय आत्मसंगत विचार का मूर्त, मानी जाती है तो वह एकमात्र वस्तु, पूर्णतया और निरपेक्षतया एक, अनन्त व्यष्ट वास्तविकता स्वय ही होगी। वह सीमा जहाँ तक कि समग्र का कोई लघुतर भाग एक वस्तु घोषित किया जा सकता है उस सीमा पर निर्भर होगी जहाँ तक उसमे आत्मपूर्ण व्यवस्थित व्यष्टता प्रदर्शित होती हो और इस प्रकार यह सब बात मात्रा विषयक ही होगी। ऐसा उच्चतम कोटि का परिमित एकत्व जिसकी हम कल्पना कर सकते है, ऐसे उस जीवन का ही एकत्व हो सकता है जो सगत प्रयोजन की चैतन्य उत्तरोत्तर वर्धमान सिद्धि प्राप्ति का जीवन हो। इस प्रकार का जीवन केवल ऐसे बाहरी प्रेक्षक के लिए ही एक नहीं होना जिसे उस जीवन मे अन्तर्हित लक्ष्य का एकत्व दीख

जाता है अपितु स्वय अपने लिए भी एक होता है। इस प्रकार उसका एकत्व वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों ही कहा जा सकता है। अत. जितनी ही अधिक पूर्णतया हमारा अपना आभ्यन्तर जीवन सगत प्रयोजन को व्यवस्थित रूप मे व्यक्त करता होगा उतना ही अधिक अधिकार हमे अपने आपको सही तौर पर 'एक वस्तु' मानने का होगा और उसी कारण सही तौर पर व्यष्ट मानने का भी। लेकिन जब हम याद करते है कि वह वस्तु जिसे हममे से कोई भी 'अपना' आभ्यन्तर जीवन कहता है, इस तरह की आभ्यन्तर-संरचना-सगति के प्रदर्शन से कितना व्यपगत है, (किस सीमा तक कम इस प्रकार की सगति उस जीवन मे पायी जाती है)। तभी हमे पता चलेगा कि ऊँचे से ऊँचे मामले मे भी यह एकत्व, मात्रा का विषय ही रहता है।

कायिक या जैविक जीवन के निम्नतर रूपो के बारे मे तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट है। अगर इन जगजाहिर पहेलियो का यहाँ जिक्र न भी किया जाय जो तब उठ खडी होती है जब हम इस बात का फैसला करने चलते है कि क्या वह सृष्ट जो अधिकाशत स्वतन्त्र कोशिकाओ का एक सघ है, एक जीव है अथवा अनेक जीव तो भी हमारी कठिनाइयों का दौर तभी शुरू हो चलता है जब हमे पूर्णत आत्मचेतन जीवन की अपेक्षा निम्न प्रकार के किसी जीवन से काम पडता है। हम किसी हद तक कह सकते हैं कि कोई मानव स्वभाव या चरित्र तभी तक एक रहता है जब तक कि वह व्यवस्थित प्रयोजन की चेतन अभिव्यक्ति बना रहता है लेकिन यह कहना इतना आसान नही कि हम किस अर्थ मे किसी जीव के चेतन जीवन को एक बतलाते है। जैव मनोवेग के उद्देश्य तथा रुचि के व्यवस्थित एकत्व जैसी किसी वस्तु से रहित होने पर पहली नजर मे उसे 'एक' बतलाने के बजाय, स्पष्ट मनोवेगो और सहज-वृत्तियों का एक गट्ठर या समुदाय मात्र कहना ज्यादा उचित मालूम होता है।[1] मगर इसके बावजूद भी हम आदतन या स्वभावत. ही इस विशिष्ट उच्चतर जीव को अनेक के बजाय 'एक' कहते और सोचते हैं तो इसकी वजह नि:सदेह यह ही है कि हम चुपचाप ही उसे अभिरुचि के ऐसे चेतन एकत्व जैसी किसी वस्तु का अध्याहार कर लेते है, जैसा एकत्व हमें स्वयं अपने मानसिक जीवन मे थोडे बहुत कम स्पष्ट रूप मे ही मिलता है।

जब हम अजैव जगत् पर विचार करने लगते है तो, किसे हम एक वस्तु कहे और किसे हम अनेक कहकर अभिहित करे यह सब हमारी व्यक्तिनिष्ठ या आत्मनिष्ठ

१. ऐसा लगता है कि जीव के मानसिक जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण, वास्तव में भी लोगों ने अपनाया हुआ था। उदाहरण के लिए स्वर्गीय प्रोफेसर टी० एच० ग्रीन को पेश किया जा सकता है। फिर भी देखिए ग्रीन कृत 'वर्क्स', २,२१७।

को जिसमे विशिष्ट गुण हो (पण्डिताई भाषा मे जिन्हे आहार्यगुण कहते हैं) उस पदार्थ के गुणों मे से किसी ऐसे गुण-धर्म-समूह से तादात्म्य मान लिया जाय जिसे हम विशेषतः महत्त्वपूर्ण अथवा स्थायी समझते हो। तव वह 'मौलिक' गुण-धर्म-समूह ही वह पदार्थ समझा जाता है और लघुतर महत्त्व के अथवा कम स्थायी गुण उसके 'गौण गुण" गिने जाते है। ऊपर से ही दिखाई पड जाने वाले कारणों से ही हम मौलिक गुणो को आधुनिक दर्शनशास्त्र मे आमतौर पर पिण्ड के उन गणित शास्त्रीय गुण-धर्मो का तादात्म्य, जैसाकि गैलिलियो, डेस्कार्टीज, लॉक जैसे दार्शनिको ने माना है जो यान्त्रिक भौतिक विज्ञान के लिये आधारभूत महत्त्व के है।[1] उपर्युक्त रूप में परिभाषित पदार्थ, प्राय न कि सदा ही, जिस प्रकार गौण गुण धर्मा से सयुक्त हुआ करता है यह बात और भी स्पष्ट यों कहकर की जाती है कि ये गुण धर्म हमारी सवेदन शक्ति मे हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो पर प्राथमिक गुणो के कारण हुई क्रिया द्वारा उत्पन्न परिवर्तन है । इन दोनो विशिष्ट दृष्टियो मे से कोई भी वस्तुओ के पदार्थ का उनके आधारभूत गुणो के साथ तादात्म्यीकरण करने मे शामिल नही होती। इस सिद्धान्त का सारभूत नियम तो केवल इतना ही है कि गुणों के किन्ही समूहो को प्राथमिक महत्त्व का मान लिया जाय और ऐसे किसी पदार्थ को उनका तादात्म्य मान लिया जाय जो उस समुदाय के गुणो मे से अनेक गुणो से युक्त हो।

जब तक कि उपर्युक्त प्रकार का सिद्धान्त भौतिक विज्ञानो का वह काम, जिसके लिये उसकी जरूरत है, ठीक तरह से चलाया जाता है तब तक एक कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप मे भौतिक विज्ञानो के लिये उसके प्रयोग के बारे मे किसी तरह का एतराज उठाना हमारे लिये असमीचीन होगा। निकाय रूप मे भौतिक विज्ञानो का उद्देश्य केवल इतना ही है कि उनके द्वारा हम प्राकृतिक घटनाक्रम का वर्णन और गणन यथार्थता की पराकाष्ठा और शुद्धता की उच्चतम मात्रा तक न्यून से न्यून जटिल सूत्र समूह की सहायता द्वारा कर सके। यदि सवेद्य वस्तुओ के किसी गुण धर्म समूह को

---

१. सही कहा जाय तो द्रव्य के अन्तिमेत्थ कणो की 'घनता' और 'अभेद्यता' जैसा कि लॉक और न्यूटन के मतानुसार उसका मौलिक अथवा 'प्राथमिक' गुण है वास्तव मे उसका 'गणितीय गुणधर्म' नहीं है। लेकिन फिर भी उसे गणितीय गुणधर्मों की सूची मे, इन दार्शनिको के इस विश्वास के कारण ही शामिल किया गया है कि विस्तार और गुणधर्मों के समान ही गणितीय भौतिकी के लिये उसका आधारित महत्त्व है । 'गौण' गुणधर्मों की व्यक्तिनिष्ठ रूप से व्याख्या करने का तरीका डेमोक्रिटस के जमाने से ही चला आ रहा है।

मौलिक अथवा प्राथमिक महत्त्व का मान लेने और अन्य सभी शेष गुण धर्मों को उन प्राथमिक गुण धर्मो का व्युत्पाद मान लेने से यह उद्देश्य अत्यधिक सफलतापूर्वक सिद्ध हो सके तो अकेले इस तथ्य के कारण ही उपर्युक्त विभेद विधि का औचित्य पर्याप्त सिद्ध हो सकेगा। गुण धर्मो का वह कोई भी समूह जो वर्णन तथा गणन के उपर्युक्त प्रयोजनो के लिये अपने आपको प्रस्तुत करता है, भौतिक विज्ञानो के विशेष उद्देश्गो के लिये प्राथमिक महत्त्व की वस्तु हुआ करता है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि भौतिक प्रयोजनो के हेतु उसके महत्त्व के कारण उसे, पदार्थ के अभिप्राय विषयक तत्त्वमीमासीय समस्या के हल के रूप मे, उसे उतना ही मूल्यवान समझने की कोई वजह नही दिखाई देती। उदाहरण के तौर पर, किसी पिंड के गणितीय गुण धर्म भौतिकी के लिये सर्वोच्च महत्त्व के क्यो है इसका एक मात्र कारण यह है कि उन गुण धर्मो को लेकर पिण्डो को जातित्व के विषय मे परस्पर भिन्न नही माना जा सकता बल्कि केवल संख्या के मामले मे ही वे भिन्न माने जा सकते है। यही है जिससे वस्तुओ के व्यवहार का हिसाब लगाने के आधार रूप मे वे हमारे लिये बेअन्दाज काम की चीज़ साबित होते हैं। लेकिन यह भी हो सकता है कि वस्तुओ का असली स्वरूप केवल उन्ही बातों मे पूरी तरह प्रकट हो जिनके कारण वे जातिगत रूप से भिन्न हों। तत्त्वमीमांसक के स्थिति बिन्दु से, अमानवीय प्रकृति विपयक कोई ऐसा दृष्टिकोण, भले ही वह कितने ही काम का क्यो न हो, जो केवल उन्ही पहलुओ पर आधारित हो जिनके कारण वस्तुएँ सबसे ज्यादा एक समान प्रतीत होती हों, उतना ही अधिक ऊपरी या बाह्य होगा जितना कि सांख्यिकीपरक समाजशास्त्री के मतानुसार मानवीय प्रकृति विषयक स्थिति बिन्दु। किसी ठोस अथवा दृश्य वस्तु की सही सत्ता उसके गणितीय गुण धर्मो द्वारा उतने ही अपर्याप्त रूप मे व्यक्त हो सकती है जितना कि किसी व्यष्ट मनुष्य का चरित्र मानवमितीय परिणामो द्वारा।

वास्तव मे तो, हमे यह साफ दिखाई पडता है कि 'प्राथमिक' और 'गौण' गुणो के बीच के इस प्रभेद को यदि हम पदार्थ विपयक समस्या के हल के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो उससे हमे कोई विशेप लाभ नही होता। हम जहाँ थे वहाँ ही वह हमें छोड़ देता है। क्योंकि हम एक वस्तु के 'पदार्थ' मे प्राथमिक गुणो का अध्याहार ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार कि 'द्वितीयक' या 'गौण' गुणो का। हम कहते है कि वस्तु अमुक रूपाकृतिक है, अमुक अमुक घनत्व की है, ठोस है इत्यादि, ठीक उसी तरह, जिस तरह कि हम कहते है कि वह खुरदरी है, भारी है या हरी है। अथवा हम जिस तरह कहते हैं कि उसमे आकृति है, घनत्व है, ठोसपन है उसी तरह यह भी कहते है कि उसमे वजन या भार है, स्वाद है, रग है इत्यादि। इसलिये स्वय प्राथमिक गुणों के बारे मे भी वही पुरानी समस्या उठ खडी होती है। भले ही उनकी सूची चाहे जैसे क्यो न बनाई जाय

हमे फिर भी पूछना पडता है कि जिसमे आकृति है, घनत्व है, ठोसपन इत्यादि है वह क्या है ?

(२) इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त गौण गुणो के जिस स्वामित्व का अध्ययन प्राथमिक गुण समूह मे करता है, उसके स्वरूप को समझाने मे वह असमर्थ है। प्रश्न उठता है कि प्राथमिक गुण किस प्रकार गौण गुणो के स्वामी होते है अर्थात् उन्हे ये गौण गुण कैसे प्राप्त होते है ? इस प्रश्न का उत्तर देने की मनोयोग पूर्ण चेष्टा केवल कुछ उन दार्शनिकों (डेस्कार्टीज़, गैलिलियो, लॉक आदि ने) की है जो गौण गुणों को, प्राथमिक गुणो के हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर हुए 'व्यक्तिनिष्ठ' प्रभाव ही मानते हैं। किन्तु समस्या का यह सुपरिचित हल तर्कशून्य-सा मालूम देता है। क्योंकि गौण गुणों की व्यक्तिनिष्ठता के पक्ष मे पेश की जाने वाली युक्ति मे यही कहा जाता है कि वे गुण विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों के विना देखे नही जा सकते। कहा जाता है कि वर्ण या रग का अस्तित्व आँख के ही लिये, शब्द का कान के लिये और स्वाद का जिह्वा के लिये आदि। और किसी ज्ञानेन्द्रिय की बनावट या सरचना भेद अथवा उसकी किसी अस्थायिनी दशा के कारण भी गौण गुणो का ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप मे होता है उदाहरण के लिये प्रचलित कहावत को ही ले लें जिसमे कहा गया है कि पीलिया से पीडित आँख को सब ससार पीला ही पीला दीखता है या एक ही पानी किसी के हाथ को ठडा और किसी को उष्ण प्रतीत होता है।

लेकिन ये प्रतिफल जिस प्रकार वस्तुओ के 'द्वितीयक' अथवा 'गौण' गुणो पर लागू होते हैं उनके तथानुमित 'प्रारम्भिक' अथवा 'प्राथमिक' गुणों पर भी वे उसी प्रकार लागू होते है। उदाहरण के लिये ज्यामितिक आकृतियाँ दृष्टि अथवा स्पर्श के विना दृष्टिगोचर नही होती इसी तरह गति और परिणामत' समाकृति परिवर्तन तथा संहति जो त्वरण का अनुपात है, के प्रेक्षण के लिए भी या तो दृष्टि की या स्पर्श की आवश्यकता होती है। निश्चय ही हम गतियो अथवा संहतियों का ध्यान उन्हे घट रूप मे देखे विना भी ठीक इसी तरह कर सकते है जिस प्रकार किसी अपने सामने नामौजूद या अनुपस्थित सुगध अथवा रग का ध्यान कर लिया करते है और इन दोनो ही मामलो मे गतियों, सहतियों अथवा गन्धो या रगों के बारे मे तर्कना करते समय हम उन्हे परिग्राहक अथवा प्रेक्षक की उपस्थिति से एकदम विलग करके भी रख सकते हैं, लेकिन इसका कोई प्रभाव इस तथ्य पर नहीं पडता कि पिंड के गणितीय गुण प्रेक्षण हेतु उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से युक्त किसी प्रेक्षक की उपस्थिति पर निर्भर होते हैं जैसे अन्य कोई वस्तु। वे आकृतियाँ, विस्तार तथा गतियाँ भी जिनका ज्ञान कोई भी व्यक्ति स्पर्श, अथवा किसी भी अन्य ऐन्द्रिक क्रिया द्वारा प्राप्त नहीं करता, उसी सूची मे आती है जिसमे कि वह रग जिसे कोई नही देख

पाता, अथवा वह ध्वनि जिसे कोई नही सुन पाता। परिग्राहक अग की अपरिहार्यता की युक्ति तर्कसगत्यानुसार अगर एक मामले में ठीक है तो उसे दूसरे मामले में भी ठीक उतरना चाहिए।[1]

इसके अतिरिक्त अनुभूति हमे कभी भी स्वयं प्रारम्भिक गुण नही दिया करती। वास्तविक अनुभूति से हमे जो कुछ प्राप्त होता है वह सदा ही प्रारम्भिक और द्वितीयक गुणों का एक मूर्त प्रत्यक्षगत योग मात्र होता है। इस प्रकार हमे 'द्वितीयक' या गौण प्रकार की किसी स्पर्शजन्य या दर्शजन्य भरती के विना विस्तार का ज्ञान प्राप्त ही नही होता। विस्तृत के साथ रग, वनावट अथवा प्रतिरोध आदि कोई न कोई गुण लगा हुआ मिलता ही है। ऐसा विस्तार जो रग, स्पर्शगुण और पिड के तथाकथित सवेद्य, अगणितीय अथवा द्वितीयक गौण गुणों मे से प्रत्येक गुण से रहित हो, एक ऐसी अवास्तविक विविक्त मात्र है जिसकी प्राप्ति एक ऐसे पक्ष का परिहार करके ही होती है, जो वास्तविक अनुभूति मे उससे अवियोज्य प्रतीत होता है, और इसीलिए अनुमान्यत अवैध भी। इस माने मे अवैध, कि जब उसे पिण्ड की आधारीय वास्तविकता के विवरण के रूप मे पेश किया जाता है तो वह भौतिक विज्ञानों के हिसाव से उपयोगी होते हुए भी सहज तर्कना के लिये अवैध ही रहता है। अत इन तथाकथित प्रारभिक या मौलिक गुणो को ऐसे ऐकिक पदार्थ के रूप मे ग्रहण करना जो द्वितीयक गुणो का भी 'स्वामी हो' और इन द्वितीयक गुणो को 'व्यक्तिनिष्ठ' बताकर टाल देने की कोशिश से हम किसी भी सन्तोपजनक परिणाम पर नही पहुँच पाते। प्रारभिक गुणो का अधिक अन्तिमेत्थ अथवा चरम पदार्थ के गुण मात्र होना ही आवश्यक है।

५—अत ऐसा लगातार होता चला आया है कि वे ही लेखक जो पदार्थ को वस्तुओ के प्रारम्भिक गुणो का तादात्म्य मानते है, अपने मत को एक ऐसे मत मे एकान्तरित कर लेते हैं जिसके अनुसार पदार्थ एक ऐसी अविज्ञेय इकाई होता है जिसके विषय मे हम इससे ज्यादा कुछ नही कह सकते हैं कि वह और चाहे कुछ क्यों

---

१. लॉक के मत का प्रोफेसर सिजविक द्वारा कृत समर्थन। ('फिलोसफ़ी इट्स स्कोप एण्ड रिलेशन', पृष्ठ ६३ एफएफ)। मुझे तो इस विवादग्रस्त विषय को किसी भी ऐसे सवेद या ज्ञान ने 'जिसमें 'गौण' या 'द्वितीयक' गुणों को उनका अर्थ संवेदना की अन्तर्वस्तु द्वारा प्राप्त होता है, 'प्राथमिक' या प्रारभिक गुणो की अर्थापत्ति भी इसी प्रकार होती है। असल बात तो यह है कि सवेदना न केवल (प्रक्रिया रूप मे) काठिन्य अथवा मार्दव आदि के सज्ञान का अवसर प्रदान करती है अपितु (अन्तःसार रूप मे) वह 'कठिन' और 'मृदु' का अर्थ तक भी हमे प्रदान करती है। तुलना कीजिए आगे लिखित, 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', अध्याय १।

न हो, लेकिन वस्तुओं के व्यवहार विषयक सभी तर्क वाक्यो मे जिसे पूर्वग्रहीत माना जाता है, उसके विभिन्न गुणो का वह अज्ञात 'अध स्तर' अवश्य है । इस मत के अनुसार, वस्तुओं के बहुतेरे गुण, किसी अव्याख्येय विधि द्वारा या तो स्वय उसी के अज्ञात अध स्तर या पदार्थ के स्वरूप से ही प्रवाहित होते है या फिर उस सम्बन्धो से जो इस अध स्तर के अन्य वस्तुओं के अध स्तरो के साथ होते है।[1] तब हमारा ज्ञान, वास्तविक वस्तुओ के अज्ञात अन्तिमेत्थ स्वरूप के परिणामों तक ही प्रतिबद्ध माना जाता है। तब कहा जाता है कि हम भौतिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के अस्तित्ववान् पदार्थ से अनभिज्ञ हैं और उसके विशेषणों अथवा उसकी अभिव्यक्तियो मात्र को ही जानते हैं। यही बात दूसरी तरह यों कही जाती है कि हम यह जानते ही नही कि वस्तुएँ दरअसल हैं क्या हम तो सिर्फ यही जानते है कि उनका एक दूसरे पर क्या प्रभाव पडता है और साथ ही यह कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों को वे कैसे प्रभावित करती हैं। उदाहरण के तौर पर यही बात लॉक के निबन्ध के उन अशों मे प्रस्तुत की गयी है जिनमे वस्तुओं के सत्यसार पदार्थ को अन्तिमत. जान सकने की हमारी असमर्थता पर जोर दिया गया है।

लेकिन इस तरह का सर्वसामान्य फतवा या निरूपण स्पष्टत. ही गभीरतम आक्षेपो को निमन्त्रण देता है। (१) अगर हम वास्तव मे किसी वस्तु के गुणो के अध स्तर के स्वरूप की अविज्ञेयता का दृढ़तापूर्वक निरूपण करने पर तुले हों तो यह जानना बड़ा कठिन होगा कि उसके अस्तित्व के निरूपण से हमारे वस्तु विषयक ज्ञान मे वृद्धि कैसे हो सकती है। इस कथन का कि हम इस अध.स्तर के स्वरूप से एकदम अनभिज्ञ हैं, केवल यही मतलब हो सकता है कि हम यह रत्ती भर भी नही जानते है कि अनेक गुण क्योकर एक ही वस्तु के गुण हो सकते है। अगर बात ऐसी ही है तो एकल वस्तु को अनेक गुण विशिष्ट अथवा युक्त बताने मे हमे क्या लाभ है यह पता नही लगता। हमे समझ न लेना चाहिए कि हमारे लिये यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम एकल अध स्तर विषयक इस प्रकार के सस्वीकृतत अबोध्य विचार का परित्याग कर दे जिसके अनुसार गुण स्वय ही "अतर्हित" माने जाते है, और कहने लगे कि हमारे समझने के लिये अनेक गुण मात्र ही स्वय वस्तु है। पदार्थ रूप मे वस्तु के उत्त एकत्व के जो उन

---

१. तब चर्च प्रधानतावाद पूर्वतर विकल्प होगा । आधुनिक विज्ञान पश्चोक्त विकल्प को न्यूनाधिक रूप मे उन विचारको ने स्वीकार कर लिया है जो पदार्थिक विचार के पृष्ठपोषक हैं। उनके दृष्टिकोण से विभिन्न गुण उन सबन्धो के परिणाम हैं जो प्रत्येक पदार्थ का (अ) किसी अन्य अन्तःकार्यकर पदार्थों के साथ और (ब) विशेषतः हमारी चेतना के अज्ञात अधःस्तर के साथ हुआ करते हैं।

सभी निर्णयो मे मौजूद रहता है जिनमे उसके विशेषण पूर्वविहित रहते है, मौन अभ्युपगम के साथ उपर्युक्त मत का मेल कैसे बैठाया जाय, इस पर हम अधिक अच्छी तरह विचार अगले अनुच्छेद मे करेगे।

(२) एक और भी अधिक गहन कठिनाई शेष रह जाती है। वह यह कि न केवल "गुणों का अविज्ञेय अध स्तर' ही तत्वमीमासीय सिद्धान्त के लिए एक अवाछित विलास वस्तु है अपितु इस अध स्तर तथा उससे प्रवाहित होने वाले विशेषणो के बीच उपकल्पित सबन्ध का स्वरूप भी बोधगम्य नही है। न तो हम यह ही समझ पाते है कि गुणों से एकदम रहित वस्तु जगत के पदार्थ या अध स्तर, सम्भवत. क्या और कैसा होगा न यह ही कि वस्तु जगत के हमारी अनुभूति के लिए प्रस्तुत विभिन्न गुण इन अध स्तरो मे से एकाधिक से द्वितीयक परिणामों के रूप मे किस प्रकार प्रवाहित हो सकते है। हम कल्पना भी नही कर सकते कि किसी प्रकार के निर्धारित स्वरूप रहित अपनी इस समूति के बिना वस्तु पहले 'हो' ही कैसे सकती है और बाद को अपने अन्योन्य अन्त सम्बन्ध के आधार पर उनके गुणों अथवा समूति को लाक्षणिक विधाओ को वह कैसे जन्म दे सकती है। कोई वस्तु बिना किसी निर्धारित विधा में हुए बिना हो ही नही सकती और किसी निर्धारित विधा की दशा मे होने को ही हम उस वस्तु का गुण नामधेय कहते है। कोई वस्तु अपने पर्यावरण से किसी विशेष विधानुसार व्यवहार किये बिना हो नही सकती और व्यवहार की ये विशेष विधाये ही उस वस्तु के गुण है। अत हम वस्तु की समूति को अथवा उसके 'तत्' को उसकी संभूति की निर्धारित विधा से अथवा उसके 'कि' या 'यत्' से विलग नही कर सकते न निर्धारित विधा को ऐसी वस्तु मान सकते है जो प्रथमोक्त के बीच आ घुसती हो अथवा प्रथमोक्त से निस्तृत होती हो तथा न प्रथमोक्त को ही ऐसी वस्तु मान सकते है जो पश्चोक्त के बिना और उससे विलग मौजूद रह सकती हो। ऐसा कभी नही होता कि वस्तुएँ पहले हो और बाद को किसी रहस्यमय तरीके से वे गुणों से मडित हो जायँ। उनके गुण तो उनके अस्तित्व की उनकी अपनी विशिष्ट विधाये मात्र है। जैसा कि लोत्जे ने ठीक ही लिखा है, कि ऐसे वे सब प्रयत्न जिनके द्वारा उस विधि का जिसके जरिये वस्तुओं का 'यत्' या 'कि' मात्र 'तन्मात्र' से उद्भूत होता हो सत्ता का निर्माण कैसे होता है इस प्रश्न का उत्तर देने का ही प्रयत्न है।[1] यह विचार वास्तव मे अर्थहीन तथा अनावश्यक है कि वस्तुओं का तत् अथवा सार पदार्थ, उनके यत् अथवा गुण से भी पहले होता है तथा वह ऐसी सत्ता से ही निर्मित होता है जो सत्ता अस्तित्व की न तो यह न वह, निर्धारित विधा होती है।

---

१. देखिए—उनकी 'मेटाफिजिक्' के खंड १ के अध्याय १ व २

६—एतद्नुसार निश्चयात्मक विज्ञान के अनेक अध्येता, वस्तुओ के दशा वाहुल्य अथवा गुण वाहुल्य के पीछे छुपे हुये पदार्थसारीय एकत्व की समग्र विचारधारा से पक्ष मे नही है। यतः गुण वह सब ही है जो वस्तु मे हमे रुचि पैदा कराते है और अनिर्धारित व्याघाती अधःस्तर के प्रतीक भी, अत कहा जाता है कि हमे बिना किसी आडम्बर के ही मान लेना चाहिए कि वस्तु, अपने ही दशा, कर्मो और गुणों का प्रतिरूप है। इस दृष्टिकोण से देखने पर वस्तु ऐसी अज्ञात कुछ जिसके रहस्यमय तरीके से कुछ गुण धर्म भी हुआ करते है, तब नही रहती। वह तब स्वय गुण धर्मो का समूह रूप ही वन जाती है। तब वह अप्रेक्षित अथवा अपरिग्रहित एतत् जिसमे उष्णता, रक्तिमा, आदि है, नही रह जाती अपितु स्वय उष्णिमा, रक्तिमा तथा अन्य जो कुछ भी इन्द्रियगम्य है उस सब का समूह रूप हो जाती है। प्रपचपरक तत्त्वमीमासा तथा साहचर्यवादी मनोविज्ञान दोनों ही के अनुसार वस्तु 'विशेषणो अथवा उपाधियों का गट्ठर मात्र' ही है अन्य कुछ नही।

जब हम पूछते है कि यदि 'वस्तु' स्वय अपनी उपाधियो की श्रेणी अथवा योग मात्र ही है और उसमे ऐसा कोई अन्तर्हित एकत्व नही है जिसके साथ ये उपाधियाँ सलग्न हो तो वस्तुविषयक हमारी सामान्य बोलचाल किस प्रकार विपरीतार्थ ग्रहण के अनुसार गढी जा सकती है, और कैसे हम सदा ऐसे कहे और सोच सकते है कि गुणो के इस प्रत्येक 'गट्ठर' या 'समूह' का मालिक ऐसा कुछ है, जिसके बारे मे हम कह सके कि यह गुण उसी का है, तब प्रपचवादी हमे मनोविज्ञान का हवाला देकर हमारे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है । इस तथ्य के आधार पर जिसे प्रपचवाद और साहचर्यवाद भी अन्तिमेत्थ मानने मे सन्तुष्ट है—कि इन्द्रियगम्य गुण हमारे प्रत्यक्षण या प्रेक्षण हेतु निश्चित समूहो मे ही प्रस्तुत हुआ करते है, यह कहा जाता है कि इस समूह के किसी एक अंगी का ध्यान ही, अपने साहचर्य या सम्पर्क द्वारा उन अन्य गुणो के विचार को पुनर्जीवित करने के लिये पर्याप्त होता है, जो या तो उस अगी के साथ ही साथ अथवा उसके अव्यहत पौर्वापर्य मे, हमारे सामने आते रहे है। इसीलिए, चूँकि, अपने प्रत्यक्षण मे इस प्रकार सहचरी होने के कारण उस गुण समूह के स्वभावत किन्तु अवैधत हम, उस मानसिक कल्पितार्थ द्वारा जिसका ह्यूम ने इतना विशद् विवरण दिया है, एक ही समझा करते है यद्यपि वास्तव मे वह समूह एक विविक्त वाहुल्य ही है। अत वस्तु का एकत्व स्वय अपने मे ही निहित नही होता वल्कि हमारे द्वारा उसके प्रत्यक्षण अथवा विचारण मात्र मे ही वह निहित होता है।

प्रत्यक्षण को, किसी दत्त सामग्री का निष्क्रिय सग्रहण मात्र मानने की पुराने साहचर्यवाद की भूल को वचा कर चलनेवाले इसी अभिमत का एक आधुनिकतर सस्करण यह है कि अनेको विधेयो के एक उद्देश्य का एकत्व अन्ततोगत्वा हमारे अपने

अवधानात्मक कार्यो से ही अभिसृत हुआ करता है, गुण 'एक' वस्तु के गुण इसलिए प्रतीत होते है कि हम अवधान के एक लक्षण मे ही उन सब पर एक साथ एक रूप मे ही ध्यान देते है। इस तर्क के अनुसार पदार्थ का वह एकत्व, जिसकी प्राप्ति सामान्य बुद्धि अपने लक्ष्यो से होना मानती है, वास्तव मे उन लक्ष्यो मे स्वय परिग्रहीता मानस द्वारा ही अध्याहृत होता है। उसे जो कुछ 'दिया जाता है', वह गुणों का असम्बद्ध बाहुल्य ही होता है। उन गुणों के विभिन्न समूहो पर एक रूप मे ध्यान देकर वह मानस उन समूहों को एकल वास्तविकता के विशेषणों मे परिवर्तित कर देता है। काण्ट के सिद्धान्त का भी सार यही है। उस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ की 'सकल्पना' 'सप्रत्यक्ष अथवा अभिबोध के सश्लेषणात्मक एकत्व' का केवल एक रूप ही है अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके द्वारा हम अपने अवधानात्मक कार्यो के एकत्व का प्रक्षेप उनके लक्ष्यो मे किया करते है और इस प्रकार उन सवेदनो से, जो हमे दिये जाने के समय दुर्व्यवस्थित हुआ करते है, अपने विचारो के लिये एक व्यवस्थित ससार की सृष्टि कर लिया करते है। सिद्धान्तत काण्ट का अभिमत, जिसके उद्भव का उद्देश्य ह्यूम के साहचर्यवाद का निकारण करना था, ह्यूम के अभिमत से उस जोर के कारण ही भिन्न माना जाता है जो वह प्रत्यक्षण मे वर्तमान व्यक्तिनिष्ठ अभिरुचि विषयक तत्व पर नहीं, ही देता है। काण्ट और ह्यूम दोनों ही के सिद्धान्त इस मुख्य विषय पर सहमत है कि ऐंद्रिक प्रत्यक्षण के विभिन्न गुणों को एकसूत्र मे पिरोकर एक वस्तु बना देने वाला बन्धन एक व्यक्तिनिष्ठ बन्धन होता है। ह्यूम के अभिव्यक्तिपूर्ण शब्दो मे 'मानसी कल्पना'[1]।

वर्तमान अनुसन्धान के सिलसिले मे इस अभिमत के मनोवैज्ञानिक पहलुओ से हमारा कोई भी सीधा सरोकार नही है। हमारी समस्या यह नही है कि ठीक ठीक किस पदक्रमानुसार मन अपने लक्ष्यो मे उस एकत्व की, जो वास्तव मे, उनमें नही हुआ करता, 'व्याज कल्पना' कर लिया करता है, बल्कि हमारी समस्या तो यह है कि क्या वास्तव मे, असम्बद्ध अनेक गुणों मे मन द्वारा व्याज कल्पित इस एकत्व की सकल्पना, अन्ततोगत्वा स्वय बोधगम्य है भी या नही। इस प्रकार तत्वमीमासीय-वाद पद के क्षेत्र को सकरित करके निम्नलिखित प्रश्न मे ही सीमित किया जा सकता

---

१. जो पाठक काण्ट के अभिमत का ब्योरेवार अध्ययन करना चाहते हो वे काण्ट की अपनी पुस्तक 'प्रोलेगोमिना टु दि स्टडी आफ् एनी फ्यूचर मेटाफिजिक्' से अपना अध्ययन प्रारम्भ कर सकते है। वे लोग भी जो 'क्रिटीक ऑफ् प्योर रीजन' को अत्यधिक बिखरा और तकनीकी पाते हैं उस पुस्तक के अध्ययन से लाभान्वित हो सकते हैं। उपर्युक्त पुस्तक का आधुनिकतम और सस्ते से सस्ता अनुवाद, ओपन कोर्ट पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा प्रकाशित दर्शन शास्त्रीय पुस्तक माला मे शामिल है

है, क्या हम बोधगम्य रूप से यह कह सकते है कि वस्तु वास्तव मे उन गुणो की एक सख्या मात्र है जो स्वभावत सहज रूप से सम्बद्ध नही होते और जिन्हे हम स्वेच्छया, जबर्दस्ती अपने मतलब के लिये एक समझा करते है ?[1] दूसरे शब्दो मे क्या हम कह सकते है कि वस्तु अपने गुणो की तादात्म्य हुआ करती है यदि उन गुणों को एक योग अथवा पुञ्ज रूप मे लिया जाय और उनमे इससे अधिक ऐसे एकत्व का जिसे पुराना तत्वदर्शन पदार्थ नाम से अभिहित करता है, अध्याहार, तथ्यो के साथ लगाया हुआ हमारा अपना मानसिक पुछल्ला मात्र है ?

अब दो विचार्य बातें ऐसी हमारे सामने रह जाती है—दोनो ही सिद्धान्तत. मिलाकर एक की जा सकती है जो वस्तु को अपने गुणो का—यदि उन गुणो को विविक्त रूप मे देखा जाय तो तादात्म्य मानने मे बाधक है। (१) इसमे तो कोई सन्देह ही नही हो सकता कि ऐसा कहना अधिकाशत सही है कि गुणो का एकदत्त समूह हमे किसी एक वस्तु का गुण रूप इसलिए भासता है कि हम उन गुणो पर एक रूप मे ही ध्यान देते है, और फिर अवधान का निश्चयन नि सन्देह हमारे अपने व्यक्तिनिष्ठ हितो द्वारा ही होता है। इसी बात को और अच्छी तरह कहा जाय तो कह सकते हैं कि वह अवधान हमारे अपने व्यक्तिनिष्ठ हितों की ही अभिव्यक्ति होता है। लेकिन इन बातो से यह जरा-सा भी सिद्ध नही होता कि अवधान एकदम कोई स्वेच्छ या बिल्कुल मनमानी चीज है। अगर हम किसी गुण समूह को केवल इसलिए एक वस्तु मानते है क्योकि हम उनके प्रति एक रूप मे ही अवहित होते हैं, तो उसके साथ-साथ यह भी सही है कि उनके प्रति हम एकरूप मे इसलिए अवहित होते है क्योकि वे एक रूप मे ही हमारे व्यक्तिनिष्ठ हितो अथवा प्रयोजनो के प्रति क्रियाशील और प्रभावी होते हैं। इस प्रकार के गुण समूह को एक घोपित करने मे हम किस विशिष्ट हित पर विचार करते है और किस हित मे हम उसके प्रति अवहित होते हैं, यह बातें अधिकाशत उस समूह के गुणो से स्वतन्त्र भी हो सकती है। लेकिन यह तथ्य भी, इस हित के सम्बन्ध मे उपर्युक्त गुण समूह एक रूप से ही क्रियावान् है न तो कोई 'काल्पनिक' बात ही है न हमारे अपने विचार की सृष्टि ही। वह स्वय समूह के स्वरूप की ही अभिव्यक्ति है और हमारे मन की उसे अपेक्षा नही होती उसके बिना ही वह उसी माने मे स्वतन्त्र होता है कि जिस माने मे किसी समूह के किसी एकल अग का अस्तित्व और स्वभाव उस समूह से स्वतन्त्र होता है 'दत्त' मे एकल गुण का अध्याहार करना तथा 'एकल

---

१. 'मनमाने तौर' पर अथवा 'स्वेच्छ रूप' मे इसलिए कि आधुनिक समग्र मनोविज्ञान के प्रबल समर्थनानुसार हमारे अवधान का ही निवेदन ही यह निर्धारित करता है कि कौन से गुण एक साथ प्रयुक्त किये जायें, और इस तरह पर वे गुण 'सहचारी' बन जाते हैं।

समूह मे सघीभूत गुणों का 'मानस कार्य' बतलाना कोई माने नही रखता। एक तरह से तो दोनो ही 'मानस कार्य' है और दूसरी तरह देखा जाय तो वे दोनो 'दत्त' के स्वरूप की अभिव्यक्ति भी है।[1]

(२) किसी वस्तु के गुण समूह मात्र को उस वस्तु का ही तादात्म्य मान बैठने की अपर्याप्ता तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब इस बात पर विचार किया जाता है कि उस गुण समूह मे क्या-क्या होना जरूरी है। जाहिरा तौर पर यह गुण समूह अपनी पूर्ण सकलता मे अनुभूति के किसी भी क्षण पर समुपस्थित नही पाया जाता क्योंकि जिन्हे हम वस्तु के गुण कहते है उनमे से अधिकाश केवल वे तरीके होते है जिनके अनुसार वह 'वस्तु' बहुत सी अन्य वस्तुओ की उपस्थित मे व्यवहार करती है यानी विभिन्न उद्दीपको पर होने वाली प्रतिक्रिया के तरीके। किसी 'वस्तु' के अस्तित्व के किसी भी क्षण मे वास्तव मे उस वस्तु के सम्भाव्य उद्दीपनो मे से कुछ पर ही उस गुण समूह की प्रतिक्रिया हुआ करती है और इस प्रकार उसके कुछ गुण ही प्रकाश मे आ पाते है। उसके गुणो का विशाल अधिकाश तो उन तरीको के, जिन्हे लॉक 'शक्तियाँ' कहकर पुकारता है, रूप मे अन्तर्हित रहता है जिनके अनुसार वह वस्तु किसी भी क्षण पर व्यवहार करती अगर वे परिस्थितियाँ जो उस क्षण अनुपस्थित है—पूरी हो जाती। इस प्रकार वस्तु जिसमे हम कई विधेयो का अध्याहार उसके गुणो के रूप मे किया करते हैं कभी भी स्वय उन विधेयो का समूह मात्र वास्तव मे नही होती। घास हरी होती है लेकिन अँधेरे मे उसकी हरीतिमा तथ्य रूप मे नही होती। सूरज मोम को पिघला सकता है, और उसकी यह सामर्थ्य उसका स्थिर गुण कही जाती है लेकिन सूरज मोम को वास्तव मे तब तक नही पिघला पाता जब तक मोम वास्तव मे उसके सामने मौजूद न हो तथा और भी अन्य परिस्थितियाँ उस जगह मौजूद न हो। कोई आदमी स्वभावत. गर्म मिजाज का हो सकता है लेकिन अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण मे वह वस्तुत उत्तेजना से उबलता नही रहा करता। हाँ उत्तेजना दिलाये जाने पर तुरन्त उबल पडने के लिये तैयार वह जरूर हो सकता है। इसी तरह किसी वस्तु के

---

१. मनोविज्ञान शास्त्र मे यह बात, आधुनिक लेखकों द्वारा परिग्रहण अथवा प्रत्यक्षण की प्रक्रिया के, समग्र साहचर्यवादी विवरण को रद्द कर दिये जाने के कारण और भी स्पष्ट हो गयी है। इस विवरण के अनुसार किसी वस्तु के प्रत्यक्षण का समग्र रूप में प्रत्यक्षण का अर्थ होता है सवेदना के अन्तर्गत वस्तु के किसी एक गुण की वास्तविक समुपस्थिति और उसके साथ अन्य गुणो के विचारो की साहचर्य द्वारा पुनः स्थापना। वस्तु के निर्णायक अगो के प्रत्यक्षण मात्र से भिन्न, समग्र के प्रत्यक्षण विषयक आधुनिक सिद्धान्त के लिये, स्टाउट लिखित 'एनैलिटिक साइकालाजी', खंड १, अध्याय ३ अथवा 'मैनुअल ऑफ साइकालाजी', खंड १, अध्याय ३ देखिए।

अधिकाश गुण भी सभाव्यता मात्र ही होते हैं। किन्ही निर्धारित विशिष्ट परिस्थितियो मे जिनकी पूर्ति या प्राप्ति वास्तविक अस्तित्व की अवस्था मे हो सकती हो या न हो सकती हो अमुक प्रकार से व्यवहार करने या न करने का स्वभाव किसी भी वस्तु का होता है। इस प्रकार गुणो के जिस सग्रह या समुदाय के साथ प्रपचवाद किसी वस्तु का तादात्म्य स्थापित करता है उस समुदाय या सग्रह का स्वय उस रूप मे कोई अस्तित्व ही नही होता। यह सग्रहत्व ठीक उसी प्रकार से एक 'मानसिक कल्पना' होता है जिस तरह उस समुदाय का वह एकत्व जिसका अध्याहार हम उस सग्रह मे किया करते हैं। ऐसा होने पर भी, वस्तु का अस्तित्व वस्तु के गुणो के प्रधानत. केवल सभाव्यता मात्र होने के कारण ही नष्ट नही हो जाता। वस्तु तो वस्तुत मौजूद होती ही है और किसी तरह इन सभाव्यताओ से अलकृत या विशेषित भी रहती है। और उस कारण के आधार पर ही उसके अस्तित्व को, किसी समुदाय, अथवा घटनाओ के सग्रह की वास्तविक सिद्धि का तादात्म्य नही बताया जा सकता, एक और शर्त के तौर पर हम यह भी कह सकते है कि इन सभाव्यताओ की संख्या अनिर्धारित अथवा अनन्त भी हो सकती है और उसमे न केवल वे तरीके ही शामिल हो सकते हैं, जिनके अनुसार वह वस्तु व्यवहार कर चुकी है अथवा अभी अनुपस्थिति परिस्थितियो के उपस्थित हो जाने पर वह आगे चलकर व्यवहार करेगी। अपितु वे तरीके भी जिनके अनुसार वह उस अवस्था मे व्यवहार करेगी, जब वे परिस्थितियाँ पैदा हो जायें तो वास्तविक अस्तित्व मे कभी भी परिसिद्ध नही होती। किन्तु ज्योही पूर्वगत् तर्कना की सार्थकता पूरी तरह समझ मे आ जाती है त्यो ही जाहिर हो जाता है कि वह पूर्वगत् तर्कना स्वय इस धारणा को शान्त करने मे समर्थ है कि किसी वस्तु का तादात्म्य केवल वस्तुत. वर्तमान इन्द्रियगम्य गुणो के किसी समूह के साथ ही स्थापित किया जा सकता है। वस्तुओ की सत्ता की खोज हमे इन्द्रियगम्य गुणो के समूह के वास्तविक अस्तित्व में न करके उस नियम अथवा उन नियमो मे करनी होगी जो इन गुणो का निर्धारण करते हो जो परिवर्तमान परिस्थितियो के विभिन्न कुलकों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप हमारे सामने आये या आ सके।[1]

---

१. यह बात वस्तुओ के तथाकथित प्राथमिक या प्रारंभिक गुणो के विषय मे भी उतनी ही सही है जितनी कि अन्य गुणो के सम्बन्ध मे। तद्नुसार किसी सरक्षी पदार्थ व्यवस्था विषयक द्रव्यमान और गतिज ऊर्जा, सही तौर पर उन तरीको के नाम हैं जिनके अनुसार वह व्यवस्था किन्हीं निर्धारित परिस्थितियो मे व्यवहार करेगी न कि उन उन व्यवहार विधाओ के जो उसके अस्तित्व काल मे लगातार, आवश्यक रूप से तथा वस्तुतः प्रकट दृश्यमान हुआ करती हैं। गति विषयक नियम भी इसी

७—इस प्रकार की बातें हमें मजबूर करती है कि हम किसी वस्तु के विभिन्न दशाओ को सामूहिक रूप में लेकर उनके अनुक्रम के अनुसार उसके सार पदार्थ या उसकी सत्ता का पता लगाने का प्रयत्न ही न करें । घटना विकास क्रमवाद अथवा प्रपचवाद को कार्ययोग बनाने के लिये हमे कम से कम इतना कहने के लिये तो मजबूर ही होना पडता है कि वह वस्तु अथवा पदार्थ जिसमे विभिन्न विशेषणो या गुणो का अध्याहार किया जाता है 'उसकी दशाओ का कानून अथवा नियम' होता है अथवा 'उसके विभिन्न गुणो के सम्बन्धो की विधा।' स्पष्ट होता है कि इस तरह की परिभाषा उन दोनो परिभाषाओ की अपेक्षा जिन्हे हमने अभी अभी खारिज किया है बहुत अधिक सुविधापूर्ण है। गुणो के एक अज्ञात अधोस्तर के रूप मे वस्तु की परिकल्पना की अपेक्षा वह कही अधिक श्रेष्ठ है इसलिये है क्योकि उसमे वस्तु जगत विषयक उस भ्रान्त धारणा की एकदम जरूरत नही होती जिसके अनुसार वस्तुएँ किसी निर्धारित तरीके के बिना ही आ मौजूद होती है और अस्तित्व के निर्धारित तरीके बाद मे वे वापस मे तै करती है। किसी कानून या नियम का, जो उन घटनाओ का ही जिनके द्वारा उसकी ससिद्धि या प्राप्ति हो, एक समूह मात्र नही होता, घटनाओ की उस शृखला के अलावा, जो उसके अनुरूप है, अपना कोई अलग अस्तित्व नही हुआ करता । इसके साथ साथ ही हर एक नियम या कानून सभाव्यताओ का ब्योरा मात्र हुआ करता है, यानी ऐसा सूत्र जो उन दिशाओ का निर्देश करता है जिनका अनुगमन, घटनाचक्र अवश्य ही करेगा यदि कुछ निर्धारित परिस्थितियाँ कार्य कर रही हों। कोई भी नियम या कानून वस्तुतः प्रेक्षित अनुक्रमो का पजीयन मात्र नही होता।[1] इसीलिए जब हम किसी वस्तु

तरह के उन सोपाधिक कथनों का नाम है। जो उस तरीके को बतलाते हैं जिसके अन्तर्गत हमारे विश्वासानुसार, किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों मे कण गतिमान होते है। वह सिद्धान्त जिसके अनुसार भौतिक जगत् की सब घटनायें वस्तुतः गतिरूप मानी जाती हैं एक खास बर्बर प्रकार की तत्वमीमांसीय भूल पर ही आधारित है। देखिए। स्टालो कृत 'कॉन्सेप्ट्स एण्ड थियरीज ऑफ् मॉडर्न फिजिक्स', अध्याय १०, १२।

१. इस प्रकार उदाहरणार्थ, हमारे आधुनिक यांत्रिक विज्ञान का 'गति विषयक प्रथम नियम' जैसा मौलिक प्रमेय भी, निश्चित रूप से एक ऐसा कथन है जो बतलाता है कि किसी एक ऐसी परिस्थिति मे, जो जहाँ तक हमें पता है कभी भी वस्तुतः पूर्ण नहीं हो सकती, वस्तुओं का व्यवहार किस प्रकार का होगा। वस्तु क्योंकर 'अपनी दशाओ का नियम' कही जाती है, इस बारे मे देखिए लोत्जे कृत 'मेटाफिजिक्स' १, ३, ३२, एफएफ. (अंग्रेजी अनु०, खण्ड १, पृ० ८८ एफएफ.) तथा एल. टी. हॉबहाउस कृत 'दि थियरी ऑफ् नालेज', पृष्ठ ५४५ से ५५७।

को उसकी अपनी दशाओ का नियम कहकर पुकारते है तब पिछले पैराग्राफ मे वर्णित इस कठिनाई को हम बरका जाते है कि वस्तु की दशाओ का सग्रह एक दत्त समूह के रूप मे मूलत कभी भी मौजूद नही रहता। अत सामान्य कार्यकर प्रयोजनो के लिये यह परिभाषा सभवत एक सतोषजनक परिभाषा ही बन गई है।

लेकिन फिर भी इतना तो स्पष्ट ही दीखता है कि वस्तु को अपनी दशाओ का नियम या कानून बताते समय हम तत्वमीमासा की पदार्थ के एकत्व विषयक समस्या का हल निकाले बिना ही, पारायण मात्र किया करते है। क्योंकि जब हम इस छोटी सी कठिनाई पर ज्यादा ध्यान नही देना चाहते जिसके अनुसार हमारे लिए ऐसे किसी एकल नियम का ढूंढ निकालना असभव हो जाय जिसके अन्तर्गत वे सब तरीके आ जाये जिनके अनुसार एक वस्तु की प्रतिक्रिया अन्य वस्तुओ पर हुआ करती है, तब हमारे लिये यह उचित हो जाता है कि हम वस्तु की दशाओ विषयक नियमो का बहुवचन मे जिक्र करे और उन्हे एक न बतावे। अत तब हमारे सामने वस्तु की सत्ता विषयक दो स्पष्ट तत्व अथवा पहलू रह जाते है यानी वस्तु की पौर्वापिर दशाये तथा उनकी पौर्वापर्य विषयक नियम। किन्तु इन दोनो पहलुओ को मिलाकर एक कैसे किया जाय इस कठिनाई का कोई हल उपर्युक्त सिद्धान्त हमे नही बतलाता। एक ओर तो वस्तु की दशाओ का वैविध्य तथा बाहुल्य हमारे सामने मौजूद होता है और दूसरी ओर इन दशाओ या गुणो को जोडनेवाले नियम के रूप मे इनका एकत्व। लेकिन किस तरह यह वैविध्य इस एकत्व में ओत-प्रोत रहता है अथवा कैसे यह एकत्व उस वैविध्य का अधिपति हो सकता है यह बात हमे पहले ही की तरह इस सिद्धान्त के बाद भी, अज्ञात ही रहती है। और इस प्रकार फिर पदार्थ विषयक पुरानी समस्या फिर हमारे सामने ज्यो की त्यो आ मौजूद होती है। बहुल-गुण किसी न किसी तरह भी किसी एकल वस्तु के ही गुण होना चाहिए लेकिन एक और अनेक के सयोग अथवा एकत्व की कल्पना की कैसे जाय ?[1]

---

१. श्री हॉबहाऊस का ख्याल है कि (गत उद्धरण का पृष्ठ ५४१ एफएफ.) इस पहेली का हल केवल यही है कि उन गुणो को ही एक 'पदार्थ', के गुण माना जाये जो एक ही स्थान या अवकाश मे अवस्थित रूप मे एक साथ ही अवबुद्ध हो। एक-एक शरीरी वस्तु कहने मे हमारा क्या अभिप्राय होता है इस बात के कार्यकर या काम चलाऊ निष्कर्ष के रूप मे हॉबहाउस का यह कथन सन्तोषजनक प्रतीत होता है और हॉबहाऊस के साथ-साथ खुद बखुद हम मे से अनेक लोगो के दिमाग मे भी यही बात शायद आई भी हो। लेकिन इससे इस अत्यधिक मौलिक प्रश्न का कि किसी दृश्यकाश का तादात्म्य किसी छोटे से स्पृश्याकाश से कैसे बैठाया जा

लेकिन इस मौके पर लीब्निट्ज[1] के इस मत से कि एकत्व अनन्त बाहुल्य को अपने मे धारणा करके भी अपने एक स्वरूप को केवल एक ही तरीके से नष्ट नही करता और वह तरीका है प्रातिनिध्य का—इस उलझन को दूर करने मे कुछ सहायता मिलती-सी प्रतीत होती है। अनुभव से वास्तव मे भी, हमे केवल एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है जिसमे एकत्व ब्यौरो की अनन्त बहुलता का समावेश अथवा सम्पर्क करके भी नि सशय एक बना रहता है और वह है स्वय हमारी अनुभूति का गठन। यह हम इसलिये कहते हैं कि हमारी एकल अनुभूति मे नियमपूर्वक अनेको मानसिक दशाओं का समावेश रहता है जिनमे 'नाभिक' और 'पार्शिवक' दोनो ही प्रकार की दशाये शामिल रहती है साथ ही युगपदीय और पूर्वापर दशाये भी इन सब का अनुभव उनके इस वैविध्य के बावजूद, हमे एक एकल समग्र के रूप मे ही होता है और वह इसलिए कि वे सब दशायें किसी एक सगत प्रयोजन अथवा हित को व्यक्त करती हैं और किसी विशिष्ट या अनन्य हितपरक भावना द्वारा निर्धारित इस प्रकार का चेतनापूर्ण एकत्व ही एक वह उदाहरण है जिसकी ओर हम तब तब अगुलि निर्देश कर सकते है जब हमे वास्तविक उदाहरण द्वारा यह दिखाना हो कि अनेक एक ही समय किस प्रकार एक हो सकता है। यदि हम वस्तु के गुणों और उन गुणो के सम्बन्धो विषयक नियम के पारस्परिक सम्बन्ध को उसी प्रकार

सकता है कोई समाधान नहीं होता न यही मालूम होता है कि ऐसा करने का कारण या उद्देश्य क्या है। श्री हॉबहाउस तो प्रत्येक व्यस्क प्रेक्षण में 'दत्त' तादात्म्य से ही सन्तुष्ट हैं लेकिन उनकी संतुष्टि का उद्भव मुझे तो उनके द्वारा दिये गये इस उत्तम विवरण से ही हुआ लगता है जिसके अनुसार दृश्य और स्पृश्य आकाशों के पारस्परिक सश्लेषण का आधार मेरे अपने शरीर का, और भी अधिक आदि-कालीन अवबोध द्वारा एक भावित एकत्व के रूप में ग्रहण किया जाना है। अगर बात ऐसी हो तो 'पदार्थ के एकत्व' का अलिमेत्य स्रोत उस गहराई के जहाँ तक कि श्री हॉबहाउस जाना चाहते है, और भी अधिक नीचे जाकर ढूंढ़ना होगा। फिर भी पूछना पड़ेगा कि, यदि उनके बयान को अल्तिमेत्य मान लिया जाये तो क्या पदार्थ को अवकाश या आकाश का तादात्म्य तब न मानना होगा? उन कठिनाइयो की जानकारी के लिये जो तब उठ खड़ी होती हैं जब आप कहते हैं कि पदार्थ ही आकाश है, साथ ही साथ उसका गुण भरने वाला गुण पूरक या गौण व्याप्य भी—देखिए 'अपीयेरेन्स एण्ड रियालिटी', अ० २, पृ० १९, २० प्रथम सस्करण।

१. देखिए—मोनाडोलॉजी—८–१६, ५७–६२।

ग्रहण कर सके जिस प्रकार कि हम अपने वैयक्तिक हितो के मूर्त रूप कार्यों की विशद शृखला और स्वय इस हित को जो अपने एकत्व के कारण उस शृखला को एकत्व की भावना प्रदान करता है एक रूप मे ग्रहण करते हैं तो सैद्धान्तिक रूप से यह बात हमारी समझ मे आसानी से आ जायगी कि अनेक गुण किस प्रकार एक वस्तु मे व्याप्त रह सकते हैं। उस दशा मे वह वस्तु एक वैयक्तिक अथवा एकल अनुभूति का ऐसी मूर्त रूप होगी जो किसी अनन्य व्यक्तिनिष्ठ हित द्वारा निर्धारित हुआ है और इसीलिए उसमे अव्यवहृत भावनाजन्य एकत्व भी पाया जायेगा, उसके अनेक गुण उन्ही माने मे उसके 'अपने होगे' जिस माने मे कि अव्यवहृत अनुभूति द्वारा इस प्रकार एकीकृत अनुभूति के विभिन्न घटक उनके द्वारा घटित एकल अनुभूति के अपने घटक कहे जाते हैं। और इस प्रकार वास्तविकता के सामान्य स्वरूप की आदर्शवादी व्याख्या मे हमे पदार्थ और गुण सम्बन्धी समस्या का हल प्राप्त हो सकेगा।

अब यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु जगत सम्बन्धी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे उपर्युक्त आदर्शवादी हल अकुर रूप मे पहले से ही मौजूद है। इस बात मे अब सन्देह की गुजायश कम ही हो सकती है कि वस्तु के गुण बाहुल्य के विपरीत उसके एकत्व विषयक हमारा मौलिक विचार हमे उन सभी गुण समूहो मे जो हमारे अपने किसी हित के सम्बन्ध मे हमे किसी एक क्रिया रूप मे प्रभावित करते हैं उसी प्रकार के बोधगम्य एकत्व का 'अन्त प्रवेश' करा देने से प्राप्त होता है जिस प्रकार के एकत्व हमे अपने भीतर तथा अपने दूसरे साथियो मे मौजूद रहना स्वयं मानते हैं। ज्यो-ज्यो हम आगे बढेगे त्यो-त्यो हमे ऐसे अनेक अवसर आयेगे जिनसे हमे उस विशाल सीमा का पता चलता रहेगा जहाँ तक जगत् सम्बन्धी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टि-कोण अस्तित्व विषयक अपनी अभिव्यक्ति के विषय मे हमारे अपने ही वैयक्तिक निबन्धो पर आधारित है। और शनैः शनैः हमे यह भी पता चल जायगा कि व्यवस्थित आदर्श-वाद वास्तविकता की उस मानवतापरक अभिव्यक्ति के जो मनुष्य के अपने आस-पडोस की हर एक बात को अपने लिए बोधगम्य बना लेने के, सभी प्रयत्नो मे निहित रहा करती है। सगत और वैचारिक रूप मे और भी अधिक आगे बढा ले जाने का ही एक प्रयत्न है। परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि यदि एक पदार्थ विषयक समस्या के प्रति हमारा सामान्य रुख ग्राह्य माना जाय तो वही वस्तु जिसे हमने व्यष्ट अनुभूति कहकर पुकारा है सही मानो मे 'पदार्थ' या 'सार पदार्थ' नाम से अभिहित की जा सकती है और यदि 'पदार्थ' शब्द दार्शनिक शब्दावली मे बनाये रखना जरूरी है तो, ऐसी अनुभूतियाँ उसी हद तक जहाँ तक वे सहीतौर पर व्यष्ट हैं 'पदार्थ' ही कही जाँयगी। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमे उस विभेद तक जा पहुँचना चाहिए जिसके द्वारा वह एक अनन्त या अनिधारित पदार्थ जिससे वास्तविकता का समग्र

बनता है और वे शान्त या निर्धारित किन्तु अपूर्ण पदार्थ जो उसके उपांग या कारक है पहचाने जा सकते हैं ।

फिर एक बार हमे याद रखना होगा कि चूंकि सामान्य रूप से हम उसी गुण समूह को एक कहते है जिसकी क्रिया हमारे हितो पर एक रूप से होती है और उन हितो के विषय मे हमारी अन्तर्दृष्टि भी सीमित और भ्रान्त हुआ करती है अत. किसी एक पदार्थ मे उसकी 'दशा' रूप से अव्याहत गुण समूह की हमारे द्वारा निर्धारित सीमाये भी न्यूनाधिक मनमानी ही होगी और हमारी अपनी वास्तविक अन्तर्दृष्टि की मात्रा पर निर्भर भी। हो सकता है कि एक ही वस्तु की दशाओ के रूप मे हम ऐसे गुणो को एक रूप मे समुहित कर दे जो गहनतर अन्तर्दृष्टि के सामने परस्पर असम्बद्ध दीखे । इसी प्रकार इसके विपरीत भी हो सकता है । अन्ततोगत्वा जो कुछ भी है अगर वह किसी एकल सश्लिष्ट आत्मनिर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत आ जाता है तो यह स्पष्ट है, कि सख्ती से कहा जाय तो अन्तिमेत्थ रूप से केवल एक ही पदार्थ बाकी रह जायगा—व्यवस्था का या तन्त्र का खुद अपना केन्द्रीय रूप या नियम—जिसके सभी अधीनस्थ पहलू या अस्तित्व के भाग, गुण अथवा विशेषता रूप होगे ।

८—सम्बन्ध विषयक समस्या —पदार्थ और उसके गुणो की समस्या से कही अधिक उलझनभरी समस्या वह है जो पूर्व वैज्ञानिक काल की इस पूर्वमान्यता से पैदा होती है कि दुनियाँ 'परस्पर सम्बद्ध' वस्तुओ से बनी है। सम्बन्ध विषयक यह समस्या तब और भी अधिक जोर से सामने आती है जब पदार्थ तथा गुण सम्बन्धी विवेचन से यह व्यक्त होता है कि जिन्हे हम वस्तुओ के गुण कहते है वे सब ही या तो हमारे प्रेक्षक अगो के साथ के या अन्य वस्तुओ के साथ के अपने सम्बन्धो पर निर्भर होते है। बिलकुल साधारण रूप से यही बात यदि कही जाय तो समस्या का रूप यह हो जाता है, वस्तुओ का आपस में कई तरह का सम्बन्ध हुआ करता है और जिन्हे हम साधारणतया उन वस्तुओ मे से प्रत्येक के गुण कहते हैं वे गुण निर्भर होते है (अ) अन्य वस्तुओ के साथ अपने सम्बन्ध की विधाओ पर (आ) तथा हमारे प्रेक्षक या परिग्राहक अंगो के साथ उनके सम्बन्ध पर। साथ ही साथ एक ही वस्तु के विभिन्न गुणो का पारस्परिक सम्बन्ध भी रहता ही है। गिनती प्रारम्भ करने के लिये कहा जा सकता है कि उन सब मे सबसे पहले तो तादात्म्य और विभेद का सम्बन्ध होता है। सबमें एक ऐसा सामान्य स्वरूप तो मौजूद रहता ही है जिसके द्वारा उनकी तुलना उन विशिष्ट तरीको के सम्बन्ध मे की जा सकती है जिसके द्वारा वे अपने स्वरूप को व्यक्त करते है और तद्नुसार एक दूसरे के तादात्म्य होते है, इसके अतिरिक्त विभेद विषयक सम्बन्ध की सहायता से उनमे से हर एक को अलग-अलग किया जा सकता है, और यह जाना भी जा सकता है। इसके साथ ही, एक ही वस्तु के अनेको गुण

परस्पर अन्त सम्बद्ध भी हुआ करते हैं जैसा कि हम पहले देख चुके है। इस सम्बन्ध विषयक कई विशिष्ट नियम अथवा विधाये भी होती है जिनसे आसपास की परिस्थितियो मे होनेवाले परिवर्तनो के कारण उनके व्यवहार मे हुये परिवर्तनो का परिचय मिलता है ।

अत. जब प्रपचवाद अथवा घटना-क्रिया विज्ञानवाद वस्तुओ मे पादार्थिक या सारभूत एकत्व का निराकरण करता है तब उसके लिये वस्तुजगत का तादात्म्य गुणो के अन्योन्य सम्बन्ध के साथ बैठाना आवश्यक हो जाता है जैसाकि हम पहले ही देख चुके है। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि सम्बन्धगत गुणो की परिकल्पना हमारी समझ मे आयेगी कैसे ? क्या एक ओर हम सभी गुणो को सम्बन्धो के रूप मे या सभी सम्बन्धो को गुणो के रूप मे घटित कर सकते है अथवा दूसरी ओर क्या हम किसी ऐसे बोधगम्य प्रत्यय की कल्पना उस तरीके के बारे मे कर सकते है जिसके द्वारा कोई एकल समग्र अथवा व्यवस्था या क्रम इन दोनो के सयोग से बनाया जा सकता हो ? सम्बन्ध विषय से सम्बद्ध अत्यन्त किन्तु अपेक्षतया द्वितीयक महत्व की अन्य समस्याये भी यद्यपि हैं—उदाहरण के लिये जैसे, अन्तिमेत्यतया अलघुकरणीय प्रकार के सम्बन्धो की सख्या का प्रश्न किन्तु इस पुस्तक की विषय परिधि इजाजत नही देती कि केन्द्रीय कठिनाई के सक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त और किसी बात पर उसके अन्तर्गत विचार किया जा सके। विभिन्न विकल्पो से हम उनके क्रमानुसार ही विचार करेगे।

(१) दार्शनिकगण, गुणो और सम्बन्धो, दोनो को लेकर उन्हे क्रमबद्ध करने की कठिनाई से बचने के लिये प्राय अपनी प्रति स्थापना के एक अग को एकदम दबा जाने के लोभ मे पडते रहे हैं। अत एक ओर तो यह कहा जाता रहा है, कि वास्तविक वस्तु-जगत केवल सीधे-सादे और परस्पर असम्बद्ध गुणो से ही बना है तथा जिन्हे हम इन गुणो के पारस्परिक सम्बन्ध बताते है, वे उन गुणो का परिग्रहण करने के हमारे व्यक्ति-निष्ठ तरीके मात्र है। दूसरी ओर यह भी सुझाव रखा गया है कि वास्तविक जगत मे सम्बन्धो के अतिरिक्त शायद और कुछ भी नही तथा जिन्हे हम विभिन्न प्रकार के गुण कहते है वे सम्बन्धो के रूपो के अतिरिक्त और कुछ नही है। लेकिन इन दोनो दृष्टिकोणो मे से कोई दृष्टिकोण गम्भीर रूप से ग्राह्य नही मालूम देता।

क्योकि (अ) वास्तविकता का निर्माण सम्बन्ध मात्र द्वारा ही नही हो सकता। प्रत्येक सम्बन्ध मे ऐसे दो या अधिक पदो का अन्तर्हित रहना आवश्यक है जो परस्पर सम्बद्ध हो। किन्तु इन पदो की सृष्टि सम्बन्ध स्वय नही कर सकता। प्रत्येक सम्बन्ध मे, पदो का उस सम्बन्ध के पद होने के गुण मात्र के अतिरिक्त स्वय अपना भी कोई स्वरूप हुआ करता है। एक सीधे-सादे उदाहरण की तौर पर अगर ले तो किसी क्रमसूचक सख्या की शृखला के पूर्वापर पद स्वय क्रमबद्ध शृखला मे अपनी निर्धारित

स्थित के अतिरिक्त और कुछ व्यक्त नही करते। लेकिन जब उन पदो का प्रयोग शृंखला-बद्ध क्रम मे वर्तमान किसी सार पदार्थ की वास्तविक व्यवस्था को व्यक्त करने के लिए किया जाता है तब इस सार पदार्थ (इ) की दृष्टि किसी क्रमबद्ध शृखला के पदो की व्यवस्थाबद्ध कर देने से नही होती और (आ) अपने पदो के वास्तविक क्रम बन्धन के लिए अपने किन्ही निश्चयात्मक लक्षण पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जब आप वास्तविक गणना करते है तो आप उन नामों की गणना नही करते जिनका प्रयोग आप कर रहे है वल्कि उनकी बजाय और ही किसी की गणना कर रहे होते है और गणना भी ऐसे क्रमानुसार करते है जो विशिष्ट ग्रण्य वस्तुओं के स्वरूप पर निर्भर होता है।[१] और यही बात सही सम्बन्धो पर सामान्यत लागू होती है। ऐसा एक सवाल उठाया गया है जिसके कारण पर्याप्त कठिनाई समुपस्थित होती है और उस प्रश्न पर विचार भी अभी नही किया जा सकता। वह प्रश्न है कि क्या कुछ ऐसे भी सम्बन्ध है जो केवल वाह्य सम्बन्ध मात्र है। क्या ऐसे सम्बन्ध हैं भी या एकदम नहीं होते ? (अर्थात् ऐसे सम्बन्ध जो अपने नामिक विशेष गुणो से एकदम विलग और स्वतन्त्र हों)। लेकिन अगर हम यह स्वीकार भी करते कि उपर्युक्त प्रकार के ऐसे केवल वाह्य सम्बन्ध हो सकते हैं जो उन नामिक पदो से जिनके मध्य उन्हे जीवित रहना पडता है, स्वतन्त्र रहते हों, लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि किसी प्रकार के नामिक पदो के बिना कोई सम्बन्ध वर्तमान नही रह सकता और यह भी कि ये नामपद अथवा स्थितियाँ शून्य से केवल पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही सृष्ट नही होती।[२] शायद प्रत्युत्तर मे कहा जा सके कि जिन्हे हम किसी सम्बन्ध के पद या निबन्धन कहते है, वे

---

१. यह बात तब भी सही उतरती है जब हम गुणात्मक रूप से एकतुल्य कुछ इकाइयों की गणना उनका योग पता लगाने के लिये करते हैं। गुणात्मक रूप से एकतुल्य उनके निश्चित स्वरूप के कारण ही इस उदाहरण में हमें उनमें से किसी को भी प्रथम मान लेने की छूट रहती है हम उनमे से किसी को भी द्वितीय और तृतीय आदि भी गिन सकते हैं। लेकिन गुणात्मक रूप से असमान क्रम व्यवस्था पर जब हम संख्यात्मक शृखला को लागू करते हैं तो किसे आप प्रथम, द्वितीय या तृतीय कहें यह बात तद्विषयक आपके विशेष हित या आपकी तद्विषयक विशिष्ट अभिरुचि से सम्बद्ध आपकी सामग्री के स्वरूप पर निर्भर होगी।

२. इन अर्थों में अपने पदार्थ से वाह्य सम्बन्धों की संभाव्यताओं के विषय में जानने के लिए देखिए, बी० रसेल कृत, 'दि फिलासफी आफ लीब्निज', पृष्ठ १३०, तथा उसी लेखक का जनवरी तथा जुलाई १९०१ की 'माइण्ड' नामक पत्रिका में प्रकाशित लेख।

नि.सन्देह उस विशिष्ट सम्बन्ध द्वारा स्पष्ट न होते हुये भी स्वयं अन्य सम्बन्धो मे विश्लिष्ट किये जा सकते हैं और वे सम्बन्ध भी अन्य अनन्त सम्बन्धो मे इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अ, व सम्बन्ध के 'अ' पद या निवन्धन का कोई ऐसा असदिग्ध अपना गुण हो सकता है जो इस सम्बन्ध द्वारा उद्भूत या सृष्ट न हो। किन्तु यह गुण जिसे $अ_1$ यदि कहे तो, यह $अ_1$ विश्लिष्ट होने पर स-द सम्बन्ध के रूप में विघटनीय पाया जा सकता है और फिर स का गुण $स_1$ भी 'इ-क' सम्बन्ध मे रूप मे विश्लिष्ट हो सकता है तथा यह शृंखला अनन्त तक चलती रह सकती है। लेकिन इसे किसी प्रकार भी गुणों का सम्बन्ध मात्र शेप रह जाना नही कहा जा सकता। क्योकि इससे हमें अपनी वस्तु विपयक योजना की इकाई के रूप मे सम्बद्ध गुणद्वय अथवा पदयुग्म मात्र ही प्राप्त होगा तथा चाहे जितनी बार हम विश्लेपण प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करते चले जायें हमे तो परिणामस्वरूप एक ही प्रकार का द्वैत हाथ आयेगा अर्थात् दो पद और एक सम्बन्ध। इस विशिष्ट हल की अर्हता चाहे जो कुछ भी हो पर यह हमारे द्वितीय विकल्प के ही अन्तर्गत आयेगा और उसी के साथ ही उस पर विचार भी करना होगा।

(२) फिर भी इतना तो स्पष्ट दिखायी देता ही है कि हम समग्र सत्ता या वास्तविकता को गुण शेष नही बना सकते न उनके बीच के सम्बन्ध को इतना ही कहकर कि वे हमारे प्रत्यभिज्ञान या वोध के आत्मनिष्ठ प्रकार मात्र हैं टाला भी नही जा सकता। इस विचारसरणि को परस्पर थोड़े से भिन्न दो तरीकों से काम मे लाया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि जो कुछ वास्तव मे सत्तावान् है वह ऐसे असम्बद्ध साधारण गुण मात्र है जो प्रत्येक अन्य सव गुणो से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार लाल मीठे से, ऊँचे सुर वाला शब्द गर्म से, साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि सम्बन्धो का वह सारा, तानावाना जिसके द्वारा हमारी दैनिक तथा वैज्ञानिक विचारधारा इन 'वास्तवो' का सम्बन्ध जोड़ा करती है, केवल एक ऐसा बौद्धिक पाठ है इस वास्तविक संसार मे जिसका कोई भी अनुवर्ती या मानी नही पाया जा सकता। ह्यूम के इस सिद्धान्त का कि सभी सम्बन्ध वास्तव मे 'मानसिक ताना-वाना' मात्र हैं और वास्तविकता या सत्ता केवल उस अवशिष्ट का ही नाम है जो तव वच रहती है जव हम विश्वविपयक अपनी प्रत्यभिज्ञा से उन सवको जो हमारे मन के कल्पना जाल से उद्भूत है, दूर हटा लेते हैं—उपर्युक्त विचारधारा से वहुत कुछ मिलता जुलता है। ह्यूम तथा उसके अनुयायियो ने इस सिद्धान्त को जिन आधारों पर प्रस्तुत किया था वे वहुत पहले ही, मनोवैज्ञानिक प्रगति के कारण तथा सवेदना और मानसिक रचना विपयक कडे विभेद के तदनुगत परित्याग के कारण भी, नष्ट हो चुके है। ह्यूम का तथा प्रकट रूप से काण्ट का भी यह अभिमत था कि 'सवेदना'

द्वारा जो कुछ भी हमे प्राप्त होता है वह एकल अमिश्र गुण मात्र होता है और इन मनस्तत्वीय अणुओं के बीच का सारा सम्बन्ध अनुवर्ती व्यक्तिनिष्ठ से सश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होता है। लेकिन मनोविज्ञान की उन्नति के कारण जब यह बात स्वीकार कर ली गयी कि सवेदना स्वयं एक लगातार चलनेवाली ऐसी प्रक्रिया है जिसमे ऐसे 'औपान्तिक' तत्वो का बाहुल्य होता है जो विविध प्रकार से अपने केन्द्रीय अथवा नाभीय तत्व का स्वरूप ही परिवर्तित कर देते है। तब प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी उस कारक को जो वेदनात्मक तथा बौद्धिक ज्ञान के बीच एकान्तिक विभेद बनाये रखना चाहता है जीवित रख सकना असभव हो गया है।

विभेद के उस आभासी रूप के अतिरिक्त, जिस पर उपर्युक्त सिद्धान्त आधारित था, तत्वमीमासा के प्रयोजनार्थ, उस सिद्धान्त की अपनी ही अर्नाहित अनर्गलता के कारण पर्याप्त निन्दा की गयी। तत्वमीमासीय मौलिक पूर्वगृहीत सभी गभीर विज्ञानो के पूर्वगृहीतो के समान वास्तविकता को एक सश्लिष्ट या सगत व्यवस्था ही मानता है। लेकिन उस दृष्टिकोण के अनुसार जो सम्बन्धो को 'मानसिक कल्पना मात्र' मानता है, हमारा विचारगत वह तत्व जो विचार को उसका व्यवस्थित रूप प्रदान करता है अनधिकारपूर्वक स्वय हमारे द्वारा वास्तविक के साथ जोड़ा गया तत्व होता है। क्रम और व्यवस्था, इस दृष्टिकोण के अनुसार वास्तव मे भ्रम मात्र होते है और जैसाकि ह्यूम के आलोचको ने अनेक बार दिखाया है, इस बात का अनुमान कर सकना एकदम असम्भव है कि ऐसी दुनिया मे जहाँ परस्पर असम्बद्ध सरल गुणो के अतिरिक्त और कुछ है ही नही भ्रम की उत्पत्ति कभी हो कैसे सकी। जहाँ हमारा अपना आन्तरिक जीवन ही एकदम असगत और असबद्ध हो तो यह अनुमान किया ही नही जा सकता कि हम लोगों ने क्योंकर, कल्पना के रूप मे ही सही, तथ्यमय ससार मे व्यवस्था के दर्शन कर लिए।

समस्त सम्बन्धो को गुणो के रूप मे विघटित करने का एक और अधिक युक्तिसगत प्रयत्न नीचे लिखे तरीके पर किया जाता है। कहा जाता है कि सम्बन्ध व्यक्तिनिष्ठ निर्माणोद्भूत हुआ करते हैं लेकिन इसके बावजूद ये एकदम विशुद्ध काल्पनिक वस्तु नही कहा जा सकता क्योंकि अ और ब नामक दो पदो के बीच के प्रत्येक सम्बन्ध अ और ब मे वर्तमान कुछ उन गुणो पर आधारित होता है जिन्हे सम्बन्धों का आधार कहा जाता है। हो सकता है कि ये गुण दोनो पदो मे एक से ही हो और उस दशा मे इस सम्बन्ध को सममित कहा जा सकता है। उदाहरणत: अ और ब के गुणो का विषय इसी श्रेणी का विषय है क्योंकि उसका आधार अ और ब का एक-सा परिमाणवान होना है। यहाँ जिस वास्तविक तथ्य को आधार माना जा रहा है वह यह है कि अ का जितना परिमाण है उतना ही

परिमाण व का भी है । इसके साथ जो व्यक्तिनिष्ठ विचार आ जुडता है वह है हमारी उस स्वेच्छ तुलना का विचार जिसके अनुसार हम अ और व को उनके उपर्युक्त एक से गुण के कारण एक-सा वतलाते है। समानता का अध्याहार ही हमारे अपने विचार का सप्रयोजन है। दूसरी ओर सम्वन्व के आवारभूत गुण दोनो पदो मे एक दूसरे से भिन्न भी हो सकते है और उस दशा मे उनका पारस्परिक सम्बन्ध तकनीकी तौर पर असममित कहा जायगा। इस प्रकार के असममित सम्वन्व के उदाहरण है अ का व से वडा होना अ का व से छोटा होना तथा अ का पितृ और व का पुत्रत्व । इन दशाओ मे जो वास्तविक तथ्य ग्राह्य होगा वह है अ का क्ष परिमाणयुक्त होना और व का क्ष-य, परिमाणयुक्त होना, अ का व के जनकत्व सयोगवान् होना और व की अ से जन्मवान् होना । इन तथ्यो के साथ भी पहले की तरह जहाँ तक एक से गुणो के कारण तुलना द्वारा हमने उन्हे एक ही विचार कोण का विपय वना डाला था, व्यक्तिनिष्ठ सप्रयोग आ जुडेगा।

सम्वन्धो को गुणो मे विघटित करने की अन्तर्हित व्याधियाँ सिद्धान्त के उपर्युक्त सस्करण या विवरण द्वारा वड़ी मुश्किल से ही छिपा पायी है। यह युक्ति प्रस्तुत करना कि सम्बन्ध विषयक निर्णयो की स्थापना मे सम्बद्ध पदो का किसी न्यूनाधिक स्वेच्छानिर्धारित दृष्टिविन्दु के अनुसार की गयी व्यक्तिनिष्ठ तुलना पूर्वगृहीत रहती है—तत्वमीमासा के अनुसार असगत है। असली सवाल तो यह है कि क्या इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वस्तुएँ व्यवस्थित समग्र रूप मे अधिक वोधगम्य वन जाती है या नही। अगर वन जाती है तो वास्तव विषयक सत्यता के सम्वन्ध मे इस प्रक्रिया की व्यक्तिनिष्ठता द्वारा प्राप्त परिणाम को झूठा ठहराने की कोई वजह नही मालूम देती। और अगर ऐसा नही है तो उन दर्शनशास्त्रियो को जो सम्वन्धो की व्यक्तिनिष्ठता पर जोर देते है वतलाना होगा कि सम्वन्व से अतिरिक्त गुणो के रूप मे हम वास्तविकता का ध्यान एक सगत व्यवस्थित समग्र रूप मे कैसे कर सकेंगे। पर वे आज तक ऐसा नही कर सके, और इसका कारण भी स्पष्ट है। उन गुणो का जिन्हे हम सम्वन्धो का मूल मानते है, कोई वोधगम्य विवरण पूर्ववर्ती सम्वन्धो को वीच मे लाये विना, स्पष्ट रूप से एकदम असभव ही है । तदनुसार अ और व के उभयनिष्ठ परिमाण क्ष के स्वामित्व को उनके वीच की सममितता का आधारत्व प्रदान किया जा सकता है किन्तु जव हम पूछते है कि अ और व के लिये क्ष परिमाण के स्वामित्व का विधान करने का क्या मतलव है तव हम पाते है कि हमे फिर एक वार अ और व के वीच के सम्वन्ध विषयक एक तीसरे पद स को अपने माप की इकाई के रूप मे ग्रहण करने के लिए वाध्य होना पडता है। अ और व दोनो ही का परिमाण क्ष इसलिए है क्योकि उनमे स ठीक क्ष वार सम्मिलित

है । इसी प्रकार इस तथ्य को कि अ ब का जनक है अ और ब के मध्यवर्ती असममितीय पितृत्व सम्बन्ध के आधार रूप मे प्रस्तुत किया गया है और उसी तथ्य को दूसरे नाम से ब और अ के बीच के पुत्रत्व के असममितीय सम्बन्ध के आधार रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है ।

किन्तु, इस कथन का कि एक ही तथ्य अ और ब को अलग अलग तरीको से विशेषित करता है, क्या अभिप्राय है । इस प्रश्न का किसी प्रकार का भी उत्तर हमे तत्काल सम्बन्धों के ताने-बाने मे ला फँसाता है । पहले तो, हो सकता है कि तथ्य क्ष को अ और ब को विभिन्न रूप से विशेषित करने की बात हमे मालूम हो तब अ और ब को अलग किया जा सकता है यानी तब उनकी तुलना करना आवश्यक हो जाती है और उन्हे परस्पर भिन्न पाना भी आवश्यक हो जाता है और सम्बन्ध के बिना भिन्नता कोई माने नही रखती । अत. दो पद अन्तिमतः तभी भिन्न हो सकते हैं जब उनमे स्वरूप की ऐसी उभयनिष्ठता हो जिसके आधार पर उनकी तुलना एक उभयनिष्ठ मापदण्ड के अनुसार की जा सके । समान वस्तुएँ ही भिन्न हो सकती है और उनकी समानता के साथ उनके वैभिन्न्य के सम्बन्ध की समस्या वैभिन्न्य के अस्तित्व मात्र से ही हमारे सामने आ खडी होती है । इसी प्रकार उभयनिष्ठ तथ्य क्ष दोनों पदो मे से किसी भी पद को एक निर्धारित विधि के द्वारा ही वैशिष्ट्य प्रदान करता है और वह तरीका उन अन्य तरीको से जिनके द्वारा उस पद को अन्य तथ्य विशेषित करते है अलग किया जा सकता है। और यह विभेद ठीक उसी तरह पर अ के ही विभिन्न गुणो के मध्यवर्ती विभिन्न गुणो के दृढीकरण के लिये विवश नही करता अपितु ब के गुणो के दृढीकरण के लिये भी ।[1]

समग्र वास्तविकता को गुणो मे विघटित करने तथा सम्बन्ध मात्र के साथ उसकी तदनुरूपता स्थापित करने के प्रयत्न की कठिनाइयों के सर्वनिष्ठ स्रोत को जान सकना कठिन बात नही है। वास्तविक अनुभव के समय यह ससार समग्र रूप मे ही हमारे सामने आता है, अनेक और एक सब एक साथ, कोई वस्तु अकेली कभी हमारे सामने नही आती न कुछ खास चीजें ही हमे दिखाई पड़ती है, लेकिन एकत्व विषयक पहलू पर ही यदि आपका ध्यान केन्द्रित है और आप उसके अन्त. सम्बन्ध को ही देखना चाहते है तो स्वाभाविक ही है कि आप अपने तत्वो के मध्यवर्ती सम्बन्धो पर ही ध्यान देते रहे और दूसरे तत्वों पर जरा भी ध्यान न दे । लेकिन यदि आप वैविध्य पहलू पर ही विचार करना

१. सम्बन्धीय योजना विजयक ऐसे विशद विवेचन के लिये जो रॉयस की विभेद विषयक किसी स्थापना मे अन्तर्हित हो, देखिए, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकेण्ड सीरीज, लेक्चर २ ।

चाहते हैं, तब भी तत्वो को वास्तविक मानकर उनके सम्बन्धो को काल्पनिक समझना उसी तरह स्वाभाविक होगा। लेकिन दोनो ही मामलो मे आप अपना ध्यान मनमाने तौर पर अनुभूत तथ्य के किसी ऐसे एकल पहलू पर जिसे अन्यो से विलग करके ले लिया गया है। केन्द्रित कर लेते है और इस प्रकार ऐसे परिणामो पर जा पहुँचते हैं। जिनको समग्र तत्वो से सघट्ट होना निश्चित है। सच्चा दृश्य देख सकना यदि कभी सभव हो तो उसे तभी देखा जा सकता है जब समग्र तथ्यो को निष्पक्ष रूप से साथ लेकर चला जाय।

९—इस प्रकार हम अपने दूसरे विकल्प तक आ पहुचते हैं। क्या हम 'सम्बन्धगत गुणो' के रूप मे अथवा गुणो और उनके सबन्धो के रूप मे वास्तविकता की कल्पना कर सकते हैं। प्रश्न का यह रूप, वस्तु की उस परिभाषा से कि वस्तु उसकी दशाओ के नियम का नाम है, उद्भूत प्रश्न का अधिक विकसित रूप है। अब हमे गुणो को एक स्थिर विन्दु के रूप मे ग्रहण करना होगा और उनमे उनके अपने ऐसे स्वरूप की स्थापना करना होगा जिसका सम्बन्ध और भी आगे तक जायगा अथवा अन्य सम्बन्धो का पोषण करेगा। तब यह प्रश्न होगा कि इन आधारो पर स्थापित विश्व का जो चित्र हम बनाते है वह पूर्णत बोधगम्य है? तब झट ही स्पष्ट दिखाई पडने लगता है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण कितना बाधावरुद्ध है। क्योकि यदि मान लिया जाय कि अ और ब ऐसे दो गुण है जिनका स से कोई सम्बन्ध है। सरलता के लिए स के साथ वाले उपर्युक्त सम्बन्ध को वैभेद्य सम्बन्ध इस अर्थ मे मान लें कि अ और ब एक ही रग की दो विभिन्न छायाये है जो एक दूसरे से विभक्त हैं तब अ और ब मे स सम्बन्ध होने के कारण वे दोनो अ और ब के अनुरूप या तादात्म्य नही हो सकते क्योकि उस दशा मे ये उपर्युक्त सम्बन्ध से व्यतिरिक्त होगे। (उदाहरणत अ ब से असाम्य-विभेद-गुण विशिष्ट होने के कारण अ वह अ वस्तु मात्र नही रहता जो ब से किसी प्रकार प्रभावित नही और यह ऐसा तथ्य है जो आश्चर्यजनक प्रबलता के साथ अपने वैषम्यजन्य प्रभाव के कारण हमारे सामने जबर्दस्ती आ खडा होता है।) साथ ही यह भी स्पष्ट है कि स नामक सम्बन्ध स्वय अपने पदो या उपसर्गो का सृजन नही कर सकता। अ भी स नामक सम्बन्ध मे ब के प्रति अपनी स्थित के अनुसार विशेष रूप से विशेषित होने के कारण उपर्युक्त सम्बन्ध से बाह्य होकर वर्तमान रह सकता है। और हमारे द्वारा अ रूप मे उसे स्वीकृत कर लिये जाने के तथ्य मात्र से ही प्रकट है कि स सम्बन्ध के अन्तर्गत और उसके बाहर भी दोनो जगह 'अ' का एक चिन्हार योग्य तादात्मिकस्वरूप है। (उदाहरणार्थ ब से विभिन्न अ ठीक वही वस्तु नही है जो अ इस विभेद से पूर्व था लेकिन ब से अ का यह विभेद विभेदन या विवेचन क्रिया द्वारा सृष्ट नही होता। विवेचित होने के हेतु उसका पहले ही से भिन्न होना आवश्यक है)।

इस प्रकार गुण अ को जिसे हमने अपने सम्वन्ध विषयक उपसर्गों या पदो मे से अन्यतम रूप से ग्रहण किया था हम दो पहलुओ मे विभक्त करने के लिए वाध्य हो जाते है यानी अ ($अ_1$) नामक वह उपाधि जो उक्त सम्बन्व की स्थापना के पहले वर्तमान थी और अ ($अ_2$) वह उपाधि जो सम्वन्ध स्थापित हो जाने के बाद अब मौजूद है। उपर्युक्त प्रकार से आविष्कृत ये दोनो पहलू जिन्हे हमने 'अ' नामक एकल समस्त उपाधि या गुण मे से ढूँढ निकाला है येन केन प्रकारेण एक दूसरे से भी अवश्य सम्वद्ध होगे। अ ($अ_1$) और अ ($अ_2$) के बीच भी वही प्रक्रिया पुनरावृत्त होगी और जिन्हे हम सम्वन्धो के स्थिर पद या ध्रुव उपसर्ग मानकर चले थे वे स्वय सम्वन्धगत गुणों की क्रम व्यवस्थायें सिद्ध होंगी और इस प्रक्रिया की कोई सीमा न रहेगी। ऐसी दशा मे अनुभूति की अन्तर्वस्तुओ को स्थिर पदो मे तदगत् सम्वन्ध सहित श्रेणी विभक्त करना इस समस्या का कि अनुभूतिगत विश्व किस प्रकार एक और अनेक दोनो ही हो सकता है, कोई हल प्रस्तुत न कर सकेगा। न इससे अन्तर्व्याघात ही वरकाया जा सकेगा। और समस्या हल करने मे हम सफल तभी हो सकते है जव हम अपनी आँखे ही मूँद ले क्योंकि खुली आँख तो हमे हमेशा धिक्कारती ही रहेगी। 'इसलिये यही नतीजा निकाला जाता है कि सम्बन्धपरक विचार द्वारा सत्य की नही अपितु आभास ही प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार की तर्कना एक ऐसा अस्थायी जोड-तोड़ मात्र अथवा कामचलाऊ समझौता मात्र होगी जो अत्यन्त आवश्यक होते हुये भी अन्ततोगत्वा अत्यन्त अप्रति-वाद्य होगी'।[1]

१०—उपर्युक्त तर्कना का जिसे श्री एफ० एच० ब्रैडले की पुस्तक 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी' मे दिये गये लम्बे पूरे विवेचन को सक्षिप्त करके प्रस्तुत किया गया है तकाजा है कि उस पर गहराई से विचार इसलिए किया जाय कि उससे जिस परिणाम पर हम पहुँचते हैं वह चरम सत्य अथवा वास्तविकता के स्वरूप सम्वन्धी समग्र तत्वमीमासीय दर्शन के लिये महानतम महत्व का है। यदि श्री ब्रैडले जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह ठीक है तो स्पष्ट हो जाता है कि अथ से इति तक सम्वन्धों पर आधारित विधेयात्मक-योजना-प्रधान हमारी तर्कना प्रणाली कभी भी हमे एक और अनेक के संयोग के स्वरूप का पर्याप्त अन्तदर्शन नही करा सकती। अत हमे यही नतीजा निकालना पडता है कि सत् या वास्तव के वास्तविक शुद्ध रूप के दर्शन हमे वास्त-विकता विषयक विचार मे नही होते वल्कि अनुभूति की किसी ऐसी विधा मे होते है जो हमे उद्देश्य के विधेय से विलगाव का अतिक्रमण करने की क्षमता प्रदान करती

१. ब्रैडले 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ३। तुलना भी कीजिए अध्याय १५, 'थॉट एण्ड रीयालिटी।'

है और इसी कारण अवितर्कनीय होती है। अतएव ऐसे पारस्परिक रहस्यवाद के साथ थोडी बहुत सहानुभूति होना हमारे लिये स्वाभाविक हो जाता है। जिसने उद्देश्य के विधेय से विलगाव का अतिक्रमण करने को सदा ही दैवत्व की अनुभूति प्राप्त करने की विशिष्ट विधि का मूलमत्र बना रखा है। दूसरी ओर यदि सामान्य ज्ञान सबन्धिनी तार्किक अथवा युक्तिसगत योजना की प्रतिरिक्षा यह कह कर की जाए कि वह तथ्य दर्शन की एक आत्मसगत विधि है तो निरपेक्ष अनुभूति को हमारे अपने बौद्धिक जीवन के पद क्रम मे अर्थान्तरित करने की जितनी छूट रहस्यवाद हमे देता है उससे कही अत्यधिक पूर्णतया व्यक्त करने की क्षमता की सुविधा हमे प्राप्त हो सकेगी।

तब श्री ब्रैडले द्वारा सूचीकृत रहस्यवादीय प्रबल आपत्ति के सामने सबन्धगत गुण व्यवस्था के रूप मे विश्व की अभिव्यक्ति का पृष्ठपोषण क्यो कर दिया जा सकता है? और ऐसे पृष्ठपोषण की अर्हता भी क्या है? प्रत्युत्तर मे तर्क की ऐसी दो सभाव्य दिशायें सामने आती है जिन्हे परीक्षार्थ पर्याप्त रूप से युक्तिसगत कहा जा सकता है। (१) उपर्युक्त आपत्ति की धार जिस हद तक वह अनिश्चित पश्चाद्गामिता की अनन्तोषप्रदता पर निर्भर है कुठित की जा सकती है यदि हम सभी सम्बन्धो को बाह्य मान सकें यानी उसे ऐसे सम्बन्ध मान सकें जिनके कारण सबद्ध गुणो मे कोई अन्तर नही पड़ता। यह बात दृढतापूर्वक कही गई है कि कुछ सम्बन्ध बाह्य ही होते हैं उदाहरणत स्थितपरक सम्बन्ध तथा सवेदना या सज्ञानपरक सबन्ध यदि उक्त शब्दार्थ का ग्रहण उसके ज्यामितिक अर्थ मे किया जाय। (जैसे सीधे हाथ के और उल्टे हाथ के दस्तानो का विभेद।) तब अन्ततोगत्वा यही बात सभी सम्बन्धो के विषय मे भी क्यो नही काम आ सकती? लेकिन अगर सभी सम्बन्ध बाह्य हो तो हम फिर यह न कह सकेंगे कि समस्त सम्बद्ध पदो मे आधारभूत परस्पर अन्तर्गत अन्य सम्बन्ध होना भी आवश्यक है और यह कि उन पदो का प्रथम सम्बन्धजन्य परिणाम होना भी जरूरी है और इसलिए समग्र सम्बन्ध विरोधी मामला खत्म हो जाता है।

किन्तु इस प्रकार का अभिमत घातक त्रुटियो से परिपूर्ण प्रतीत होता है। क्योकि। (अ) कम से कम यह समझना तो कठिन ही लगता है कि कोई सम्बन्ध अपने पदो या उपसर्गो से बाह्य कैसे हो सकता है। क्योकि आप किन्ही दो पदो को किसी भी प्रकार के किसी भी सम्बन्ध मे, उन दोनो के बीच विभेद किए बिना बाँध नही सकते। इसीलिए विभेद अथवा चिन्हारविषयक सम्बन्ध सभी सम्बन्धो का मूल है। लेकिन जहाँ विभेद कर सकते है वहाँ विभक्त पदो मे किसी प्रकार की कोई भिन्नता पहले से ही वर्तमान होना आवश्यक है जिससे विभेद कर सकने का आधार हमे मिल जाता है। उसी की हम चिन्हार कर सकते है जो पहले से ही विशिष्ट गुणोपेत होता

है। और इस बात को स्वीकार कर लेने पर अनिर्धारित पश्चाद्गमन के लिये द्वार खुल जाता है।

(ब) यदि ऐसा न भी हो तो यह भी अविचार्य मालूम होता है कि समग्र सम्बन्ध अन्तत आत्म-पद-बाह्य हो। यदि अतत. किसी सम्बन्ध के कारण उसके पदो मे कोई भिन्नता नही आती और इस प्रकार वह उन पदो के स्वरूप मे आधारित नही होता तो वह एक जाग्रत आश्चर्य इस तथ्य का बन जाता है कि पद इस प्रकार के सम्बन्धो मे कैसे और क्यो कर व्यापृत हो जिनके प्रति वे सकल काल एकदम उदासीन रहे हो। इस प्रकार के अभिमत का तर्कसगत परिणाम तब निश्चय ही यही होगा कि सब सम्बन्धों को विशुद्ध भ्रम मात्र कहकर विसृष्ट कर दिया जाय और वास्तविक अस्तित्व को ऐसे असम्बद्ध विभ्राट मे विघटित कर दिया जाय जिसे किसी अप्रतर्क्य बौद्धिक विपर्यास के कारण हम एक व्यवस्था के रूप मे जबर्दस्ती मानते चले आते है। इन दिशाओ के आधार पर एक वस्तुवादी सिद्धान्त को खडा करने के हर्बर्ट के द्वारा किये गये प्रयत्न की जगजाहिर असफलता, इसी भाँति के किसी अन्य भावी सिद्धान्त की सफलता के लिए एक अपशकुन ही प्रतीत होता है।

(२) 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' (प्रथम क्रम) नामक पुस्तक के अनुषगी अपने निबन्ध मे प्रोफेसर रॉयस ने विचार की जिस दिशा का सुझाव दिया है वह कही अत्यधिक अन्तर्वर्तिनी है। प्रोफेसर रॉयस अनिर्धारित पश्चाद्गमन को सम्बन्धगत पदो के रूप मे विश्व के विघटन का अनिवार्य फल या परिणाम तो मानते है पर वे यह मानने को तैयार नही कि उस पश्चाद्गमिता से विघटन की समागता पर कोई असर पडता है। इसके विपरीत, वे उसे उस अस्तित्व के जो उसका उद्भावक है अर्थ निर्वचन की ध्रुव सत्यता का प्रमाण मानते है। उनकी तर्कना जो अनन्त क्रम शृखलाओं के आधुनिक सिद्धात पर आधारित है, सक्षेप मे इस प्रकार है —अनन्त क्रम शृखला का यह एक उरीकृत लक्षण है कि (जो अन्य किसी क्रम शृखला मे नही पाया जाता) उसका अपना अश या भाग उसका पर्याप्त प्रतिनिधित्व कर सकता है। अथवा यों कहिए कि आप चाहे जिस अनन्त शृखला को ले ले, आप उससे एक अन्य ऐसी दूसरी शृखला का निर्माण सदा ही कर सकते है कि जो चयन से बनी हो, हाँ केवल चयन द्वारा ही और वह चयन भी पहली शृखला के पदो से ही किया गया होगा तथा दूसरी शृखला की प्रत्येक कडी या पद एक निर्धारित नियमानुसार प्रथम शृखला की तदनुरूपी कडी से ही उद्भूत और तत्सदृश होगी, तथा यह दूसरी शृखला, जैसा कि आसानी से साबित किया जा सकता है, स्वय अनन्त होगी और इसीलिए एक तीसरी शृखला द्वारा जो कि उस द्वितीय शृखला से ही उद्भावित उसी प्रकार होगी जिस प्रकार की द्वितीय शृखला प्रथम शृखला से हुई थी, उक्त द्वितीय शृखला का पर्याप्त

प्रतिनिध्य हो सकेगा तथा यह क्रम अवाध रूप से जारी रह सकता है।

उदाहरण के लिए मान ले कि पहली अनन्त शृखला सहज प्रथमाको १, २, ३, ४.. आदि से मिलकर बनी है तब उदाहरणार्थ यदि हम इन अकों की द्वितीय शक्ति युक्त अकों १², २³, ३², ४², .. से द्वितीय अनन्त शृखला बना डाले तब स्पष्ट ही दीखेगा कि इस दूसरी शृखला या श्रेणी के समस्त पद प्रथम श्रेणी या शृखला के पदो से एक निर्धारित नियम के अनुसार ही उद्भावित हुए है,तथा वे उनके तदनुरूपी है साथ ही साथ प्रथम शृखला से चयित है। उनमे से प्रत्येक पद प्रथम शृखला का ही पद है लेकिन कुछ ऐसे पद भी है जो द्वितीय शृखला मे पुनरावृत्त नही हुए है। अब अगर हम एक तीसरी शृखला दूसरी शृखला से उसी प्रकार से ले जिस प्रकार द्वितीय शृखला प्रथम से ली गयी थी और उसे (१²)², (२²)², (३²)², (४²)² आदि रूप दें तो इस तृतीय शृखला के पद भी उपर्युक्त सभी शर्ते पूरी करते है। वे द्वितीय शृखला के पदो का अनुरूपण एक निर्धारित नियमानुसार करते हैं और स्वय पदो से चयित है। और इस प्रकार हम उत्तरोत्तरवर्तिनी ऐसी अनन्त शृखलाये अनन्त बार बनाते चले जा सकते हैं जिनमे से प्रत्येक पूर्वगामिनी की शृखला की 'पर्याप्त प्रतिनिधि' है। और इस प्रकार हम अपनी मौलिक अनन्त शृखला तथा तदुद्भूत शृखलाओ के बीच आनुरूप्य के एकल निर्धारित सिद्धात या नियम का सागत्य स्थापित करने के अपने प्रयत्न द्वारा ही इस अनिर्धारित पश्चादगामित्व तक आ पहुँचते हैं। अपने उदाहरण १², २², ३², ४², . . . मे प्रथम उद्भावित शृखला का निर्माण करते हुए ही हम आवश्यकतया (१²)², (२²)², (३²)², (४²)² . तथा तदनुवर्ती अन्य उद्भावित भी शृखलाये बना डालते हैं इसीलिए प्रोफेसर रॉयस दावा करते हैं कि किसी भी अनन्त समग्र के पदो का क्रमबद्ध निर्धारण करने का कोई सगत प्रयत्न अवश्य ही अपनी पुनरावृत्ति कराता रहेगा। अत. चूंकि प्रत्येक सम्बन्ध के प्रत्येक पद के विश्लेषण से यही सिद्ध होता है कि वह खुद भी सम्बद्ध पदो से निर्मित होता है, कोई वैध एतराज इस तरह का नही उठाया जा सकता है कि अर्थनिर्वचन का हमारा सिद्धात सही नही है। वह तथ्य आवश्यक रूप से वास्तविकता या सत की अनन्तता का ही फल या परिणाम है।[1] किसी अनन्त समग्र को क्रमिक पद व्यवस्था रूप मे प्रदर्शित करने का कोई प्रयत्न अवश्य ही हमे अनिश्चित पश्चादगामित्व की ओर ले जायगा।

---

१. जो पाठक प्रो० रॉयस के सिद्धांत के आधारभूत अकिक सिद्धांत विषयक अनुसधानो का और भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो वे डेडेकिण्ड लिखित 'वाज सिंद अंड वाज सालेन डाइ जाहलेन', तथा कॉतुरत लिखित 'एल. इनफिनी मैथमैटीक' के अनुशीलन से लाभ उठा सकते हैं।

इससे तुरन्त पता लगता है कि प्रोफेसर रॉयस द्वारा प्राप्त निष्कर्ष जरूरत से ज्यादा बात साबित करने का खतरा उठा रहा है। तथ्यों का उपयोग करने की किसी विधि को सही प्रमाणित करने के लिए निश्चय ही आपको यह दिखाना जरूरी नही कि वह हमे अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर ले जाती है। सभी जानते है कि झूठा आदमी अपने पहले झूठ की पुष्टि के लिए दूसरा झूठ जरूर ही बोलता है और उसके अनुमोदन के लिए तीसरा और इस सिलसिले का अन्त ही नही हो पाता। इसी तरह आप एक क्वार्ट शराब को एक पाइन्ट वाले वर्तन मे तब तक नही भर पाते जब तक कि पहले आधे क्वार्ट द्रव को आधी जगह मे न रख दें और यह सिलसिला यों ही अनन्तवार तक चलता रहता है। लेकिन इन बातों से यह साबित नही होता कि झूठ बोलना या क्वार्ट भर शराबो को पाइन्ट भर के वर्तनों मे भरना वास्तविकता का उपयोग करने का सगत तरीका है। कार्यान्वियनगत उद्देश्य सम्भवत. हमे अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर ले जा सकता है क्योंकि यह आत्मव्याघाती है और इसीलिए आत्म पराजक जैसाकि उपर्युक्त उदाहरणों से ध्वनित होता है ।और इसी से सवाल उठता है कि क्या इसी कारण से, कि किसी सत्य समग्र को पदो का अनुक्रम मानकर चलना उसके वास्तविक स्वरूप से मेल नही खाता, किसी अनिर्धारित या अनन्त समग्र को पदों की आनुक्रमिक व्यवस्था मे लगाने का उद्देश्य हमे कही अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर तो न ले जायगी, लेकि कम से कम इतंना तो पूछना उचित ही है कि प्रोफेसर रॉयस ने स्वय जिस प्रकार इस विषय का प्रतिपादन किया है। उससे यह पता नही चलता कि बात ठीक उपर्युक्त प्रकार की है ।[1]

शुरू करने से पहले कुछ महत्त्व की एक बात जिसके सम्बन्ध मे प्रोफेसर रॉयस

---

१. इगलैण्ड के धरातल के एक भाग पर ही उस देश का एक मानचित्र तैयार करने की प्रो० रॉयस की योजना का उनके द्वारा स्वयं कार्यान्वियन ही आत्मव्याघाती उद्देश्य का एक उपलक्षक उदाहरण प्रस्तुत करता है । उनका कहना था कि इस प्रकार के मानचित्र में उसे सिद्धांततः पूर्ण शुद्ध बनाने के लिए, मानचित्रित देश भाग की अपनी विघटित प्रतिकृति का शामिल होना जरूरी है और उस प्रतिकृति में दूसरी प्रतिकृति का और उसमें फिर दूसरी प्रतिकृति की प्रतिकृति का अनन्तवार । किन्तु इस तर्कना का समग्र प्राबल्य इगलैण्ड के उस धरातल के जो इस मानचित्र के निर्माण से पहले था तथा उस धरातल मे जो इस मानचित्र की समुपस्थिति के कारण बदल गया बीच के विभेद की उपेक्षा करने पर ही निर्भर है । प्रोफेसर रॉयस पहले से ही मान लेते हैं कि आप उस मानचित्र में ऐसी वस्तुस्थिति का प्रातिनिध्य करने चल देते है जिसका वास्तविक अस्तित्व तब तक

की शब्दावली सदिग्ध-सी है यहाँ नोट कर ले। उन्होने उन अनन्त अनुवर्तिती अनन्त शृखलाओ का जो स्वाभाविक या प्रकृत अको का 'प्रातिनिध्य' कराने के एकल उद्देश्य से, उन्ही अकों मे से चयन द्वारा उद्भूत होती है, इस प्रकार से जिक्र किया है मानो इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका निर्माण वस्तुत किया जा सकता हो। लेकिन साफ जाहिर है कि बात ऐसी नही है। आप जो कुछ वास्तव मे कर सकते है वह केवल इतनी ही कि आप लक्ष्यार्थमात्रपूर्वक उन शृखलाओ के निर्माण हेतु एक नियम प्रस्तुत कर दे और इस प्रकार उन विभिन्न शृखलाओं का निर्माण कर दे। शृखलाओ की वास्तविक या कार्यान्वित निर्मित आत्मपराजक और इसी कारण आन्तरिक रूप से व्याघाती उद्देश्य का एक उपलक्षक उदाहरण होगी क्योंकि उसमे एक कभी अन्त न होने वाली प्रक्रिया की वास्तविक परिपूर्ति अन्तर्हित होगी। अत हम ऐसा विभेद जिसकी उपेक्षा प्रो० रॉयस ने अनुचित रूप से कर डाली है, करने को बाध्य से हुए प्रतीत होते है। यदि आकिक शृखला के एक निश्चित योजनानुसार क्रमबद्ध करने मे आपका उद्देश्य अनुवर्तिनी शृखलाओं के पदो की कितनी भी सख्याये प्राप्त करने के लिए एक नियम बना डालने से अधिक कुछ नही है तो उस प्रयोजन का क्रियान्वयन सभव है और उसमे अनिर्धारित प्रतिगामिता सम्मिलित नही होती, लेकिन अगर उसका अभिप्राय शृखला निर्माण की प्रक्रिया का वस्तुत परिपूरण है तो निश्चय ही अनिर्धारित प्रतिगामिता उसमे शामिल रहेगी और वह प्रक्रिया आत्म-व्याघातिनी होगी तथा क्रियात्मक रूप से कभी सिद्ध न हो सकेगी। एतदनुसार ही हम सम्बन्धगत गुणो की योजना के बारे मे भी कह सकते है कि अगर उस योजना का अभिप्राय परिमित वस्तु को सगठित करके उसे क्रमबद्ध कर देना मात्र ही हो उसमे अपरिमित या अनन्त प्रक्रिया की पूर्ति शामिल नही होती और वह प्रक्रिया कार्यान्वयन योग्य तथा उपयोगिनी होती है किन्तु यदि उसे ऐसे वर्णन या विवरण के रूप मे प्रस्तुत किया जाय जो कि उस तरीके या विधि का वर्णन हो जिसके अनुसार समग्र वास्तविकता की परिपूरित सर्वानुषगिनी तथा पूर्णत.

नहीं हो सकता जब तक कि मानचित्र तैयार नहीं हो जाता। मानचित्र की एक विशिष्ट बिन्दु पर पहले से ही अवस्थिति, एक ऐसी असत्य शर्त है जिसका अनुसरण मानचित्र बनानेवाले के लिए आवश्यक है। अतः 'मानचित्रान्तर्गत मानचित्रों' से प्रत्येक मानचित्र मे उसे जिले का भ्रामक प्रतिनिध्य तथा विरूपण शामिल होना जिसे वह चित्रित करता है, शामिल रहता है। ऐसा करना ठीक वैसा ही है जैसे 'हैमलेट' नाटक के हैमलेट का 'नाटकान्तर्गत नाटक' के विषय रूप हैमलेट को ही ग्रहण करना। इस प्रकार प्रोफेसर रॉयस द्वारा प्रस्तुत उदाहरण उनके सिद्धात की न्याय्यता सिद्ध नहीं करता।

एकतान अनुभूति आन्तरिकतया संगठित हुआ करती है तो उसमे अपरिमित या अनिर्धारित प्रक्रिया की पूर्ति शामिल रहती है और इसीलिए वह आत्म व्याघातिनी तथा अन्तिमत: अपर्याप्त हुआ करती है।[1]

उपर्युक्त विमर्श द्वारा एक ऐसी अन्य विचारणा तक पहुँचा जा सकता है जो विषय के हृदय तक पहुँचाती-सी प्रतीत होती है। वे अनुसन्धान जिन पर प्रो० रॉयस की साम्बन्धिक-योजना विषयक प्रतिरक्षा आधारित है, पहिले पहल आंकिक शृंखला की सार्थकता विषयक खोज ही थे। तदनुसार वे अनुसधान परस्पर[2] या अन्योन्य बाह्य खण्डों के समग्र की क्रम व्यवस्था की परिकल्पना को अपनी खोज का उद्देश्य मानकर प्रारम्भ होते हैं। फलत: जहाँ ये अनुसन्धान उच्चतम दार्शनिक महत्व के इस लिए होते हैं। क्योंकि उनके द्वारा इस परिकल्पना के लक्ष्यार्थ सामने आ जाते हैं, वहाँ चरम सत् या वास्तविकता के विश्लेषण के रूप मे ही वैध होते है जबकि समग्र और खड की परिकल्पना उस विधि की जिसके अनुसार वास्तविकता का समग्र अपने उपादानों मे और उपादान उसमें ओतप्रोत वर्तमान रहते है पर्याप्त अभिव्यक्ति हो। किन्तु जैसाकि हमने स्वय एक विगत अध्याय में कहा था, यदि खण्डों के किसी समग्र की परिकल्पना, निरपेक्ष अनुभूति[3] और परिमित अनुभूतियो के बीच के भेद को व्यक्त कर सकने मे एकदम असमर्थ हो तो इस बात का प्रमाण देना कि अनिर्धारित प्रक्रिया तर्कसंगत रूप

---

१. प्रोफेसर रॉयस की तर्कना का मौलिक दोष मुझे तो यही लगता है कि वे अपरिमित या अनिर्धारित शृंखलाविषयक विचार करते-करते चुपचाप एक अपरिमित पूर्ण योग विषयक विचार की ओर संक्रमित हो जाते हैं अतएव वे मौलिक अंकों की शृंखला को ईश्वर के मानस के सन्मुख एक ही काल में समग्र रूप से प्रस्तुत रहने का जिक्र करने लगते हैं। लेकिन मौलिक अंक अथवा कोई अन्य अपरिमित या अनिर्धारित शृंखला क्या वास्तव मे कभी योग है भी ? किसी भी मौलिक अंक के विषय में वर्तमान सामान्य सत्यो के आधार पर, वे अंक निश्चय ही योग नहीं कहे जा सकते।

२. उदाहरणार्थ देखिये, देदे किण्ड गत अनुच्छेद २ के नीचे दिया उद्धरण। 'ऐसा अनेक बार होता है कि अ ब स···आदि विभिन्न वस्तुएं किसी भी अवसर पर एक ही सर्वसामान्य दृष्टिकोण द्वारा गृहीत होकर मानस द्वारा एकत्र कर दी जाती हैं और तब कहा जाता है कि उनसे एक क्रम व्यवस्था निर्मित होती है, अ, ब, स, वस्तुओं को उस···व्यवस्था का तत्व या उपादान कहा जाता है' तथा अनुच्छेद ३ के अन्तर्गत दी गयी समग्र और खण्ड की परिभाषा से।

३. देखिए विगत खण्ड २, द्वितीय अध्याय २–५।

से समग्र, और खण्डो के सम्बन्ध मे अन्तर्हित रहती है, सिद्ध नही करता कि वह चरम वास्तविकता या सत् की सरचना से सम्बद्ध है। बल्कि हमे यह बताने की उत्सुकता होगी कि इस तथ्य से कि साम्बन्धिक योजना हमे अनिश्चित अथवा अनिर्धारित प्रक्रिया की ओर ले जाती है। सिद्ध होता है कि समग्र और खण्ड की वह परिकल्पना जिस पर यह आधारित है पूरित अनुभूति तथा उसके उपकरणो या अगो के मध्यगत सयोजन की विधि का सही प्रतिनिधित्व नही करती। और इसीलिये इस सयोजन का आंकिक शृंखला के शब्दो या पदो द्वारा अर्थनिर्वचन करने का प्रयत्न आलोचना निकष पर कसा नही जा सकता।

साथ ही साथ, प्रोफेसर रॉयस की तर्कना से, प्रत्येक दशा मे, सम्बन्ध-विषयक समस्या पर पर्याप्त प्रकाश तो पडता ही है, क्योकि उससे प्रकट होता है कि सम्बन्धगत गुणो की क्रम व्यवस्था के रूप मे विश्व की रचना करने का प्रयत्न हमे अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर क्यो घसीट ले जाता है। एक ही थपेडे मे समग्र अस्तित्व को आत्मसात कर लेनेवाली पूर्ण अनुभूति के लिए इस प्रकार की रचना, जैसाकि हम देख चुके है, सारत. अपूर्ण होने के कारण, असम्भव होगी। लेकिन जब हम अपनी खण्डानुभूति के दत्तो को सम्बद्ध समग्र रूप मे खण्डश. एकत्र करने का प्रयत्न करने लगते है तो हमे न्यूनाधिक विच्छिन्न या एकाकी तथ्यो को स्थिर पद मान कर ही अपना कार्य प्रारंभ करना तथा किसी सम्बन्ध द्वारा उन्हे परस्पर सधानित करना अनिवार्य होता है। ऐसा करते समय हमे अपने दृष्टि विन्दु को उसी स्थान पर जमाना आवश्यक होता है जहाँ से आंकिक शृंखला उद्गत होती है। अपहार्य रूप मे हम अस्तित्व को ऐसा समझा करते है मानो वह अन्योन्य बाह्य खण्डो का समग्र हो। और इसीलिए अंक व्यवस्था के स्वरूप मे अन्तर्हित अनिश्चित प्रतिगामिता अस्तित्व सम्बन्धी हमारी समस्त प्रवचनात्मक तथा सम्बन्धात्मक विचारणा मे परेड कराया करती है। लेकिन उस प्रतिगामिता की उपस्थिति का कारण होती है वास्तविकता विषयक कल्पना की वह अपर्याप्तता जिसके आधार पर हमारी तर्कनात्मक विचारणा को काम करना होता है।

तब समग्रत ऐसा लगता है कि प्रोफेसर रॉयस के अनुसन्धान इस बात को पहले से कही और भी ज्यादा प्रकट कर देते है कि तर्कनात्मक विचारणा जिस साम्बन्धिक योजना का उपयोग करती है वह वास्तव के सही रूप को पर्याप्ततया व्यक्त नही करती और यह भी कि सभी युगो के रहस्यवादियो का कथन इस हद तक सही ही था कि हमारी अनुभूति का वह रूप जो निरपेक्ष की अनुभूति का सत्यतम साम्यानुमान प्रस्तुत करता है अवश्य ही अविसाम्बन्धिक होना चाहिए अथवा दूसरे शब्दो मे परिमित अनुभूति का वास्तविकतम उपलक्षक वही हो सकता है जो उद्देश्य और विधेय के विभेद का

अतिक्रमण कर जाय। लेकिन इस बात को स्वीकार कर लेने का मतलब यह स्वीकार कर लेना नहीं कि हम इस बात से एकदम अनभिज्ञ हैं कि एक और अनेक वास्तविकता मे मिल कैसे जाते है क्योकि तर्कनात्मक और साम्बन्धिक बुद्धि द्वारा अभिभावित मानव अनुभूति के अतिरिक्त और बहुत सी अन्य प्रकार की मानव अनुभूतियाँ भी हुआ करती है।

अव्यवहृत सरल अनुभूति मे, स्पष्टत. चैतन्य अनुभूति का एक ऐसा उपलक्षक मौजूद रहता है जिसमे वैशिष्ट्य और सबध का तब तक आविर्भाव नही हुआ होता। खड १, अध्याय २ ने हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया किसी सौन्दर्यपरक समग्र के, प्रशिक्षित कलाकार द्वारा किए गए प्रत्यक्षण से प्राप्त प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान मे, उच्चस्तर पर किस प्रकार हमे उस अनुभूति की प्राप्ति होती है जिसमे वैशिष्टच और सर्वविषयक विशद प्रक्रिया के परिणाम सम्मिलित रहते है तथा इस ढग पर शामिल रहते है कि जो साम्बन्धिक प्रारूप का अतिक्रमण करके अपनी आनुदिक्ता के कारण अव्यवहृत सवेदनात्मक एकत्व मे प्रत्यावृत हो जाती है। फिर जहाँ वैयक्तिक प्रेम मे, जो अन्योन्यी अन्तर्दृष्टि के आधार पर एक है, अनुभूति का वह रूप हमे मिलता है जिसे यदि बौद्धिक भाषा द्वारा व्यक्त किया जाय तो उसके वर्णनार्थ दुनिया भर के सम्बन्धो और विधेयों की जरूरत पड सकती है और जो अनुभूत रूप मे फिर भी एक ऐसी घनिष्ठ एकता बनी रहती है जिसकी अस्पष्ट झलक मात्र ही प्रत्येक साम्बन्धिक योजना मुश्किल से प्रस्तुत कर पाती है। और यह एक विचारणीय बात है कि सभी युगो की धार्मिक भावना ने अनन्त और सान्त अपरिमित और परिमित के पारस्परिक समागम की श्रेष्ठतम विधि को प्रकट करनेवाले 'भगवद्दर्शन', 'भगवद्भक्ति' आदि चहेते शब्द अनुभूति के इन्ही रूपो से उधार लिये है।

वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है मानों बुद्धि मात्र का काम अव्यवहृत बोध के निम्नतर और उच्चतर स्तरो के बीच एक आवश्यक तथा कीमती बिचवानिया का ही काम सदा से रहा है। वह सम्बधो और वैशिष्टचो का आविर्भाव करके, सरल सवेदना के किं और तत के मौलिक सयोग को विच्छिन्न कर देती है और किं को, जिसका उपयोग वह उसके एकाकित्व मे करती है, सदा की अपेक्षा कही और भी अधिक जटिल बना डालती है। किन्तु प्रकिया के चरम वादविन्दु तथा उसके चरम उद्देश्य की सिद्धि तक हम तब ही पहुँच पाते है जब वह मानसिक विकास को उच्चतर स्थिति मे हमे अपने तत और किं की अव्यवहृत एकता के सम्पन्नतर तथा अधिकतर व्यापक समग्र के प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान की ओर ले जाती है। केवल रहस्यवादी का बुद्धि मात्र के कार्य को मानव अनुभूति का उच्चतम और सत्यतम उपसाक्षक मानने से इनकार करना, इतना बडा बाधक दार्शनिक पाप नही जितनी कि अव्यवहृति के ऐसे उच्चतर रूपों

की ओर, जिनमे बौद्धिक विचारणा का कार्य सुरक्षित रहता है यद्यपि उसका रूप अतिक्रान्त हो जाता है, प्रत्यावृत्त होने के वजाय उसके ऐसे निम्नतर रूपो की ओर जिन पर बौद्धिक विचारणा अपना कार्य नही किया है, प्रत्यावृत्त होकर कि के साथ तत् के पूर्णतर सयोजन की माँग पूरी करने की उसकी प्रवृत्ति ।

उपर्युक्त विमर्श इस आक्षेप के निराकरण के लिए पर्याप्त होगा कि साम्वन्धिक योजना को तव अस्वीकार करके जव उसे चरम सत्य कहकर पेश किया गया हो, माने यही है कि उस योजना द्वारा हम जो कुछ वैज्ञानिक कार्य करते है उसके मूल्य तथा महत्व से आपको इनकार है। यद्यपि सम्वन्धो विषयक योजना परिमित और अपरिमित की सयोजन विधि को पर्याप्त व्यक्त नही कर पाती तो भी उससे उस सम्वन्ध विपयक योजना मे जिसके द्वारा वैज्ञानिक विश्लेपण अनुभूति के वास्तविक जगत को अनूदित किया करता है, ऐसी कोई अभिवृद्धि नही होती, जो वास्तव जगत् मे क्या-क्या होना चाहिए एतद्विषयक हमारे ज्ञान को वढाती न हो भले ही वह वृद्धि यह न वता सके कि वह सव उस जगत मे मौजूद कैसे है। और अन्त मे परिणाम-स्वरूप यह स्मरणीय है कि केवल न वार्मिक रहस्यवादी की देव साक्षात विषयक विशिष्ट अनुभूति के विषय मे ही अपितु सव प्रत्यक्ष अनुभूति के वारे मे भी यह सही है कि सावन्धिक योजना यह वता सकने मे असमर्थ है कि अपने एकत्व और वहुलत्व के दोनो ही पहलुओ को, अपने 'तत' और अपने 'कि', को वह पूर्ण अन्तर्वेधन की अवस्था मे कैसे वनाये रहती है। यत कोई भी जीवित अनुभूति खण्डो का समग्र मात्र नही हुआ करती है। और इसी लिए समग्र और खण्ड विषयक परिकल्पना पर आधारित कोई योजना इस प्रकार की किसी भी अनुभूति का प्रातिनिध्य नही कर सकती।[1]

---

१. यह कहना कि ज्यों ही वुद्धि वास्तविकता पर विचारविमर्श करने और उसका वर्णन करने का काम हाथ में लेना चाहती है त्यों ही उसे यह कार्य अपरिहार्य रूप से साम्वन्धिक शब्दों या पदो द्वारा ही करना पड़ता है, उपर्युक्त अभिमत का उत्तर देना नहीं कहा जा सकता। क्योकि हमारा दावा है कि वही वुद्धि जो इन साम्वन्धिक विधियो का उपयोग करती है यह भी देखा करती है कि वे विधियाँ अपर्याप्त क्यो होती हैं और कम से कम, कुछ सीमा तक, वे अन्तिमतः उच्चतर प्रकार की अनुभूति मे किस प्रकार लीन हो जाया करती हैं। इस प्रकार स्वय तत्त्वमीमांसा मे ही किया गया, वुद्धि का व्यवस्थित उपयोग हमे यह मानने लिए, प्रस्तुत करता है कि वुद्धि मात्र ही वास्तविकता का समग्र नहीं है। इससे भी अधिक विरोधाभासी शब्दो मे कही जाने पर यही वात यों कहीं जा सकती है कि वुद्धितन्मात्र के लिए सत्य वास्त-

अनुशीलनार्थ इन्हें भी देखिए —एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी' अध्याय १–३, १५, २७; एल० टी० हॉबहाउस, 'थियरी आफ नालैज', पृष्ठ १७२–१८१ (क्वालिटीज एण्ड रिलेशन्स), ५४०–५५७ (सबस्टैन्स); एच० लोत्से, 'मेटाफिजिक', खण्ड १, अध्याय १, 'दि बीइङ्ग आफ थिङ्स', अध्याय २, (दि क्वालिटी आफ थिङ्स), अध्याय ३, (दी रीयल एण्ड दी रीयालिटी) ; जे० रॉयस, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम शृखला आनुसगिक निबन्ध, बी० रसेल, 'दि कान्सेप्ट आफ ऑडर', (माइण्ड, जनवरी १९०१) तथा 'पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम' नामक उनका लेख (माइण्ड, जुलाई १९०१); जी० एफ० स्टाउट, 'अलजेड कन्ट्राडिक्शन्स इन दि कान्सेप्ट आफ रिलेशन' (दि प्रोसीडिंग्स आफ दि अरिस्टोटलियन सोसायटी, न्यूसीरीज, भाग २, पृष्ठ १–१४ अनुगत विमर्शसहित, पृष्ठ १५–२४) ।

अध्याय ४ का अनुपूरक नोट

सम्बन्ध विषयक परिकल्पना की श्री ब्रैडले द्वारा कृत आलोचना का, डाक्टर स्टाउट द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर ।

पिछले अध्याय को लिख लेने के बाद मुझे डाक्टर स्टाउट के 'प्रोसीडिंग्स आफ दि अरिस्टोटलियन सोसायटी' के हाल के अक मे छपे लेख को पढ़ने का अवसर मिला । डाक्टर स्टाउट की आलोचना के परिणामस्वरूप अध्याय ४ के मूलपाठ मे किसी प्रकार का परिवर्तन करना मुझे आवश्यक नही लगा, किन्तु निम्नलिखित टिप्पणी जोड़ देने की आज्ञा प्रार्थनीय है यद्यपि उसे डाक्टर स्टाउट के अभिमत का सिलसिलेवार गुणावबोधन अथवा विवेचन न समझा जाय । उक्त अभिमत की परीक्षा अन्तिम रूप से तब तक नही की जा सकती, जैसा कि स्वयं डा० स्टाउट ने ही कहा है जब तक वे उक्त विधेयम सिद्धांत को पूर्ण नही कर लेते, जिसके लिए उनका उपर्युक्त लेख मार्ग प्रशस्त करता है ।

(१) डाक्टर स्टाउट ने अपने लेख में यह बात स्वीकार करते हुए ही प्रारभ किया है कि जिसे मैं सम्बन्ध-विरोधी तर्कना का सार मानता हूँ, उन्होंने लिखा है 'न तो

विकता विषयक एक क्रमबद्ध व्यवस्थागत विचार का ही नाम है । किन्तु अन्ततः यह सब क्रम, समग्र और खण्ड के श्रेणी विभाजनयुक्त आकिक शृंखला पर आधारित होता है और इसी लिए वह अधि-साम्बन्धिक वास्तविकता या सत् का परिपूर्णतः पर्याप्त प्रतिनिधि नहीं हो सकता । इसी लिए सत्य स्वयं अपने स्वरूप के कारण ही कभी भी वास्तविकता नहीं हो सकता ।

कोई सम्बन्ध न कोई साम्बन्धिक व्यवस्था कभी भी आत्मनिर्भर और आत्मपूर्ण वास्तविकता बना सकती है। सर्वसमावेशी विश्व अन्ततोगत्वा कभी भी 'अन्त सम्बद्ध पदो का सग्रह' नही बन सकता (विगत उद्धरण पृष्ठ २)। और जब यह बात एक बार मान ली जाय तो मुझे उसके अपरिहार्य फलस्वरूप यह समझ ही लेना चाहिए कि 'अन्त सम्बद्ध पदो का सग्रह' हमे किसी भी वस्तु के स्वरूप,के बारे मे अन्तिम सत्य प्रदान नही कर सकता। जैसाकि मैं समझ सका हूँ और जैसा कि मैंने इस पुस्तक मे स्थापित करने का प्रयत्न किया है, आदर्शवादी मत का सारा निचोड़ यही है कि समग्र की सरचना की उस समग्र के किसी भी ओर हर एक अंग या भाग मे ऐसी पुनरावृत्त रहा करती है कि समग्र के विषय मे जो भी सत्य नही होता वह किसी भी वस्तु के विषय मे कभी अन्तिमेत्थ सत्य नही होता। ठीक इसलिए कि अन्ततोगत्वा कुछ भी समग्र से विलग नही होता और अपने अगियो से विलग समग्र भी कुछ नही होता। मैं समझता था कि, यह सब हम सभी हेगल के लेखो से पहले से ही जानते है। इसीलिए डाक्टर स्टाउट की यह परेशानी मे, कि सम्बन्धो पर जोर देनेवाली कोई भी प्रस्तावना तब तक असत्य होगा ही जब तक कि स्वयं चरम समग्र के विषय मे परिपुष्टि होने तक कोई भी साम्बन्धिक योजना हमे सत्य प्रदान नही कर देती—कोई जोर नही दिखाई पड़ता। डाक्टर स्टाउट द्वारा स्वय समुद्धित, ब्रैडले के साथ सहमत होकर मुझे कहना होगा कि यदि साम्बन्धिक योजना स्वय ही आतरिक रूप से असगत न हो तो, समग्र के विषय मे उसकी उपयोजनात्मकता से इनकार करने की कोई वजह नही रहती।

(२) 'साम्बन्धिक एकत्व' के साथ एक तीसरे पद 'सम्बद्धता' को नत्थी करने का डाक्टर स्टाउट का प्रयत्न, हमारी समस्या मे अन्तर्हित कठिनाइयो का निराकरण कर सकेगा ऐसा मुझे नही लगता। उसके समर्थन मे उन्होने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह भी अप्रमाणिक-सा ही लगता है, उनकी तर्कना इस प्रकार है कि जब मेरी टोपी मेरे सिर पर होती है तो उस स्थिति मे (१) दो सम्बद्ध पद टोपी और सिर अन्तर्हित होते है साथ ही साथ (२) 'पर' और 'नीचे' का सम्बन्ध और (३) उन पदो का सम्बद्धता अर्थात् यह तथ्य कि उपर्युक्त दोनो पदो मे अमुक सम्बन्ध है यह दोनो बाते भी। इनमे से (१) और (२) स्थितियाँ तब भी मौजूद रह सकती है जब कि टोपी मेरे सिर के बजाय खूटी पर होती और मेरा सिर नगा होता। पर निश्चय ही 'ऊपर' और 'तले' तथा 'पर' और 'नीचे' नामक सबधो मे गडबडी यहाँ जरूर हो सकती है क्योंकि दोनो ही एक दूसरे से भिन्न है। 'पर' और 'नीचे' के सम्बन्ध मे तात्कालिक या अव्यवहृत सपर्क सम्मिलित है जो 'ऊपर' और 'तले' के सम्बन्ध मे व्यक्त नही होता। अब यदि (१) टोपी भी हो और 'सिर' भी तथा (२) 'पर' और 'नीचे' का उपर्युक्तार्थ सम्बन्ध भी उन दोनो के बीच हो तो सिर पर टोपी नामक ठोस कार्यरूपता की पूर्ति के

लिए किसी तीसरे कारक की जरूरत नही पड़ती। किन्तु जब 'टोपी सिर पर' कार्य-रूपत न हो तब उपर्युक्त माना हुआ सम्वन्ध उनमे नही है, और यदि सबध (२) उनमे है तो समग्र तथ्य वहाँ पहले से ही मौजूद है। सक्षेपत, मुझे लगता है कि डाक्टर स्टाउट 'सम्वद्ध पहलुओ की प्रदर्शक वस्तुओं' विषयक ठोस तथ्य को ठीक उसी प्रकार, स्वय एक उपादान रूप मे गिन लेते है, जिस प्रकार लौकिक तर्कशास्त्र कभी कभी, वास्तविक निर्णय को सयोजक या 'कापुला' नाम से, अपने एक उपादान या कारक रूप मे गिन लिया करता है।[1]

सम्वन्ध और सम्वद्धता विषयक तथ्य के उपर्युक्त विभेद के डाक्टर स्टाउट द्वारा किये गये उपयोग के जवाव मे मेरी समझ मे यह कहा जा सकता है कि वह विभेद हमे वहाँ ही छोड़ देता है जहाँ हम पहले थे। टोपी का विशेषण है सिर 'पर' होना और सिर का गुण या विशेषण है टोपी के नीचे या उसमे होना तथा टोपी और सिर का सयुक्त गुण है 'पर' और 'नीचे' के तन्मध्यवर्ती सम्बन्ध-विशिष्ट होना। किन्तु एक तथ्य के ये विभिन्न या विविध पहलू एक एकल संगत दृष्टि मे कैसे मिलाये जा सकते है। इसके उत्तर के वारे मे और अविक कुछ भी नही जान पाते।

(३) **अन्तहीन प्रतिगामिता** —मेरा ख्याल है कि पिछले अध्याय के पढने से यह स्पष्ट है कि स्वय मेरे मतानुसार ही असली अन्तहीन प्रतिगामिता अपनी जनक अवधारणा की असत्यता की साक्षी होती है और यह कि मेरे उक्त अभिमत का आधार प्रतिपन्नतया गृहीत किसी अनिश्चित शृखला का योग करने के लिए आत्मव्याघाती उद्देश्य या प्रयोजन का अन्तहीन प्रतिगामिता द्वारा किया गया पूर्वानुमान। इसीलिए अव तक जो कुछ मै समझ सका हूँ इसी आधार पर मैं डाक्टर स्टाउट द्वारा किये गये आत्मव्याघातयुक्त और आत्मव्याघातमुक्त अन्तहीन प्रतिगामिताओ के विभेद से सहमत नही हो सका। द्वितीय प्रकार की अन्तहीन प्रतिगामिता के उदाहरण रूप से

---

१. अथवा क्या डॉ० स्टाउट का केवल यही कहना है कि हो सकता है कि एक टोपी हो और एक सिर और एक रिश्ता या सम्बन्ध भी 'ऊपर' और 'नीचे' का (उदाहरणतः टोपी और खूंटी के बीच) फिर भी मेरी टोपी मेरे सिर पर न हो, यदि उनका मतलब यही हो तो मेरा जवाब होगा कि ऐसी दशा में वास्तव में कोई 'सम्बन्ध' हमारे सामने नहीं है न 'पद' ही हमारे सामने है। अगर टोपी सिर पर नहीं है तब टोपी और सिर ऐसे पद नहीं है जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध है। मेरी समझ में नहीं आता कि डॉ० स्काउट अपने सिद्धांत के आधार पर ही क्यों एक चौथे तथ्य को अपने विश्लेषण के साथ नहीं जोड़ लेते, यानी वैशिष्ट्यवत्ता को अथवा गुण या विशिष्टताओं की सत्ता को तथा इसी प्रकार अनन्त वातों को।

(पृ० ११ पर) प्रस्तुत आकाश या अवकाश की अनन्त खण्डनीयता के विषय मे मेरा ख्याल है कि इस मामले मे कोई अन्तहीन प्रतिगामिता दरअसल तब तक नही हुआ करती जब तक कि आप अनिश्चित खण्डनीयता के स्थान पर अनिश्चित वास्तविक उपखण्डो की स्थापना नही कर देते और यह कि जब आप यह प्रतिस्थापना कर देते हैं तो तुरन्त ही उसके कारण आप कभी न समाप्त होने वाले काम के आत्मव्याघाती परिपूरण के लिए अपने आप को बाँध लेते है। (तुलना कीजिए—१० मे अनिश्चित आंकिक शृंखला विषयक–१० के पूर्वोल्लेख के साथ)।

(४) डाक्टर स्टाउट इनकार ही किये जाते है कि साम्बन्धिक योजना मे कोई अन्तहीन प्रतिगामिता, आत्मव्याघातिनी या अनात्मव्याघातिनी, शामिल होती है। उनके कथानुसार सम्बन्ध को उसके पदो से जो कुछ जोड़ता है वह कोई दूसरा सम्बन्ध नही होता। (यदि हो तो निश्चय ही उससे अन्तहीन प्रतिगामिता उठ खडी होगी) अपितु वह उनकी सम्बद्धता ही है। जो 'सम्बन्ध और पदो दोनो ही का उभयनिष्ठ विशेषण है' (पृ० ११)। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि क्यो उपर्युक्त प्रश्न का यह हल मुझे उक्त समस्या की केवल पुनरावृत्ति-सी ही करता प्रतीत होता है। जहाँ तक मुझे सूझता है, सम्बद्धता एक ठोस तथ्य का नाम है जिसके दोहरे पहलू हैं उसके गुण और सम्बन्ध। मुझे समझ मे नही आता कि तथ्य की ठोस एकता पर अड़ने से इन दोनो पहलुओ का सहयोजन क्यो कर अधिक बोधगम्य बनाया जा सकता है।

(५) डाक्टर स्टाउट अपने मत को और भी अधिक पुष्ट करने के लिए सतत सयोजन प्रकार के एक सिद्धात पर जोर देते है लेकिन शायद मैं उसे समझ नही पा रहा हूँ। प्रतिपक्षी के इस सभाव्य आक्षेप की यदि 'सम्बद्धता' पदो को उनके सम्बन्ध के साथ सयोजित करती है तो शृखला की एक दूसरी कडी भी होना चाहिए जो पदो को उनकी सम्बद्धता के साथ जोडे, प्रतिकल्पना करते हुए प्रत्युत्तर रूप मे डाक्टर स्टाउट कहते है, कि ऐसी कोई कडी नही होती न उसकी जरूरत ही है। क्योकि दोनो का सयोजक सतत होता है और उसका आधार वह चरम सातत्य होता है जिसका पूर्वानुमान सभी साम्बन्धिक एकता किया करती है। (पृष्ठ १२, तु० की० पृ० २–४)। और जैसा उन्होने पहले ही बताया है, 'जब तक यह सतत सह-योजन चलता रहता है तब तक उनके बीच और कुछ नही रहता। (अर्थात् सम्बद्ध पदो के) और इसीलिए कोई सम्बन्ध भी नही होता।'

लेकिन मुझे इस जगह पर एक व्याघात अन्तर्हित प्रतीत होता है। निश्चय ही सतत सहयोजन मे विशिष्ट या विभिन्न किन्तु सयुक्त पदो का ऐसा अस्तित्व शामिल होता है जो शृखला का निर्माण करता है। जहाँ इस प्रकार के विशिष्ट या भिन्न

पद नही होते वहाँ सयोज्य भी कुछ नही होता । जहाँ तक मैं समझा हूँ, कि श्रृंखला के किन्ही दो पदों के बीच अन्तवर्ती अनेक सभाव्य पदों का सदा मौजूद रहना किसी भी सतत शृखला का सहज या स्वाभाविक अंग ही हुआ करता है और इसी लिए किसी भी सतत शृखला मे कोई अव्यवहृत: निकटवर्ती पद नही हुआ करते । डाक्टर स्टाउट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है '—
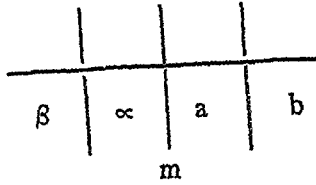
ऊपर लिखे रेखाचित्र मे बी० और बीटा को डाक्टर स्टाउट 'मध्यत' सह-सयुक्त' बताते हैं किन्तु ए और अल्फा 'अव्यवहृतत सह-निकटवर्ती' है । निश्चय ही डाक्टर स्टाउट यहाँ भूल जाते है कि बुद्धिगम्यत' जिसे 'सह-निकटवर्ती' कहा जा सकता है वे पक्तियाँ नही अपितु पक्तियो पर वर्तमान 'बिन्दु' अथवा 'स्थितियाँ' है और अल्फा के किसी बिन्दु ए पर वर्तमान किसी बिन्दु के मध्य अन्तर्वर्ती स्थितियों का बाहुल्य वर्तमान है जो ए के सीमान्तिक सव्य बिन्दु तथा अल्फा के सीमान्तिक दक्षिण बिन्दु की विशेष स्थिति से व्यतिरिक्त है । ये सभी एक बिन्दु एम पर निश्चय ही समाचयित हो जाते हैं और उस दशा मे कोई भी माध्यिक अथवा अव्यवहृत सम्बन्ध शेष नही रहता ।[1] उपर्युक्त उदाहरण डाक्टर स्टाउट के मत की एक

१. अगर आप ए और अल्फा नामक पंक्तियों पर उसी प्रकार विचार करना चाहे जैसा कि डाक्टर स्टाउट ने किया है, तो मेरी राय में दो अभिमत सभव हो सकते हैं । (अ) यह कि दो पक्तियाँ हैं ही नहीं पक्ति केवल एक ही है और एम बिन्दु पर कहा गया जोड़ वैचारिक मात्र है । उस दशा में जोड़ने योग्य कुछ रहता ही नहीं और उस दशा में 'अव्यवहृत सयोजन' विषयक कोई सम्बन्ध उनमें नहीं होता । (ब) यह कि जोड़ को अगर असल चीज माना जाय तो आपके सामने एक पूर्णतः सामान्य सम्बन्ध का मामला होगा जिसके पद होंगी अन्तवती पक्तियाँ 'ए' और 'अल्फा' और उनका सम्बन्ध होगा उन दोनों का एम बिन्दु पर स्पर्श । प्रत्येक आधार पर (अ) अभिमत मुझे सही मालूम देता है । लेकिन 'अव्यवहृत संयोजन' में विघटित सातत्य के अनुकूल नहीं पड़ता । अतः कठिनाई का स्रोत यह है कि (१) 'अव्यवहृत सयोजन' केवल किसी असतत श्रृंखला के अव्यवहततः अनुवर्ती पदों के बीच ही रह सकता है तो भी (२) उनके बीच ठीक इसी कारण स्थिर नहीं रह सकता कि वे असतत होती है ।

बडी कमी दर्शाने का काम कर सकता है। डाक्टर स्टाउट उस उदाहरण मे पाते है कि सम्बन्ध ऐसी एकता का पूर्वानुमान कर लेते है जो अधि-साम्बन्धिक होती है और जिसे डा० स्टाउट ने उसके अधि-साम्बन्धिक स्वरूप के आधार पर 'सतत्' सज्ञा दी है। साथ ही साथ अन्तहीन प्रतिगामिता की ओर ले जाने के दोषारोपण से इस सम्बन्धिक योजना को बचाने की खातिर उन्हे अपनी इस अधि-साम्बन्धिक एकता को ही ऐसे सम्बन्ध का रूप दे देना पडा जिसे उन्हे निकटवर्ती पदो और अव्यवहृत पदो के मध्यवर्ती सम्बन्ध से अभिहित करना पडा और उसे एक 'भग्नसातत्य' शृखला के मौलिक स्वरूप का जामा पहनाना पडा है। मैं उनकी इस कार्यवाही को इस सिद्धात की, कि वास्तविकता के समग्र के विषय मे जो कुछ सत्य नही होता वह किसी भी वास्तविकता के विषय मे अन्तिमत सत्य नही होता।

अध्याय ५

वस्तु जगत (२) परिवर्तन और कारणता

१—वस्तुओ के अन्योन्य क्रियापरक होने की कल्पना परिवर्तन और कारणता की दो समस्याओ की ओर ले जाती है। इस तथ्य के कारण कि स्थायी ही परिवर्तित हो सकता है, परिवर्तन का विरोधाभासी स्वरूप। २—किसी अभिज्ञान या तादात्म्य के आन्तरिक अनुक्रमण को ही परिवर्तन कहते है; यह तादात्म्य, पादार्थिक तादात्म्य के समान ही उद्देश्यात्मक होता है अर्थात् उसका परिवर्तन, प्रक्रिया मे ओत-प्रोत विन्यास अथवा उद्देश्य का तादात्म्य होना आवश्यक है। ३—इस प्रकार सभी प्रकार का परिवर्तन, आधार और परिणाम नामक उस तर्कशास्त्रीय श्रेणी विभाजन के अन्तर्गत आता है जो कालात्मक अनुक्रमण मे उपनयित होने पर पर्याप्त तर्कना का सिद्धात बन जाता है। ४—**कारणता**, कारण—आधुनिक लोक प्रचलित तथा वैज्ञानिक अर्थानुसार परिवर्तन का वह आधार होता है जो पूर्ववर्ती परिवर्तनो मे पूर्णतया व्याप्त समझा जाता है। प्रत्येक परिवर्तन के आधार का पूर्ववर्ती परिवर्तनो मे भी पूर्णतया ओत-प्रोत होना, न तो कोई स्वयसिद्ध सूत्र है न अनुभवसिद्ध सत्य बल्कि हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ द्वारा सुझायी गयी अभिधारणा ही है। ५—अन्तिमत. अभिधारणा सत्य नही हो सकती। घटनाओ के बीच की निर्भरता एकपक्षीय नही हो सकती। अभिधारणा के हमारे उपयोग की वास्तविक न्याय्यता उसके क्रियात्मक साफल्य मे निहित होती है। ६—कारण की परिकल्पना का उद्गम देवादि मे मानव रूपारोपणात्मक है। ७—कारणताविषयक मूलभुलैयाँ (१) **सातत्य**। कारणता का सतत होना जरूरी है। पर किन्तु किसी सतत प्रक्रिया मे कारण का कार्य से कोई विभेद या वैशिष्ट्य नही हो सकता। कालानुसार कारण का कार्य का अग्रवर्ती होना आवश्यक है वह अग्रवर्ती हो नही सकता। ८—(२) **अनिश्चित प्रतिगामिता** कारणतागत। ९—(३) **कारण बाहुल्य** कारणो का बाहुल्य अन्तिमत एक तार्किक व्याघात ही होता है किन्तु किसी भी ऐसे रूप मे जहाँ कारणजन्य अभिधारणा क्रियात्मक रूप से उपयोगी हो, यह जरूरी है कि वह बाहुल्य को मान्य समझे। १०—कारणात्मक सम्बन्ध की 'आवश्यकता' मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिनिष्ठ। ११—अन्तस्थ और इन्द्रियातीत कारणता, संगत बाहुल्यवाद के लिए इन्द्रियातीत कारणत्व से इनकार आवश्यक, किन्तु सफलतापूर्वक इनकार कर सकना सभव नही।

१२—इन्द्रियातीत या अनुभवातीत तथा अन्तस्थ दोनो ही प्रकार कारणतायें अन्ततोगत्वा आभास होती है।

१—विश्वमयवी पूर्व-वैज्ञानिक मत के लक्षणो मे से चौथा लक्षण जो हमे मिला था वह था यह विश्वास कि वस्तुएँ एक दूसरे पर क्रिया करती हैं और दूसरी वस्तुओ द्वारा उन पर क्रिया की जाती है। यह विश्वास जिन समस्याओ को जन्म देता है वे इतनी विशाल है और ऐतिहासिकतया तत्त्वमीमासा के लिए इतने महत्व की हैं कि उन पर विचार करने के लिए एक पूरे अध्याय की जरूरत है। पूर्व वैज्ञानिक-कालीन सरल मानस द्वारा की गयी वस्तुओ का अन्त क्रिया विषयक परिकल्पना मे दो पहलू हमे विलग मालूम पड सकते हैं। (१) एक पहलू तो उस विश्वास का है जिसके अनुसार वस्तुएँ बदलती हैं, और यह कि किसी एक वस्तु के एकत्व के भीतर भी विभिन्न दशाओ का अनुक्रमण जारी रहता है। (२) दूसरा यह विश्वास कि विविध वस्तुओ की दशा के परिवर्तन ऐसे अन्त सयुक्त रहते है कि एक वस्तु मे हुए परिवर्तन दूसरी वस्तुओ मे निश्चित परिवर्तनो के अवसर सिद्ध होते है। अत. पहले तो हमे परिवर्तन के उस सामान्य दृष्टिकोण पर जो वस्तुओ के अस्तित्व का अवियोज्य पहलू माना जाता है—विचार करना है और उसके बाद विभिन्न वस्तुओ के दशा परिवर्तनो के मध्यवर्ती व्यवस्थित अन्त सयोग की परिकल्पना पर।

(अ) **परिवर्तन**—अस्तित्व की प्रकटत सतत परिवर्तनीयता, दर्शनशास्त्र की प्राचीनतम तथा निरन्तर वर्तमान समस्याओ मे से एक अन्यतम समस्या है। यह प्रतीत हो सकता है कि विविध दशाओ की समयानुवर्ती प्रस्तुति स्वत, तादृश प्रकार की ही दशाओ की युगपद प्रस्तुति की अपेक्षा, अनुभूति जगत के ध्यान देने योग्य लक्षणो मे न तो कुछ अधिक न कम ध्यान देने योग्य लक्षण हैं। किन्तु हमारी वैयक्तिक आशाओ और आशकाओ, आकाक्षाओ और निराशाओ के साथ वाहनरूप मे सम्बद्ध होने के कारण मानव कल्पना के लिए उत्परिवर्तनीयता विषयक समस्या सदा से ही एक विशेष आकर्षण का कारण रहती आयी है। 'टेम्पोरा म्यूटैंटर नॉस एट म्यूटेमर इन इलिस' मे वह रहस्य निहित है जिसके कारण हमारी दार्शनिक विचारधारा प्रारम्भ से ही आग्रहपूर्वक इस समस्या के चारो ओर चक्कर लगाती चली आ रही है। उपर्युक्त कथन मे ही हमे, समग्र उत्परिवर्तनीयता मे निहित इस केन्द्रिक विरोधाभास का कि केवल समरूपी और स्थायी ही परिवर्तित हो सकता है, सगर्भ सुझाव प्राप्त होता है। सो इस कारण कि जो स्वात्म कालान्तर मे और परिस्थिति व्यवधान के साथ-साथ बदलता रहता है किसी हद तक वही पुराना स्वात्म होता है और उनके परिवर्तनो को ही हम हर्ष और विषाद की सामग्री से भी भरा-पूरा अनुभव करने लगते हैं। अपने स्वात्म के प्रत्येक अनुवर्ती परिवर्तन के साथ-साथ ही अगर हम भी एकदम

नवनिर्मित होते रहते तो अच्छे की ओर ढल जाने पर न तो हमे हर्ष का कोई कारण मिलता न कु-दशा-प्राप्ति पर विषाद का।

इस विचार ने कि जो कुछ स्थायी है केवल वही परिवर्तनीय होता है दर्शन-शास्त्रीय इतिहास के विभिन्न युगो की दार्शनिक विचारधारा को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। यूनानी दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ काल मे ही वह उन यूनानी भौतिक विज्ञानियों के लिए एक मार्गदर्शी सिद्धांत रहा, जो अनुवर्ती प्रपचो के आभासी वैविध्य को एकल पैण्डिक वास्तविकता के रूपान्तरणो के रूप मे देखने का प्रयत्न करते रहे। ज्यो-ज्यो इस प्रकार के रहस्यवादपरक एकत्ववाद मे अन्तर्हित कठिनाइयाँ प्रकटतर होती गयी, वैसे ही वैसे, अस्तित्व को किसी भी प्रकार का एकत्व प्रदान करने की अनुभूयमान आवश्यकता ने पारमेनाइडीज और उसके इलायाती उत्तराधिकारियो को इस सीमान्तक अभिमत की ओर प्रेरित किया कि चूँकि किसी स्थायी रूप से एकरस पैण्डिक वास्तविकता मे किसी प्रकार का परिवर्तन असंभाव्य है अत. वह अवश्य ही हमारे भ्रामक इन्द्रियग्राम का स्वप्नजाल मात्र ही होता है। फिर भी जहाँ एक ओर बाद के यूनानी भौतिकविज्ञानी और उनका सिसिली देशवासी प्रतिरूप एम्पीडोक्लीज, वस्तुओ की आभासी उत्परिवर्त-नीयता को इस सिद्धांत द्वारा कि इन्द्रियो को जो कुछ गुणात्मक परिवर्तन रूप गोचर होता है वह वास्तव मे, गुणात्मकतया अपरिवर्तनीय 'तत्वो' अथवा 'अणुओ' का अवकाशी या आकाशस्थ, पुन. समूहीकरण मात्र ही होता है।

यूनानी विचारधारा की कुछ अधिक विकसित स्थिति मे अस्तित्व की उत्परि-वर्तनीयता तथा स्थैर्य का कुछ लेखा-जोखा लेने की आवश्यकता ने प्लेटो या अफलातून को अस्तित्व की दोनो दुनियाओं अथवा दोनो क्रमों के बीच महत्वपूर्ण विभाजन करने को प्रेरित किया अर्थात् उन्हे सतत, अपरिवर्तनशील आत्माभिज्ञानमय वास्तविक अस्तित्व तथा परिवर्तन, सभ्रान्ति और अस्थिरतापूर्ण आभास मात्र नामक दो विभागों मे विभक्त करने के लिए। प्लेटो के इस बात को बुद्धिगम्य बनाने के प्रयत्नो की, कि ये दोनो क्रम सर्वकालिक और अल्पकालिक किस प्रकार अन्तिमेत्थ रूप से सयुक्त है—स्पष्ट असफलता के बावजूद भी उपर्युक्त विभेद किसी न किसी रूप मे तब से अब तक तत्वमीमासीय रचना का पीछा बराबर ही करता चला आया है। आजकल के वैज्ञानिक-द्रव्यवाद भी जो सभी शुद्ध तत्वमीमासीय प्रश्नों को घोर घृणा की दृष्टि से देखने के लिए कटिबद्ध रहता है, सभी भौतिक अस्तित्व को किसी एकतान माध्यमवर्ती परिवर्तनो के अनुक्रम मे घटित करने के अपने अनवरत प्रयत्नो द्वारा यही सिद्ध करता है कि बुद्धि परिवर्तनार्थ किसी स्थायी पृष्ठभूमि की माँग कितने आग्रहपूर्वक किया करती है तथा यह कि उसकी इस माँग को तर्कत. पूरा करना कितना कठिन होता है।

तथापि इस विरोधाभास से पीछा छुडाने के लिए उसकी सत्यता से ही इनकार कर जाने के प्रयत्नो की कमी नही रही है। जिस प्रकार ईलिया के दार्शनिको ने परिवर्तन को ही एक आधारहीन भ्रान्ति बताकर इस विरोधाभास से बच निकलने का प्रयत्न किया उसी तरह हेराक्लीटस के शिष्यवर्ग मे से कुछ लोगो ने भी इस प्रश्न से पीछा छुडाने के लिए परिवर्तनार्ह स्थायी तद्रूपता को स्वीकार करने से ही इनकार कर दिया। आज की दुनिया मे भी उनकी नकल करनेवालो की कमी नही रही। तत्वमीमासा के इतिहास मे अन्तर्हित एकत्वविहीन अनवरत परिवर्तन के पक्षपाती लोग होते आये है यद्यपि उनकी सख्या बहुत ज्यादा नहीं रही। अत हमे सक्षेपत यह सोचना है कि इस विरोधाभासी परिकल्पना के पक्ष और विपक्ष मे क्या-क्या बाते पेश करनी चाहिए। कौन से परिवर्तन स्थायी रूप से एक ही समय स्वत तद्रूप कैसे हो सकते है इस बात को देख सकने की सामान्य कठिनाई के अतिरिक्त, इस सिद्धात के पक्ष मे कि, केवल अनवरत परिवर्तन मात्र ही वास्तविक है, एक ही विशिष्ट तर्कना जो प्रस्तुत की जा सकती है वह है प्रत्यक्ष अनुभूति को उदाहृत करने की। कहा जाता है कि किसी भी कार्यगत अनुभूति मे भले ही उसकी सीमाये कितनी ही सकुचित हो हमे परिवर्तन और सक्रान्ति के तथ्यो के दर्शन होते है। हमे निरपेक्षत अपरिवर्तनशील सारतत्व का बोध कभी नही होता। जहाँ हमारे सामने की वस्तु मे कोई अनुक्रम ही दिखायी नही पडता वहाँ भी आत्मपरीक्षा द्वारा कम से कम उस विकल्पी आतति और वितति का पता तो चल ही सकता है जो शारीरिक सवेदनाओ के उतार-चढाव के साथ हमारे भीतर होती रहती हैं।

अनुभूति के इन तथ्यो का बखान करने से निश्चय ही कोई विशेष लाभ नही हो सकता किन्तु उन पर आधारित निष्कर्ष प्रत्यक्षत ही, उस सीमा से भी बहुत आगे तक जा पहुँचता है जितने की हमारी प्रतिस्थापना के लिए जरूरत है। यदि अनुभूति द्वारा जहाँ हमे किसी अपरिवर्तनशील सारतत्व का अनुलब मात्र कभी प्राप्त नही हो पाता वहाँ किसी ऐसे परिवर्तन मात्र के भी दर्शन नही होते जिसमे अनुलबन मौजूद न हो। हम जो कुछ भी अनुभव करते है उसमे तादात्म्य और सक्रान्ति के दोनो ही पहलू साथ ही साथ सदा दिखायी पडा करते है। अनुभूति काल मे उन तत्वो के साथ ही साथ जो इन्द्रिय ग्राह्यत परिवर्तित हुआ करते है वे अन्य तत्व भी मौजूद रहा करते है जो इद्रियग्राह्यत लगातार अचर रहते हैं। और तब भी जबकि असावधानी के कारण हम इन अचर तत्वो को ग्रहण नही कर पाते, परिवर्तनशील सारतत्व की आनुक्रमिक दशायें भी स्वय क्षणिक मात्र नही हुआ करती। उनमे से प्रत्येक की अपनी एक ऐसी सवेदनीय अवधि हुआ करती है जिसमे उसका अपना स्वरूप किसी प्रत्यक्षणीय परिवर्तन के बिना स्थिर रहता है। इस प्रकार अनुभूति भी, स्थिर तद्रूपता को

पृष्ठभूमि से विरहित किसी परिवर्तन मात्र के विचार की पुष्टि कर सकने मे असमर्थ सिद्ध होती है।

किन्तु इस अभिमत का पक्का खडन तो उसकी अपनी ही भीतरी बेतुकेपन मे ही निहित है। तादात्म्य या तद्रूपता की पृष्ठभूमि के विना स्वत. परिवर्तन असभव इस कारण होता है कि अन्त स्थ तद्रूपता जहाँ न होगी वहाँ परिवर्तन किस मे होगा परिवर्तनीय तो वहाँ कुछ है ही नही। परिवर्तन तो किसी वस्तु का या किसी वस्तु मे ही हो सकता है। एकदम असयुक्त ऐसे सारतत्वो के, जो सक्रान्ति काल मे भी स्थिर रहनेवाले किसी स्थायी प्रकार के स्वरूप द्वारा परस्पर सयुक्त न हो, के अनुक्रममात्र को परिवर्तन किसी तरह भी नही कहा जा सकता अगर मेरे सामने पहले केवल 'अ' हो तव 'व' और 'अ' और 'व' मे किसी तरह का कोई सम्वन्ध न हो तो यह कहना कोई माने नही रखता कि मैने किसो परिवर्तन क्रिया का ग्रणह किया है। अगर कोई परिवर्तन हुआ है तो वह मुझमे ही तव हुआ है जव मै 'अ' को देखने की दशा से 'व' को देखने की दशा मे परिवर्तित हुआ हूँ। और इस व्यक्तिनिष्ठ परिवर्तन को परिवर्तन उसी दशा मे कहा जायगा जव कि यह मान लिया जाय कि जव अ के प्रथम परिलक्षण-गुण-विशिष्ट तथा तत्परिलक्षणानुगत भावनात्मक विविध अन्य क्रियाकलापो सहित, मैं, और इसी प्रकार व के द्वितीय परिलक्षण गुण विशिष्ट मैं, एक ही व्यक्ति हूं। और जहाँ आपके सामने केवल परिलक्षण या प्रत्यक्षण का परिवर्तन मात्र न हो अपितु परिवर्तन का प्रत्यक्षण या परिलक्षण मौजूद हो तो वात और भी साफ हो जाती है। ऐसे मामलों मे हमे जो परिलक्षित होता है वह है 'अ' का 'व' मे परिवर्तन होना, तथा अ और व की दोनो अनुवर्ती दशाओ का इस तथ्य द्वारा कि वे किसी स्थायी एकता y की आनुक्रमिक दशायें है, सह सयुक्त होना उपर्युक्त प्रक्रिया की प्रथम दशा द्वितीय दोनो ही दशाओ मे इस तद्रूप y की उपस्थिति के अतिरिक्त ऐसी और कोई वात ही नही जिसके आधार पर उसे परिवर्तन की दशा कहा जा सके।

२—तव परिवर्तन की परिभाषा यह कह कर की जा सकती है कि वह तादात्म्य का अन्तर्वर्ती अनुक्रम होता है, क्योकि तादात्म्य उस प्रक्रिया के लिए उतना ही सारभूत है जितना कि अनुक्रम। परिवर्तनो के समग्र अनुक्रम मे लगातार वर्तमान इस तादात्म्य या तद्रूपता या सामान्य प्रकृतित्व का ध्यान तव हम कैसे कर सकेगे ? यह वात साफ हो जानी चाहिए कि यह प्रश्न—कि जो परिवर्ततित हुआ करता है वह स्थायी या सतत क्यो कर हो सकता है—गुण और द्रव्यविषयक हमारी पुरानी गुत्थी ही है यानी यह प्रश्न ही कि कैसे अनेको दशाये एक ही वस्तु से सपृक्त तव हो सकती है जव सामयिक अनुक्रम रूपी दशाओ के मामले के सम्वन्ध मे विशेषरूप से उन पर विचार किया जाय। इस प्रकार एक ही वस्तु की अनेकों स्थितियों या दशाओ की एकता का

चाहे जो सही रूप क्यों न हो, वही स्वरूप उस तद्रूपता का भी होगा जो परिवर्तन प्रक्रिया की आनुक्रमिक स्थितियों का सयोजन करती हैं।

इससे पहले ही हम देख चुके है कि वह एकता जिससे अनेक दशायें सम्बद्ध रहा करती है किसमें ओत-प्रोत समझी जाना जरूरी होता है। हमने पाया था कि सारत यह एकता साध्यपरक होती है। हमने देखा था कि दशाओं का वह गुट, एक वह वस्तु है जो किसी लक्ष्य अथवा हित के सापेक्ष एक के रूप मे ही कार्य करता है अथवा जैसाकि हम यों भी कह सकते है कि वह सगतरचना का ही सगठित प्रतिरूप होता है। यही वात परिवर्तन की प्रक्रिया के विषय मे भी सही है। प्रक्रिया की प्राक्तन तथा पश्चातन स्थितियाँ तद्रूपता की ही भिन्नताये ठीक इस कारण से होती है वे मिलकर एक ही प्रक्रिया हुआ करती है। और प्रक्रिया तब एक होती है जब वह किसी एकल सगत उद्देश्य या लक्ष्य की व्यवस्थित ससिद्धि रूप होती है। प्रक्रिया के एक होने के माने यही होते है कि वह किसी एकल सगत योजना अथवा नियम की दशाओ के अनुक्रम की व्यवस्थित अभिव्यक्ति है। दशाओं का अनुक्रम इस प्रकार उन दशाओ मे निहित योजना अथवा नियम की एकलता द्वारा एक एकत्व मे जटित हो जाता है और प्रत्येक दशा अथवा स्थिति के अन्य सव स्थितियों के साथ इस व्यवस्थित सयोजन को ही हम यों कह कर व्यक्त किया करते है कि जो कुछ भी परिवर्ततित हुआ करता है उसमे स्वरूप विषयक स्थायिनी तद्रूपता सदा अन्तर्हित रहा करती है। हमारा उपयुक्त कथन ठीक होगा अगर हम कहे कि किसी भी परिवर्तनपरक वस्तु की आनुक्रमिक दशाये एक सयोजित व्यवस्था का निर्माण करती हैं।

यहाँ भी हमे उसी तरह सावधान रहना पडेगा, जैसा कि हमने पदार्थ विषयक विचार करते समय किया था, कि कहीं हम कल्पना के प्रतीकात्मक सहायकों को ही दार्शनिक सत्य मान वैठने की गलती न कर वैठे। जैसे वस्तुओं के पदार्थतत्व को एक प्रकार का द्रव्यात्मक अव स्तर समझ लेना आसान हुआ करता है वैसे ही समग्र परिवर्तनो मे व्याप्त तद्रूपता को अनेक द्रव्य खण्डो की तद्रूपता समझ लेना और परिवर्तनो को उन द्रव्यखण्डो की अवकाशीय गति कल्पित कर लेना भी उतना ही आसान होता है। किन्तु इस प्रकार की पुन प्रस्तुति को कल्पना की सहायिका से अधिक और कुछ नही मानना चाहिए। वह मनोगत खाका खीचने मे हमारी सहायक जरूर होती है लेकिन तद्रूपता और अनुक्रम के मध्यवर्ती सम्वन्ध पर वह किसी तरह का प्रकाश नही डालती। द्रव्य के प्रत्येक 'आत्म-तद्रूप' खण्डों मे भी यही समस्या उठ खडी होती है। हमे वताना होगा कि उसकी सभी परिवर्तनावस्थाओ की शृखलाओ मे लगातार उसे एक और तद्रूप ही कहने से हमारा क्या अभिप्राय होता है और इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता ही तुरन्त हमे वता देती है कि किसी द्रव्य कण की तद्रूपता उसकी गति भर मे

अनुक्रम व्यापिनी उस तद्रूपता का ही एक मामला है जो समग्र परिवर्तन से सम्बद्ध हुआ करती है। उस उत्तर से उस सिद्धात का जिसकी व्याख्या करने के लिए[1] उसे प्रस्तुत किया गया था, कोई खुलासा हमे प्राप्त नही होता । जैसाकि अभी हाल के लेखक ने लिखा है "यह मानवीय मानस की एक मूलवद्ध अशक्तता ही प्रतीत होती है जिसके कारण वह भौतिक या द्रव्यात्मक आधारो से विरहित अन्य किसी प्रकार के क्रियाकलाप की कल्पना सभी प्रपचो को यत्रशास्त्रीय शव्दावली द्वारा प्रकट करने के प्रयत्नपरक स्वभाव की वजह से द्रव्यखण्डो की गति रूप मे ही किया करते है, अतः हममे से वहुतेरे लोगो का यह विश्वास-सा हो गया है कि ऐसा करके हम प्रपचों मे अतर्निहित वास्तविक घटनाओं का ही वर्णन करते है ।[2] इसी लेखक के कथनानुसार यह 'दिमागी वीमारी' और कही इतना घर नही कर पायी जितना कि वह परिवर्तन विषयक विचार-विमर्श मे घुस बैठी है।

अत. परिवर्तन मे दो पहलू मिले रहते है। एक तो कालानुसारी अनुक्रम होता है और वे घटना मे एक व्यवस्थित एकता द्वारा ऐसी तरह संयुक्त रहती है कि उन सवसे संरचना की एक योजना अथवा नियम व्यक्त होने लगता है। किसी वस्तु का इतिहास तैयार कर देने वाली उसकी आनुक्रमिक दशाये उस वस्तु के स्वरूप की या संरचना की अभिव्यक्ति होती है । किसी वस्तु की संरचना को समझने के माने होते हैं उसकी दशाओ के अनुक्रम की कुजी पा जाना अथवा यह जान लेना कि एक दशा दूसरी अनुवर्ती दशा को अपनी जगह क्यो कर दे दिया करती है । इसी तरह पर वास्तविक के स्वरूप अथवा सरचना के समग्र की पूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेने का अर्थ होगा उन सिद्धान्तो को समझ लेना जिसके अनुसार विश्व के इतिहास की प्रत्येक सकातिमय घटना जिसे कालानुसारी घटनाओ की शृखला के रूप मे यदि देखा जाय तो, उस घटना की विशिष्ट अनुवर्ती घटना द्वारा अनुगम्य होती है ।

यह स्पष्ट है कि जिस अनुपात से हमारा किसी वस्तु अथवा किसी वस्तुक्रम का ज्ञान उन वस्तुओं या वस्तुक्रम की सरचना के नियमो की अन्तर्दृष्टि के निकट पहुँचता है उसी अनुपात से परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हमारे लिए एक नये रूप मे प्रकट होने लगती है। उनका विरोधाभासी रूप नष्ट होने लगता है और वे उस तद्रूपता की स्वयं सिद्ध अभिव्यक्ति वन जाती है, जो उनका अन्तर्निहित सिद्धात होती है। नियम रूप मे एक वार घटित हो जाने पर और किसी सिद्धात के अनुक्रम के मूर्त रूप मे गृहीत होने पर

---

१. शक्ति के सबंध में विचार करते समय इस विचार विन्दु पर किये गये विवेचनार्थ देखिए प्रोफेसर शुस्तर का लेख 'ब्रिटिश असोशिएन रिपोर्ट', १८२३, पृ० ६३१।
२. डब्ल्यू० एम० डुगाल का लेख 'माइण्ड' पत्रिका, जुलाई, १९०२, पृ० ३५०।

परिवर्तन हमारी समझ मे, अवोवव्य रहस्यमय परिवर्तन नही रह जाता। प्लेटो के इस सिद्धान्त पर कि अनवरत परिवर्तन का दृश्य रूप होने के कारण भौतिक जगत अवश्य ही अवास्तविक होगा—विचार करते समय हमे उपर्युक्त कथन को ध्यान मे रखना होगा। उपयुक्त दृष्टिकोण तभी समझ मे आ सकता है जव हम याद रखे कि उन गणिततीय विधियो के आविष्कार से पहले जिनकी कृपा से इस भौतिक प्रपचो को हम नियमानुयायी क्रमिक व्यवस्था रूप मे घटित करने मे विशिष्टत सफल हो सके है, यह भौतिक जगत दार्शनिक के लिए ऐसे स्वच्छन्द, परिवर्तनो का जो किसी भी ज्ञातव्य सिद्धात का अनुसरण नही करते थे, एक नजारा या दृश्य वना हुआ था। परिवर्तन, जहाँ तक उसे उसके सिद्धात के आवार पर समझा जा सका है, बहुत पहले से ही एक परिवर्तन मात्र नही रह गया है।[1]

३—**आधार और परिणाम** —तर्कशास्त्र की तकनीकी भाषा मे किसी व्यवस्था के अन्तर्निहित सिद्धात को उस व्यवस्था का 'आवार' कहा जाता है और वे विवरण जिनके द्वारा वह सिद्धात व्यवस्थित रूप मे व्यक्त हो उसके परिणाम कहे जाते हैं। और इस प्रकार आवार और परिणाम दोनो ही मिलकर एक ही व्यवस्थित समग्र होते है उन्हे केवल विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जाता है। आधार किसी क्रम या व्यवस्था मे व्याप्त उसका सामान्य स्वरूप होता है जिसका ध्यान, विवरण की स्वरूप निर्वारिका और व्यापिका तद्‌रूपता की शक्ल मे किया जाता है। परिणाम भी उसी व्यवस्था या क्रम का नाम है। विवरण के दृष्टिकोण से देखा जाने पर जिसका रूप तद्रूपता सिद्धात द्वारा निर्वारित और व्याप्त विभिन्नता वहुल प्रकट होता है। किसी परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने का नाम है उसे आवार और परिणाम की प्रक्रिया के अन्तर्गत ला देना। घटनाओ के आभासत स्वच्छन्द अनुक्रमण मे जहाँ तक हम किसी सिद्धात को ढूँढ निकाल सकने मे सफल हो सकते है वहाँ तक ये घटनाये हमारे लिए उस सरचना के सामान्य सिद्धात पर आधारित एक व्यवस्था वन जाती है जिनका परिणाम दशाओ का अनुक्रमिक वाहुल्य होता है।

किन्तु आधार और परिणाम के सिद्धात का एक मात्र उदाहरण परिवर्तन ही नही होता। यह दोनो ही पहलू उन व्यवस्थित समग्रो मे भी पाये जा सकते है समयानुवर्ती अनुक्रम के तत्व नही होते उदाहरणत जैसे कुछ मौलिक प्रतिस्थापनाओ से प्राप्त तार्किक परिणामो के समूह मे। परिवर्तन के मामले की विशिष्ट विशेषता यही है वह ऐसी विपयवस्तु पर प्रयोजित आधार और परिणाम का सिद्धात है जो समयानुवर्ती

---

१. बोसान्क्वेट की प्रशंसनीय टिप्पणियों के लिये देखिये 'कपैनियन टु प्लेटोज रिपब्लिक', पृ० २७५—२७६।

रूप से अनुक्रमी है। इस प्रकार के प्रयोग के कारण ही इस सिद्धात को 'पर्याप्त हेतुक सिद्धान्त' की विशिष्ट सज्ञा दी गयी है और उसका इस प्रकार सूत्रीकरण किया जा सकता है कि कुछ भी तब तक घटित नही होता जब तक इसका कि कोई पर्याप्त हेतु न हो कि वैसा हो ही क्यो न बल्कि न क्यों न हो। स्पष्ट है कि यह प्रस्तावना समयानुवर्ती अस्तित्व की विशेष घटना पर एक व्यवस्थित समग्र रूप मे वास्तविकता की परिकल्पना के सप्रयोजन का ही परिणाम मात्र है। अएतव वह समस्त ज्ञान के इस मूलभूत स्वयंसिद्ध का ही सादा-सा एक मामला है कि सत्यत जो वर्तमान होता है वह सगत समग्र होता है।[1] लेकिन हमे ध्यान मे रखना होगा कि यह सिद्धात हमे सभवत. इस असाध्य समस्या की साधना मे, कि समयानुक्रम अनुभूति का एक लक्षण क्यो होना ही चाहिए—किसी प्रकार भी सहायक नही होता। वह तो ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर तभी मिल सकेगा जब हम यह दिखा सकें कि समयानुक्रम, व्यवस्थित समग्र की रचना किसी भी बहुलता के अस्तित्व का तर्कानुसारी परिणाम होता है। जब तक हम इस निष्कर्ष की स्थापना नही कर पाते तब तक हमें अनुक्रम को अपनी अनुभूति का एक दत्त ही स्वीकार करना होगा। (फिर भी इस समस्या पर और अधिक प्रकाश डालने के लिए देखिये (आगामी खड ३, अध्याय ४–९)

४—कारणता . अब तक हमने परिवर्तन की समस्या लोक सुलभ विवेचन मे आधार और परिणाम की परिकल्पना से कही अधिक परिचित कारण की परिकल्पना के बारे मे कुछ भी नही कहा है। इस परिकल्पना पर बहस करने के लिए पहले जरूरी है कि हम कारण शब्द के अनेकार्थो मे से किस अभिप्राय की परीक्षा करना चाहते है यह बता दे। 'सत्यता के कारण' तथा किसी 'घटना के घटित होने के कारण' के बीच विभेद करने का एक पुराना शैक्षिक विभेदक था जो कभी-कभी दार्शनिक लेखावली मे अब भी दिखाई पड जाया करता है। 'कारण' शब्द के उपर्युक्त दोनो अर्थो मे से दूसरा अर्थ ही, आधुनिक विज्ञान की भाषा मे प्रयुक्त होता है और यही अर्थ आगे की धाराओं मे हमे अपनी नजर के सामने रखना होगा।

किसी सत्य की पुष्टि करने का तार्किक कारण उन मनोवैज्ञानिक कारको से पृथक् जो किसी व्यक्ति को उस कारण की पुष्टि के लिए प्रेरित किया करते है, आधुनिक वैज्ञानिको की आधार नामधेय वस्तु का तद्रूप होता है। अन्ततोगत्वा, किसी भी प्रस्तावना को सत्य कह कर तर्कानुसार पुष्ट करना इसलिए आवश्यक होता है क्योकि वह सत्यो की विस्तृततर व्यवस्था मे ऐसे स्थान की पूर्ति करती है जिसे कोई दूसरी

---

[1] आधार और परिणाम के कोटि विभाजन तथा 'पर्याप्तहेतुक' सिद्धान्त के लिए देखिए बोसान्क्वेट लिखित 'लॉजिक', खंड १, अध्याय ६ तथा खंड २, अध्याय ७।

प्रस्तावना भर नही सकती। उदाहरण के लिए किसी त्रिभुज की भुजाओ और कोणों के मध्यवर्ती सवन्ध के वारे मे एक विशिष्ट प्रस्तावना की विशेष आवश्यकता तर्कानुसार इसलिए होती है कि वह उस ज्यामितिक विचार व्यवस्था के विकास का एक समाकलीय तत्व है। जो समग्रत अवकाशीय क्रम से सम्बद्ध कुछ आधारभूत पूर्वगृहीतो पर आधारित होती है। आन्तरिकत. सश्लिष्ट या सगत ज्यामितीय विचारो के किसी निकाय मे किन्ही प्रारभिक पूर्वानुमानो पर उनके तर्कसगत परिणाम तक पहुँचने के लिए तव तक काम नही किया जा सकता जब तक कि विचाराधीन प्रस्तावना उस निकाय मे सम्मिलित नही कर ली जाती। व्युत्क्रमत इन्ही पूर्वानुमावो को ही, अन्यो की अपेक्षा अधिक सुदृढ मान लेने के तार्किक औचित्य इसी तथ्य मे निहित है कि उनसे हमे अन्त-स्त सगत परिणामो के निकाय की प्राप्ति होती है। घटनावश इस उदाहरण द्वारा हमे यह भी पता चल जाता है कि आधार और परिणाम अन्योन्य परिवर्ती भी है और यह वही वात है जो तव होती जव हम इसी परिणाम पर उस तरीके से पहुँचते जिसके अनुसार हमने उनकी परिभाषा एक एकल व्यवस्थित समग्र के दो अन्योन्यपूरक पहलू कह कर की थी।

कारणत्व के वैज्ञानिक तथा दैनदिन विवेचन मे हमे जिस वात से सरोकार होता है वह आधार और परिणाम के शुद्ध तार्किक सम्बन्ध की ही वात नही है वल्कि वह अशात. तत्सम और अशात' उससे भिन्न है। घटना के घटन-कारण की सार्थकता घटनाओ के समयानुवर्ती सम्बन्ध के कारण ही होती है और मोटे तौर पर वह अरस्तू द्वारा वर्णित 'परिवर्तन के स्रोत', तथा उसके मध्ययुगीन अनुयायियो के 'सक्षम कारण' से मिलती जुलती है। जन सामान्य की भाषा के प्रचलित मानो मे कारण उस प्रयत्न का नाम है जो किसी व्यवस्था की घटनाओ के अन्त सम्वन्धीय सिद्धात को यह मानकर कि उनमे से प्रत्येक घटना ऐसी परिस्थितियों द्वारा पूर्णत निर्धारित होती है जो स्वय पूर्ण घटित घटनाये होती है--विशिष्ट दिशाओं के अनुसार ले जाने के लिए किया जाय। छोटी मोटी वातो मे यद्यपि कारण शब्द के लोक प्रचलित अर्थ और वैज्ञानिक अर्थ मे वहुत ज्यादा अतर होते हुए भी दोनो अर्थ सारभूत वात पर एकमत है। वह यह कि दैनदिनीय जीवन मे भी और कारणता की कल्पना का उपयोग करनेवाले विज्ञानों मे भी यह कहने के माने कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है यही होते है कि प्रत्येक घटना की घटन, तथा समय-शृखला मे होने वाली प्रत्येक घटना का स्वरूप पूर्ववर्ती घटनाओ द्वारा ही निर्धारित हुआ करते है। इससे भी अधिक तकनीकी भाषा मे, दैनदिनीय विचार तथा विज्ञान के लिए, कारणता का अर्थ होता है वर्तमान काल की भूतकाल पर तथा भविष्य की वर्तमान काल पर एकपक्षीय निर्भरता।

स्वभावत यह स्पष्ट ही है कि इन मानो मे कारणता, आधार और

के सिद्धात से उद्भूत आवश्यक निगमन नही होती। ऐसा भी हो सकता है कि सभी घटनाओं को मिलाकर एक ऐसी सगत योजना या व्यवस्था का रूप दिया जाय कि अगर आप उस व्यवस्था के मौलिक नियम को एक बार अच्छी तरह समझ जाय तो उससे आप यह निष्कर्ष निकाल सके कि किसी विशिष्ट क्षण पर कौन-सी विशिष्ट घटना जरूर घटित होना चाहिए। फिर भी वर्तमान क्षण तक के घटना क्रम की परीक्षा करने पर हो सकता है कि इस सिद्धात को खोज निकालना असभव हो। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि घटनाओं के व्यवस्थित आन्तरिक या अन्तः सम्बन्ध का सिद्धात वैध हो सके तो भी, वर्तमान की घटनाये अपनी अनुवर्तीभावी घटनाओं पर उतनी ही निर्भर हो सकती है। जितनी अपने से पूववर्तिनी भूतकालिक घटनाओ पर हो सकती है। उस हालत में पहले हुई घटनाओं की परीक्षा मात्र द्वारा ही इस निष्कर्ष पर निरपेक्ष तार्किक निश्चयपूर्वक पहुँच सकना असभव हो होगा कि किसी दत्त क्षण पर क्या घटित होगा अर्थात् तब विज्ञानों मे प्रयुज्यमान कारणता का सिद्धात तर्कानुसार वैध न रह जायगा।[1]

प्रचलित रूप मे कारण का जो अर्थ प्रयोग मे आता है वह समग्र सत्य तार्किक आधार का तद्रूप नही होता बल्कि वह उस आधार के तद्रूप होता है जिसका यथासभवतः कालिक पूर्ववर्ती परिस्थितियो के सिलसिले मे लगता है—अर्थात् कारण एक अपूर्ण आधार हुआ करता है। यह विचार विन्दु महत्वपूर्ण इसलिए है कि उससे सिद्ध होता है कि कारणता का सिद्धात 'पर्याप्त हेतु' के सिद्धात के समान स्वय सिद्धिमय नही है। यह वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप अथवा ज्ञातव्यता का कोई जरूरी तार्किक परिणाम नही कि किसी घटना का पूर्णत निर्धारण कालिकत. पूर्ववर्ती घटनाओ द्वारा ही हो। वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप मे अर्न्तांहित जो कुछ भी होता हो, उसके बजाय वह घटना उतनी ही निर्भर परवर्ती घटनाओं पर भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त कारणता के सिद्धात को अनुभूति के क्रियात्मक क्रम की दुहाई देते हुए अनुभव के बल पर स्थापित नही किया जा सकता। वास्तविक अथवा क्रियात्मक अनुभव निश्चय ही वह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही होता कि प्रत्येक घटना अपनी पूर्ववर्तिनी परिस्थितियो द्वारा ही निरपेक्ष तथा निर्धारित हुआ करती है। कारणता के पूर्वानुमान पर

---

१. यह कहना कि चूँकि वर्तमान वास्तविक है इसलिए भविष्य द्वारा वह नियमित नहीं हो सकता क्योकि भविष्य अवास्तविक होता है—उपर्युक्त सुझाव का कोई जवाब नहीं। इस प्रकार का जवाब देने के माने यही होगे कि आप पहले से ही मान बैठे हैं कि केवल वर्तमान ही वास्तविकता है। यह स्पष्ट ही है कि तब तत्सम सांगत्य से ही हम कह सकते हैं कि भूतकाल चूँकि गत और समाप्त हो चुका है अतः अब अवास्तविक है अतः वास्तविक वर्तमान पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता।

आधारित हमारी वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ की सफलता केवल इतना ही सिद्ध कर पाती है कि कारणता के पूर्वानुमान को क्रियात्मकतया उपयोगी बनाने के लिये, घटनाओ की अनुमिति उनके पूर्वांगों से पर्याप्त परिशुद्धतापूर्वक की जा सकती है।

कारणताविषयक अभ्युपगम को वैज्ञानिक विधि के सार्वत्रिक सिद्धात के रूप मे देखा जाय तो उसे न तो कोई स्वयसिद्ध और न अनुभवजन्य सत्य ही घोषित किया जा सकता है बल्कि सही मानों मे एक प्रतिस्थापना ही कहा जायगा अर्थात् एक ऐसी प्राक्कल्पना जिसे तर्क द्वारा न्यायसिद्ध नही किया जा सकता अपितु जिसकी कल्पना उसकी क्रियात्मक अर्हता के बल पर की जाती है तथा जो सपुष्टि के लिए किए गए उसके विनियोग की सफलता पर निर्भर होती है। इस अर्थ मे कि वह एक ऐसी प्रतिस्थापना है जिसकी सपुष्टि अनुभूति भले ही कर दे पर सिद्ध कभी नही कर सकती, सही तौर पर उसे प्रागनुभव कहा जा सकता है लेकिन दृश्यरूप मे वह काण्टीय दर्शनानुसारी अर्थ मे वह प्रागनुभव नही है। अर्थात् वह कोई ऐसा आवश्यक और अपरिहार्य स्वय सिद्ध नही है जिसके बिना व्यवस्थित ज्ञान की प्राप्ति असम्भव हो जाय क्योकि जैसा कि हम पहले भी देख चुके है और तुरन्त ही आगे के प्रकरण मे भी और अच्छी तरह देखेगे कि वह सही शायद न हो सके और वास्तव मे अन्ततोगत्वा सही हो नही सकता।

५—उपर्युक्त अन्तिम कथन उन पाठको को जो कारणता सम्बन्धी तत्त्वमीमासीय अनुसधानो के इतिहास से अपरिचित है शायद कुछ अटपटा अथवा चौंका देने वाला-सा लगे। लेकिन यह साबित कर सकना बड़ा आसान है कि वह एक स्पष्ट दिखायी पडने वाले सत्य की वास्तविक अभिव्यक्ति है क्योकि हम अभी देख चुके है कि कारणता का सिद्धात परिणाम और आधार के अथवा पर्याप्त हेतु के सिद्धात के स्वयसिद्धात्मक सिद्धात की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। और तत्काल पता चल जा सकता है उसके द्वारा की गयी यह अभिव्यक्ति चूंकि अपूर्ण होती है इसलिए वह अवश्य ही अशत. झूठी होनी चाहिए। आधार और परिणाम का सिद्धात जो कुछ बतलाता है वह यह ही कि समग्र अस्तित्व एक एकल सगत या सश्लिष्ट ऐसी व्यवस्था है जिसमे प्रत्येक अग या खड का निर्धारण पूर्ण व्यवस्था मे दिखायी पडनेवाले, समग्र के स्वभाव द्वारा हुआ होता है। लेकिन अगर यह बात सही है तो उस व्यवस्था के प्रत्येक निर्मायक अथवा कारक का पूर्णत. निर्धारण केवल अन्य शेष कारको के साथ के उसके सम्बन्ध द्वारा ही हो सकता है। एकपक्षीय कारिणीय निर्भरता अभिमत द्वारा पूर्वानुमानित तरीके पर समग्र व्यवस्था के काम वाले भाग के साथ के सम्बन्धों के आधार पर किसी भी कारक का पूर्णत निर्धारण नही हो सकता। यदि आधार और परिणाम का सिद्धात वैध है तो 'कारण' का निर्धारण 'कार्य' द्वारा उसी प्रकार होना चाहिए जितना कि 'कार्य' का

निर्धारण 'कारण' द्वारा। और इसीलिए कारणताविषयक प्रतिस्थापना सम्पूर्ण या समग्र सत्य नहीं हो सकती।

कारणता विषयक सिद्धांत के लिए घातक यह तर्क संबंधी दोष आगमात्मक विज्ञानों की तर्कना को किस प्रकार अपने आप को अनुभूत कराता है और उस दोष को दरकाने के लिए तर्कशास्त्रियों ने किस प्रकार असफल प्रयत्न किए हैं यह सब हम घटना क्रमानुसार अपने विचारविमर्श के दौरान आगे देखेंगे । इस समय तो हमें इतना ही नोट करके संतोष कर लेना होगा कि इस दोष के कारण, जहाँ-जहाँ भी कारणता पर जोर दिया गया है वहाँ वह एक आभास मात्र ही हो सकती है पूर्ण वास्तविकता कभी नहीं, और यह कि कारण और कार्य की कल्पना के बल पर जो भी विज्ञान अपना काम चलाता है वह हमें उच्चतम सच्चाई तक नहीं पहुँचा सकता। लेकिन निश्चय ही इस कल्पना के तार्किक दोषों के कारण उसकी क्रियात्मक अर्हता कम न हो सकना जरूरी नही है। पहले ही बतायें जा चुके कारण से स्पष्ट है कि यद्यपि यह बात कभी भी अन्तिमतः सही नहीं हो सकती कि किसी घटना का एकान्ततः अथवा निरपेक्षता निर्धारण पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा हो सकता है, तो भी इस प्रकार का पूर्वग्रहण, घटना-क्रम सम्बन्धी उपयोगी निगमनो की प्राप्ति के लिए, सत्य के पर्याप्ततः निकट पहुँच सकता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी कारणीय इयत्ता सम्बन्धी अर्हता का गणितीय सन्निकटन, सही अथवा एकदम यथार्थ सत्य न होते हुए भी, क्रियात्मक उपयोग के लिए. सत्य के पर्याप्त निकट तक जा पहुँचता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि कारणीय प्रतिस्थापन, अनुसन्धान के कुछ क्षेत्रो में, अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट तक जा पहुँचता है और यह एक ऐसी लब्धि है जिसका प्रभाव स्वातंत्र्य और दायित्व की नैतिक समस्या पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

अगर हम पूछे कि, अपूर्ण सत्य होते हुए भी जैसा कि उसे अपूर्ण सत्य होना ही चाहिए, कोई कारणीय प्रतिस्थापन किस प्रकार प्रतिस्थापित किया जाता है तो इस प्रश्न का जवाब साफ है। अगर विचार विन्दु को पहले लें तो किसी घटना को केवल पूर्ववर्तियों मात्र द्वारा ही निर्धारित मानने के लिए तर्कानुसार कोई कारण उस कारण से बेहतर नही है जो उसे परवर्तियों द्वारा निर्धारित मानने के लिये दिया जा सकता है। लेकिन जब शकुनों और भविष्यवाणियों में सभी विश्वासियों की तरह अवर अनुमिति कर ली जाती है तो हम सब उसे अन्धविश्वासी अनुमति कह कर दुरदुराने में एकमत हो जाते हैं। लेकिन ऐसा होता क्यो है? इसके दो कारण बताये जा सकते हैं। (अ) अगर यह मान ही लिया जाय कि किसी घटना का निर्धारण परवर्ती घटनाओं द्वारा हो सकता है तो भी चूंकि हम तब तक नही जानते कि वे परवर्ती घटनाये कौन-सी हैं, जब तक कि वे घटित नहीं होती, इसलिए हमारे पास कोई ऐसे साधन न होगे कि जिनकी

सहायता से हम निष्कर्ष निकाल सकें कि आगामी घटनाओ मे से किस विशिष्ट घटना द्वारा वर्तमान घटना का रूप निर्धारण हुआ होगा और इसीलिए अगर हम उस घटना की उस काल तक भावी उपाधियो के निर्धारण का प्रयत्न करें तो हमारे पास असैद्धातिक अनुमानी कार्य के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहता।

(ब) इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण एक और परिस्थिति यह है कि कारणो की हमारी खोज का अन्तिमेत्थ स्रोत उन तरीको या साधनो की खोज है जिनके द्वारा हम उन परिणामो की सिद्धि कर सके जिनमे हमारी रुचि है। घटनाओ के घटन की परिस्थितियो या उपाधियो को मूलत हम इसलिए जानना चाहते है कि उन्ही उपाधियो को प्रस्तुत करके हम वही घटना अपने लिए घटित करना चाहते है। इसलिए हमारे अपने क्रियात्मक प्रयोजनो के हेतु यह आवश्यक है कि हम किसी घटना की उपाधियो की खोज फिर केवल उसकी पूर्ववर्तिनी घटनाओ मे ही करे और कारणता विषयक प्रतिस्थापना जो इस बात पर जोर देती है कि घटना के सम्पूर्ण नियम-पद या उपाधियाँ पूर्ववर्तिनी घटनाओ की शृखला मे ही कही न कही समाविष्ट रहती है, इसीलिए, वास्तविकता के प्रति हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ के तकाजे की एक बौद्धिक अभिव्यक्ति ही है। हम इसलिए उसकी स्थापना करते हैं कि जब तक ऐसी प्रतिस्थापना की सन्निकटत. सिद्धि नही होती तब तक घटना क्रम मे हम सफलता के साथ अन्तर्विष्ट नही हो सकते। हम इस विचार को कि किसी घटना का निर्धारण उत्तर या परवर्ती तथा पूर्ववर्ती घटनाओ द्वारा होता है, इसलिए एक विशुद्ध बौद्धिक परिकल्पना के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार नही होते चूंकि उस विचार या अभिमत द्वारा हमे हमारे पर्यावरण पर कार्य करने के क्रियात्मक नियमो की प्राप्ति नही होती।

६—हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ द्वारा इतनी स्पष्टत जनित प्रतिस्थापना से जैसी आशा की जा सकती है कारणता की परिकल्पना की जाँच करने पर उसका मानवतापरक रूप हमे दिखायी देता है। यह तब और भी अधिक स्पष्ट हो उठता है जब हम कारणता की परिकल्पना के उस रूप पर विचार करते है जैसी वह दैनदिनीय अवैज्ञानिक विचार मे प्रकट हुआ करती है। कारण सम्बन्धी लौकिक अभिमत के उपकल्प के रूप मे प्रस्तुत सभी विभिन्न वैज्ञानिक उपकल्पो मे उसकी परिकल्पना मे से अधिक मानवतापरक तत्वो को निकाल फेंकने के प्रयत्नो के चिह्न पाये जाते है। उक्त परिकल्पना के लौकिक प्रयोग मे यह नृवशविधता दो प्रकार से विशिष्टत. परिलक्षित होती है। (अ) कारण की लौकिक परिकल्पना मे उसे सदा किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के रूप मे ही देखा जाता है अर्थात् किसी ऐसे रूप मे एक समग्र की शक्ल में जिसकी कल्पना की जा सके और जिसमे हम अपने चैतन्य जीवन से मिलते-जुलते चैतन्य

का मानस रूप में प्रक्षेपण या प्रत्याधान कर सकें। वैज्ञानिक विचारक के लिए यह स्पष्ट है कि कारण और कार्य दोनों ही समान रूप से, घटनाये है, केवल घटनायें ही, लेकिन जन साधारण के विचार मे जहाँ कार्य सदा एक गुण अथवा परिस्थिति हुआ करती है। (उदाहरणतः मौत, बुखार आदि की परिस्थिति) वहाँ कारण को वह नियमित रूप से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के रूप मे ही देखता है। (उदाहरण के लिए बन्दूक की गोली, विष, उष्णवलीय सूर्य आदि)।

(ब) इसी से घनिष्ठता सम्बद्ध वह बल है जो जनसामान्य अभिमत द्वारा कारण की क्रियाशीलता अथवा सक्रियता नामधेय वस्तु पर दिया जाता है। कारण को कभी भी कार्य मे पूर्वगामी मात्र, अवियोज्य पूर्ववर्ती नही समझा जाता, उसे कार्य का घटक ही समझा जाता है अर्थात् सक्रियता के प्रयोग द्वारा उसे करवा देने वाला। इस प्रकार के अभिमत की उत्तमतम सगत व्याख्यानुसार कारणता मे एक वस्तु दूसरी अक्रिय वस्तु मे परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए सदा सक्रिय रहा करती है। इस अभिमत का स्रोत पर्याप्तित स्पष्ट है। जैसा कि ह्यूम से लेकर अब तक के सभी दार्शनिक स्वीकार कर चुके है कि कारण की 'सक्रियता' आत्म और आत्म प्रसार की उस लाक्षणिक भावना का आधान कर देने से ही पैदा होती है, जो घटना क्रम मे हमारे अपने स्वेच्छ हस्तक्षेप अथवा व्यतिकरण की सहगामिनी होती है। इसी प्रकार जिस वस्तु में कार्य उत्पन्न किया जाता है उसकी 'अक्रियता' केवल अवपीडन और कुठित आत्मश्लाघा की उस भावना का ही दूसरा नाम है जो हमारे अन्दर तब पैदा होती है जब प्रकृति के नियम अथवा हमारे साथियो का व्यवहार हमारी अभिसधियो या अभिकल्पो की स्वेच्छ कार्यपरिणति को दबा देते है।

अस्तित्व के समग्र साम्राज्य पर कारणीय निर्धारणता की कल्पना को छा देने के अपने प्रयत्नो के मार्ग मे विज्ञान को ये नृवशवधिक या पुरुषविधीय विवक्षायें बाधा स्वरूप लगती है। और इन बाधाओ को निकाल बाहर करने के प्रयत्न से ही कारणता का वह सामान्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता है जिसे साधारणतः परीक्षाणात्मक अनुसन्धान हेतु स्वीकार कर लिया है और जो आगनात्मक तर्कशास्त्रियो के ग्रन्थों मे अभिसूचित हो गया है। यत. विज्ञानो के लिए जिनका उद्देश्य घटनाओं के पौर्वापर्य को क्रमबद्ध कर लेना मात्र होता है, दशाओ के अन्तः सम्बन्ध की विधा के अतिरिक्त किसी वस्तु को अन्यथा कल्पना अनावश्यक होती है अत. कारणता विषयक इस अभिमत की जगह कि वह दो वस्तुओ के बीच के आदान-प्रदान का कार्य होता है, परीक्षणात्मक विज्ञानो मे, इस कल्पना को दे दी जाती है, कि कारणता किसी घटना का तत्पूर्ववर्ती घटनाओ द्वारा निर्धारणमात्र ही है। इसी प्रकार कारणीय प्रक्रियाओ के वाहको के रूप मे वस्तुओ के विलोप के साथ ही सक्रिय और अक्रिय कारको के बीच का प्रभेद भी समाप्त

हो जाता है अतः यह बात कि वे पूर्ववर्तिनी घटनायें जो किसी घटना का निर्धारण किया करती हैं एक जटिल बहुलता होती है और चूंकि उनमें वे दशायें भी जिन्हें आमतौर पर कार्यमार्गत वस्तु की दशायें कहा जाता है, तथा साथ ही साथ तथाकथित अभिकर्ता ने हुई प्रक्रियायें भी शामिल रहती हैं अतः विज्ञान, अभिकर्ता और सहनकर्ता के बीच के प्रभेद की जगह अन्योन्य-निर्भर परस्पर क्रिया पर कारकों की कल्पना को ला बिठाता है। उपर्युक्त प्रकार की दोनों स्थानापन्नताओं से हमें कारण की प्रचलित वैज्ञानिक उस कल्पना का पता चलता है जो 'परिस्थितियों या उपाधियों का सामग्र्य' कहलाता है तथा जिसकी उपस्थिति में ही कोई घटना घटित हुआ करती है और जिसके किसी भी अंग की अनुपस्थिति में वह घटना नहीं घटित होती। और भी संक्षेप में कहा जाय तो, विज्ञान के प्रचलित नामों में कारणता का अर्थ होता है निश्चित रूप से ज्ञात उपाधियों अथवा परिस्थितियों के अन्तर्गत आनुपूर्व्य।

कार्यकर रूप में यह अभिमत कि प्रत्येक घटना का निर्धारण पूर्ववर्तिनी घटनाओं के निर्धारित संग्रह द्वारा ही हुआ करता है अन्य किसी भी वस्तु द्वारा नहीं कितना ही अपरिहार्य क्यों न हो पर अस्तित्व की व्यवस्थित एकता के सिद्धांत के तर्कसंगत सूत्रीकरण के रूप में वह गहरे आक्षेपों का विषय बन जाता है और उनमें से अविस्तृत आक्षेप ऐसे हैं जिनका प्रभाव आगमनात्मक विज्ञानों की तर्कनाओं पर, ज्ञात तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण से एकदम स्वतंत्र रूप से, स्वतः ही पड़ा है। इन कठिनाइयों के मामले पर विचार करने पर हमें पता चलेगा कि वे हमें सामान्यतः निम्नलिखित चक्कर में डाल देती हैं। अगर हम कारणीय सिद्धांत को इस तरीके पर पेश करना चाहते हैं कि जिससे कि हम स्पष्ट या अभिव्यक्त परिकल्पनात्मक अनत्यता को बचा सकें, तो हमें पता चलता है कि हमें उसमें यहाँ तक परिवर्तन करना पड़ेगा कि वह आधार और परिणाम के सिद्धांत के सार्वत्रिकतम रूप के अनुरूप हो जाय। लेकिन इस प्रकार परिवर्तन हो जाने पर वह परीक्षणात्मक विज्ञानों के लिए किसी मतलब की नहीं रह जाती। ऐसा लगता है कि इसके सिवाय आपके लिए कोई चारा ही नहीं रह जाता कि या तो आप उसे ऐसे रूप में लें कि जिसमें वह सत्य पर क्रियात्मकतया एकदम उपयोगहीन हो अथवा ऐसे रूप में कि जहाँ वह उपयोगी तो हो पर सत्य न हो। जिस तरीके पर ये भूल-भुलैया उठ खड़ी होती है उसे समझाने के लिए आइये हम उन विशिष्ट समस्याओं में से जो इस सिद्धांत के वैज्ञानिक उपयोग से उठ खड़ी होती हैं:—केवल तीन समस्याओं की जाँच करें—यानी (अ) सातत्य की पहेली, (ब) अनिश्चित प्रतिगामिता की पहेली, (स) कारणों की बहुलता अथवा कारण बाहुल्य की पहेली।

७—(अ) सातत्य की पहेली—सही नामों में कहा जाय तो सातत्य किसी शृंखला के गुण का नाम होता है और संक्षिप्त उसकी लक्षणा बहुत कुछ यों की जा सकती है कि

कोई शृखला तव सतत कही जायगी जव उसकी कोई कडी या पद सारी शृखला को बिल्कुल स्पष्ट रूप में ऐसे दो अन्योन्य व्यपदेशी भागों में विभक्त कर दे जिनके दुवीचे मे ही शृखला की सारी कडियाँ समाविष्ट रहे जबकि वह हर कडी भी जिसने यह विभाजन किया था स्वय उस शृखला की एक कडी बनी रहे। इस दूसरी शर्त या उपाधि से स्पष्टत यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी सतत शृखला की किन्हीं दो कडियो के बीच अनेको मध्यवर्ती कडियाँ प्रतिनिविष्ट की जा सकती है और शृखला की किसी कडी की कोई अगली कड़ी नही हुआ करती। सतत की यही वह विशेषता है जिससे हमारा विशेप सम्बन्ध रहेगा। इस प्रकार किसी सीधी रेखा पर स्थित बिन्दुओ की शृखला को सतत् इसलिए कहा जायगा क्योकि (१) पक्ति या रेखा पर स्थित कोई बिन्दु 'प' उसे बिन्दु समूहो के दो युग्मो मे इस प्रकार बाँट देता है कि एक समूह का प्रत्येक बिन्दु दूसरे समूह के प्रत्येक बिन्दु की बाँयी तरफ रहता है तथा दूसरे समूह का प्रत्येक बिन्दु पहले समूह के प्रत्येक बिन्दु के दाहिनी ओर। (२) पंक्ति को इस प्रकार विभक्त करनेवाला प्रत्येक बिन्दु पक्ति पर ही स्थित बिन्दु होता है। इसी तर्क के अनुसार वास्तविक अकों की समग्र शृखला भी सतत या अविच्छिन्न होती है। अक श्रेणी या अक शृखला की प्रत्येक कडी उसे दो जातो में इस तरह विभक्त करती है कि उनमे से एक का प्रत्येक अक दूसरी जात के प्रत्येक अक से कम होता है। और वह प्रत्येक अक जो शृखला का उपर्युक्त प्रकार से विभाजन करता है स्वय भी अक शृखला की कडी होता है।

लेकिन परिमेय वास्तविक अको की शृखला सतत या अविच्छिन्न नही हुआ करती क्योकि उसे ऐसी कडियों अथवा सख्याओ द्वारा जो स्वयं उस शृखला की अग अथवा कडी नही होती, अन्योन्य व्यपदेशिनी जातो मे विभक्त किया जा सकता है। (उदाहरणार्थं $\sqrt{२}$ परिमेय अको की शृखला का अंग या कड़ी नही है किन्तु हम सभी परिमेय अकों को पूर्णतया दो परस्पर व्ययदेशी अथवा अन्योन्य व्यतिरिक्त श्रेणियो या जातों मे विभक्त कर सकते है यानी $\sqrt{२}$ से कम वाले परिमेय अकों और $\sqrt{२}$ से न कम वाले परिमेय अको में।)[1] वास्तविक अकों की शृंखला के सातत्य से यह परिणाम

---

१. सातत्य के क्या माने होते हैं इसकी पूरी व्याख्या के लिये डेडेकिण्ड लिखित Stetigkeit und irrationale Zahlen का और विशेषतः ३-५ का अनुशीलन कीजिए अथवा लैम्ब लिखित 'इन्फिनिटेसिमल कैल्कुलस' का अध्याय १ देखिए। ऐसे पाठकों को जो पुराने दार्शनिक ग्रन्थों की सातत्यपरक व्याख्या के आदी हो चुके हैं विशेषतया देखना चाहिए कि (१) सातत्य सही तौर पर शृंखला का ही एक लक्षण होता है और (२) यह कि सातत्य में यद्यपि अनन्त विभाज्यता

निलकता है कि यदि कोई शृखला आकिक शृखला की कड़ियो के विन्दुश अनुरूप हो तो वह अवश्य ही सतत या अविच्छिन्न शृखला होगी। काल सम्बन्धी पूर्वापर अनुक्रमी भाग इसी प्रकार की एक शृखला है। काल का प्रत्येक क्षण क्षणो की समग्र शृखला को, अपने से पहले के क्षणो तथा अपने से न पहले के क्षणो की दो परस्पर व्यपदेशिनी श्रेणियो मे विभक्त करता है। और जो कुछ काल शृखला को उपर्युक्त प्रकार से विभक्त करता है वह स्वयं भी उसी शृखला का एक क्षण है। अत. काल-शृखला के सातत्य से निष्कर्षित यह होता है कि सातत्य के इस गुण द्वारा उद्भूत पहेलियाँ कारणता के मामले पर भी लागू होगी। आगे के पृष्ठो मे हम सातत्य विपयक समस्या पर विचार नही करेगे क्योंकि उस पर ठीक तरह विचार करने के लिये विशिष्ट गणितीय उपकरणो की तथा तैयारी की जरूरत होती है। हम तो अपने आपको उन कठिनाइयो तक ही सीमित रखेगे जो कारणता की वैज्ञानिक परिकल्पना के सामने सातत्य की इस समस्या द्वारा प्रस्तुत हो जाती है।

इस समस्या पर आक्रमण करने के लिए यह सुविधाजनक होगा कि हम उसे उसी रूप मे ग्रहण करके चलें जिस रूप में ह्यूम ने उसे आधुनिक विज्ञान को समर्पित किया था। ह्यूम का सावधानी से अध्ययन करनेवाले लोगो को ज्ञात होगा कि ह्यूम का कारणताविषयक सिद्धात पूर्णत इसी पूर्वग्रहण पर आधारित है कि कारणता की प्रक्रिया सतत नही होती। उसका अनुमान था कि अनुभूति हम तक एक अविरल धारा रूप मे नही पहुँचती अपितु ऐसे एकाकी पृथग्भूत खण्डो मे ही वह हमे प्राप्त होती है। जिन्हे हम वाद मे कारणता के अभिमतानुसार कृत्रिमरूप से कडी-कडी मिला कर एकाकार करने का प्रयत्न किया करते हैं। वह अनुमान करता है कि हम व घटना के अनुक्रम को पूर्वघटित स्पष्ट घटना अ मे देखने के प्रयत्न द्वारा अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं और इस प्रकार कारणता की समस्या उस कडी के स्वरूप की खोज की समस्या वन जाती है जिसके द्वारा मूलत पृथक् या भिन्न अ और व हमारे वैज्ञानिक विचार द्वारा सम्वद्ध हो जाते है। तात्रिक शव्दावली मे कहा जाय तो ह्यूम घटनाओ की शृखला को इस रूप मे एक मानता था कि उस शृखला की प्रत्येक कडी की अगली कडी मौजूद रहती है और मामले के प्रति इस तरह के दृष्टिकोण से कारणताविपयक विचार की वाद की समग्र प्रणाली का रग ही उन आगमनी तर्कशास्त्रियो ने वदल डाला जिनके तत्वमीमासीय सिद्धात सामान्यत ह्यूम पर आधारित है।

आणविक सवेदन विपयक पुराने अभिमत की ओर से मुँह मोड़ कर चेतना-

अन्तर्हित रहती है तथापि इस कथन का वैपरीत्य जिसे कभी-कभी, पहले वाले लेखकों को मान वैठते थे—सही नहीं।

प्रवाह' की ओर अभिमुख होने मे आधुनिक मनोविज्ञान ने, घटनाक्रम के असातत्य विषयक उक्त ह्यूमीय सिद्धात के पूर्वग्रहीत या अनुमित अनुभवाधारित मूल को ही नष्ट कर डाला है। अव तो हमे लगने लगा है कि आगमनी तर्कशास्त्री के लिए असली पहेली जो कुछ रह गयी है वह यह ही कि वह उस कड़ी को ढूंढ निकालने की कोशिश न करे जिसके द्वारा मूलत: पृथक अ और ब विचारक्रम मे आकर जुड जाते है अपितु उस विभेद या वैशिष्ट्य के स्रोत की खोज करे जो उस पूर्वतर स्थिति अ के जिसे हम कारण कहते है, तथा पश्चातर स्थिति व, जिसे हम परिणाम कहते है—के बीच प्राप्त होने वाली सतत प्रक्रिया की इन दोनो स्थितियो मे हम किया करते है। लेकिन यहाँ हमे ह्यूममीय सिद्धात की मनोवैज्ञानिक कमजोरियों से कोई सरोकार नही वल्कि हमे तो उस तर्कात्मक कठिनाइयो पर विचार करना है जो उस सिद्धात के कारण उठ खडी होती है।

इस कठिनाई को हम यो प्रस्तुत कर सकते है कि (१) कारणता को विच्छिन्न अथवा असतत नही माना जा सकता यानी एकदम व्याघात दोष किए बिना उसे अन्य घटनाओ के समूह पर घटित एक विशिष्ट घटना का परिणाम नही माना जा सकता। यदि उसे हम असतत मानेंगे तो हमे यह भी मानना पडेगा कि कारण अ पूर्णरूपेण पहले मौजूद था और परिणाम व अकस्मात् ही तदनुगत हुआ (इस वात से कि कारण अ, ए, वी०, सी० आदि अनेको परिस्थितियों से मिलकर वना है और ए० वी०, सी० स्वय अनुक्रम से अस्तित्व में आयी तथा अ का तव तक कोई अस्तित्व वहाँ न था जव तक कि उपर्युक्त ए० वी० सी० मे से अन्तिम कडी पूरी नही हुई—कोई अन्तर इस सिद्धात मे नही पडता) लेकिन ऐसा लगता है कि उन आगमनी तर्कशास्त्रियो के, जो आग्रह करते है कि प्रत्येक का कारणता में कारण की परिणाम पर पहल होना निहायत जरूरी होता है, कथन का मतलव यही है जो हमने समझा है। लेकिन इस पहल के माने क्या है ? इसके माने यही हो सकते है कि कारण अ मे सन्निविष्ट परिस्थितियो के पूर्णत. सिद्ध या प्राप्त हो जाने के वाद और कार्य या परिणाम व की मौके पर मौजूदगी पहले, वीच मे कुछ खाली समयावकाश जरूर रहना चाहिए। घटना प्रवाह के मध्यवर्ती इस समयावकाश को आप चाहे जितना भी सक्षिप्त और 'क्षणिक' क्यो न माने पर इस अन्तर की मौजूदगी रहेगी जरूर अगर आपके कारणविषयक इस कथन के कोई माने हो कि कारण का कार्य से पहले मौजूद रहना जरूरी होता है। क्योकि अगर इस तरह का अन्तर या अवकाश न हो और व अ की परिस्थितियो की ससिद्धि की सहानुवर्ती ही हो तो यह कहना सही न होगा कि ए० वी० सी० आदि सव मौजूद थी और ज्योही वे मौजूद हुई त्योही व भी मौजूद हो गया और इस तरह पर अ और व के वीच परवर्ती घटनाओ पर पूर्ववर्ती घटना का परिणाम सम्वन्ध नही रहता

अपितु वे वस्तुत साथ ही साथ वर्तमान रहती है।

वास्तव मे इस सिद्धान्त का, कि कारण कार्य से पहले रहता है इस अभिमत पर आधारित है कि काल शृखला ऐसी शृखला होती है जिसकी प्रत्येक कडी से अगली कडी मौजूद रहती है। लेकिन यह बात अकल्पनीयमूलक होती है। क्योकि आप किसी निश्चित समय का परस्पर व्यपदेशी दो भागो में उप-विभाजन मात्र ही नही कर सकते, भले ही वह कितना ही सूक्ष्मकाल क्यो न हो, अपितु वह विभाजन विन्दु स्वयं भी उस काल शृखला के आदिम अतराल के आदि और अन्त का मध्यवर्ती एक क्षण ही होगा। अतः काल का सातत्य आवश्यक है और यदि कारण भी तत्सदृश ही सतत न होगा तो हमे समझ लेना होगा कि रिक्त समय के ही वे ये अन्तराल हैं जो प्रथम घटना, कारण को अनुवर्तिनी घटना कार्य से, पृथक करते हैं। तो भी यदि इसे अन्य आधारो के कारण एक परिरक्षणीय सिद्धान्त मान लिया जाय तो निष्कर्षत यह भी मानना होगा कि अ घटनाओ का समूहन ब के घटित होने के लिये आवश्यक परिस्थितियो का साकल्य न होगा। 'परिस्थिति-साकल्य' अर्थात् पूर्वकथित परिभाषानुसार कारण होगा घटनाओ और किंचित रिक्त काल-व्यवधान का योग।[1] और इस प्रकार फिर भी कारण कार्य का पूर्ववर्ती सिद्ध नही होता अगर हो तो हमे रिक्त समय के अन्तराल की समाप्ति को उसी मे अन्तर्निविष्ट और ब के प्रारभ से एक अन्य अन्तराल द्वारा व्यवहित अथवा पृथक्कृत मानना पडेगा और यह शृखला योही अनन्तश चलती रहेगी।

न्यूनाधिक तथा स्पष्टत' अवबोधित रूप मे इन कठिनाइयो ने वहुत से आधुनिक आगमनी तर्कशास्त्र के लेखको को उस परिभाषा मे जो मिल तक को मजूर थी—परिवर्तन करने को प्रेरित किया। हमसे अब कहा जाने लगा है कि कारण और कार्य कोई दो पृथक विशिष्ट घटनाये नही अपितु वे एक ही सतत प्रक्रिया की दो प्राक्तन और परवर्तिनी दशाओ या स्थितियो के ही नाम हैं। विज्ञान का असली काम विशिष्ट या पृथक घटनाओ या प्रपचो के मध्यवर्ती 'सबध विषयक नियमो' की खोज करना नही है अपितु ऐसे गणितीय सूत्रो का आविष्कार करना है जिनकी सहायता से हम सतत प्रक्रियाओ के गतिक्रम का अनुसरण कर सके। इस दृष्टिकोण के अनुसार कारण की खोज करने का काम तब घटकर ऐसे सूत्रो के निर्माण तक ही सीमित रह जाता है जो किसी परिमाण

---

१. इस बारे में और भी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होंगी कि इस काल-व्यवधान की इयत्ता अ का कृतित्व है अथवा वह कारणीय अनुक्रम या परिणाम के सभी मामलों में एक समान पाया जाता है। किन्तु जब तक कारणीय परिणामता के इस सामान्य सिद्धान्त का हिमायती कोई व्यक्ति नहीं पाया जाता तब तक विवरणात्मक कठिनाइयो पर बहस करना व्यर्थ होगा।

को काल-चर के क्रियाकलाप के रूप मे प्रदर्शित कर सके। परीक्षणात्मक विज्ञान के स्वरूप विषयक इस रूप को यदि पूरी तरह् काम मे उतारा जाय तो वह् हमे वैज्ञानिक व्याख्या के तथाकथित 'वर्णनात्मक' उस आदर्श की ओर घसीट ले जायगा। जिसका पक्षपोपण, भौतिक विज्ञान शास्त्रियों मे से किर्शफ, माश और ओस्वाल्ड तथा, आधुनिक दर्शन शास्त्रियों में से एवेनारियस, मस्टरबर्ग, रॉयस और जेम्सवार्ड आदि ने विविध सशोधनो सहित किया है। इस सिद्धान्तानुसार विज्ञान का और हर हालत मे भौतिक विज्ञान का तो अवश्य ही—चरम उद्देश्य अथवा आदर्श केवल इतना ही है कि वह सरलतम और न्यूनतम सामान्य सूत्रो की सहायता से घटना-क्रमो का वर्णन प्रस्तुत किया करे। वस्तुये या बाते जिस रूप में होती है वे क्यो उस तरह् पर होती है यह् बतलाना अब कहा जाता है—विज्ञान के योग्य प्रश्न नही है, उसका तो एकमात्र काम है हमे इस बात के परिगणन योग्य बना देना कि वे बाते होगी कैसे। इस सिद्धान्त द्वारा उठाये गये ज्ञानमीमासीय प्रश्नो पर हम आगे चल कर अपनी पुस्तक की तीसरे और चौथे खड मे विचार करेंगे। अभी तो हमे इस बात पर ही विचार करना है कि कारणीय सम्बन्ध[1] पर उसका क्या प्रभाव पडता है।

हमे तत्काल जिस बात से सबसे ज्यादा मतलब है वह यह है कि क्या सभी घटनाओ को सतत प्रक्रियाओं मे विघटित कर लेने से कारणता की एकदम आवश्यकता न रहेगी, जैसा कि इस सिद्धान्त-पक्षीय उन लोगो की मान्यता है जो विज्ञान की बोल-चाल मे से कारण शब्द को ही निकाल बाहर करने के इच्छुक है।[2] क्योकि किसी

---

१. अग्रेजी जानने वाले पाठक के लिए विज्ञान के वर्णनात्मक सिद्धान्त के बारे में सूचनात्मक श्रेष्ठतम सामग्री प्रोफेसर वार्ड लिखित 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसिज्म' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में मिलेगी। मॉश लिखित 'सायस ऑफ मेकनिक्स' नामक पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद में भी वह पर्याप्त मात्रा में है। जर्मन भाषाभिज्ञ विद्यार्थी सुविधापूर्वक इन दोनों पुस्तकों के साथ एवेनारियस लिखित 'Philosophie als Denken der welt gemass dem pirnzip des kleinsten kraftmasses' को भी पढ़ सकते हैं। निश्चय ही प्रोफेसर जे० ए० स्टेवार्ट ने (जुलाई १९०२ की 'माइण्ड' नामक पत्रिका में प्रकाशित उनके लेख मे) इस सिद्धान्त को आदर्शवादी तत्त्वमीमांसकों की खोज कह कर गलती की है। आदर्शवादी लोगों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग जिन तरीकों से किया है उनके बारे में और चाहे जो कुछ समझा जाय पर यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि यह उनका आविष्कार है।

२. देखिए मॉश विषयक विगत उद्धरण पृ० ४८३, एफएफ तथा पीयर्सन की 'ग्रामर आफ सायंस', अध्याय ४।

सतत प्रक्रिया मे यह अपनी मर्जी पर निर्भर होता है कि कहाँ हम अपने मन मे वह विभाजन रेखा खीच दें जो 'प्राक्तन' और 'परवर्तिनी' स्थितियो का सीमा निर्देश करे। वह सूत्र जिसकी सहायता से हम, अपने काल-चर को आनुक्रमिक अर्हताओ की शृखला देकर प्रक्रिया का पदक्रम या गतिक्रम खोजा करते हैं, जो कुछ हमारे सामने प्रस्तुत करता है वह प्रक्रिया का 'कारण' नही हुआ करता अपितु उस प्रक्रिया का 'नियम' होता है। घटना की 'परवर्तिनी' स्थितियो को 'प्राक्तन' स्थितियो द्वारा नियमित या निर्धारित समझने के बजाय हम उस प्रक्रिया के समग्र को एक ही सिद्धान्त के विवरणात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे देख रहे होते है। अब हमने कारण और कार्य के श्रेणी-विभाजन को त्याग कर उसकी जगह आधार और परिणाम का श्रेणी विभाजन अपना लिया होता है। अब हम समग्र प्रक्रिया के आधार की खोज कालिकत. पूर्वगामी घटनाओ के किसी समूह मे न करके, उसके अपने आप मे व्याप्त अपने सिद्धान्त मे ही कर रहे होते हैं।

इस दृष्टिकोण से देखने पर कार्य का कारण पर वह एक पक्षीय निर्भरत्व जो कारणीय सम्बन्ध का लक्षण है, लुप्त हो जाता है। अब हम प्रक्रिया की परवर्तिनी स्थितियो का अनुमान पूर्वगामी स्थितियो से लगाना चाहे या पूर्वगामिनी स्थितियो का परवर्तिनी स्थितियो से तो यह बात निर्भर होगी हमारे कालचर की विध्यात्मक अथवा नकारात्मक अर्हताओ के अपने चुनाव पर ही। पहले जिस बात को हमने विरोधाभासी सभाव्यता के रूप मे वर्णनात्मक विज्ञान के लिए सुझाया था वह वास्तविक तथ्य ही रहा। भूत का निर्धारण भविष्य द्वारा ठीक उसी माने मे होता है जिस माने मे कि भविष्य का निर्धारण भूत द्वारा हुआ करता है अर्थात् चूँकि दोनो एक ही सतत प्रक्रिया की दो स्थितियाँ है, अत अगर आप प्रक्रिया के सिद्धान्त से अभिज्ञ है तो, आप दोनो मे से किसी को भी लेकर विचार कर सकते और विमर्श द्वारा दूसरे तक पहुँच सकते हैं।[1] इस प्रकार परीक्षणात्मक विज्ञान की स्वय अपनी सीमाओ मे ही कारणीय सम्बन्ध की कल्पना ने अपनी जगह खाली करके वहाँ, अपने मे अन्तर्हित आधार अथवा सिद्धान्त के बल पर एक तर्कसगत क्रम मे आबद्ध घटनाओ की कल्पना को ला बिठाया है। कार्यकर उद्देश्यो के लिए इस परिकल्पना का उपयोग करते समय परीक्षणात्मक विज्ञान को दो प्रतिस्थापनाओ से मार्गदर्शन लेना पडता है और दोनो ही प्रतिस्थापनाये तत्वमीमासा द्वारा न्याय्य नही ठहरायी जा सकती। उसे मान कर चलना पडता है कि (अ) घटनाओ का पदक्रम या गतिक्रम न्यूनाधिकतया स्वतन्त

---

१. उदाहरण के लिए, ग्रहणो की गणना भूत और भविष्य के लिए एक समान कुशलतापूर्वक की जा सकती है।

सतत प्रक्रियाओ के वाहुल्य से वना होता है और प्रत्येक प्रक्रिया का अपना आवार अपने ही भीतर कम से कम उस हद तक होता है कि वह हमारे मतलव के लिए दूसरो से स्वतत्र मानने योग्य हो। (व) तथा यह कि सभी घटनाओ का अन्तर्हित आधार या आधारसमूह गणितीय प्रतीकात्मकता के पदों द्वारा पर्याप्तत. व्यक्त किया जा सकता है।

इन दोनो विचार विन्दुओ मे से पहले के वारे मे यही कहना है कि वास्तविकता के एकत्व पर किये गये विचारविमर्श ने हमे निश्चय करा दिया था कि अन्ततोगत्वा सकल अस्तित्व का एक ही आधार होना आवश्यक है और इसी लिए किसी भी आशिक प्रक्रिया का पूर्ण कारण पूर्णत उसी प्रक्रिया मे वर्तमान नही रह सकता। विभिन्न प्रक्रियाओ की स्वतन्त्रता अवश्य ही सापेक्ष होना चाहिए और यह विश्वास भी कि उन प्रक्रियाओ को हमारे अपने विशेष प्रयोजनार्थ, आत्मप्रतिष्ठ तथा स्वतत्र रूप मे ग्रहण करने योग्य हमे वना देना पर्याप्त है—अवश्य ही एक ऐसी प्रतिस्थापना होना चाहिए जो हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ द्वारा प्रोद्भूत हुई हो और अन्त मे अपनी सफलता द्वारा न्याय्य सिद्ध हो। दूसरा विचार विन्दु अधिक पूर्णतया हमारे विचार का विषय आगामी अध्यायो मे होगा। यहाँ उसके वारे मे एक ही टिप्पणी देना पर्याप्त होगा। सतत प्रक्रियाओ के नियमो की गण्यता उन्हे सख्यात्मक और परिमाणात्मक रूपो मे विघटित कर सकने की हमारी अपनी क्षमता पर निर्भर हुआ करती है। किसी प्रक्रिया की किसी भी स्थिति पर जहाँ कही भी किसी नये गुण का आभास मिलता है वहाँ ही सातत्य का भंग स्पष्टत. दिखायी पड़ता है और तव यह हमारी शक्ति के वाहर की वात हो जाती है कि हम प्रक्रिया की नयी स्थिति को एक ऐसे रूपान्तर की तौर पर पेश कर सके जिसे पूर्वगामिनी स्थितियों में पहले से ही व्यक्त का रूपान्तर कहा जा सकता हो। इसी लिए घटनाओं के समग्र परिणामो को सतत प्रक्रियाओ मे विघटित कर सकने का प्राकृतिक विज्ञान का साफल्य इसी पूर्वग्रहण पर आधारित है कि हम गुणात्मकतया भिन्न इयत्ताओं या परिमाणों के वीच समीकरणो की स्थापना कर सकते है।

यह पूर्वग्रहण, पहले वाले पूर्वग्रहण की अपेक्षा कहीं अधिक एक स्पष्ट प्रतिस्थापना है। यह प्रतिस्थापना हमे इसलिए करनी पडती है कि हम घटनाक्रम की गणना कर सके लेकिन इस वात की कोई गारटी हमारे पास नही कि क्रियात्मक सफलता के अतिरिक्त भी यह प्रतिस्थापना सफल होगी। यदि यह कही असफल हो—जैसा कि हम आगे चलकर वतलायेगे कि वह मानसिक घटनाओ के भौतिक. घटनाओ पर हुए परिणामो के वारे मे तथा तद्विपरीत मामले मे भी असफल होती है, तव उस दशा मे दो परिणाम सामने आयेगे एक क्रियात्मक और दूसरा परिकल्पित

या अपेक्षी । असफलता का क्रियात्मक परिणाम यह होगा कि ऐसे मामलात मे हम सतत प्रकिया की परिकल्पना का विनियोग न कर सकेगे और हमे कारणीय परिणाम या अनुक्रम के भोड़ें अभिमत का आसरा लेना होगा। इस प्रकार, मनोभौतिक विज्ञान के सृजन का प्रयत्न करते समय हम किसी समग्र मनोभौतिकी प्रक्रिया को किसी एकल सिद्धान्त या नियम की सतत परिप्राप्ति या सिद्ध के रूप मे पेश करने की आशा न कर सकेंगे और हमे प्रक्रिया के मानसिक तथा भौतिक पक्षो के बीच कारणीय सम्बन्ध या सयोजन के नियमो की स्थापना मात्र द्वारा ही सन्तुष्ट हो जाना पड़ेगा। असफलता का अपेक्षी या परिकल्पित परिणाम यह होगा कि चूँकि सतत प्रक्रिया विषयक परिकल्पना वहाँ ही विनियोज्य हुआ करती है जहाँ किसी एक ही आधार के अन्तर्गत गुणात्मक विभिन्नताओ को आँख ओझल किया जा सकता हो इसलिये यह परिकल्पना आधार और परिणाम के नियम का केवल अपूर्ण प्रातिनिध्य ही कर सकेगी। यह सकेत हमे उस आनेवाली आलोचना के लिए तैयार कर रखेगा जो काल-प्रक्रिया[1] विषयक तत्वमीमासा पर जब हम विमर्श करेंगे तो सातत्य विषयक परि-कल्पना के बारे मे उठेगी।

८—(ब) अनिश्चित प्रतिगामिता—व्याख्यानियम के रूप में कारणीय प्रति-स्थापन के दोष उन दो तरीको को सामने पेश करके भी दिखाये जा सकते है जिनके जरिये वह हमे वह अनिश्चित प्रतिगामिता की ओर ले जाती है। कारणीय शृखला मे अनिश्चित प्रतिगामिता कालरचना का अनिवार्य परिणाम हुआ करती है और अपनी इच्छानुसार आप उसे किन्ही दो घटनाओ या किसी सतत प्रक्रिया की किन्ही

---

१. आगामिनी खंड ३, अध्याय ४ देखिए । चलते चलाते उस अजीब भारी भूल का जो कारणता के सिद्धान्त को ऊर्जा तथा संमात्रा की अविनाशिता के सिद्धान्त के साथ संकरित करने में लोग बाग कर बैठते हैं, यहाँ जिक्र कर देना ही काफी होगा। यह बात कि कारणता के सिद्धान्त का इन विशिष्ट भौतिकीय सिद्धान्तों के साथ कोई सरोकार नहीं है। इन अभिसधानो से स्पष्ट हो जायगी कि (१) यह बात तो कम से कम स्वतः सिद्ध नहीं कि सकल कारणीय सम्बध भौतिक हुआ करता है। दार्शनिको ने वास्तव में इस बात से इनकार कर दिया है कि एक मानसिक स्थिति प्रत्यक्षतः दूसरी मानसिक स्थिति का कारण बनती है लेकिन किसी ने भी अपने उस इनकार का आधार इस दावे को नहीं बनाया कि समात्रा और ऊर्जा के बिना कोई कारणता हो ही नहीं सकती। (२) यह कि जैसा हम देख चुके हैं, कारणता एक प्रतिस्थापना ही है अगर हम कभी भी घटनाओ के क्रम मे सफलतापूर्वक अन्तर्विष्ट हो सके तो अवश्य ही यह संभव हो जायगा कि हम कम से कम निकटतम

दो स्थितियो के किसी भी कारणीय सम्बन्ध के बाहर और भीतर दोनों ही जगह देखा जा सकता है। क्योंकि काल शृखला की सरचना से ही यह निष्कर्षित होता है कि (अ) ऐसे किन्ही दो अंगो के बीच में, जिनके मध्य एक निश्चित अन्तराल है—शृंखलीय पदों की अनिश्चित संख्या मौजूद रहती है और (ब) यह कि शृखला के किसी भी दत्त अग के आगे या पीछे भी पदो की अनिश्चित सख्या रहा करती है, चूँकि काल-शृखला, सतत अनन्त शृखला की परिभाषा पर खरी उतरती है, इसलिये वास्तविक अको की शृखला के समान उसमे भी न तो आदिम न अन्तिम पद या कडी हो सकती है न उसके किसी अंग की कोई अगली कड़ी।[1] कारणता के मामले मे इसी बात का विनियोग करने पर निम्नलिखित तर्कना कर सकते है :—

(१) उन्ही कारणो के कारण जो व घटना के लिए अ कारण की माँग करने तथा उस कारण की खोज परवर्तिनी घटनाओ के पुग या समूह मे करने को प्रेरित करते है यह आवश्यक हो जाता है कि हम अ का निर्धारण परवर्तिनी घटनाओ के दूसरे समूह द्वारा भी उसी प्रकार करे और यह कि इस अ नामक कारण का स्वय एक परवर्ती कारण भी होना चाहिए और यह शृंखला यो ही अनन्त रूप मे चलती जाय। इस प्रकार, यदि कारणीय सिद्धान्त का तर्कसगत विनियोग करने पर, उसके द्वारा किसी घटना की बुद्धिगम्य व्याख्या हमे नही मिल पाती। अ-व की संक्रान्ति किसी सगत सिद्धान्त की तर्कसंगत अभिव्यक्ति के रूप में प्रदर्शित करने के वजाय वह सिद्धान्त हमे उस सक्रान्ति का मतलब जानने के लिए उसी तरह की सक्रान्ति के किसी पहले वाले नमूने

परिशुद्धतापूर्वक घटनाओं को उनकी परवर्तिनी घटनाओं द्वारा निर्धारित मान सकें। संमात्रा तथा ऊर्जा के अविनाशित्व के सिद्धान्त, इसके विपरीत, द्रव्यात्मक क्रम-व्यवस्थाओ के दृष्ट व्यवहार पर आधारित आनुभविक सामान्यीकरण मात्र ही है, न तो विज्ञान को न क्रियात्मक जीवन को ही सफलता के स्वतंत्र अभिसंधान के रूप में उनकी जरा सी भी जरूरत है। दैनंदिन क्रियात्मक जीवन के लिए उनकी कभी जरूरत नहीं पड़ती और विज्ञान के योग्यतम प्रतिपादक भी मानने को तैयार है कि हमारे पास उन सिद्धान्तों की वैधता के कोई प्रमाण नहीं सिवाय इसके कि उन्हे ताथ्यिक चाक्षुसीकरण द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जाय तो वे अनुभवजन्य ही हैं जबकि कारणता का सिद्धान्त, जैसा कि पहले समझाया जा चुका है। प्रागनुभव है। देखिए आगामनी, खड ३, अध्याय ६—६।

१. दोनो में से किसी मे भी प्रथम पद नहीं हो सकता क्योकि दोनो में ही दो विपरीत अभिदिशायें होती हैं, एक में सकारात्मक और नकारात्मक तथा दूसरी में पहले और बाद में।

या उदाहरण का हवाला लेने को कहता है और फिर एक अन्य उदाहरण का और यो ही बिना किसी अन्त के, करते रहने को कहता है, किन्तु यह बात असभव है कि जो कुछ एक नमूने से समझ मे न आये वह उसी तरह के बोधगम्यताहीन नमूनो और उदाहरणो की बहुलता मात्र से बोधगम्य हो सके।

(२) इसी तरह से अगर हम सक्रान्ति अ–ब के भीतर देखे। चूँकि यह सक्रान्ति सतत है इसलिए उसमे मध्यवर्तिनी स्थितियाँ भी जरूर होनी चाहिए, अ इसलिए ब बन जाता है चूँकि वह पहले ही स बन चुका होता है और सक्रान्ति अ–स–ब की व्याख्या फिर यह दिखाकर की जा सकती है कि अ द बना जो स बना जो ई बना जो ब बनी। और इन अ–द, द–स, स–ई, ई– ब स्थितियो मे से प्रत्येक स्थिति का एक बार फिर उसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है। किन्तु मध्यवर्तिनी स्थितियो के इस प्रकार के समग्र अन्तर्वेशन भर मे कोई ऐसी बात नही जो उस सर्वसामान्य नियम के स्वरूप का दर्शन करा सकती हो जिसके आधार पर स्थितियाँ एक एकल प्रक्रिया का रूप धारण करती हों। उस समय हम वही कर रहे होते है जो हम वहाँ करते है जहाँ किसी प्रश्न का उत्तर उसकी पुनरावृत्ति करके देने के लिए, पदो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते समय किया करते है। और पिछले अध्याय की समाप्ति पर हमने निश्चय कर लिया था कि इस प्रकार की पुनरावृत्ति किसी प्रश्न का उत्तर कभी नही बन सकती। किसी भी कारण के विषय मे पूछे गये प्रश्न का उत्तर दे सकने मे किस तरह यह तरकीब असमर्थ रहती है यह हम देख चुके है, हम अगर पूछे कि ब का अस्तित्व क्यो है तो हमे जवाब मिलेगा कि ब का अस्तित्व इसलिए है चूंकि उसका निर्धारण अ के पूर्ववर्ती अस्तित्व द्वारा हुआ है। लेकिन अ का अस्तित्व क्यो है ? इसलिए कि उससे पहले स का अस्तित्व था—बस इसी तरह अततोगत्वा सभी वस्तुओ का अस्तित्व किसी दूसरे की अस्तित्व पर निर्भर बताये चले जाना पडता है और उसका किसी दूसरे के अस्तित्व पर। अगर बात ऐसी ही हो कि किसी वस्तु का अस्तित्व तब तक नही हो सकता जब तक कि उसके कारण का अस्तित्व न हो और वह कारण तब तक नही वर्तमान् हो सकता जब तक कि उसके भी कोई कारण अस्तित्व न हो और वह कारण तब तक नही वर्तमान हो सकता जब तक उसका भी कोई कारण उससे पहले न रहा हो तो इस तरह कुछ भी अस्तित्व मे नही आ सकता। जब कभी भी कारणता-सिद्धात के तार्किक परिणामो को सोचने की कोशिश की जाय तभी अनिश्चित प्रतिगामिता की इस तरह की अनिवार्य प्रस्तुति को कभी कभी मानवीय मस्तिष्क की अन्त. सश्लिष्ट या निरुढ सदोपता का ही परिचायक माना गया है। उससे जो कुछ सिद्ध होता है वह यह ही कि कारणता सकल अनुभूति के एकत्व के वास्तविक सिद्धात का समुचित सूत्रीकरण नही है।

व्याख्या के चरमसिद्धात के रूप मे कारणता को पेश करने की आदत को छोडे बिना उपर्युक्त कठिनाई से पार पाने के लिए दार्शनिको द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नो के बारे मे एक बात यहाँ कही जा सकती है। इस कठिनाई से छुटकारा पाने की कम से कम दार्शनिक एक ही तरकीब यह है कि एक ऐसे प्रथम कारण की प्रतिस्थापना कर ली जाय जिससे पहले का कोई कारण न हो लेकिन इस स्थापना का मतलब यही होगा कि हम अस्तित्व के आरम्भ की अथवा काल के प्रथम क्षण की स्थापना करे। कठिनाई से उद्धार पाने का यह तरीका स्पष्टतः कारणता के सिद्धात को उस समय स्वेच्छतया छोड भागना है जब उसके प्रति निष्ठावान बने रहना असुविधाजनक हो उठे। 'प्रथम कारण' रूप से ग्रहीत घटना चाहे जिस स्वरूप की क्यो न हो, यदि कारणता सिद्धात जरा भी तर्कसंगत है तो वह इस घटना पर भी उतना ही सही-तौर पर प्रयोज्य है जितना कि अन्यत्र। आपके इस प्रथम कारण का भी कोई पूर्ववर्ती कारण अवश्य रहा होगा अन्यथा सारी कारणता विषयक योजना ही, जैसा कि हम बता चुके है, व्यवस्थित सम्बन्ध के प्रमाणिक नियम का एक ऐसा अतार्किक और अपूर्ण विपर्यास है जो कार्यकर रूप मे तो अवश्य ही अपरिहार्य और उपयोगी है किन्तु सिद्धान्त रूप मे प्रतिवाद्य।

प्रथम घटना और काल के प्रथम क्षण के बीच विभेद कर सकने की कठिनाई से पार पाने के काम मे ऐसे किसी प्रथम कारण की प्रतिस्थापना करने मे आप को कोई मदद नही मिलेगी, जिसका पूर्ववर्ती अनिश्चित कोई कालाच्युति या कालयापन वर्तमान हो। क्योकि तब कारणता का सिद्धान्त आपसे अपेक्षा रखेगा कि आप उस पूर्ववर्ती रिक्त कालाच्युति मे प्रथम घटना की जो दशाये थी उनका निर्धारिण करे। लेकिन यह च्युति अपनी रिक्तता के कारण किसी भी विशिष्ट घटना को अन्यों पर प्राथमिकता देकर, उसकी निर्धारक दशाओं को आत्मस्थ नही कर सकती। यही कारण है कि कारणीय शृखला के कालपरक प्रारभ की कल्पना हमे सदा इस असमाधेय पहेली पर ही ला खडा करती रही है कि 'किसी अन्य काल क्षण मे सृष्टि का सृजन न करके ईश्वर ने उस ही क्षण मे जिसमे कि ससार की रचना हुई है—विश्व का सृजन क्यो किया ?'

न इस कठिनाई से, घटनाप्रवाह के सातत्य की शरण लेकर ही बचा जा सकता है। क्योकि (१) जैसाकि हम देख चुके है कि घटनाओ को यदि हम सतत प्रक्रियारूप मे ग्रहण करते हैं तो उससे आवश्यक हो जाता है कि हम कारणता सिद्धान्त को, तथ्यो के वास्तविक सबंध को व्यक्त कर सकने मे असमर्थ मान ले, आधार और परिणाम या आधेय की श्रेणी के एक विशिष्ट प्रारूप की शक्ल मे कारणता, घटित होनेवाली बातो के एक असतत घटनाक्रम-सम्बन्धी दृष्टिकोण के साथ ही सफल य

विफल हो सकती है। और (२) यह कि अगर इस बात को छोड भी दिया जाय तो सातत्य की दुहाई ज्यादा से ज्यादा इतना ही तो कर सकती है कि किसी अनिश्चित प्रक्रिया के अनुक्रम के आन्तरिक विश्लेषण का वह जवाब दे सके। जब यह कहा जाय कि किसी दिये गये मामले मे कारणता सिद्धान्तानुसार कारण और कार्य के बीच मध्यवर्तिनी दशाओ की अनन्त सख्या होना आवश्यक है तो उसके प्रत्युत्तर मे यह तानाजनी की जा सकती है कि विभिन्न 'स्थितियाँ' 'वास्तव' मे पृथक् या भिन्न नही है बल्कि एक कृत्रिम विविक्ति द्वारा विशिष्टीकृत मात्र है, और प्रक्रिया क्रियात्मकतया एक और सतत है और इसी लिए उसमे किसी प्रकार की अनन्त प्रतिगामिता अन्तर्विष्ट नही होती। केवल तर्कशास्त्री ही जो गलती से उस प्रक्रिया को असतत बताता है, इस बात से सहमत नही होता। किन्तु अनिर्धारितरूपेण वर्तमान इस प्रकार की बाह्य प्रतिगामिता से आप यो नही निबट सकते। किसी सतत प्रक्रिया की परवर्तिनी स्थितियो को पूर्ववर्तिनी स्थितियो द्वारा निर्धारित बताने के सिद्धान्त से आरम्भहीनता की बात तब भी ठीक उसी रूप मे सामने आती है जब स्थितियो का विशिष्ट अथवा पृथक् घटनाओ के रूप मे ग्रहण किया जाता है। (यह बात इस सीधे-सादे विचार द्वारा आसानी से स्पष्ट देखी जा सकती है कि प्रक्रिया की आनुक्रमिक स्थितियो विषयक आपके सूत्र के कालचर मे ∞ से लेकर $+\infty$ तक की सभाव्य अर्हताओ की एक असीम परास मौजूद हो सकती है।)

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि, घटनाओ के अनुवर्तन को चाहे सतत माना जा सके या न माना जा सके पर इस स्वयसिद्ध को, कि जो कुछ होता है उसका आधार उस व्यवस्था के स्वरूप मे निहित होता है कि जिस व्यवस्था से वह घटना सवद्ध होती है—इस सिद्धान्त मे अनूदित नही किया जा सकता कि कालापेक्षतया पश्च पूर्व द्वारा ही पूर्णतया निर्धारित होता और उस पर ही निर्भर होता है साथ ही वह हमे एकदम अनन्त प्रतिगामिता की ओर ही सीधा ले जाता है। और जैसाकि हम पिछले अध्याय मे कह चुके है कि अनन्त प्रतिगामिता का आपात सदा इस बात का चिह्न हुआ करता है, कि उस प्रतिगामिता के जनक विचार मे कही न कही कोई अपूर्णता अवश्य वर्तमान है। क्योकि उसका अभिप्रेतार्थ होता है किसी अनन्त शृखला की आनुक्रमिक वृद्धि द्वारा हुए वास्तविक सकलन का औपचारिक व्याघात। इस विचार बिन्दु पर और अधिक विमर्श तब तक के लिए स्थगित रखा जा सकता है जब तक कि हम काल सातत्य विषयक विचार-विमर्श तक न पहुँच जायँ।[1]

---

१. मेरा अनुमान है कि मुझे अपने पाठकों को यह याद दिलाना न होगा कि जब किसी सख्या को किसी अनन्त शृखला का वास्तविक योगफल कहा जाता है (जैसा कि

९—(स) कारण-बाहुल्य—काल सातत्य के सिद्धात का सहारा लिए बिना भी एक अन्य प्रकार की वाद युक्ति द्वारा अनिश्चित प्रतिगामिता को कारणता में अन्तर्हित सिद्ध किया जा सकता है। जैसाकि पाठक निःसन्देह अवगत है, जॉन स्टुअर्ट मिल का यह एक चहेता सिद्धात था कि चूंकि एक से कारण का अनुगामी कार्य भी एक-सा ही हुआ करता है—प्रतिकारिनी परिस्थितियो की अनुपस्थिति मे—एक से कार्य का कारण भी जरूरी नही कि एक-सा ही हो। कोई प्रभाव या कार्य विभिन्न अवसरो पर एकदम भिन्न पूर्ववर्ती समूहो द्वारा उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणतः मौत बीमारी से भी हो सकती है और बलप्रयोग से भी तथा बीमारी और बलप्रयोग दोनों ही की शक्ले अलग-अलग हो सकती हैं पर दोनो का प्रभाव या कार्य एक ही है मौत। ताप रगड़ से भी उत्पन्न हो सकता है, आघात से भी तथा रासायनिक सयोजन और अन्य कारणो द्वारा भी। कारण बहुलता का यह सिद्धांत स्पष्टत. इस महत्वपूर्ण क्रियात्मक विचार का सामान्यीकृत रूप है कि विभिन्न उपाय हमे प्रायः एक से ही नतीजे पर ला पहुँचाते है और इसीलिए जब हम किसी एक उपाय को काम मे नही ला पाते तो हम दूसरे का उपयोग अक्सर कर ले सकते है।

मिल के आलोचक बताना भूल गये कि मिल का सिद्धांत वस्तुवाचक कारण तथा भाववाचक कार्य के अतार्किक अथवा अतर्कसगत सयोजन पर आधारित है 'कार्य' अथवा 'प्रभाव' को, उसके अधिकतम सामान्यीकृत रूप में वह केवल एक स्थिति-दशा अथवा गुण ही मानता है उदाहरणत· 'ताप' और 'मौत' को और उसका यह कहना गलत नही कि यह सामान्यावस्था अथवा गुण विभिन्न अवसरों पर विभिन्न दशाओ के विभिन्न संयोजनो से उत्पन्न हो सकती है। लेकिन वह यह शायद नहीं देख सका कि किसी वस्तुवाचक मामले मे यह प्रभाव या कार्य एक विशिष्ट रूप से परिलक्षित हुआ करता है और अपने पूर्ववर्तियो के विशिष्ट प्रकार' के अनुरूप विशिष्ट परिवर्तन भी उसमे वर्तमान रहते है। उदाहरण के लिए मौत के हजारो बहाने हो सकते है लेकिन हर एक परिस्थिति या मामले मे सकल प्रभाव या कार्य कभी भी मौत—मात्र ही नही होता बल्कि मौत की शक्ल किसी एक खास तरह की होती है। गोली लगकर मरा आदमी और डूब कर मरा आदमी, मरे जरूर होते हैं, लेकिन दोनों के विशिष्ट मृत्यु-लक्षण भिन्न-भिन्न होते है। पानी आपको मार

---

२ को शृंखला $१+\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८},+\ldots$ अनन्तवार तक का योगफल कहा जाता है।) तब योगफल शब्द का प्रयोग अवकलजत्व तथा अनुपयुक्तार्थद्योतक रूप मे इसलिए प्रयुक्त होता है क्योंकि ज्यों ज्यों 'न' अनन्तशः वर्धमान होता है त्यों त्यों 'न' पदों के योगफल की एक सीमित अर्हता कल्पित कर ली जाती है।

डालेगा और गोली भी आपको मार डालेगी । लेकिन गोली लगने का घाव पानी मे डूबने से नही आ सकता न पानी भरे फेफडे ही बन्दूक की गोली से पैदा हो सकते है। अगर आप कारण और कार्य को वस्तुवाचकता के सम धरातल पर ही ग्रहण करना चाहते है तो वे आपको सदा एकदम सह्-सम्बद्ध ही मिलेगे। एक मे यदि कोई विचरण होगा तो तदनुकूल विचरण दूसरे मे भी जरूर होगा क्योकि परिस्थितियाँ जो बिना किसी परिणाम के विचरित हुआ करती है, परिभापानुसार उसकी दशाओ का कोई अग नही होती ।

आगमनी तर्कशास्त्रियों मे से मिल की आलोचना करनेवाले यहाँ तक ही पहुँच पाये है। लेकिन इस वादमुक्ति को और आगे बढाकर कह सकते है कि तर्कानुसार वह युक्ति हमे एक भूलभूलैया मे डाल देती है। (१) कि वास्तव मे एक 'कार्य' का एक से अधिक 'कारण' नही हो सकता। (२) फिर भी किसी ऐसे माने मे जहाँ हम विश्व के अन्य कारको मे से किसी अन्यतम 'कार्य' को एक शेष करके उसे उसका 'कारण' समर्पित कर देते है तो उस अवस्था मे कारण बाहुल्य की सभावना सदा ही बनी रहती है। इस भूलभुलैया के विकल्प पर हम अलग से विचार करेगे।

(१) कारण और कार्य का कठोरतापूर्वक सहसम्बद्ध रहना बेहद जरूरी है। क्योकि यह कहना कि कारण मे ऐसा वैविध्य हो सकता है जिसका तदनुकूल अनुगमन कार्य में न हो, इस कथन के ही समान होगा कि ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती है जो नास्ति की परिस्थितियाँ बन सकें, और कारण के वैविध्य के बिना भी कार्य मे वैविध्य के स्वीकरण के अर्थ यही होते है कि हम मान लें कि ऐसी घटनाएँ होती है जो एक साथ ही अपनी पूर्ववर्ती घटनाओ के सयोग द्वारा निर्धारित और अनिर्धारित दोनो ही होती है। इस प्रकार कारणबाहुल्य का निरसन कारण की परिस्थिति-साकल्य रूपी परिकल्पना द्वारा स्वय ही हो जाता है। इस विचारसरणि का और आगे तक अनुसरण करते हुए हम पाते है कि वह हमे परेशानी मे डालनेवाले परिणामो पर पहुँचा देती है। 'परिस्थिति-साकल्य' कभी भी वास्तविक साकल्य नही होता। क्योकि घटना-जगत मे एकाकी कार्यो और कारणो जैसी कोई वस्तुएँ नही होती। वह समग्र तथ्य जिसे हम कार्य नामधेय मानते है कभी भी तब तक पूर्ण नही होता जब तक कि हम उसके साथ की दुनिया की हर एक चीज के साथ के उसके सम्बन्धों का सारा हिसाब-किताब भी साथ ही न बैठा लें। और इसी तरह परिस्थितियों के समग्र समुदाय मे वह सब भी शामिल हो जाता है जिससे यह दुनिया बनी है लेकिन कारण और कार्य की परिकल्पना जब इतना विस्तार दे देते है तो कारण और कार्य दोनो ही एक दूसरे के तत्सम तो हो ही जाते है वे विश्व के समग्र कारकों के अनुरूप भी हो जाते हैं। और इस प्रकार कारणता की तर्कशास्त्रीय विवक्षा करने के हमारे प्रयत्न के बीच मे ही, वास्तविकता के तत्वो के अन्त. सम्बन्ध के रूप मे स्वय कारणता का ही लोप हो जाता है।

अध्याय २ मे एक और अनेक की समस्या की समीक्षा करते हुए समग्र वास्त-विकता के वारे में जो सतत अन्त. सम्वन्व हमने स्थापित किया था उसी का अनिवार्य परिणाम है यह। दूसरे शब्दो में कहे तो आप किसी भी घटना के सपूर्ण कारण तक तव तक नही पहुँच पाते जव तक कि उसकी परिस्थितियों की सकलता का व्योरा आप को नही मिल जाता यानी समस्त शेप अस्तित्व के साथ उसके सम्वन्वो की सकलता का व्योरा। लेकिन यह सकलता 'परिस्थिति-साकल्य' जैसे पद द्वारा पूर्वानुमित घटना-वाहुल्य के रूप मे प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रकार या रूप में उसे प्राप्त करने के माने होगें किसी अनन्त शृखला का योग कर सकना। किन्तु जव आप उस अनन्त शृंखला के उस प्रारूप का परित्याग कर देते है तो कारण और कार्य दोनों ही एक समान रूप से वास्तविकता के व्यवस्थित समग्र के तादात्म्य हो जाते हैं।

(२) दूसरी और कारणीय प्रतिस्थापना की 'उपयोगिता' कारणता के एकल तारो को घटनाप्रवाह मे स्थापित कर सकते की हमारी अपनी क्षमता अर्थात् घटनाओ के ऐसे विशिष्ट समुदायो को जो 'सकलता' से कम हैं विशिष्ट परवर्तिनी घटनाओं के साथ, उनकी आवश्यक तथा पर्याप्त परिस्थितियो के रूप मे संयुक्त कर दे सकने की हमारी योग्यता पर निर्भर होती है। जव तक हम ऐसा नही कर पाते तव तक वाछित परिणाम के उत्पादन मे प्रयोज्य क्रियात्मक उपायो के सम्वन्व मे हम किन्ही नियमों का सूत्रीकरण नही कर सकते और जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, कि अपने परिणामो के उपायो को जानने की आवश्यकता ही कारणीय प्रतिस्थापना को स्थापित करने का मूल ही नहीं अपितु एक मात्र उद्देश्य होता है। विशिष्ट कारणो को विशिष्ट कार्यो के सुपुर्द करने या सयुक्त करने के लिए ही एक ऐसे विभेद का उपयोग करना पड़ता है। जो क्रियात्मकतथा उतना ही अधिक आवश्यक है जितना कि सैद्धान्तिकतया कम पक्षपोष्य है। हमें ऐसी अपरिहार्य स्थितियो तथा उपसावक परिस्थितियो के वीच विभेद करना होता है जो प्रश्नमूलक विशेष परिणाम के स्वरूप को प्रभावित किये विना प्रस्तुत या अप्रस्तुत हो सकें।

अव यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विभेद की कृतकार्यता घटनाओ के सकल' प्रवाह के किसी निर्वारित भाग के शेप भाग से पार्थक्य और उसके 'प्रश्नगत विशिष्ट परिणाम रूप में', एकाकीकरण पर निर्भर है। और इस प्रकार के एकाकीकरण की स्वेच्छ विविक्त विचारणा पर सदा निर्भर रहना आवश्यक है। घटना-प्रवाह के किसी एक भाग अथवा पहलू का उसके संदर्भ से जव भी कभी एक वार इस प्रकार की स्वेच्छ विविक्त विचारणा या अपसारणा कर ली जाती है तो हम उक्त अपसृष्ट सन्दर्भ के अस्तित्व के स्वीकरण के लिए इस कथन द्वारा वाध्य हो जाते है कि जिस सन्दर्भ मे कोई कार्य घटित होता है उस सन्दर्भ की प्रकृति के अनुसार ही वह कार्य किन्ही अन्य वृहत्तर

कार्यों के वैविध्य मे सम्मिलित हुआ करता है अथवा उनका अंग बनता है। स्थिति तथा स्थित के पूर्ण सह-सम्बन्ध के सिद्धान्त मात्र से ही अनुगत होता है कि जिसे हम विशिष्ट अथवा भागीय कार्य कहते है उसका पूर्ववर्तन परिवर्तिनी परिस्थितियो द्वारा भिन्न भिन्न बृहत्तर समग्रो या सन्दर्भो मे उस कार्य के प्रवेश के अनुसार ही हुआ करता है। इस प्रकार ऐसी किसी भी कारणीय प्रतिस्थापना का कोई रूप जिसका हम कोई प्रभावी उपयोग कर सकते हो हमे उसी कारणवाहुल्य को स्वीकार कर लेने के लिए वाध्य कर देता है जिसे हमने उस कारण कल्पना द्वारा जिसके द्वारा विज्ञान कार्य करता है—तर्कानुसार अपसारित देख चुके हैं। जैसाकि हम ऊपर वता चुके हैं सिद्धात का कोई भी वह रूप जिसमे यह वात सत्य हो निरर्थक होता है और उसका कोई भी वह रूप जिसमे वह उपयोगी हो असत्य होता है।

तव हमारे विवाद का अन्तिम निष्कर्ष यही निकला जिस कारणीय प्रतिस्थापना के अनुसार घटनाओ का पूर्ण निर्धारण पूर्ववर्तिती घटनाओ द्वारा होना माना जाता है वह हमे मानने को वाध्य करती है कि घटनाप्रवाह सतत नही असतत होता है। यह अभिमत या विश्वास अन्तस्यत आत्म व्याघाती है और अन्ततोगत्वा असत्य भी। इसी लिए कारणीय प्रतिस्थापना कारण और परिणाम अथवा कार्य के सिद्धात का पर्याप्त प्रातिनिध्य नही करती भले ही वह प्रतिस्थापना क्रियात्मकतया कितनी ही अपरिवर्ज्य क्यो न हो। घटना-प्रवाह की सातत्य-कल्पना, समग्र वास्तविकता के व्यवस्थित अन्त. सम्बन्ध विषयक सिद्धात का कोई अधिक अच्छा सूचीकरण हमे दे सकता है या नही इस वात का अधिक अच्छा निर्णय कर सकने मे हम अपनी इस पुस्तक की तीसरे खड मे दिये गये विमर्श के वाद ही समर्थ हो सकेगें। यदि वह ऐसा कोई सूत्रीकरण हमे नही दे सकता तव हमे मानना पडेगा कि कालिक-अनुवर्तन की कल्पना उस तरीके या विधि को जिसके अनुसार वास्तविक अस्तित्व के एक और अनेक का सयोग होता है, व्यक्त कर सकने के लिए पर्याप्त नही है यानी काल या समय वास्तविक नही अपितु प्रपचात्मक ही है।

१०—कार्य और कारण सम्बन्ध विषयक जिस 'आवश्यकता' का हमने जिक्र किया है उसके वारे मे यहाँ एकाध शव्द कह देना उचित होगा। इस वात मे वहुत कम सन्देह है कि इस 'आवश्यकता' का मूल उद्‌गम उस निरोध विषयक हमारी अपनी भावनाओ मे ही पाया जा सकता है जिसका अनुभव हमे तव होता है जव हमारे कार्य का अध्यादेशन वाहर से होता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि हम निरोध की इस भावना का सम्वन्ध उस घटना मे नही जोड सकते जिसका निर्धारण वास्तविकता की शेष व्यवस्था के साथ के उसके सम्बन्ध द्वारा होता है। विज्ञान मे कारणीय सम्बन्ध की आवश्यकता का अभिप्राय केवल यही होता है कि यदि परिस्थितियाँ दत्त हो तो परिणाम

या निष्कर्ष अनुगत होगा अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि यदि आप परिस्थितियों के अस्तित्व पर जोर देते हैं तो आपको तर्कानुसार निष्कर्ष के अस्तित्व पर भी जोर देना जरूरी होगा। इस प्रकार निरोध हमारे भीतर से ही आता है और वह सोपाधिक प्रकार का ही होता है तर्क संगततया सोचना जब तक आप का प्रयोजन होता है तब तक आप बाध्यता अथवा निरोध का अनुभव इसलिए करते हैं चूंकि परिस्थिति पर जोर देने के बाद आपका निष्कर्ष पर जोर देने से बचने के लिए कोई न कोई कारण ढूंढ़ना पड़ता ही है। और दर्शनशास्त्र के प्रति ह्यूम की यह एक विशिष्ट सेवा है कि उसने कारणीय सम्बन्ध 'आवश्यकता' विषयक इस व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप को पहली बार स्पष्टतः प्रकट किया यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि उसने आगे चलकर अपने विवेचन को गलतियों के सम्मिश्रण द्वारा तब उलझा दिया जब उसने आधार से परिणाम की तार्किक अनुमिति की आवश्यकता को साहचर्य विषयक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित बताने का प्रयत्न किया।

११—कारणता विषयक अपने विवेचन का उपराम करने से पहले उन कुछ विशेष कठिनाइयों पर ध्यान देना हमारे लिए आवश्यक है जिनके कारण इस समस्या ने कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों की शास्त्रीय व्यवस्था को उलझन में डाल दिया है। ज्ञानातीत और अन्तर्व्याप्त कारणता में बहुधा विभेद कर दिया गया है। जिस सीमा तक किसी एक वस्तु की स्थिति के परिवर्तनों को अन्य वस्तुओं की स्थिति के परिवर्तनों का कारण माना गया है उस हद तक इस सम्बन्ध को तकनीकी तौर पर ज्ञानातीत कारणता विषयक सम्बन्ध माना गया है। दूसरी ओर किसी वस्तु के स्थिति परिवर्तनों के, उसके ही पूर्ववर्ती परिवर्तनों द्वारा निर्धारण करने को अन्तर्व्याप्त कारणता की संज्ञा दी गयी है। इस विभेद के परिणामस्वरूप ज्ञानातीत कारणता के लक्षण के विषय में गंभीर कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं। इस प्रकार की कारणता अर्थात् किसी वस्तु के परिवर्तनों का अन्य वस्तुओं के परिवर्तनों द्वारा निर्धारण अनुभूतिजगत् के अन्योन्य क्रियापरक-बाहुल्य रूपी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक आवश्यक अथवा मौलिक लक्षण या अंग है।

व्यवस्थित बाहुल्यवाद के लिए तो यह कल्पना अपरिहार्यतः ऐसी कठिनाइयाँ प्रस्तुत कर देती है जिनका हल हो ही नहीं सकता। क्योंकि विविध वास्तविक वस्तुओं की चरम निरपेक्ष स्वातंत्र्य का मेल इस स्वीकृति के साथ बिठा सकना असंभव ही है कि किसी एक वस्तु की दशाओं का अनुक्रम अन्य वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की दशाओं के अनुक्रम पर निर्भर होता है। यदि वस्तुओं का बाहुल्य परस्पर एक दूसरे से अंततः स्वतंत्र हो तो यह स्पष्ट है कि उनमें से प्रत्येक वस्तु अवश्य ही पूर्णतः ऐसा समग्र रूप होगी कि जो आत्म निर्धारित और अपने विवरणों के आधार को आत्मगत किए हुए भी। विलोमतः यदि किसी वस्तु की व्याख्या उसकी विशुद्ध आभ्यन्तर-व्यवस्था संबं

विषयक सिद्धात द्वारा नही की जा सकती अपितु उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ऐसी बाह्य वास्तविकता का हवाला देना जरूरी होता है जिसके साथ वह अन्त सम्बद्ध है, तो समझना चाहिए कि उसकी अनिर्भरता केवल आशिक ही है। अत अपने अधिकतर सगत प्रारूपो मे बाहुल्यवाद सदा ही ज्ञानातीत कारणता की वास्तविकता से इनकार करने की ही कोशिश करता रहा है और साथ ही सभी कारणीय सम्बन्धो को किसी वस्तु की पूर्ववर्तिनी दशाओ द्वारा निर्धारित आन्तरिक दशा रूप मे विघटित करने का प्रयत्न भी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐतिहासिकतया गृहीत मुख्य उपाय है (अ) प्रसगवाद और (ब) पूर्वस्थापित-समन्वयवाद।

(अ) प्रसगवाद—दर्शन शास्त्रीय इतिहास मे प्रसगवाद शरीर और मन को एकदम दो विसवादी और अन्योन्य स्वतत्र वास्तविकतायें मानते हुए उनके बीच के अन्त सम्बन्ध की विशिष्ट समस्या के कथ्य मान्य हल के रूप मे प्रकट हुआ है यद्यपि अपने विस्तृततर अर्थ मे वह किन्ही भी दो स्वतत्र वास्तविक वस्तुओ के असमान सम्बन्ध की अधिक सर्वसामान्य समस्या पर भी समानत' लागू हो सकता है। इस सिद्धात का अधिकतर घनिष्ट सम्बन्ध कार्टेजियन दार्शनिको तथा आर्नल्ड ज्यूलिनेक्स और एन्० मैलेब्रान्श के नामो के साथ जुडा हुआ है लेकिन बर्कले ने भी अमानसिक वस्तुओ के विशुद्ध निष्क्रियता-विषयक अपने विश्वास के परिणामस्वरूप इसका आशिक वरण किया था। कार्टेजियन दार्शनिको की मन और शरीर की एकदम विसवादता तथा अनिर्भरता विषयक वास्तविकता द्वय की कल्पना को लेकर चलने के कारण ज्यूलिनेक्स और मालेब्राश को इस आभासी तथ्य का सामना करना पडा कि मानसिक स्थिति अथवा दशायें स्वेच्छ-गतिपरक शारीर स्थितियो के रूपान्तरणो की ओर ले जाती हैं और तद्विपरीत जब सवेदना उद्दीपनोद्भूत होती है तभी शारीर स्थितियाँ मानसिक स्थितियो का घटना-निर्धारण कर देती है।

'विश्वविषयक प्राकृतिक दृष्टिकोण' इन मामलो को भी ठीक उसी स्तर पर ही जिस पर कि वह किसी एक पिंड के स्थिति परिवर्तन को दूसरे पिण्ड के स्थिति परिवर्तन द्वारा उद्भूत मानता है, बेहिचक स्वीकार करता है और देस्कार्तेज स्वय भी इस व्याख्या से सहमत था। किन्तु उस प्रकार का अभिमत जैसाकि उसके उत्तराधिकारियो ने अपनाया अस्तित्व के मानसिक और शारीरिक नामक दोनो ही क्रमो की तथाकथित विसवादिता और अनिर्भरता से किसी प्रकार भी मेल नही खाता। इसी लिए ज्यूलीनेक्स और मालेब्राश ने इस सिद्धात की शरण ली कि अन्त क्रिया केवल आभासी ही हुआ करती है। वास्तव मे तो जब भी एक क्रम मे हो रही परिवर्तन श्रृखला का अन्त होता है और दूसरे क्रम की परिवर्तन श्रृखला का आरम्भ तो क्रिया सातत्य को बतला सकने की पूरी व्याख्या वहाँ मौजूद रहती है। दरअसल होता यह है—उन्होने बताया

कि भगवान ही एक शृंखला को दूसरी के अनुरूप बना देते हैं। शरीर उद्दीपन के घटित होने पर भगवान बीच में पड़ कर उस संवेदना अथवा भावना की सृष्टि कर देते हैं जिनकी आवश्यकता हमारे पर्यावरण के साथ हमारी क्रिया का तालमेल बैठाने के लिये होती है। इसी प्रकार मानसिक इच्छा के घटित होने पर ईश्वर फिर बीच मे पड़कर तद्नुकूल आन्दोलन की उत्पत्ति हमारे शरीरतंत्र में करवा देते हैं।

इस प्रकार एक क्रम मे होने वाला परिवर्तन ईश्वरीय माध्यम का ही परिणाम होता है, उस ईश्वर के बीच में पड़ने से घटित जो दूसरे क्रम मे घटित तद्नुकूल परिवर्तन का भी वास्तविक कारण होता है। प्रत्येक क्रम मे एकबार प्रचारित परिवर्तनों की शृखलाओं को तब कारणता द्वारा सम्बद्ध मान लिया जाता है। दैवी हस्तक्षेप तब ही बीच में आता है जब दोनो क्रम एक दूसरे की संगति में आते हैं। बर्कले ने इस सिद्धांत के अर्धभाग को तो स्वीकार कर लिया किन्तु दूसरे अनुपूरक भाग को छोड़ दिया। उसके कथनानुसार, भौतिक या शारीर अथवा असानस वस्तुएँ प्रस्तुत्यात्मक मनोग्रंथि मात्र अथवा उसकी अपनी शब्दावल्यनुसार 'विचार' मात्र होती हैं और विचार विशुद्धतया निष्क्रिय होते हैं अतः प्रत्येक संवेदना का वास्तविक कारण अवश्य ईश्वर ही होना चाहिए क्योंकि वह ही इस प्रकार प्रत्यक्षतः बीच में पड़कर हमें उन आगे आनेवाली संवेदनाओं का सन्देश देता है जो हमें उन कार्यवाही द्वारा प्राप्त होगी जो मौजूदा प्रस्तुति पर हम आगे करेंगे। इसकी विलोम दिशायें ज्ञानातीत कारणता को, अर्थात् इच्छाशक्ति अथवा संकल्प द्वारा शारीर आन्दोलन की तात्कालिक उद्भूति को उसने बिना किसी ननुनच के स्वयंसिद्ध तथ्य रूप[1] में ग्रहण कर लिया।

यहाँ बर्कले द्वारा अविहित प्रसंगवाद के अर्वाचीण विवरण पर बहस करने की जरूरत नही होगी। स्पष्ट ही है कि इस बात की स्वीकृति को कि शारीर परिवर्तन प्रत्यक्षतः मानस परिवर्तनो से ही उद्भूत होते हैं, सकल ज्ञानातीत कारणता की विलोम दिशीय अस्वीकृति से संगततया संयुक्त या सम्बद्ध नही किया जा सकता। यदि समग्र भौतिक अस्तित्व जिसमें मेरा अपना शरीर भी शामिल है—प्रस्तुतियों की निष्क्रिय मनोग्रथि अथवा सम्मिश्र मात्र की प्रस्तुतियो से अधिक कुछ नही है तो यह समझ सकना कितना कठिन होगा कि वह मानसोद्भूत परिवर्तन का प्राप्तिकर्ता इस माने में कैसे हो

---

१. संक्षेपतः यहाँ लिखे गये विविध अभिमतों के लिए मूल स्रोत देखिए, ज्यूलिनेक्स—'मेटाफिजिका वेरा' पार्स प्राइमा, ५–८; मालेब्रांश—'एन्ट्रेटियन्स सर लां मेटा फिजिक एद् सर ला रिलिजियन, सप्तम कथोपकथन; बर्कले कृत 'न्यू थियरी ऑफ विजन', पृ० १४७–१४८; 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज', २५–३३, ५१–५३, ५७, १५०, सेकेंड डायलाग बिट्वीन हइलास एण्ड फिलोनस

सकता है कि वह यह भी जान सकें कि वह मानस परिवर्तनों का मूलोत्पादन कैसे कर सकता है। जो किसी माने में भी क्रियाशीलता अथवा सक्रिय नहीं होता वह निष्क्रिय नहीं हो सकता क्योंकि निष्क्रियता के माने होते हैं केवल निरोधित अथवा कुण्ठित क्रियाशीलता या सक्रियता।

अतएव हम कोरे प्रसंगवाद तक ही अपने आपको सीमित नहीं रख सकते। इस प्रकार के प्रसंगवाद के विरुद्ध एक यह स्पष्ट एतराज या आपत्ति है कि वह हमारे समस्त अस्तित्व क्रम को चमत्कारों के एक लम्बे अनुक्रम में रूपान्तरित कर देता है और इसी बात को लेकर लीबनिट्ज मालेब्रांश की आलोचना में हेठपूर्वक प्रवृत्त होने का शौकीन बना था। और यह सिद्धांत भी वास्तव में आत्मसंगत दो कारणों से नहीं है। (१) यह स्पष्ट है कि कारणता की किसी भी संभव परिभाषानुसार, प्रसंगवाद के सिद्धांत में एक ओर परमात्मा और दूसरी ओर वास्तविकता के अनुमानत: विसवादी दोनों ही क्रमों के बीच की कारणीय अन्त:क्रिया भी शामिल है। किसी भी एक क्रम में होनेवाले परिवर्तन निश्चिततया तथा दूसरे क्रम के निश्चिततया निर्धारित परिवर्तनों का प्रवर्तक ईश्वरीय हस्तक्षेप को ही मानते हैं। इस प्रकार ईश्वर कृत आन्तरिक निर्धारण ही दोनों क्रमों में हुए परिवर्तनों के कारण और कार्य दोनों होते हैं। लेकिन उदाहरणत: यदि स्थिति विषयक कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन ईश्वरीय निर्धारण कारण हो सकता है तो इस बात की अस्वीकृति का कि किसी एक भौतिक क्रम में होनेवाला परिवर्तन वास्तविकता के दूसरे क्रम में भी परिवर्तन का प्रवर्तन कर दे सकता है—सारा दारोमदार या आधार ही, रह जाता है। अत: इस सिद्धांत का नकद निष्कर्ष केवल इतना ही रह जाता है कि वह दोनों ही क्रमों की परस्परावारित ज्ञानातीत क्रिया की पुन: स्थापना द्रविड़ी प्राणयाम सदृश एक चक्करदार परिपथ के आधार पर ईश्वरीय मानस द्वारा की जाय।

ज्यूलिनेक्स और मालेब्रांश के मन में जो कुछ था वह यही सीधा-सादा-सा विचार था कि हम यह नहीं बता सकते कि कोई भी भौतिक परिवर्तन कैसे मानसिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है अथवा तद्विलोम।[1] लेकिन इस समस्या का हल निकालने में ईश्वर या परमात्मा जैसे एक तीसरे कारक को बीच में ला घुसेड़ने से जरा सी भी प्रगति हमारी नहीं होती। किसी एक क्रम में होने वाले परिवर्तन से परमात्मा के मन में यह निर्धारण क्यों कर उत्पन्न हो सकता है कि वह दूसरे क्रमों के परिवर्तन का निर्धारण करे और फिर वह कैसे तदनुकूल परिवर्तन ही दूसरे क्रम में कर दे सकता है ये दोनों ही एक ही तरह की असाध्य समस्यायें हैं जिनका समाधान उन दोनों ही दार्शनिकों

---

१. ज्यूलिनेक्स इस नियम को निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त करता है (देखिए विगत उद्धरण खंड १,५), क्वोड नेसिस क्वोमोडो फियत, इड नॉन फैसिस।

को ढूँढ निकालना था। तीसरे कारक के रूप मे कारणीय समस्या मे ईश्वर को बीच मे लेने के बावजूद भी बात जहाँ थी वहाँ ही रह जाती है कि एक क्रम में होने वाले कुछ निश्चित परिवर्तन दूसरे क्रम मे हुए परिवर्तनो के परिणाम या अनुगत होते है और सही तौर पर यही वह तथ्य है जो ज्ञानातीत कारणता नामक अभिधान द्वारा अभिधेय होता है।

निश्चय ही इस समस्या का रूप ही बदल जाय अगर ईश्वर की कल्पना, वास्तविकता की समग्र व्यवस्था की एक अन्य अभिव्यक्ति रूप मे कर ली जाय। और तब प्रसंगवाद का यह सिद्धात इस दृष्टिकोण का एक कथन मात्र बन जाय कि कोई भी दो वस्तुये परस्पर स्वतत्र नही होती और यह कि एक वृहत्तर व्यवस्थित समग्र मे शामिल कर लिए जाने के कारण ही वे जिन्हे हम पृथक् वस्तुएँ नाम से पुकारते हैं एक दूसरे को प्रभावित कर सकती हैं। किन्तु अनेकों ऐसी उन व्याजोक्तियों के बावजूद जो इस दृष्टिकोण की ओर इगित करती है, यह निश्चत ही है कि प्रसगवाद को उसके रचियता गभीरतापूर्वक ठीक पारपरिक प्रथानुसार कारणता की समस्या के हल के रूप मे ही प्रस्तुत करना चाहते थे।

(२) इस सिद्धात का दूसरा दोष उसे कारणता सम्बन्ध विषयक सभी मामलो पर लागू करने मे उसके प्रवर्तकों की असफलता के सिर आता है। यह केवल एक हठधार्मिता ही है जो ज्यूलिनेक्श और मालेब्राश अपने आपको यह मान लेने की छूट देते है कि भौतिक परिवर्तन का अपने पूर्ववर्ती भौतिक परिवर्तन के साथ आनुपूर्व्य तथा मानस परिवर्तन का अपने से पहले के मानस परिवर्तन के साथ का आनुपूर्व्य किसी मानस परिवर्तन के किसी भौतिक परिवर्तन के साथ के आनुपूर्व्य की अपेक्षा कही अधिक स्वत स्पष्ट होता दोनों ही मामलों मे हम इस बात का निश्चय कर सकते है कि एक दशा या स्थिति अपने से पहली किसी स्थिति का निश्चय ही अनुगमन करती है और दोनों ही मामलात मे से हम किसी के बारे मे भी अन्ततोगत्वा इस निरर्थक प्रश्न का जवाब नही दे सकते कि किस यत्र द्वारा यह परिवर्तन कराया जाता है। क्योंकि कोई जवाब जो दिया जाय उसमें किसी माध्य कडी का अन्तर्वर्तन जरूर ही शामिल होना चाहिए और इस माध्य कडी के उत्पादन के सम्बन्ध मे वही प्रश्न फिर उठ खडा होता है और इस प्रकार फिर हम उस अनिश्चित प्रतिगामिता पर आ पहुँचते है जो इस बात की अपरिवर्तनीय पहचान है कि हम एक निरर्थक प्रश्न पूछ रहे थे।

(ब) **पूर्व स्थापित सामञ्जस्य**—वस्तुओ की आभासी अन्योन्य क्रिया के साथ बाहुल्यवाद की पटरी बैठाने का लिबनिट्ज का प्रयत्न कही अधिक दार्शनिक प्रयत्न था। लिबनिट्ज के कथनानुसार प्रत्येक अन्तिमतःवास्तविक वस्तु अथवा परमाणु एक स्वतःपूर्ण समग्र होता है और इसी लिये स्वय उसके भीतर ही उसकी अपनी

स्थितियो के आनुपूर्व्य का आधार मौजूद रहता है। अत एक परमाणु मे दूसरे परमाणु मे घटित परिवर्तनो के कारण किसी परिवर्तन का वास्तविक प्रवर्तन नही हो सकता। प्रत्येक परमाणु का जीवन अवश्य ही एकदम स्वय अपने ही आभ्यन्तर स्वरूप के विकास का जीवन होना चाहिए। लीवनिट्ज के अपने शब्दो के अनुसार परमाणु मे ऐसे कोई वातायन नही होते जिनमे होकर स्थितियाँ और गुण एक से दूसरी की ओर उड जा सकें। फिर भी आभासी तथ्य का कोई कारण तो वतलाना ही होगा कि चूँकि अनुभूति की यह दुनिया एक विभ्राट मात्र नही है इसलिए किसी एक वस्तु मे हुए परिवर्तन दूसरी वस्तुओ मे हुए परिवर्तनों से किसी निश्चित नियम विधि या कानून द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

लीवनिट्ज के कथनानुसार इस आभासी अन्योन्य क्रिया का कारण तभी वताया जा सकता है यदि हम परमाणुओ के मध्य पूर्वस्थापित सामजस्य के सिद्धात द्वारा प्रस्तुत प्रसगवादी सर्वकालीन चमत्कार को सहन कर सकने से इनकार कर दे। यदि सभी स्वतत्र परमाणु इस प्रकृति के हो कि उनमे से प्रत्येक, जहाँ अपने विकास के नियमों का क्रियात्मक रूप से पालन करते हुए शेप दूसरे सभी परमाणुओ के आभ्यन्तर विकास के लिए वाछित तरीके पर भी चले या व्यवहार करे तव, उनमे से प्रत्येक के वास्तव मे स्वत- पूर्ण होते हुए भी, अन्योन्य क्रिया का आभास प्रस्तुत होगा ही। इस प्रकार के सामञ्जस्य की सभावना को उदाहृत करने के लिए लीवनिट्ज दो ऐसी घड़ियो का मामला प्रस्तुत करता है जो एक दूसरे के अनुसार समयावर्तन करती है यद्यपि न तो एक को दूसरी के साथ वस्तुत मिलाया जाता है और न उनके वीच किसी प्रकार का कोई सम्वन्ध ही वनाये रखा जाता है वल्कि उनमे समयान्तर केवल इसलिए नही होता यत दोनो ही ठीक से वनायी गयी है। दूसरा उदाहरण वह ऐसे वादको का देता है जो एक ही गीत की तान पर अपना-अपना वाजा अलग-अलग वजा रहे होते हैं पर एक दूसरे को देख नही पाते। फिर भी उनके ताल और स्वर साथ इसलिए दे रहे होते हैं चूँकि उनमे से प्रत्येक अपने सगीत को ठीक से बजा रहा होता है।

सभवत यही वह परम सन्तोपजनक उपाय है जिसके द्वारा आभासी मिथ' क्रिया का ताल-मेल आमूल परिवर्तनपरक वाहुल्यवाद के साथ वैठाया जा सकता है। लेकिन इसके तार्किक दोप उसके चेहरे पर ही छपे दीखते है। जव हम पूछते है कि विभिन्न परमाणुओ के आभ्यन्तर स्थितियो के वीच का सामञ्जस्य किस के कारण उत्पन्न होता है तो लीवनिट्ज दोनो उत्तरो मे से कौन सा उत्तर दे यह सोचकर हिचकिचाता है। एक जवाव के अनुसार जहाँ वह सामञ्जस्य उस ईश्वरेच्छा पर निर्भर कहा जाता है जिस ईश्वर ने अपनी वुद्धि द्वारा सभी सभव श्रेष्ठतम विश्वो की स्थापना करना उचित समझा। लेकिन साथ ही साथ इस विशिष्ट विश्व-व्यवस्था के परमाणुओ

के मध्य वर्तमान सामजस्य का ईश्वर द्वारा स्वीकरण ही वह वस्तु है जिसने उस ईश्वर को पूर्ववर्तिनी सभाव्य विश्व-व्यवस्थाओं की अपेक्षा इस व्यवस्था को तरजीह या अधिमान देने के लिये प्रेरित किया और उसने दूसरी व्यवस्थाओं की अपेक्षा इस विश्व-व्यवस्था को सभावना मात्र के क्षेत्र से निकालकर वास्तविक अथवा क्रियात्मक अस्तित्व प्रदान किया।

अव यह स्पष्ट दीखता है कि अगर ईश्वर की सृजनात्मक क्रियाशीलता को दरअसल सहीतौर पर मानना है तव इस व्यवस्था के साथ ईश्वर का सम्बन्ध ज्ञानातीत कारणता का ही अवश्य होना चाहिए। लेकिन अगर परमाणुओं के एकल मामले मे ही ईश्वरीय अभिवृत्ति की ज्ञानातीत कारणता को स्वीकार किया जाता है तव यह वात कुछ ज्यादा स्पष्ट नही मालूम देती कि स्वय परमाणुओं के पारस्परिक सबध विषयक अभिवृत्तियों के मामले मे उस कारणता से क्यों इनकार किया जाता है। क्योंकि अव तो प्रत्येक परमाणु कम से कम एक ऐसा लक्षण तो है जिसका आधार स्वय परमाणु मे न होकर ईश्वर में है, नामतः उसका वास्तविक अस्तित्व।[1] और जव यह नियम या सिद्धात कि प्रत्येक परमाणु अपने सब लक्षणों का आधार स्वय ही है एक वार त्यागा जा रहा है तव फिर ऐसी कोई वजह नही रह जाती जिसके आधार पर अन्योन्य क्रिया से इनकार किया जाय। लेकिन अगर दूसरी तरफ हम इस अभिमत पर जोर दें कि उपयुक्त सामञ्जस्य स्वेच्छ सृजनात्मक क्रियाशीलता का ही परिणाम मात्र नही अपितु परमाणुजगत की कल्पना मे ही निहित एक ऐसा लक्षण है जिसे एक सभाव्यता मात्र समझा जाता था, तव हम क्यों न इसी के वरावर एक ऐसे विश्व की कल्पना कर लें जो अन्योन्य क्रिया पर तथा परस्पर सम्बद्ध और इसी लिए अन्तत. अस्वतत्र वस्तुओ का विश्व हो तथा जो वास्तविक रूप ग्रहण कर सकने का दावा भी कर सके, लीवनिट्ज का वह वाहुल्यवाद जिसका तार्किक परिणाम ज्ञानातीत कारणता की यह अस्वीकृति है, अनालोचित दुराग्रहों या पूर्वाग्रहो से वढकर अच्छी किसी वस्तु पर आधारित नही प्रतीत होती।[2]

---

१. वात ऐसी नहीं कि वोध्यरूप में अस्तित्व को एक लक्षण न माना जा सके। इस वारे में काण्ट की 'जीव विज्ञानी प्रमाण' विषयक आलोचना परिणामी अथवा अन्तिम प्रतीत होती है। किन्तु लिवनिट्ज के दृष्टिकोण से देखने पर एक ऐसे अतिरिक्त विधेय रूप मे उसकी कल्पना करना जरूरी होगा जो 'संभाव्य' रूप में विश्व कल्पना में पहले से ही मौजूद विधेयो के साथ ईश्वर के सृजनात्मक कार्य द्वारा येन-केन प्रकारेण जोड़ दिया गया हो।

२. लीवनिट्ज के सिद्धांत के अधिक अनुशीलनार्थ देखिए 'दि मोण्डालॉजी एंड् ऑफ

१२—सक्षेप मे यहाँ ज्ञानातीत कारणता विषयक समस्या के उस अभिमत का भी जिक्र कर दिया जाय जो कारणीय प्रतिस्थापना सम्बन्धी हमारे विचार-विमर्श मे भी शामिल है। क्योकि ऐसे किसी भी प्रयोजन के लिए ही जिसके कारण विश्व को वस्तुओ के एक बाहुल्य के रूप मे कल्पित कर लेना सभाव्य तथा वाञ्छनीय माना जाय, ज्ञानातीत कारणता को स्थिर रखने की जरूरत है और वह भी इसलिए क्योकि विश्व की वस्तुए अन्त में जाकर एक सम्बद्ध व्यवस्था का रूप धारण करती हैं अत किसी वस्तु की स्थितियों का पूर्ण आधार आत्मस्थ नही हो सकता अपितु उसे समग्र व्यवस्था मे स्थित ही होना चाहिए। ऐसे किसी माने मे जिसमे वस्तुओ की बहुलताये मौजूद हो और जिसमे आधार और परिणाम के नियम को निकटतम प्रकार से परिवर्तनी घटनाओ के पूर्ववर्तिनी घटनाओ द्वारा कारणीय निर्धारण रूप मे पेश किया जा सकता हो वहाँ हमे तैयार रहना होगा कि किसी वस्तु की स्थितियाँ अन्य वस्तुओ की परिवर्तिनी स्थितियो की प्रतिबन्धक रूप मे वहाँ मौजूद हो। लेकिन फिर, चूंकि आभासी रूप मे पृथक् वस्तुएं पूरी तरह पर स्वतत्र अथवा अनिर्भर नही होती अपितु किसी एकल व्यवस्था की विवरणात्मक आत्माभिव्यक्ति मात्र होती है अत. ज्ञानातीत कारणता का अन्तत. आभासी होना आवश्यक होता है। अत वस्तुओ का मध्यवर्ती सारा अन्योन्य सम्बन्ध वास्तविकता की एकल व्यवस्था उन वस्तुओ के समावेश पर निर्भर होता है अत कहा जा सकता है कि जब आप समग्र को अपने ब्योरे मे दाखिल कर रहे होते हैं तब सारी कारणता अन्ततोगत्वा अन्तर्व्याप्त होती है। लेकिन फिर, जैसाकि हम पहले ही देख चुके है, कि आधार और परिणाम के नियम के अनुसार, अन्तर्व्याप्त कारणता समग्र अस्तित्व के व्यवस्थित सम्बन्ध को व्यक्त करने का एक अपूर्ण अथवा अयथार्थ तरीका है। पूरी तरह सोचकर यदि देखा जाय तो समग्र की एक स्थिति का पूर्ववर्तिनी अन्य स्थिति द्वारा निर्धारण वाला, अन्तर्व्याप्त कारणता का रूप, इस विशुद्ध तार्किक नियम द्वारा कि वे दोनो ही स्थितियाँ मिलकर संरचना के एकल सगत नियम की विवरणात्मक अभिव्यक्ति मात्र ही होती हैं—विविध वस्तुओ के अन्योन्य-सम्बन्ध की कल्पना मे रूपान्तरित हो जाता है। और इस प्रकार सारी कारणता अन्तिम रूप मे अयथार्थ अथवा अपूर्ण आभास ही रह जाती है।

लीबनिट्ज', आर० लाटा द्वारा सम्पादित, भूमिका भाग २ और ३ तथा 'मोण्डालॉजी न्यू सिस्टम् आफ दि कम्यूनिकेशन आफ सब्टैन्सेज,' का अनुवाद 'फर्स्ट एण्ड थर्ड एक्सप्लैनेशन्स आफ दि न्यू सिस्टम्' सहित। साथ ही देखिए बी० रसेल कृत आलोचना, 'दि फिलासफी आफ लीबनिट्ज,' अध्याय ४ तथा उसके आगे के अध्याय।

निम्नलिखित बात कुछ रुचिकर रहेगी। जैसाकि हम देख चुके हैं कि व्यष्टिगत अनुभूति मे ही अन्त मे उस प्रकार की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और आभ्यन्तर एकता मौजूद रह सकती है जिसे विचारणा वस्तु विषयक लक्षण के रूप मे व्यक्त करना चाहती है। यह यहाँ यह भी जोड दे सकते है कि ठीक उसी मात्रा मे जिनमे कि किसी अस्तित्व में यह वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता मौजूद होती है और तद्नुसार वह स्वत पूर्ण समग्र रूप होता है, उसके व्यवहार का आधार स्वय उसी वस्तु के भीतर मौजूद रहेगा। इसी लिए कोई वस्तु जितनी ही अधिक व्यष्ट होगी उतनी ही अधिक वे प्रतिबन्ध जिन पर उस वस्तु की स्थितियाँ निर्भर होती है, उसी वस्तु की अन्य स्थितियों मे समाविष्ट तब प्रतीत होते है जब हम कारणता की प्रतिस्थापना का विनियोग उस मामले मे करते है। अत जितनी ही अधिक व्यष्टता किसी वस्तु मे होगी ज्ञानातीत कारणता से भिन्न अन्तर्व्याप्त कारणता उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ उसके आभ्यन्तर गठन मे प्रकट होगी अर्थात् वह वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ हुए उसके समागम मे उतने ही कम रूपान्तरणो मे से गुजरेगी। यदि हम परिवर्तनार्थ प्राप्त बाहरी प्रेरणाओ या उकसाहट के बावजूद आभ्यन्तर गठन के अपरिवर्तित रख-रखाव को 'मूलानुपातिनी क्रियाशीलता' शब्द से व्यक्त करें तो हम अपने निष्कर्ष को यह कह कर प्रकट कर सकते है कि जितनी ही अधिक कोई वस्तु व्यष्ट होगी उतनी ही मूलानुपातत: वह सक्रिय होगी।

नैतिक तथा सामाजिक जीवन की विशिष्ट समस्याओं से जब हमे काम पडेगा तो कारणता विषयक निर्धारण के नैतिक स्वतान्त्रय तथा दायित्व के साथ सम्बन्ध के बारे मे और भी प्रश्न हमारे सामने आयेगे साथ ही हमे उस निर्धारण के साध्यहेतुक सोदेश्य कर्म के साथ सम्बन्ध के बारे मे भी ऐसे प्रश्नों का सामना करना पडेगा। हमारा पूर्ववर्ती विचारविमर्श तब इन अधिक पेचीदे सवालात के लिए, उन कठिनाइयो को जो उठ खड़ी होती हैं जब कारणीय प्रतिस्थापना को वास्तविकता के व्यवस्थित स्वरूप के भाषान्तरण के स्वयसिद्ध नियम या सिद्धात के रूप मे गलत तौर पर मान लिया जाता है। दूर करने के लिए रास्ता साफ कर देने वाला सिद्ध होगा।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—बी० बोसान्क्वेट कृत 'एलिमेण्ट्स आफ लॉजिक,' पृष्ठ १६४, १६५; 'लॉजिक' खड १, पृ० २३३, एफएफ०, खड २, पृ० २१२; एफएफ०, एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ५ (मोशन एण्ड चेज), ६ (काजेशन), ७ (एक्टिविटी), ८ (थिग्ज); एच० लोट्जे, 'मेटाफिजिक्स', खड १, अध्याय ४ (बिकमिंग एण्ड चेज), ५ (नेचर आफ फिजिकल एक्शन), एच० टी० हॉबहाउस, 'थियरी ऑफ नौलेज', भाग २, अध्याय ८, १५, (कारणबाहुल्य विषयक विमर्श के लिए); कार्लपियर्सन, 'ग्रामर आफ साइन्स', अध्याय ३ और ४;

बी० रसेल, 'फिलॉसफी आफ लीबनिट्ज', अध्याय ४, ११ (प्रिएस्टैबिलिस्ड हार्मनी), जेम्सवार्ड, 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर्स २–६; ह्यूम का कारणता विषयक प्रसिद्ध विमर्श (ट्रीटाइज आफ ह्यूमन नेचर, खड १, भाग ३, ३–१५) का मूल्य आज भी कम नही हुआ ऐसा मुझे लगता है और शायद आधुनिक दर्शनशास्त्र की सबसे अधिक महत्वपर्ण एकल देन है कारणता विषयक व्यवस्थित विमर्श को।

तृतीय खण्ड

विश्व विज्ञान—प्रकृति की व्याख्या

अध्याय १

आमुखीय निर्वचक

१—परीक्षणात्मक विज्ञानो तथा मन और प्रकृति-विषयक दर्शन मे भेद। परीक्षणात्मक विज्ञानो का विषय है तथ्यों का वर्णन करना और प्रकृति और मानस दर्शन का काम है उन तथ्यों की व्याख्या करना। २—भौतिक क्रम व्यवस्था के विशिष्ट लक्षणो की आलोचनात्मक परीक्षा करने का ही नाम विश्व विज्ञान है। उसकी मुख्य समस्याये है (१) द्रव्यात्मक अस्तित्व या पिण्डास्त्वि की प्रकृति की समस्या; (२) प्रकृति की यांत्रिक एकरसता विषय कल्पना को न्याय्यसिद्ध करने की समस्या; (३) देश-काल की समस्या, (४) विकास की सार्थकताविषयक समस्या; (५) मानवीय ज्ञान शास्त्र मे वर्णनामक भौतिक विज्ञान के स्थान निर्णय की समस्या।

१—अपने आगे के शेष दोनों खडों मे हमे वास्तविकता की दो 'क्रम-व्यवस्थाओं', भौतिक तथा मानस के आभासी अस्तित्व से उद्भूत उन प्रारम्भिकतर समस्याओ का विवरण देना होगा जो एक बार फिर बहुत कुछ अन्योन्य मिथ क्रिया पर प्रतीत होती है। इस खंड मे हम कुछ उन अग्रगामी लक्षणो पर विचार करेंगे जिन्हे हमारी दैनिक विचारप्रणाली ने और वैज्ञानिक विचारसरणि ने भी क्रमश. भौतिक प्रकार का बताया है। और हम भी जिज्ञासा करेंगे कि ये लक्षण उन लक्षणों की तुलना मे कैसे बैठते है जिन्हे वास्तविकता के साथ संयुक्त करने का कारण हमे मिल चुका है। अर्थात् हम प्रयत्न करेंगे ऐसे सिद्धात के सूत्रीकरण की जो वास्तविकता की सकल क्रम-व्यवस्था मे भौतिक अस्तित्व का स्थान निर्धारण करे। चौथे खंड मे हम इसी तरीके पर प्रचलित रूप मे प्रकल्प्यमान मानस-क्रम व्यवस्था के प्रधान लक्षणो तथा भौतिक क्रम व्यवस्था के साथ उसके सम्बन्ध के स्वरूप के विषय मे विचार करेंगे। इन विषयों पर विचार करने का हमारा तरीका आवश्यक रूप से अपूर्ण और प्रारम्भिक या बचकाना ही अनेक कारणवश होगा, जिन तथ्यो पर हमे कुछ विचार करना आवश्यक है वे न केवल इतने बहुसख्यक और उलझे हुए है कि उन पर काबू पाने के लिये भौतिक और मानस विज्ञान सबधी परीक्षणात्मक विज्ञानो के समग्र क्षेत्र के साथ विश्वकोषात्मक परिचय जैसी किसी चीज की जरूरत पड़ेगी। लेकिन उनकी पर्याप्त व्याख्या के लिए विशेषत उसकी विश्व विज्ञानीय शाखा के लिए गणितीय सिद्धात के चरम आधारों के साथ घनिष्ठ परिचय होना जरूरी है। और इस तरह का परिचय

परीक्षापरक वैज्ञानिको तथा तत्त्वमीमासको मे बहुत कम पाया जाता है। अपने ग्रन्थ के इस भाग मे ज्यादा से ज्यादा हम जो कुछ कर पा सकते है वह इतना ही होगा कि सामान्य सिद्धातो या नियमो के बारे मे एक दो मोटे मोटे निष्कर्षो की स्थापना कर सकें, व्याख्या की बारीकियो के बारे मे हम जो कुछ भी सुझाव दे सकेंगे वे माने हुए तौर पर आरजी या आनुमानिक होंगे।

प्रकृति विषयक दर्शनशास्त्र तथा मानस-दर्शनशास्त्र के कर्तव्य कर्म तथा उन परीक्षणात्मक विज्ञानों के जिन्हे भौतिक और मानस व्यवस्थाओं के साथ सीधा काम पडता है, कर्तव्य कर्म के बीच विभेद करने मे हमे सावधानी से काम लेना जरूरी है। परीक्षणात्मक विज्ञानो का मूलाधारी काम जैसा कि हम देख चुके हैं यही है कि वे ऐसे वर्णनात्मक सूत्रों को ढूँढ निकालें जिनकी सहायता से भौतिक तथा मानस क्रम-व्यवस्थाओ की निर्मात्री विधित प्रक्रियाओ का चित्रण और परिसख्यान किया जा सके। ये सूत्र जितने ही कम और सीधे-सादे होगे आगे उतनी ही अधिक बचत गणन की मेहनत की उनके द्वारा होगी उतना ही ज्यादा पूरी तौर पर परीक्षणात्मक विज्ञान उस काम को अंजाम दे सकेंगे जिसकी हम उनसे आशा करते हैं और तबतक हमारे ये सूत्र गणन का यह काम अच्छी तरह पर किये चले जाते हैं तब तक परीक्षणात्मक विज्ञानों को इस बात की परवाह नही होगी कि वे सूत्र जिस भाषा मे ग्रथित हुए हैं वह 'वास्तविकता' का प्रातिनिध्य करती है या नही। हमारे भौतिक सूत्रो विषयक, 'अणु', 'शक्तियाँ', 'ईथरे' आदि हमारे मनोवैज्ञानिक सूत्रो सम्बन्धी 'सवेदन' हमारी अपनी कल्पना की उतनी ही विशुद्ध प्रतीकात्मिकता सृष्टि हो सकते हैं जितने कि गणित शास्त्र के 'काल्पनिक परिमाण' जबकि उनकी अवास्तविकता से उनकी वैज्ञानिक उपयोगिता मे कोई भी खलल नही पडता, किसी प्रकार की बाधा नही आती। एक विशिष्ट भौतिक विज्ञानी के शब्दो मे "आणविक सिद्धात" भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे वही भूमिका प्रस्तुत करता है जो गणितशास्त्र की सहायक कल्पनाओं की भूमिका के सदृश होता है—यद्यपि कपनो को हम प्रसगवादी सूत्र द्वारा, शीतल क्रिया को घाताको द्वारा और अवपतनो को कालीय वर्गो द्वारा प्रकट किया करते हैं, फिर भी कोई यह कल्पना कभी नही करेगा कि स्वत रूप से कम्पनो का कोई सरोकार वृत्तीयफलन के साथ है अथवा गिरते हुए पिण्डो का कोई सम्बन्ध वर्गो से। (मॉश कृत 'सायस ऑफ मैकेनिक्स', पृ० ४९२) जब यह कहा जाय कि किसी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की उपयोगिता, उदाहरण के लिए आणविक सिद्धात की अथवा किसी दोलायमान ईथरीय माध्यम के अस्तित्व की प्राक्कल्पना, वस्तुओ के उस वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध करती है जो प्राक्कल्पना द्वारा विनियुक्त प्रत्ययो के अनुरूप होता है और यही विरोधाभास तब पैदा किया जाता है जब यह कहा जाता है कि यदि किसी बीजगणितीय

अवकलन का ज्यामितीय भाषान्तर अथवा अनुवस्थन सामान्यत. हो सकता हो तव उसकी क्रिया का प्रत्येक पद अवश्य ही व्याख्येय अथवा अनुवाच्य होना चाहिए।

प्रकृति तथा मानस विषयक दर्शन का काम शुरू ही वहाँ से होता है जहाँ परीक्षणात्मक विज्ञानो का काम खत्म होता है। उसके दत्त वे विशिष्ट तथ्य नही होते जो परीक्षणों तथा प्रेक्षणो द्वारा एकत्रित किए गए हों अपितु वे प्राक्कल्पनायें ही उसकी दत्त होती है जिनका उपभोग परीक्षणात्मक विज्ञान उन तथ्यो के समन्वययन तथा विवरणन हेतु किया करता है। और प्रकृति तथा मानस दर्शनशास्त्र इन प्राक्कल्पनाओं की परीक्षा उनकी संरचना को इस तरह पर सवारने और सुवारने के उद्देश्य से नही किया करता कि उनमे नये तथ्य भी शामिल किए जा सके अथवा पुराने तथ्य अधिक सरल रूप में, किन्तु विशुद्धत. इसी प्रयोजन से कि चरमत. वास्तविक अस्तित्व या सत्ता के रूप मे उनका मूल्य आका जा सके। क्या ये प्राक्कल्पनायें प्राकृतिक प्रक्रियाओं की गणना के औजारों के रूप मे पर्याप्त है या नही यह वह प्रश्न है जिसे दर्शनशास्त्र, जव वह अपने स्थान को जान लेता है, विशिष्ट विज्ञानो के लिए उत्तरार्थ छोड़ देता है। क्या वे प्राक्कल्पनायें जरूरत से ज्यादा उपयोगी गणनार्थी सूत्र होने का दावा कर सकती है, अर्थात् क्या वे हमे चरम सत्ता विषयक ज्ञान दे सकती है या नही यह समस्या है वह जिसका हल निकालना केवल उस विज्ञान का ही काम है जो व्यवस्थित तथा वास्तविकता या परम सत्ता का अर्थ विश्लेषण करता है यानी तत्त्वमीमांसा का। उद्देश्य विषयक इस विभेद को शब्दावली के विभेद द्वारा प्रकट करने के कुछ आधुनिक लेखको के रिवाज का शायद हम भी अनुसरण कर सकते हैं और कह सकते है कि परीक्षणात्मक विज्ञानो का लक्ष्य है तथ्यों का वर्णन और तत्त्वमीमांसा का उद्देश्य है उनकी व्याख्या। किन्तु लक्ष्यो का यह विभेद अन्तिम या परम विभेद नही क्योकि तथ्यो का वर्णन स्वयं ही, तव तत्त्वमीमासीय व्याख्या वन जाता है जव हम वर्णन रूप मे उस वर्णन से इसलिए सन्तुष्ट नही रह पाते कि वह केवल गणनात्मक प्रयोजन के ही काम का होता है और हमे चाहिए होता है तथ्य के वास्तविक अस्तित्व का ज्ञान।

अपने तत्त्वमीमासीय अध्ययन के इस भाग मे जिस प्रमुख खतरे से हमें वचे रहना है वह है अपने विज्ञान द्वारा वहुत ज्यादा पा लेने की आशा। निश्चय ही हम, केवल सर्वज्ञानिता को समवत. उपलभेय तथ्यो के पूर्ण अनुवचन, को इस विज्ञान द्वारा पा सकने की आशा कभी भी नही कर सकते। ज्यादा से ज्यादा हम केवल इतनी ही आशा करते हैं कि आमतौर पर हम यह देख सकें कि अगर वास्तविकता अथवा सत्ता की चरम संरचना के वारे मे हमारा दृष्टिकोण दृढ और सही है तो भौतिक तथा मानस क्रम व्यवस्थाओं को किस रूप मे सोच सकते है। परम सत्ता के इस सर्वंकष साचें मे प्राकृतिक और मानसिक अस्तित्व की वारीकियाँ कैसे पिरोई हुई है इसको पूरी

तरह या सही तौर पर समझ पाने की आशा हमे करना ही नहीं चाहिए। लेकिन इस तरह की सामान्य व्याख्या का ही मूल्य अधिकतर इस बात पर निश्चय ही निर्भर होगा कि हम कहाँ तक विविध विज्ञानो द्वारा अपनी प्राक्कल्पनाओ के क्रियात्मक उपयोग के प्रकार से परिचित हैं। दुनिया के अच्छे इरादे को लेकर चलने पर भी विज्ञान की उन प्रकल्पनाओ से काम लेते समय जिनके साथ हमारा कोई क्रियात्मक परिचय नही है हम सभी प्रकार के मिथ्या बोध को बरका सकने की आशा नही कर सकते।

खतरे से यह आम खबरदारी यद्यपि कम से कम ऐसे नौसिखिये विद्यार्थियो के बचकाने प्रयत्नो पर भी उसी तरह लागू होती है जिनकी मानस दीक्षा परीक्षणात्मक विज्ञानो के किसी समूह-विशेष सम्बन्धी तत्त्वमीमासीय आलोचन-क्षेत्र तक ही सीमित रही है, तो भी अभ्यास के लिये एक अच्छा नियम रहेगा अगर तत्त्वमीमासा का प्रत्येक विद्यार्थी अनुभवाधारी विज्ञान की कम से एक किसी एक शाखा के नौसिखिये विद्यार्थी से कही अधिक ज्ञानवान अपने आपको बना लेना अपने कर्त्तव्य का अग समझे। चूँकि मनोविज्ञान का दार्शनिक अध्ययन के साथ पुराना ऐतिहासिक सबध रहा है। इसलिए शायद इस मामले मे वह खासतौर पर उपयोगी है। इसके विपरीत परीक्षणात्मक विज्ञानो के किसी भी विशेषज्ञ को तर्कशास्त्र के नियमो से भद्रतया परिचित हुए बिना—और वह परिचय जेवन के 'एलिमेण्टरी लेसन्स' के अध्ययन तथा मिल के लेखो के ज्ञानातिरेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—कभी भी चरम तत्त्वमीमासीय रचना क्षेत्र मे पदार्पण करने का साहस न करना चाहिए।

२—अत विश्व विज्ञान का अर्थ है भौतिक क्रम व्यवस्था को एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप मे स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत पूर्वानुमानो मे शामिल अनुमानो का आलोचनात्मक अनुसधान तथा उन प्राक्कल्पनाओ की आलोचनात्मक परीक्षा का, जिनका उपयोग सामान्य विचारणा और वैज्ञानिक विमर्श क्रमश विशिष्टतया भौतिक अस्तित्व के वर्णन के लिए किया करते है। यह साफ ही है कि भौतिक अस्तित्व तथा अस्तित्व के सभी अन्य प्रकल्प्य प्रकारो के बीच के इस विभेद के स्वीकार मात्र का मतलब ही है वैचारिक विश्लेषण विषयक उस मात्रा का उपयोग जो उस विश्लेषण की मात्रा से कही अधिक बढी-चढी है जो उस सहजात पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे मूर्त है जिसे लेकर हम विगत दो अध्यायो मे चले थे। अस्तित्व जगत की अन्योन्य क्रिया पर वस्तुओं की परिवर्तनशील स्थिति बाहुल्यमयी सरल कल्पना मे अब तक शुद्ध भौतिक और मानस अस्तित्वो मे विभेद कर सकने का कोई आधार नही था। बच्चो और जगली मनुष्यो के मनोविज्ञान के अध्ययन ने यह बात सन्देहरहित बना दी है कि दुनिया मे इस प्रकार की विचारणा विस्तृत रूप से मौजूद है जिसके विषय मे उपर्युक्त प्रकार के विभेद की जरूरत ही कभी नही पड़ी। बच्चे और जगली लोग दोनो ही जीवित और जीवहीन

वस्तुओं मे किसी प्रकार का विभेद नहीं मानते और जगली आदमी तो जीवित वस्तुओं के प्रपंच का कारण वताने के अपने प्रयत्नों में इस प्रकार की प्रकृति का प्रदर्शन स्वाभाविकत: भौतिक शारीर तन्त्र को उसी प्रकार के अस्तित्व क्रम के एकाधिक लघुतर शारीरतन्त्रों द्वारा अधिवासित मानने की अपनी कल्पना द्वारा किया करता है। वस्तुओ मे जिस 'आत्मा' का वह अध्याहार करता है वह एक लघुता और परिणामत. असत्वरदृश्य पिण्डान्तर्गत पिण्ड मात्र होती है।

सस्कृत व्यक्ति के लिए समग्र अस्तित्व के समानक्रमिक होने की यह कल्पना अर्थात् ऐसी एक ही क्रम व्यवस्था का होने की कल्पना—उस क्रम-व्यवस्थाओं से संवद्ध होने के कल्पना जिसे हम अपने अधिक विकसित स्थिति विन्दु के अनुसार एकदम सजीव और भौतिक वता सकते है—इतनी अधिक दूरवर्तिनी और अपर्याप्त हो चुकी है कि अव हमे विश्वास नही होता कि यह कल्पना कभी स्वत: सिद्ध सत्य की शक्ल मे सर्वत्र स्वीकृत रही होगी। भौतिक विज्ञान और उसके मार्गदर्शन में चलनेवाली सभ्यजगत की वर्तमान विचारधारा उस इन्द्रियगम्य अत्यधिक संख्यक वस्तुओ के जिन्हें वह विशुद्ध भौतिक मानती है और उन अल्पसंख्यक वस्तुओ के बीच जिनसे चेतना प्रकट होती है एक विशिष्ट विभेद करने लगी है । अतएव अस्तित्व को भौतिक और मानसिक नामक दो क्रम विभागो में विभक्त करने का एक ऐसा सिद्धात निकल खडा हुआ है जिसने विश्व विषयक हमारी साधारण विचारणा पर ऐसा सिक्का जमा लिया है कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों के, दोनों क्रम व्यवस्थाओं को मिलाकर फिर एक वार एक कर देने के सारे प्रयत्न इतने अशक्त से प्रतीत होते है कि उनका कोई प्रभाव अधिकांश दिमागों पर नही पड़ता।

जब हम पूछते हैं कि भौतिकक्रम व्यवस्था की प्रचलित कल्पना के वैशेषिक चिह्न क्या है, तो इस प्रश्न का विशुद्ध उत्तर निर्भर होगा उस व्यक्ति की वैज्ञानिक योग्यता पर कि जिससे यह प्रश्न पूछा जायगा। लेकिन प्रचलित विज्ञान तथा दैनंदिनीय विचारणा दोनों ही ने मुख्यतया जहाँ तक इस समस्या पर विचार किया है, वहाँ तक वे सभवत. निम्नलिखित दो वातो पर सहमत होंगे। (ल) यह कि भौतिक अस्तित्व विशुद्ध रूप से द्रव्यात्मक अथवा अमानस और अचेतन भी है। इन विशेषणों या विधेयों की पूरी-पूरी यथार्थता उन लोगों के लिए भी संभवत: वहुत कम स्पष्ट होगी जो इनका जी खोलकर उपयोग किया करते हैं। ऊपर से देखने पर तो इन विशेषणों से केवल इतना ही सूचित होता है कि भौतिक प्रकार का अस्तित्व किन्हीं महत्त्वपूर्ण वातों मे मानस प्रकार के अस्तित्व से भिन्न होता है। भिन्नता के स्वरूप पर उन शब्दों से कोई प्रकाश नही पड़ता। लेकिन विमर्श से किन्तु कुछ प्रकाश इस विषय पर पड सकता है।

एक पक्ष के व्यक्तियो और जीवधारियो तथा द्वितीय पक्ष की मात्र वस्तुओ के बीच का विभेद अन्ततोगत्वा एक महत्वपूर्ण कार्यकर विचार पर निर्भर प्रतीत होता है। पूर्व वैज्ञानिक सिद्धात विषयक सरल यथार्थवाद के अनुसार जिन वस्तुओ से मेरा पर्यावरण निर्मित है, उनमे से कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो मेरे अपने बहुत अधिक भिन्न प्रकारो के व्यवहार के प्रत्युत्तर मे नियमपूर्वक एक-सा ही सामान्य व्यवहार ज्यादातर किया करती है। कुछ दूसरी वस्तुएँ ऐसी भी है जो उनके प्रति किये गये मेरे व्यवहार की भिन्नता के अनुसार मेरे प्रति भिन्न प्रकार का व्यवहार करती है। दूसरे शब्दो मे, कुछ वस्तुएँ ऐसे विशिष्ट व्यष्ट प्रयोजन प्रदर्शित करती है जो विविध रूप मे मेरे अपने व्यष्ट प्रयोजनो पर निर्भर होते है पर अन्य वस्तुएँ ऐसा नही करती। अत कार्याभ्यासार्थ यह जानना बहुत जरूरी हो जाता है कि किन वस्तुओ पर एक ही सामान्य प्रकार के व्यवहार के प्रदर्शन के लिए सदा निर्भर रहा जा सकता है और किन पर नही तथा किन के विषय मे, यह बता सकने के लिए कि मेरे विभिन्न प्रयोजनात्मक व्यवहार के प्रत्युत्तर मे वह कैसा व्यवहार करेगी--प्रत्येक के व्यष्ट अध्ययन की जरूरत पड़ेगी। मानस व चेतन और विशुद्ध भौतिक व अचेतन अस्तित्वो का विभेद इसी कार्यकर वा क्रियात्मक भिन्नता पर आधारित है। विशुद्ध द्रव्यात्मक या भौतिक अस्तित्व की अचेतनता का अर्थानुवचन अगर यो कह कर किया जाय कि उसमें प्रयोजनात्मक व्यष्टता के कोई चिह्न नही पाये जाते अथवा कोई ऐसे तद्विषयक चिह्न नही पाये जाते जिन्हे हम पहचान सके। तो शायद हम कोई भारी गलती न कर रहे होगे। और भी सक्षेप मे कहा जाय तो कह सकते हैं कि भौतिक क्रमव्यवस्था ऐसी वस्तुओं से निर्मित है जिनमे पहचानने योग्य व्यष्टता नही पायी जाती।

(ब) इस विशिष्टता से प्रगाढतया सम्बद्ध एक दूसरी विशिष्टता भी है, भौतिक व्यवस्था या भौतिक जगत ऐसी घटनाओ से बना है जो किन्ही विशिष्ट सार्वत्रिक अथवा विश्वजनीन नियमो का विशुद्ध दृढतापूर्वक प्रतिपालन किया करती है। उस व्यवस्था का प्रयोजनात्मक व्यष्टता की कमी का यह एक क्रमिक परिणाम है। इस व्यवस्था के निर्मायक तत्व चूंकि प्रत्येक प्रकार के निजी प्रयोजनात्मक लक्षणो से रहित होते है इसलिए किसी एक तरह की परिस्थितियो मे एक ही तरह का नियमित व्यवहार करते हैं। इसी लिए उनके व्यवहार-विषयक विशुद्ध सामान्य नियमो का हम सूत्रीकरण कर पाते है। मूलत भौतिक जगत या व्यवस्था की इस एकरूपता को लोग बाग नि सन्देह उन प्रयोजनरत जीवो के जो एक-सी बाह्य स्थितियो मे भी अपने-अपने आन्तरिक व्यष्ट प्रयोजनो की विविधतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार किया करते है, अनियमित व्यवहार की विषमता प्रकट करने का साधन समझते हैं। मानसिक प्रक्रियाओ के परीक्षाणात्मक विज्ञान के रूप मे मनोविज्ञानशास्त्र की उन्नति

के साथ साथ ही सामान्य नियम की एकरूप प्रतिपालना की इस कल्पना का, मानस जगत की प्रक्रियाओ मे भी विनियोग करने की प्रवृत्ति सी चल पड़ी है और अव हमे इस प्रसिद्ध समस्या का सामना करना पड़ रहा है कि वैज्ञानिक नियम का मानवीय 'स्वतन्त्रता' के साथ मेल कैसे वैठाया जाय। भौतिक जगत के तत्वो के भासमानतया नियमित और अप्रयोजनात्मक व्यवहार तथा मानस जगत के अगो के अनियमित और, प्रयोजनात्मक व्यवहार के वीच की इसी प्रकार की प्रतिपक्षता भी यह कह कर प्रकट की जाती है कि भौतिक जगत् का घटनाक्रम कारणता सिद्धात या नियम द्वारा मशीनी तौर पर अथवा 'यन्त्रचालनवत्' निर्धारित होता है जवकि मानस जगत का घटनाक्रम- 'साध्यपरक' होता है अर्थात् साध्य, प्रयोजन अथवा उद्देश्य के अनुसार निर्धारित।

(स) भौतिक जगत का प्रत्येक तत्व अथवा अंग देश और काल के मध्य किसी न किसी स्थान की पूर्ति किया करती है। इसीलिए देश अथवा आकाश या अवकाश तथा काल स्वरूप विषय तत्त्वमीमासीय समस्याओं का प्रभाव भौतिक जगत के स्वरूप से सम्वद्ध हमारे अभिमत पर पड़ना जरूरी है। एक वार फिर इस वारे मे भी कम से कम वैषम्य की वात भौतिक विश्व-व्यवस्था तथा मानस विश्व-व्यवस्था के वीच उठ खडी होना संभव है। ज्यो ज्यो अनुभव वढता जाता है त्यों त्यों यह वात अधिकाधिक स्पष्टतर होती जाती है कि मेरे साथी मनुष्यो के शरीर और मेरा अपना शरीर भी जिस हद तक कि वे विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्रेक्ष्य अन्य वस्तुओ के समान ही पदार्थमात्र है और वहुत-सी वातो मे सामान्य नियमो का उन्ही की तरह पालन करते है तथा वे भी उन्ही रचक अगो से वने हुए है जिनसे कि अन्य सज्ञानमय जगत् वना है, इसलिए प्रयोजन-पर अभिकर्ताओं के इस प्रकार के जीवन पिण्डो अथवा शरीरो को भी भौतिक जगत के ज्ञानवान् अथवा सज्ञानी अस्तित्व के अन्य शेष भाग मे ही शामिल कर लेना पड़ता है। व्यष्टि की प्रयोजनपर व्यष्टता को अव भौतिक जगत से वाह्य प्रकार की उसकी व्याकृति के एक विशिष्ट कारक मे अध्यवसित मानना पड़ता है और इसीलिए इन्द्रिय ग्राह्य भी नही मानना पड़ता अर्थात् प्रचलित मनोविज्ञानी अर्थ मे उसे 'मन', 'आत्मा' अथवा 'चैतन्य-धारा' कहा जा सकता है। इस प्रकार के मन, आत्मा अथवा चैतन्यधारा को आमतौर पर देश या अवकाश मे स्थितियो की शृंखलाये आपूरित न करते हुए तथा कभी भी कालगत स्थिति शृंखलाये आपूरित न करते हुए माना जाता है।

(द) एक अदृश्य आत्मा अथवा मन की पुर. स्थापना द्वारा अन्तिम रूप से इस प्रकार सगठित भौतिक जगत की कल्पना मे अव कारणता के नियम द्वारा परस्पर शृंखलित और सामान्य नियमो का प्रतिपालन प्रदर्शित करनेवाला समग्र चेतन

अस्तित्व[1] भी देश तथा कालस्थ घटनाओं के समुच्चय रूप मे, शामिल हो गया है। इस कल्पना मे आधुनिक विज्ञान ने सतत उत्क्रान्ति और विकास के ऐसे नजरिये अथवा दृष्टिकोण को, जो समग्र शृखला भर मे आदि से अन्त तक व्याप्त प्रतीत होता है, भी शामिल करके उसमे एक महत्वपूर्ण वृद्धि कर दी है। अतएव अब हम अन्तिम रूप से भौतिक जगत् की परिभाषा करते समय अब उसे देशकालावस्थित, ऐसा घटना-पिण्ड कहा जा सकता है जो अडिग और कठोर एकतानतापूर्वक सामान्य नियमो का अनुपालक और सतत विकासशील है।[2]

भौतिक जगत् के इन सामान्य लक्षणो से, जिनकी कल्पना आधुनिक विज्ञान तथा प्रचलित लौकिक विचार प्रणाली द्वारा हुई है, विश्व विज्ञान की मौलिक समस्याओ का जन्म हुआ है। अब हमे इन समस्याओ पर विचार करना है। (१) द्रव्यात्मक अथवा भौतिक अस्तित्व का वास्तविक स्वरूप अर्थात् दोनो विश्व व्यवस्थाओ के बीच के विभेद की चरम सार्थकता तथा उन दोनो को घटा कर एक कर देने की सभाव्यता पर। (२) मशीनी और साध्यपरक प्रक्रियाओ के मध्यगत विभेद की न्याय्यता तथा भौतिक जगत की एकरूपी नियमो के प्रति कठोर अनुरूपणीयता विषयक कल्पना की न्याय्यता (३) देश और काल की कल्पनाओ सम्बन्धी मुख्य कठिनाइयाँ और भौतिक जगत् से समन्व्ययनीय वास्तविकता की मात्रा पर उन कल्पनाओ का प्रभाव। (४) भौतिक जगत की घटनाओ पर उत्क्रान्ति अथवा विकास के सिद्धात के विनियोग की दार्शनिक लक्ष्यार्थ विवक्षायें। (५) और अन्त मे शायद हमे अत्यन्त सक्षेप मे बहुत ही प्रारम्भिक रूप मे अवशिष्ट मानवीय ज्ञान के साथ वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के समग्र रूप सम्बन्ध की वास्तविक स्थिति विषयक समस्या पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

---

१. अर्थात् उसी प्रकार का अस्तित्व जो इन्द्रियप्रेक्ष्य या ग्राह्य हो, भले ही वह इन्द्रियो द्वारा वाकई ग्रहण कर पाती हो या न कर पाती हो। इस अर्थ मे, न्यूटन अथवा लॉक के ठोस अभेद्य, प्रवर्धित अणु 'चेतन' अस्तित्व हैं क्योकि उनके गुण भी इस प्रकार के ही हैं जिस प्रकार के कुछ प्रेक्ष्य गुण वृहत्तर पिण्डों में पाये जाते हैं यद्यपि वे पिण्ड स्वय प्रेक्ष्य नहीं होते।

२. निश्चय ही यह उत्क्रान्ति उस अवस्था मे आत्मनिष्ठ आभास मात्र होना चाहिए जब भौतिक जगत की प्रक्रियायें अथ से लेकर इति तक, एकदम मशीनी प्रक्रियायें ही हों, जैसा कि कभी कभी मान लिया जाता है। लेकिन इससे केवल यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत की वर्तमान अथवा प्रचलित कल्पना असंगतियों से रहित नहीं है।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए—एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी' अध्याय २६ (पृष्ठ ४९६–४९७ प्रथम संस्करण); एच० लोट्जे; 'आउटलाइन्स ऑफ मेटाफिजिक' पृष्ठ० ७७–७९; जे० एस० मैकेंजी, 'आउटलाइन्स आफ मेटाफिजिक्स' खंड ३, अध्याय २; जे० वार्ड 'नैचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिलिज्म', लेक्चर १।

अध्याय २

द्रव्य अथवा जड़वस्तु की समस्या

१—चूंकि भौतिक जगत् अपने प्रेक्षित गुणो के लिए प्रेक्षककी ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर होता है इसलिए उसका उस चरमतर सत्ता या वास्तविकता का आभासी होना आवश्यक है जो अभौतिक है। २—वर्कले की आलोचना इस सत्ता या वास्तविकता 'द्रव्यात्मक पदार्थ' के साथ तादात्म्यीकरण के लिए घातक है। वर्कले के अभिमन का यह तार्किक परिणाम कि चेतन या सवेदनशील वस्तुओ का अस्तित्व प्रेक्ष्य होता है, यह वस्तुवादी अभिमत ही होगा कि भौतिक जगत् प्रस्तुतियों का झमेला मात्र है। ३—लेकिन यह वात भौतिक जगत के उस भाग के वारे मे वस्तुत सही नही जो मेरे सहयायी मानव पिण्डो से वना है। मेरी इन्द्रियो की प्रस्तुतियो के रूप मे उनके अपने अस्तित्व से अधिकातिरिक्त उनका भावना केन्द्रात्मक अस्तित्व भी है। ४—चूंकि मेरे साथियो के शरीर-पिण्ड एक ही व्यवस्थान्तर्गत शेष भौतिक जगत के साथ सम्वद्ध है इसलिए समग्र रूप मे उस जग व्यवस्था की सत्ता या वास्तविकता उसी प्रकार की होनी चाहिए जिस प्रकार की उन शरीरो की है। उसका अनुभूतिशील व्यक्तियो की व्यवस्थाओ का ऐसा जाटिल्य अथवा एक व्यवस्था होना आवश्यक है जो हमारी इन्द्रिय के लिए प्रस्तुत हो चुका हो। अनैन्द्रिक अथवा अजैव प्रकृति मे भासमान जीवन तथा प्रयोजन की अनुपस्थिति का कारण उसके अगो के साथ सीधा समागम स्थापित कर सकने की हमारी असमर्थता ही होगी। ५—इस अभिमत के कुछ परिणाम।

१—पिछले अध्याय मे हमने वहुत ही सक्षेप मे उन पैड़ियो का सकेत दिया था जिनके द्वारा विमर्शकारिणी विचारणा अस्तित्वकी भौतिक तथा मानसिक व्यवस्थाओ के तीव्र विभेद कर पाती है। भौतिक जगद्विषयक कल्पना की जो पूर्ण आकृति उसमे मेरे अपने शरीर और उसके समस्त अगो को शामिल कर लेने के वाद वनती है उसे विश्व के समस्त पिण्डो से युक्त एक व्यवस्था रूप मे देखा जाता है अर्थात् उन समस्त अस्तित्वो की एक व्यवस्था के रूप मे जो उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के अस्तित्वों का प्रत्यक्ष प्रेक्षण मैं विशिष्टेन्द्रियो द्वारा करता हूँ।[1] इस प्रकार प्रकल्पित समग्र

---

१. भौतिक विश्व व्यवस्था की यह परिभाषा प्रो० मस्टरवर्ग द्वारा अपनी पुस्तक 'Crundzuge der Psychologie', खड १, पृष्ठ० ६५–६७ मे अंगीकृत परिभाषा के अत्यधिक निकट तक पहुँचती है। प्रो० मस्टरवर्ग एकत्र

भौतिक जगत् के विषय मे, जो दो बाते, थोड़ा सा भी विचार करने पर सामने आ जाती है—वे है कि यह जगत्-व्यवस्था अपने अस्तित्व के लिए मेरे द्वारा वस्तुत. प्रेक्षित होने के तथ्य पर निर्भर नहीं है और यह कि मैं जिन गुणो और सम्बन्धो को उसमे पाता हूँ उन सबके लिए वह मेरे प्रेक्षण पर निर्भर होता है। उसका तत् प्रेक्षक से स्वतन्त्र आभासित होता है किन्तु उसका 'कि' सारत. प्रेक्षणेन्द्रिय अथवा प्रेक्षणाग पर निर्भर अथवा उसकी संरचना का अपेक्षी होता है । जैसाकि हम पहले ही देख चुके है, ज्ञानेन्द्रियो के अस्थायी क्रियाकलाप अथवा उनके स्थायी सगठन की भिन्नताओ की सहयायिनी प्रेक्षण वैविध्य सम्बन्धी परिचित अनुभूतियो ने दर्शनशास्त्र के इतिहास मे बहुत पहले से ही इस आपेक्षिकता को उन तथाकथित 'द्वितीयक' गुणो की सीमा तक, जो केवल एक विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही प्रेक्ष्य हैं, स्वीकार कर लेने के लिए प्रेरित किया था। हम यह भी पर्याप्ततया देख चुके है कि (खड २ के अध्याय ४ मे) यही बात उन 'प्राथमिक' गुणो के सम्बन्ध मे भी उतनी ही सत्य है जो एक से अधिक इन्द्रियो द्वारा प्रेक्ष्य है और जिन्हे समवत इसी कारण प्रेक्षकेन्द्रिय की इस आपेक्षिकता से अप्रभावित माना जाता है।

अपने पाठकों का समय अपने पूर्वकथित विमर्श के पिष्टपेपण द्वारा नष्ट किये बिना ही, यहाँ यह बता देना उचित होगा कि भौतिक जगत के गुणों की यह प्रेक्षणेन्द्रिय-परक पूर्ण यायिनी आपेक्षिकता किस प्रकार हमे सीधे ही उस अनिश्चित प्रगतिगामिता की ओर ले जाती है जो तत्त्वमीमासीय शास्त्रानुसार सभी व्याघातो का प्रत्यक्षत अपरिवर्ज्य परिणाम उस अवस्था मे होती है जब उन गुणों को अनिर्भर रूप मे वास्तविक मान लेते हैं। भौतिक अस्तित्व के गुणधर्मो को हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण करते हैं और प्रेक्षित रूप मे ये गुण-धर्म इन इन्द्रियों की सरचना द्वारा अनुकूलित हुआ करते हैं। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय स्वयं भी भौतिक जगत् का ही एक अंग होती है और इस रूप मे वह भी अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रेक्ष्य अथवा ग्राह्य तथा अपने प्रेक्षित गुणो के लिए उसी इन्द्रिय पर निर्भर भी होती है। यह दूसरी इन्द्रिय भी अपनी बारी पर, उसी भौतिक जगत् का अग होती है और वह भी तीसरी या प्रथम इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तथा अपने

व्यक्ति द्वारा ही प्रत्यक्षतः अनुभूति ग्राह्य मानसतथ्य के विपर्य्यरूप, भौतिक तथ्य की परिभाषा यो करते है कि वह ऐसा तथ्य है जो अनेकों इन्द्रिय संवेदनशील व्यक्तियों के प्रेक्षण हेतु प्रत्यक्षतः अभिगम्य हो । निःसदेह यह स्मरण रखना होगा कि मेरा शरीर जब 'सामान्य सवेदनान्तर्गत तथा भावनात्मक तरंगत' अवस्था में प्रत्यक्षतः अनुभाव्य होता है तो वह मानस जगत की वस्तु हो जाता है, किन्तु मेरा शरीर जब अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रेक्ष्य होता है तब भौतिक जगत् का अंग होता है।

प्रेक्षित गुणो के लिए उपर्युक्त तीसरी या प्रथम इन्द्रिय पर निर्भर होती है। और इस पारस्परिक निर्भरता का कोई अन्त नही रहता। समग्रत यह भौतिक जगत् अवश्य ही मेरे तन्त्रिका-तन्त्र की दशा विशेष होना चाहिए जो उस जगत का ही अग है। अपनी इस पुस्तक के अन्तिम खड मे जब हम मन और शरीर की समस्या पर विचार करेंगे तब हम अधिक पूर्णतया जान सकेगे कि इस प्रकार का व्याघात, मेरे अपने शरीर के इस भौतिक जगत मे सम्मिलित कर लेने मे निहित असगति का ही एक अपरिवर्ज्य परिणाम है और यह एक ऐसी असगति है जो अपनी बारी मे अस्तित्व के दोनो विश्वो को कठोरतापूर्वक निगड़ित पृथक् विभागो मे विभक्त कर देने का आवश्यक परिणाम है।[1]

इस प्रकार के विचारों के आधार पर सामान्यत यह स्वीकार कर लिया गया है कि भौतिक जगत् को प्रपचात्मक मानना जरूरी है अर्थात् ऐसी वास्तविकता अथवा सत्ता का इन्द्रियग्राह्य व्यक्ती भाव जो अपने स्वभाव के कारण ही इन्द्रियग्राह्यता से परे है और इसीलिए सही माने मे अभौतिक है भौतिक नही। किन्तु जब हम प्रश्न करते हैं कि यह अभौतिक जगत् जिसकी हमारे लिए इन्द्रिय ग्राह्य प्रपचात्मक अभिव्यक्ति यह भौतिक जगत् है कैसे विचारग्राह्य है तो हम अपने आपको उन्ही कठिनाइयो मे एकदम डूबता पाते है जिनमे हम सामान्य रूप से तब पडे थे जब पदार्थ विषयक कल्पना पर हमने विचारविमर्श किया था। लौकिक विचारणा

---

१. तुलना कीजिए, ब्रैडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', ग्रन्थ के अध्याय २२, पृ० २६०–२६७ (प्रथम सस्करण)' उन प्रयत्नो की जो कि 'प्राथमिक' गुणों को इस आपेक्षिकता से छुटकारा दिलाने के लिए किए गए, गहरी आलोचना करने की कोई जरूरत नहीं मालूम देती। मूल पाठ मे दी गयी युक्ति रग और बाँस पर जितनी लागू है उतनी ही विस्तार और आकृति पर भी सही बैठती है। यह कथन पक्षपोषण योग्य ही नहीं, जैसाकि श्री हॉबहाउस करना चाहते हैं कि गुण चाहे वे प्राथमिक हों अथवा द्वितीयक, अपने प्रेक्षण हेतु ही सदा प्रेक्षक इन्द्रिय अथवा अंग पर निर्भर होते हैं, अपने अस्तित्व के लिए यह कथन अनुभूति के उन दो पहलुओ पर निर्भर है जो सदा एक साथ प्रदत्त होते है अर्थात् सवेद्य वस्तु के तत् और कि और इस युक्ति पर भी कि एकल समग्र के ये दोनों ही पहलू चूँकि अलग अलग पहचाने जा सकते हैं इसलिए उनमे से एक दूसरे से वस्तुतः पृथक् होकर भी वर्तमान रह सकता है। इसी विधि से और इन्हीं आधारों पर यह निष्कर्ष निकालना तर्कसगत होगा कि अन्तर्विषयहीन प्रत्यक्षणात्मक दशा का भी अस्तित्व हो सकता है क्योंकि अन्तर्विषय उस रूप मे जिस रूप मे हम उन्हे जानते हैं, दशा या स्थिति के बिना भी अस्तित्वमय रह सकते है।

तथा उस सीमा तक जहाँ तक वह बिना किसी आलोचना के लौकिक विचारणा के अभिमतों को स्वीकार करने को तैयार हैं, विज्ञान भी, अप्रेक्षित 'अव. स्तर' रूप मे भौतिक जगत् के अप्रपचात्मक आधार के विचार की ओर झुक चुकी है, उसने इस अव स्तर को 'द्रव्य' की संज्ञा दी है और इस नाम के द्वारा भौतिक जगत् की व्याख्या अदृश्य अथवा अप्रेक्षित द्रव्य के कारणीय कार्य द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियो मे उत्पादित प्रभाव के रूप मे की है। अथवा इसी बात को और भी सही तौर पर कहा जाय तो, हमारी ज्ञानेन्द्रियों के अज्ञात सारभूत अव स्तर पर डाले गये प्रभाव के रूप मे। जैसी कि आशा की जा सकती है, अनेक बार इस अव स्तर को भौतिक जगत् के उन ज्ञात गुणो के साथ एकरूप या तादात्म्य बतलाने का प्रयत्न किया गया, जो गुण प्रेक्षक इन्द्रियों की परिवर्तमान स्थितियों या दशाओं के साथ साथ बहुत कम परिवर्तनीय, माप और गणना के लिए अपने आप को तुरन्त प्रस्तुत कर देने वाले तथा यान्त्रिक विज्ञान या मशीनी साइन्सो के तथाकथित 'प्राथमिक' गुणों की संज्ञा भी दी गई है। न्यूटन यही आधारस्थिति स्वीकार की है और मुख्यत. लॉक ने भी तथा प्रधानत. उनके ग्रन्थो के प्रभाव से ही वह सामान्य अग्रेज के दिमाग को अधिकतम परिचित प्रतीत होती है। वे असंगतियाँ जिन्हे हमने पहले ही पदार्थ की कल्पना मे भी उन्ही रूप मे, जैसा कि यहाँ पूर्वानुमित है, अन्तर्निहित पाया था, किसी भी प्रकार की गभीर परीक्षा करने पर अपने अस्तित्व से हमे इस तरह अवगत करा देती है, कि यह सिद्धात विचारो के इतिहास मे ज्ञेय शारीर गुण धर्मो के अप्रपचात्मक और एकदम अज्ञात अव.स्तर रूपी द्रव्य-विषयक अतिपरिवर्तनवादी दृष्टिकोण की प्रगति पथ के एक अस्थायी विरामस्थल मात्र के रूप मे ही नियमित रूप से पाया जाता रहा है।

२—यह अवर अभिमत भी स्पष्टत उन सभी आपत्तियों का लक्ष्य है जो एक अज्ञात अव स्तर अथवा गुणधर्मो के आलम्ब रूप मे पदार्थ की सामान्य कल्पना के विरुद्ध पहले उठाई जा चुकी है। इन आपत्तियो को लेकर ही, द्रव्य की कल्पना के बारे मे बर्कले की प्रसिद्ध आलोचना, आग्ल दर्शनशास्त्र के इतिहास मे भौतिक जगत् के वास्तविक स्वरूप विषयक निर्माणकारी सिद्धान्त की स्थापना का शायद सबसे अधिक मौलिक प्रयत्न है—प्रारम होती है। बर्कले ने सबसे पहले द्रव्यात्मक पदार्थ का उस प्रकार का तादात्म्य शरीर के प्राथमिक गुणो के साथ बैठाया जिस प्रकार के तादात्म्य को लॉक आग्लदेश की काल्पनिक विचारणा मे पहले ही प्रचलित कर चुका था। उसने प्रेक्षित गुण की प्रेक्षक इन्द्रिय के प्रति सापेक्षता पर जोर देकर यह सिद्ध किया कि उस प्रकार का तादात्म्य ग्राह्य नहीं हो सकता। अपने प्रतिपक्षी को तादात्म्य का इस प्रकार परित्याग कर देने के लिये

मजबूर कर देने के बाद और द्रव्य को भौतिक जगत् का अज्ञात अवस्तर मनवाने के बाद वह सयुक्ति यह सिद्ध करना चाहता कि अव.स्तर विषयक वह अभिमत न केवल निरर्थक ही है अपितु अबोध्य भी। वह निरर्थक इसलिए है चूंकि हम स्वय ही इस अवस्तर द्वारा गुणाधर्मों के तथानुमित अपने प्रदत्त आलम्ब स्वरूप के बारे मे कुछ भी नहीं बता पाते।

भौतिक अथवा द्रव्यात्मक पदार्थ को, एक अर्थहीन कल्पना होने के कारण इस प्रकार निरस्त करने के बाद भौतिक जगत् की वास्तविकता के रूप मे हमारे पास रह क्या जाता है? बर्कले के मतानुसार वास्तविक प्रस्तुतियों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं अथवा 'प्रत्यय' जिनमे प्रेक्षक व्यक्ति शरीरो अथवा पिण्डो के गुणधर्मों के प्रति सजग होता है। प्रेक्षक के लिए पिण्ड अथवा शरीर प्रस्तुतियो का ऐसा ही जाटिल्य है, और इस रूप मे प्रस्तुत होने के अतिरिक्त उनका कोई अस्तित्व ही नहीं। जैसाकि बर्कले को कहना पसन्द है, द्रव्य का अस्तित्व-सार प्रेक्ष्यत्व मात्र है, अर्थात् प्रस्तुत होने का तथ्य। किन्तु जहाँ हमे आशा थी कि बर्कले इस व्यक्तिवादी कथन को स्वीकार कर लेंगे कि पिण्ड 'प्रेक्षक की चैतन्यावस्थाएँ' मात्र है अन्य कुछ नहीं, वहाँ ही उन्हे याद आ जाता है कि इन दोनो ही तथ्यो का कारण उन्हे ढूँढ निकालना है पहले यह कि हम जिसे चाहे उसका प्रेक्षण नही कर सकते तथा जहाँ चाहे वहाँ भी नहीं अपितु हमारे प्रेक्षण एक ऐसी क्रम व्यवस्था का निर्माण करते है जो हमारी मर्जी पर निर्भर नहीं होती, दूसरे सामान्य जनमानस मे गहराई तक पैठे इस विश्वास का भी हल उन्हे निकालना है कि जब मेरा प्रेक्षण व्यवहित हो जाता है तब वस्तुओ के अस्तित्व का लोप नही होता। आभासत —विरोधी इन तथ्यो के साथ इस सिद्धात का मेल बैठाने के लिए उन्होंने दार्शनिको तथा अन्यो की प्रथानुसार, दैवी सहायता का सहारा लिया। प्रेक्षण के अन्तरालो मे भी भौतिक जगत के अनवरत अस्तित्व, उसके व्यवस्थित स्वरूप तथा हमारे सकल्प पर उसकी आशिक अनिर्भरता को वह इस प्राक्कल्पना द्वारा हल कर देते है कि ईश्वर हमारे भीतर प्रेक्षण एक निश्चित अथवा स्थिर क्रमानुसार उत्पन्न करता रहता है और जब भौतिक जगत् का मेरे द्वारा होने वाला प्रेक्षण निलम्बित होता है तब ईश्वर ही उसकी प्रस्तुति-व्यवस्था के प्रति सतत जागरुक रहता है। उन भौतिक सत्ताओ के अस्तित्व का कारण बतलाने के लिए जिन्हे कोई मानव व्यक्ति देख या ग्रहण नही कर सकता, उपर्युक्त व्याख्या का ही आसरा लेना पडेगा।[1]

---

१. विशेष रूप से देखिए उसके अभिमत का विवृतिमय विवरण और आपत्तियों का विशद विमर्श 'थ्री डायलॉग्स बिटवीन हायलास एण्ड फिलोनस' नामक उसके ग्रन्थ

यह तो पर्याप्त स्पष्ट है कि किसी सगत समग्र मे वर्कले के सिद्धात के दोनों अर्धभाग साथ-साथ सही नही वैठेंगे । यदि भौतिक वस्तुओ की समग्र 'अस्ति' उनकी 'प्रेक्ष्यता' मात्र है तो कोई वजह नही कि क्यो मैं उनके अस्तित्व को मानूं। वे केवल इस माने मे ही और तव तक ही वर्तमान रहती है जब तक कि वे मेरे प्रेक्षणार्थ प्रस्तुत रहती है। ऐसे सर्वत्र वर्तमान दैवी प्रेक्षण की जो उन विषयवस्तुओं के प्रति सजग रहता है, जो कि मेरे अपने प्रेक्षण से गायव हो चुकी होती है, सारी प्राक्कल्पना इस प्रकार निष्प्रतिफल हो जाती है। वर्कले के सिद्धान्तानुसार आन्तरिक रूप से असंगत होने का अलाभत्व भी उसमे पाया जाता है। क्योकि यदि प्रस्तुतियो को मेरी अनु-भूत्यर्थ प्रस्तुत होनेवाली घटना का कारण वतलाने के लिए ईश्वर की सहायता आवश्यक होती तो यह वात साफ नही दीखती कि हम क्यो एक ऐसे अन्य दैव की कल्पना न करे जो ईश्वर की अनुभूति हेतु प्रस्तुतियो की शृखला प्रस्तुत करे और फिर उस दूसरे दैव के लिए तीसरे दैव की और इसी तरह अनेक रूप से आगे भी। दूसरी ओर यदि ईश्वर की अनुभूति को कारण द्वारा उद्भूत न माना जाय तो यह स्पष्ट नही होता कि मेरी अपनी अनुभूति को भी पहली ही दफा क्यो न इसी प्रकार अकारणोद्-भूत मान लिया जाय और इस प्रकार इस सिद्धात के मामले मे ईश्वर के हस्तक्षेप से क्यों न वच निकला जाय। अतः तव इस सिद्धात का कि वस्तुओ का अस्ति, उनका प्रेक्ष्यत्व मात्र ही है तर्कसंगत निष्कर्ष या तो स्वारित्तत्ववाद हो सकता था जिसके अनुसार अपने स्वतः अस्तित्व के अतिरिक्त मुझे अन्य किसी अस्तित्व का निश्चित ज्ञान नही होता अन्य सभी वस्तुयें मेरे अपने अस्तित्व की स्थिति विशेष मात्र है अथवा उसके रूपान्तरण मात्र, अथवा ह्यूमीय विचिकित्सावाद जिसके अनुसार मेरा अपना अस्तित्व तथा सारे वाह्य जगत् का भी, क्षणभगुर मानसिक प्रक्रियाओ का अनुक्रम मात्र है। विलोमत यदि यह विश्वास कर लेने का पर्याप्त कारण मेरे पास हो कि भौतिक जगत् का कोई अग प्रस्तुति से अधिक भी कुछ है और मेरे प्रेक्षण पर अनिर्भर और कोई अस्तित्व किसी माने मे भी यदि है तो उस जगत् के वारे मे, विना किसी विशेष कारण के मुझे यह घोषणा करने का कोई अधिकार नही कि वह अस्तित्व केवल प्रेक्ष्यत्व मे ही निहित है।

३—तव वर्कले ने क्यो नही तथ्यत स्वारित्तत्ववादीय अथवा विचिकित्सा-वादीय निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया? और अन्ततोगत्वा क्यो उसने भौतिक जगत् के अंगो मे ऐसे अस्तित्व का अध्याहार किया जो मेरे द्वारा उनकी प्रेक्ष्यता से स्वतंत्र है,

---

में जो 'प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नालेज' नामक सक्षिप्ततर ग्रन्थ (धारा १ से १३४ तक) का भाष्य है।

और क्यो उसने अपने सिद्धाततन्त्र मे इस प्रकार का व्याघात घुसा लिया ? जिन कारणों से वह अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा उन्हे जान लेना कुछ कठिन न होगा। सारे ही भौतिक जगत् को यह कह कर टाला नही जा सकता कि वह एक व्यक्तिनिष्ठ भ्रम मात्र है क्योकि उसके कुछ अग ऐसे है जिनका अस्तित्व नि.सदेह मेरी ज्ञानेइन्द्रियो द्वारा उनकी प्रेक्ष्यता पर निर्भर नही है। ऐसे अग हैं मेरा अपना पिण्ड शरीर और हमारे साथी व्यक्तियो के शरीर।

निःसन्देह हमारे साथियो के शरीर, एक दृष्टिकोण से प्रस्तुति के ऐसे जाटिल्य हैं जिनका ग्रहण हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा करते है और उस सीमा तक जैसाकि वर्कले कहते है उनका अस्तित्वसार अथवा भावत्व प्रेक्ष्य ही है किन्तु मेरे साथियो के साथ विविध सामाजिक सस्थाओ द्वारा होने वाला सारा सम्पर्क या समागम इस विश्वास पर ही निर्भर है कि प्रस्तुति-सह जाटिल्य अथवा मेरी प्रेक्षणात्मक स्थितियो की विषय-वस्तुओ के रूप मे उनके अस्तित्व के अतिरिक्त, मेरे साथियो के शरीर पिण्डो का अस्तित्व अव्यवहृत सवेदना या भावना द्वारा प्रत्यक्षत अवबोधित उसी प्रकार का अस्तित्व है जिसे मैं अपने शरीर से सपृक्त मानता हूँ। दूसरे शब्दो मे सकल क्रियात्मक जीवन ही एक भ्रम मात्र है यदि मेरे साथी मनुष्य भी मेरी ही तरह प्रयोजनात्मक अनुभूति के केन्द्र न हो। मेरे अपने प्रेक्षण से स्वतन्त्र जो अस्तित्व मैं उनमे अध्यादृत करता हूँ, उससे मेरा अभिप्राय ठीक प्रयोज-पर सज्ञाशील जीवात्मक अस्तित्व से है। अत यदि सारा सामाजिक जीवन ही एक भ्रान्ति अथवा कल्पना मात्र नही है तो भौतिक जगत् का मुझसे वाह्य कम से कम एक भाग तो ऐसा है जो जिसकी सत्ता प्रेक्ष्यत्व मात्र नही अपितु प्रेक्षकीय अथवा ज्ञानशील है। यदि मेरे साथी मनुष्य प्रस्तुतियो के जाटिल्य से अधिक कुछ है अथवा 'मेरे शिर प्रत्ययों' से अधिक कुछ, तब भौतिक जगत् के कम से कम इस भाग के लिए तो समग्र वास्तविकता का व्यक्तिवाद द्वारा मेरी 'चेतनता' की स्थितियो मे विघटन सिद्ध नही होता। इसलिए चरम रूप मे व्यक्तिवादी सिद्धान्त का स्वीकरण अथवा परित्यजन, मेरे अपनी भावनाओ और प्रयोजनो से परे की मानवीय भावनाओ तथा प्रयोजनो के स्वतन्त्र अस्तित्व विषयक साक्ष्य के स्वरूप पर निर्भर होगा।

अपने साथियो से उनके अनुभूतिशील व्यक्ति रूप मे इस प्रकार के स्वतन्त्र अस्तित्व का अध्याहार तब किस आधार पर करते हैं ? प्रचलित व्यक्तिवादी व्याख्यानुसार हमारे सामने एक ऐसा निष्कर्ष है जो मेरे अपने शरीर की इन्द्रिय बोध द्वारा प्रस्तुत सरचना तथा अन्यो के शरीरो की सरचना के दृश्यानुमान पर आधारित है। अन्य व्यक्ति भी मेरे मानसिक जीवन की तरह मानसिक जीवनवन्त है, इस निष्कर्ष पर मैं इसलिए पहुँचता हूँ चूँकि उनकी दृश्यवान सरचना मेरी ही जैसी है और इस

निष्कर्ष को और भी अधिक पुष्टि मानवशरीर विषयक शारीरिक तथा शरीर क्रियात्मक ज्ञान की प्रत्येक वृद्धि द्वारा होती रहती है। किन्तु दृश्यानुमान पर आधारित युक्ति होने के कारण इस कथन को कभी भी एक सत्य वैज्ञानिक आगम का दर्जा नही मिल सकता और ऐसी मानवीय अनुभूति का जो मेरी अपनी अनुभूति नही है अस्तित्व, व्यक्तिवादी के लिए सदा एक सभाव्यता मात्र ही रहेगा वह कभी भी निश्चार्थता का रूप धारण नही कर सकता ।

मुझे पूरा भरोसा है कि यह लोक प्रचलित और ऊपर से युक्तियुक्त प्रतीत होनेवाला दृष्टिकोण परिवर्त्यंत असत्य है और यह कि इसका तर्कसगत परिणाम यह विश्वास कि हमारे साथी मानवो का अस्तित्व मेरे अपने अस्तित्व की अपेक्षा कम असदिग्ध है एक गहरी दार्शनिक भूल है। दृश्यानुमानाधारित युक्ति प्रत्युक्ति मेरी अनुभूति से अतिवाह्य मानवीय अनुभूतिगत विश्वास के लिए कोई पर्याप्त आधार नही, यह बात नीचे लिखे प्रतिबन्धो के आधार पर आसानी से जानी जा सकती है। (१) जैसा कि सामान्यत कहा जाता है अनुमानित निष्कर्ष के दत्तो का वास्तव मे कोई अस्तित्व नही होता। क्योंकि मैं जिसका प्रेक्षण करता हूँ वह, जैसाकि व्यक्तिवादी का पूर्वानुमान हुआ करता है। मेरा अपना मानसिक जीवन, मेरी अपनी शरीर रचना और मेरे पडोसी का शरीरतन्त्र, सब त्रैत नही है अपितु द्वैत है यानी मेरा अपना मानसिक जीवन और मेरे पड़ोसी का शारीरतत्र । यदि मै अपने पड़ोसी की अनुभूति की वास्तविकता के विषय मे तब तक असदिग्ध नही हो पाता जब तक कि उसके शारीरतन्त्र और शारीर-क्रिया की तुलना अपने शारीरतत्र और शारीर-क्रिया के साथ नही कर लेता तो मुझे कम से कम तब तक तो सन्देह मे ही पड़ा रहना पड़ेगा जब तक कि विज्ञान कोई ऐसा यत्र न बना डाले जिसके द्वारा मैं अपने तत्रिका-तंत्र को देख सकूँ। इस समय उन शर्तो मे से जिन पर कि यह दृश्यानुमानी बहस आधारित है। एक शर्त यह भी है कि मेरी अपनी आभ्यन्तरिक गठन को अधिकतर या सग्रहीत ही समझा जाय। व्यक्तिवादी की स्थिति को अपवर्तित करके यह कहना कि जब तक विज्ञान हमारे लिए अपने दिमागों को दे सकने के साधन नही जुटा देता तब तक हम अपने शारीर-तत्र के साथ अपने पडोसी के शारीरतन्त्र का साम्यानुमान पूर्वतः ज्ञात उसकी अनुभूति और अपनी अनुभूतियो के साम्य के आधार पर लगायेंगे, सच्चाई से कुछ ही कम होगा।

(२) और यदि इस कठिनाई को किसी तरह पहले ही हल हुआ मान लिया जाय, जैसा कि अनुमानत भविष्य मे होगा ही तोभी इस पूर्वकल्पित साम्यानुमानी निष्कर्ष मे एक और भारी दोष रह जायगा। यदि एक बार मुझे इस विश्वास का कि आभ्यन्तर अनुभूति के सादृश्य की प्ररिणति भौतिक रचना सादृश्य मे होती है कोई अच्छा आधार मिल जाता है तब किसी विशिष्ट मामले मे मैं निःसन्देह किसी शारीरतन्त्र के

साथ दूसरे शारीरतंत्र के रचना सादृश्य की मात्रा को तद्नुरूप आभ्यन्तर अनुभूतियो के तन्मात्र सादृश्य का अनुमान लगा सकने का पर्याप्त कारण मान सकता हूँ। किन्तु यह सामान्य नियम स्वयं किस आधार पर खड़ा है ? स्पष्ट है, यदि मेरी अपनी आभ्यन्तर अनुभति ही मूलत. मुझे ज्ञात एकमात्र अनुभूति हो तो मेरे पास इस वात का निर्णय कर सकने के कोई साधन नही कि मेरे शरीरतन्त्र की तथा आपके शरीर की बाह्य सदृशता कोई ऐसा कारण प्रस्तुत करती है या नही जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आपकी आभ्यन्तर अनुभूति भी मेरी आभ्यन्तर अनुभूति जैसी है या नही। किसी खास मामले मे यदि साम्यानुमान पर आधारित निष्कर्ष का कोई मूल्य होता है तो मुझे पहले ही स्वतन्त्र रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि बाह्य आकृति का साम्य और आभ्यन्तर अनुभूति का साम्य दोनो ही कम से कम कुछ मामलो मे तो सहयोगी होते ही है। उस विधि के विषय मे जिसके अनुसार हम अपने साथियो मे वास्तविक अस्तित्व का अध्याहार करने को तत्पर हो जाते है, व्यक्तिवादियो के प्रचलित विवरण का औचित्य केवल इसी कारण है कि वे इस महत्वपूर्ण विचार बिन्दु की ओर से चुपचाप अनभिज्ञ बने रहते है।

तब अपनी अनुभूति से बाह्य प्रयोजन-पर, सवेदनशील अनुभूति के अस्तित्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का क्या तरीका हो सकता है उत्तर स्पष्ट है। उसके जानने का वही तरीका है जिस तरीके से या प्रक्रिया द्वारा हम अपने बारे मे स्पष्ट चेतनता प्राप्त करते है। व्यक्तिनिष्ठ मनोविज्ञान की विशुद्ध और भारी भूल है यह मान लेना कि किसी न किसी रूप मे अनुभूति केन्द्र रूपी मेरे अपने अस्तित्व का तथ्य एक आदिकालीन ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है। अपने प्रयोजनों को कार्यरूप मे विनियुक्त करने की प्रक्रिया द्वारा ही हम उन्हे अपने प्रयोजन के रूप मे, अपने जीवन के अर्थरूप मे और अपनी विश्वविषयक वाञ्छा के रहस्य के रूप मे, जान पाते हैं और समाज मे अपने अस्तित्व के तथ्य से लेकर प्रयोजन के सम्पादनार्थ अथवा किसी वाञ्छा की पूर्ति हेतु उठाये गये प्रत्येक पग मे हमारे प्रयोजन-पर कार्यो का हमारे सामाजिक समग्र के अन्य अगो के कार्यो के साथ समजन शामिल रहता है। अपने उद्देश्यो की पूर्ति हेतु आपको अपने साथियो के अशत सपाती और अशत व्याघाती उद्देश्यो का भी ध्यान रखना ठीक उसी प्रकार आवश्यक होता है जिस प्रकार कि स्वय अपने उद्देश्यो का। आप उनमे से किसी एक का ज्ञान विना उसी रास्ते से गये और विना उतनी ही मात्रा तक ज्ञान प्राप्त किए जितना कि दूसरे का है, को प्राप्त नहीं कर सकते।- ठीक इसी कारण कि चूँकि हमारे जीवन और प्रयोजन स्वत पूर्ण, स्वत व्याख्य समग्र नही सभवत अपने निकट साथियो का अर्थ जानने तक ही सीमित रहने के अतिरिक्त स्वय अपना अर्थ नही जान सकते। मेरे साथ सामाजिकतया सम्बद्ध मेरे जैसे ही जीवो के लक्ष्यो और प्रयोजनो द्वारा अनुकूलित लक्ष्यो और प्रयोजनो से युक्त जीव के रूप मे

मेरे आत्मविषयक ज्ञान के बिना आत्मज्ञान शब्द एक थोथा और निरर्थक शब्द है। ज्ञानार्जन मे अनुकरण का जो स्थान है उसके आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह निष्कर्ष स्पष्टरूपेण और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा क्योंकि उन अध्ययनो से यह बात सामने आती है कि बहुत बड़ी सीमा तक बच्चा पहले स्वय बिना कुछ जाने निरुद्देश्य रूप मे दूसरो के सार्थक और सप्रयोजन कार्यो की पुनरावृत्ति करने के बाद ही स्वय चेतन सार्थकतायुक्त व्यवहार करने लगता है। ज्यादातर पहले यह सीख लेने के बाद ही कि किसी शब्द का उच्चारण करने से अन्य लोगों का क्या आशय हुआ करता है। अथवा वे क्या काम करते हैं, बच्चा उसी शब्द के प्रयोग अथवा उसी काम को करने कराने विषयक अपने अर्थ को जानने लगता है। अत हम भरोसे के साथ कह सकते है कि ऐसी प्रयोजन-पर और सार्थक अनुभूति की जो मेरी अपनी अनुभूति नही है, वास्तविकता उसी प्रकार से प्रत्यक्षत: निश्चित होती है जिस प्रकार कि मेरी अपनी अनुभूति की वास्तविकता और यह कि दोनो ही वास्तविकताओ का ज्ञान अनिवार्यत. मेरे अपने ही लक्ष्यों और हितो की स्पष्ट अन्तर्दर्शन प्राप्त करने की प्रक्रिया के समय ही, हमे एक साथ मिल जाया करता है। मेरे साथियो की आभ्यन्तरानुभूति उसी मात्रा मे असंदिग्धतया वास्तविक होती है जिस मात्रा मे मेरी अपनी क्योकि मेरे अपने प्रयोजन-पर जीवन का अस्तित्व मात्र ही, उनके जीवन के तत्सम अस्तित्व के बिना अर्थहीन है।[1]

४—विगत धारा द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का अब हम 'भौतिक जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व' नामक सामान्य प्रश्न के विषय मे विनियोग कर सकते है। ऐसा करने पर हमे श्रेष्ठतम श्रेणी के महत्व के दो परिणाम दृष्टिगोचर होते है। (१) चूंकि अब हमे मालूम हो गया है कि उस जगत् का कम से कम एक भाग अर्थात् हमारे साथियों के शरीर,

---

१. विवाद विषयक इस धारा की पूर्णतर व्याख्या के लिए रॉयस लिखित 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' ग्रन्थ का 'नेचर कांशसेनेस एण्ड सेल्फ कांशसनेस' नामक निबन्ध देखिए। उस निबन्ध से इस अध्याय भर के लिए पर्याप्त सहायता ली है साथ ही 'इण्टरनेशनल जर्नल' के अक्तूबर १९०२ के अंक में प्रकाशित 'माइण्ड एण्ड नेचर' शीर्षक निबन्ध में उल्लिखित तथा कथित साम्यानुमानी निष्कर्ष से निकटतया सम्बद्ध युक्तियों की विशुद्ध आलोचना के लिए भी मै उस निबंध का आभारी हूँ। रॉयस लिखित इसी प्रकार की संक्षिप्ततर आलोचना को जो 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल,' सेकेंड सीरीज, के 'फिजिकल एण्ड सोशल रीयालिटी' नामक चौथे लेक्चर के पृष्ठ १७० पर दी गयी है, उपर्युक्त लेख लिखते समय देख सकने का अवसर मुझे नहीं मिला। अनुकरण संबंधी संपूर्ण विषयार्थ विशेषतः देखिए प्रोफेसर बाल्डविन लिखित 'मेन्टल डेवलपमेन्ट इन दि चाइल्ड एण्ड दि रेस'।

हमारी अपनी अनुभूति की प्रस्तुतियों के जाटिल्य मात्र नही है अपितु अनुभवकर्तृ रूपेण स्वयं उनका भी तद्रविक अस्तित्व है और हमारी अनुभूति मे वस्तुत. प्रस्तुत होने के अतिरिक्त उनके 'स्वतन्त्र' अस्तित्व का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक भौतिकजगत् के अपने वेदनशील गुणधर्मों के लिए, हमारे हेतु हुई प्रस्तुतियो पर निर्भर होने के तथ्य से अब और यह नतीजा नही निकाला जा सकता कि उसका अपना कोई अस्तित्व ही नही। यदि उस जगत् के किसी एक भाग के विषय मे जो प्रस्तुत होने की दशा मे ठीक उसी श्रेणी का होता है जैसाकि उस जगत के शेष भाग और तत्सदृश ही अपने वेदनाशील गुणधर्मार्थ प्रस्तुति निर्भर भी, निश्चित रूप से यह ज्ञात हो कि वह प्रस्तुति जाटिल्य से अधिक कोई वस्तु है तो यही बात अन्य भागो के बारे मे भी सत्य तो कम से कम हो सकती है । बिना किसी प्रमाण के अब हम भौतिक जगत् के किसी भाग के बारे मे यह नही कह सकते कि उसकी सत्ता प्रेक्ष्यमात्र है ।

हम एक कदम और आगे बढ सकते है यह नही हो सकता कि भौतिक जगत् के अन्य भागो की वास्तविकता हमारे ऐन्द्रिय-प्रेक्षणार्थ प्रस्तुत होने के अतिरिक्त और अधिक कुछ न हो अपितु उसमे उसका होना आवश्यक है । यत. (अ) हमे अपने क्रियात्मक उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु अपने भौतिक अथवा द्रव्यात्मक पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का ध्यान रखना ठीक उसी तरह जरूरी है जिस तरह सामाजिक पर्यावरण के निर्मायक अपने से अतिरिक्त प्रयोजन-पर व्यवहार का ध्यान रखना जरूरी होता है। हमारे अपने आभ्यन्तर जीवन की जिस तरह कि प्रयोजन-पर मानव जीवन के विस्तृततर समग्र के भाग मात्र होने के अतिरिक्त कोई सगत सार्थकता नही होती उसी तरह लक्ष्य सिद्धि की ओर प्रेर्णमाण सार्थक आचरण की व्यवस्था रूप इस मानव समाज का अर्थ भी उसके अमानवीय घेरों तथा परिस्थितियों का ख्याल रखे बिना समझ मे नही आ सकता। मेरी अपनी अनुभूति को समझ सकने के लिए मुझे उस सामाजिक समग्र के, जिसका मैं एक अग हूँ, लक्ष्यों, आदर्शों, विश्वासो आदि का हवाला सामने रखना जरूरी होगा और इन लक्ष्यो आदि को समझने के लिए भौगोलिक, जलवायविक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों का हवाला लेना फिर जरूरी होगा। इस प्रकार न केवल भौतिक जगत् के विस्तृत रूप के लिए ही अपितु उसके उस विशिष्ट भाग के लिए भी जो मेरे साथियो के पिण्ड शरीरो से निर्मित है, यह कहना सही होगा कि उसके अस्तित्व का अर्थ उसकी प्रस्तुति मात्र से कही बहुत ज्यादा है। यदि मैं एक वास्तविक सत्ता हूँ तो अपेक्षित भौतिक अस्तित्व भी अवश्य वास्तविक होगा क्योंकि उसके हवाले के बिना मेरा आभ्यन्तर जीवन बोधगम्य नही हो सकता ।

(ब) मानव जीवन उत्क्रान्ति तथा विकासधर्मिणी एक विशाल व्यवस्था का अग है यह निष्कर्ष विविध विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत प्रमाण साक्ष्य से और भी अधिक

पुष्ट हो जाता है। यदि किसी सम्बद्ध ऐतिहासिक विकास का एक भाग प्रस्तुति-जाटिल्य से कुछ और अधिक वस्तु है तो उस विकास का अन्य स्थिति श्रेणियाँ सम्भवत. प्रस्तुति-जाटिल्य मात्र नही हो सकती। किसी ऐसे 'आदर्शवाद' के विरुद्ध, जो अपने आपको किसी कम सदिग्ध नाम से जाहिर करनेवाला व्यक्तिवाद अथवा प्रस्तुतिकरणावाद मात्र ही है, यह कहना कि उसके कारण उत्क्रान्ति या विकास घटकर एक स्वप्नमात्र ही रह जाता है और इसीलिए वह अवश्य ही असत्य होगी।[1] एक गहरी और उचित युक्ति होगी।

तब समग्र भौतिक जगत के विषय मे यह बात सही नही हो सकती कि मेरी इन्द्रियो के लिए प्रस्तुत हो सकने के तथ्य के अतिरिक्त उसकी अन्य कोई सत्ता ही नही है। उसमे वर्तमान ऐसे तत्वो को, जो उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत नही हुए, फिर भी कोई सत्ता इसलिए होना ही चाहिए चूँकि मेरे अपने 'व्यक्तिनिष्ठ' लक्ष्यों की सिद्धि के लिए मौलिक शर्त के रूप मे उनकी सत्ता का उरीकरण मेरे अपने आभ्यन्तर जीवन के लिए वाछित होता है। जैसा कि विभ्रम, 'अनुभावन' और व्यक्तिनिष्ठ सवेदन के तथ्यो से प्रकट होता है कि भौतिक जगत् मे जो कुछ हमे तत्व अथवा अगरूप मे भासता है, कदाचित् इस भासमानता विषयक तथ्य के अतिरिक्त उसकी अपनी कोई सत्ता ही न हो सकती हो, ऐसी अन्तर्वस्तुएं प्रस्तुत हो सकती है, जिनके विषय मे सही तौर पर कहा जा सके कि उनकी सत्ता उनकी प्रेक्ष्यता ही है। अन्य तत्सम भ्रान्तिमूलक प्रस्तुतियो से इन विभ्रमजन्य प्रस्तुतियो को पृथक कर सकने की सभाव्यता मात्र ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह बात समग्र भौतिक जगत् के विषय मे सत्य नही हो सकती। ऐसा कहना इसी लिए सही है क्योकि भौतिक अस्तित्व सामान्यरूपेण सामूहिक विभ्रम से अधिक कुछ है और मनोविज्ञानानुसार हम इस प्रकार के विभ्रमो का घटित होना स्वीकार कर सकते है। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है कि भौतिक जगत् के किसी असमान तथ्य को प्रस्तुति मात्रातिरिक्त अन्य किसी सत्ता से रहित कहकर आप तब तक निष्कासित नही कर सकते जब तक कि किसी विशिष्ट मामले के हालात पर आधारित इस निष्कर्ष के लिए कोई विशिष्ट कारण प्रस्तुत न कर सकते हों।

(२) हमारे पहले वाले निष्कर्ष का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह है, कि अब हम समझ गये है कि, अपने साथी मनुष्यो के निर्णायक मामले मे अपनी ज्ञानेन्द्रियो के प्रति प्रस्तुतिपरक तथ्य से स्वतत्र किसी अस्तित्व की परिपुष्टि का वास्तविक अर्थ क्या

---

१. अपनी 'बाह्य सत्ता' मे मेरे संकल्प के एक विश्वासोत्पादक कारक के रूप मे भौतिक जगत की 'आंशिक अनिर्भरता या स्वतंत्रता' की सार्थकता के अध्ययनार्थ देखिए स्टाउट लिखित 'मेनुअल ऑफ साइकालाजी', पुस्तक ३, भाग २, अध्याय १-२ में 'दि पर्सेप्शन ऑफ एक्स्टर्नल रीयालिटी'।

था। उसके 'अनिर्भर' अथवा स्वतत्र 'अतिस्त्व के माने थे अनुभूति केन्द्ररूपेण उसका अस्तित्व यानी सवेदनशील प्रयोजनपर जीवरूपेण उसके अस्तित्व। इस प्रकार अनिर्भर अथवा 'स्वतत्र' सत्ता की समग्र कल्पना ही मूलरूपेण सामाजिक थी। यह भी देख चुके है कि जिन आधारो पर शेष भौतिक जगत् मे स्वतत्र या अनिर्भर अस्तित्व का अध्याहार आवश्यक हो जाता है वे आधार सारत वे ही है जिनके कारण हमने अपने साथी मानवो के 'अनिर्भर' स्वतत्र अस्तित्व का दावा किया था। तब यह बात एकस्व प्रतीत होती है कि 'अनिर्भर' अथवा 'स्वतत्र' अस्तित्व का दोनो ही मामलो मे एक ही सामान्य अभिप्राय अवश्य है। उसका अभिप्राय केवल सवेदनशील प्रयोजन-पर अनुभूति केन्द्रो का अस्तित्व ही हो सकता है और यही होना आवश्यक भी है। यदि हम इस बात को गभीरतापूर्वक मानना चाहते हैं कि हमारी अपनी तथा हमारे साथी अन्य व्यक्तियो की सत्ता के समान ही भौतिक जगत् की सत्ता भी प्रेक्ष्यत्व मात्र नही है तब हमे यह भी मानना पडेगा कि वह सत्ता प्रेक्षणशील अथवा सवेदनशील भी है। भौतिक प्रकृति रूपेण जो कुछ हमारे इन्द्रिय प्रक्षण द्वारा भासता है उसे ज्ञानावान् अनुभावक जीवो अथवा सत्ताओ का समुदाय अथवा ऐसे समुदायो का जाटिल्य ही होना चाहिए और इस भासमानता[1] के पीछे वर्तमान सत्ता या वास्तविकता उसी सामान्य शैली की होनी चाहिए, जिस शैली की वास्तविकता के इन्ही कारणोंवश ऐसी उन भासमानताओं के पीछे होने का दावा हम करते हैं जिन्हे हम अपने साथियो के पिण्ड शरीर कहते हैं।

यह निष्कर्ष इसलिए ही किसी भी मात्रा मे भी अवैध नही हो जाता चूँकि हम यह नही बता पाते कि ऐसी ज्ञानशील अनुभूति की, जो भौतिक जगत् के उस भाग के अनुरूप है जो हमारे निकटवर्ती मानव तथा पाशव सहजातो के सकीर्ण वृत्त से बाहर का भाग है—विशिष्ट जातियाँ विशेषत कौन सी हैं। जिसे हम साधारणतया 'अजैव' प्रकृति के नाम से पुकारते है, उसकी सवेदनशीलता और प्रयोजन के विशिष्ट रूपो को पहचान पाने की हमारी असफलता के माने आवश्यकरूपेण अब इससे अधिक नही हो सकते कि यहाँ हम अनुभूति की ऐसी किस्मो पर विचार कर रहे है जो निग्रहार्थ हमारी अपनी अनुभूतियो से बहुत अधिक दूरस्थ है। प्रकृति के इतने वडे अश के भासमान मृतत्व तथा प्रयोजनहीनता पर पर्याप्त प्रकाश पड सकता है यदि उसकी तुलना ऐसी भाषा मे लिखे गये लेख की अर्थहीनता से की जाय जिससे हम व्यक्तिगत रूप मे अनभिज्ञ हैं। प्रकृति का बहुत बडा भाग अनुमानत हमे इसी प्रकार जीवनरहित तथा प्रयोजनहीन प्रतीत

---

१. इस सारे विवाद-विमर्श के बीच वास्तविकता या सत्ता की मात्रा विषयक सिद्धांत को सदा ध्यान में रखना होगा। वह सत्ता जिसका यह भौतिक जगत प्रपंच है स्वयं किसी उच्चतर सत्ता का प्रपंच हो सकती है।

होता है जिस प्रकार कि किसी विदेशी का व्याख्यान किसी ऐसे गवांर को जो अपनी भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं जानता, निरर्थक बकवास प्रतीत होता है।

काल्पनिक अटकलों के मनमाने उपयोग द्वारा इन प्रत्ययों को और भी विशद् रूप में विकसित करना आसान तो होगा पर अपेक्षाविक भी। इसमे जो जीवन्त नियम अध्याहृत है उस पर हम पहले ही जोर दे चुके है और वह यह है कि इन्द्रिय ज्ञानानपेक्ष अस्तित्व का एक ही बोधगम्य अर्थ हुआ करता है अतः उसका वही एक अर्थ होना तब आवश्यक है जब कभी हमे प्रेक्षित-भौतिक जगत् के किसी भाग में ऐसी सत्ता या वास्तविकता का अध्याहार करने के लिए जो अपनी प्रेक्षितव्यता के तथ्य मात्र का अतिक्रमण करती हो, मजबूर हो। यह दावा करने के कि भौतिक जगत्, अपने प्रेक्षित गुणों के लिए, विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों से युक्त प्रेक्षक की उपस्थिति पर निर्भर होते हुए भी, अपने अस्तित्व हेतु इस प्रकार के किसी सम्बन्ध पर बिलकुल भी निर्भर नहीं होता, यदि इस दावे का जो निश्चित अर्थ है तो, हमारे लिए यही माने हो सकते हैं कि वह जगत ऐसी जैव व्यवस्थाओ अथवा जब व्यवस्था जाटिल्यों का जिनकी अनुभूति उसी सामान्य प्रकार से ज्ञानशील सवेदनशील और प्रयोजन पर होती है जैसी कि हमारी और जो अनुमानतः स्पष्टता की उस मात्रा के मामले में अनन्तरूपेण विविध हुआ करते हैं—जिसके अनुसार वे स्वय अपने व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यो और हितों तथा उन हितों के विशिष्ट रूपों को पहचाना करते है। प्रपची अथवा हमारी विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों को प्रतीतमान एक आभास है।

५—हम इस अध्याय की समाप्ति ऐसे कुछ निष्कर्षों के साथ कर सकते हैं जो इस सिद्धात को स्वीकार कर लेने से स्वभावतः प्राप्त होते हैं (१) यह स्पष्ट है कि भौतिक जगत् के अस्तित्व की 'स्वतन्त्रता' मे क्या क्या निहित है इस बात के विश्लेषण का परिणाम वास्तविकता या सत्ता की सामान्य संरचना विषयक हमारे पहले वाले निष्कर्षो से मिलता जुलता ही है। यत. अपने पिछले खड में हमने देखा था कि, न केवल यही मान लेना जरूरी हो गया था कि समग्र रूपेण वास्तविकता एक एकल व्यष्ट अनुभूति रूप ही है अपितु यह भी हमे मानना पड़ा था कि वह ऐसे अगोपांगो अथवा कारकतत्वों से मिलकर बनी होती है जो स्वयं भी व्यष्टता की विविध मात्राओं की संवेदनशील अनुभूतियाँ होती है। और वस्तु के एकत्व विषयक विचार-विमर्श ने यह मान लेने का कारण हमे मिला था कि सवेदनात्मक अनुभूति के अतिरिक्त अन्य कुछ व्यक्तिगत अथवा व्यष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार हमने खूब दिलजमई पहले ही कर ली थी कि मानव प्रेक्षकों द्वारा इकाइयो के रूप मे प्रयुक्त होते समय उनकी सुविधा हेतु स्वेच्छ रूपेण एकत्रित किए गए प्रस्तुति-जाटिल्यो से अधिक यदि कुछ वस्तुएँ इस जगत् मे है तो उन वस्तुओं का किसी न किसी प्रकार के विषय या व्यक्ति की सवेदनात्मक

अनुभूतियाँ ही होना आवश्यक है। भौतिक जगत् वस्तुत विचार द्वारा अब हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि तथ्यरूपेण वह इस प्रकार की वस्तुओ से ही बना है। और इस प्रकार हमारा निष्कर्ष, पहले ही से सही ठहराये जा चुके इस परिणाम के कि वही वस्तु वास्तविक अथवा सत्तावान् या सत हो सकती है जो किसी न किसी मात्रा मे सही तौर पर व्यष्ट हो—भौतिक अस्तित्व पर किये गये तार्किक विनियोग का नियम कहा जा सकता है।

भौतिक प्रकृति के गतिक्रम की व्याख्या करने के तत्वमीमासीय प्रयत्न के इस परिणाम के विरोध मे वर्णनात्मक विज्ञान के विधितत्र लगातार और सगत अनुसरण द्वारा अनिवार्यत प्राप्य परिणाम को प्रस्तुत करना रोचक होगा। वर्णनात्मक विज्ञान का समग्र विधितत्र इस बात पर ही निर्भर है कि हम, कुछ प्रयोजनों के लिए, उस समस्या को जिसमे भौतिक जगत् की वास्तविकता निहित है ताक मे उठाकर रख देने को हम तैयार हो जाय और अपना सारा ध्यान पर्याप्तिरूपेण तथा प्राक्कल्पनाओ का ज्यादा बचाव करते हुए इस बात का वर्णन करने के काम पर केन्द्रित कर दें कि प्रस्तुत अन्तर्वस्तुओ की वह व्यवस्था कैसी है जिसमे वह जगत् अपने आपको हमारी इन्द्रियो के सामने अनावृत अथवा प्रकट करता है। क्योंकि विशुद्ध वर्णनात्मक कार्यो के लिए, भौतिक जगत् विषयक हमारा एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि हम पता लगाये कि अनुक्रम के किन नियमों के अनुसार हमारे लिए प्रस्तुत कोई अन्तर्वस्तु दूसरी अन्तर्वस्तु का अनुगमन करती है। अत प्रस्तुत अन्तर्वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक नियमो की स्थापना किए जा सकते हैं वहाँ तक विशुद्ध वैज्ञानिक प्रयोजन को इससे कोई मतलब नही कि हम उस वास्तविकता या सत्ता की कल्पना कैसे करते हैं जिस पर उपर्युक्त प्रस्तुति अनुक्रम आधारित है अथवा जो इस अनुक्रम का मूलाधार है। चाहे हम उसे परिमित विषयो की व्यवस्था रूप मे ले अथवा किसी व्यक्तिक देवता की इच्छा के रूप मे या प्राथमिक गुणो के जाटिल्य के रूप में अथवा किसी अज्ञात अध स्तर के रूप मे या फिर इस विषय मे कोई बहस करने से ही इनकार कर दे, पर उस समय तक जब तक कि हमारा एकमात्र उद्देश्य अपने लिए प्रस्तुत किए गए ज्ञानेन्द्रिय विषयो के अनुक्रम को गणनीयता-परक नियमो द्वारा नियन्त्रित रूप मे प्रस्तुत करना ही रहेगा तब तक परिणाम एक से ही रहेगे। विज्ञान इस प्रपचात्मक व्यवस्था अथवा जगत् की पृष्ठवर्तिनी वास्तविकता या सत्ता की समस्त तत्त्वमीमासीय व्याख्याओ की कोई परवाह किए बिना अपने रास्ते चलता चला जा सकता है।

घटनाओ के अनुक्रम प्रपच के मूलाधारो के विषय मे जाँच किए बिना ही केवल उनके वर्णन मात्र ही समस्या मे मग्न रहने का तार्किक परिणाम यही होगा कि जितनी ही अधिक सही तौर पर यह काम किया जायगा उतनी ही अधिक पूर्णरूप से भौतिक जगत्

की विज्ञान द्वारा वर्णित व्यष्टता लोप होती चली जायगी । दैनदिनीय विचारानुसार भौतिक जगत् ऐसी अन्योन्य क्रियापरक वस्तुओं का घर है जिसमे से प्रत्येक वस्तु एक अनन्य व्यष्टि है, किन्तु प्रचलित विज्ञान, भौतिक जगत् के विभिन्न तत्वो के एक ही तरह पर काम करते रहने की बात पर अड़े रह कर इस भासमान व्यष्टता का अपरिवर्ज्यतया एकदम विघटित कर डालता है । अधिक परिचित आणविक सिद्धातो के अनुसार, विभिन्न तत्वो के विभिन्न अणुओं के व्यवहार की भिन्नताएँ, यद्यपि अब भी अन्तिमत. निर्णीत समझी जाती है तो भी किसी एक तत्व के सभी अणुओ को सामान्यतया एक दूसरे की ऐसी सही प्रतिमूर्ति माना जाता है जो व्यवहार विषयक अनन्य व्यष्टता से एकदम विरहित है। समसामयिक विज्ञान के उन प्रयत्नों में, जो वह परमाणुवाद के पीछे जाकर समस्त भौतिक अस्तित्व को पूर्णतया समांग माध्यमवर्तिनी गतियों के रूप मे विघटित करने के लिए किया करता है हमे उसकी वर्णनात्मक अभिरुचि के एकात्मतया अंगीकरण के और भी अधिक परिवर्तनवादी परिणाम दिखाई पडते है। यहाँ आकर व्यष्टता एकदम लुप्त हो जाती है वह केवल उस हद तक ही बाकी रह जाती है जहाँ तक कि किसी पूर्णतया समाग माध्यमवर्तिनी गति का प्रवर्तन चरम ऐसी अव्याख्येयता बना रहता है जिसे तथ्यरूपेण स्वीकार तो करना पडता है पर जिसका मेल उन सैद्धातिक पूर्वानुमानों के साथ नही बैठाया जा सकता जिनके कारण अनुमति माध्यम की समागता का आग्रह करना जरूरी हो जाता है ।

इस प्रकार धीरे-धीरे करके व्यष्टता को भौतिक जगत की प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक वर्णनो से निकाल बाहर करने के तार्किक कारण अब स्पष्ट हो गये होंगे । यदि सारी व्यष्टता अनुभूतिगत व्यष्ट विषयों या व्यक्तियों की ही व्यष्टता है तो यह स्पष्ट है कि भौतिक जगद्विषयक तत्वमीमासीय आधार के प्रश्न की उपेक्षा द्वारा हमने पहले ही सिद्धातरूपेण उस सब को ही अपने दृष्टि क्षेत्र मे शामिल नही किया जिसके कारण उसे व्यष्टता प्राप्त होती है । भौतिक जगत् की प्रपचात्मक अन्तर्वस्तुओं से अनन्यरूपेण काम लेने की हमारी प्रक्रिया जितनी ही अधिक तर्कपूर्ण होगी उतनी ही कम गुजायश उसके भीतर व्यष्टता विषयक तत्व के किसी अस्तित्व को स्वीकार करने की हमारे लिए रह जायगी । इस प्रपचात्मकता को तर्कसगत विवृति देने के प्रयोजन मे केवल सामान्य शब्दों मे ही उसका वर्णन कर देना ही शामिल है। वास्तविक सत्ता या अस्तित्व की व्यष्टता का सिद्धात तो तभी एक बार फिर अपने पूरे रूप मे हमारे सामने आ सकता है जब तत्त्वमीमासा शास्त्र मे हम प्रपचात्मकता के वर्णन को बदलकर उसकी व्याख्या इन्द्रियगोचर चरमतर वास्तविकता के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे ।

(२) उसके आधार को लेकर की गयी अस्तित्व की विवृति की सारी व्याख्या

के विषय मे जो कुछ पहले कहा जा चुका है भौतिक जगत् की व्याख्या के बारे मे भी उसी को दोहरा देना शायद इस जगह जरूरी है। हमे पहले ही से यह मान लेने की जरूरत नही कि क्रियात्मक अथवा वैज्ञानिक प्रयोजनार्थं वस्तुओ के बीच सुविधाजनक विभेद करने की जो सरणियाँ हमने अपना ली है वे उन अधिक महत्वपूर्ण विभेदों के अनुरूप है जो उन विभिन्न व्यष्ट अनुभूति विषयों के बीच खडे कर दिए गए है जिन्हे भौतिक जगत् के प्रपची स्वरूप के द्योतक वास्तविकता अस्तित्वो के रूप मे मानने के लिए हमारे पास कारण मौजूद है। उदाहरण रूपेण, यह ऐसी ही एक गलती है जिसके कारण भौतिक पदार्थ की प्राणवत्ता विषयक विश्वस्त सिद्धात प्रत्येक रासायनिक अणु परमाणु मे 'आत्मा' का होना मानते है। हमे यह बात याद रखना चाहिए कि विवरणात्मक विज्ञान द्वारा स्वीकृत वस्तु विषयक बहुत से विभेद ऐसे विषयात्मक सीमाकन मात्र हो सकते हैं जो हमारे अपने विशिष्ट प्रयोजनों के लिए सुविधाजनक होते हुए भी भौतिक जगत् की वास्तविकताओं के स्वरूप पर आधारित किन्ही मौलिकता विभेदो के सभवत अनुरूप नही होते। प्रकृति को अपनी ज्ञानेन्द्रियो के लिए प्रस्तुत, सवेदी व्यष्टो की क्रम व्यवस्था की अभिव्यक्ति के रूप मे देखने के हमारे अभिमत से यह परिणाम जरा भी नही निकलता कि उन व्यष्टों के बीच के सबधों का हमारी विभिन्न वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ द्वारा निर्मित भौतिक जगत् के विभिन्न कारको के पारस्परिक सम्बन्ध पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही करते।

इसी लिए, उदाहरणत हमारे अपने आत्म-ज्ञान तथा हमारे साथी व्यक्तियो के ज्ञान से मालूम होता है कि किसी न किसी माने मे एक एकल अनुभूति ऐसी मौजूद है जो भौतिक विज्ञान के मतानुसार मानवीय तन्त्रिका-तत्र के प्रभावी केन्द्रभूत तत्वो के असीम जाटिल्य के अनुरूप है। मानवीय अनुभूति के भीतर जाकर प्रत्यक्ष देखनेवाले हमारे अन्तदर्शन के अलावा भी, अगर हम मानवीय तन्त्रिका-तंत्र के बारे मे उतना ही जानते होते जितना कि अजैव प्रकृति के भाग मात्र को तो भी हम यह बात न तय कर पाते कि यह विशिष्ट जाटिल्य किसी व्यष्ट अनुभूति से इस प्रकार सम्बद्ध है। सामान्यत हमे यह मान लेना पडता है कि भौतिक प्रकृति के उस छोटे से भाग को छोड कर जिसमे हमे अपनी अनुभूति से खासतौर पर किसी मिलती जुलती प्रकार की प्रयोजनपर अनुभूति का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है, हम जरा से भी भरोसे के साथ यह बिलकुल नही कह सकते कि प्रकृति का गठन कैसे हुआ और उसके कौन से भाग व्यष्ट अनुभूति हेतु 'ऐन्द्रिय' 'इन्द्रियगम्य' है। 'अध्यात्मवाद' तथा ऐसे ही अन्य अन्धविश्वासो के हित मे भौतिक जगत् के अर्थ विषयक सामान्य सिद्धात के दुरुपयोग को बचाने के लिए उपर्युक्त चेतावनी को हमे लगातार ध्यान मे रखना होगा। वह चेतावनी जरूरत से ज्यादा जल्दबाजी करनेवाले शैलिंग और हेगल जैसे उन प्रकृति विषयक दर्शनशास्त्रियो के

सिद्धातो से भी जो इस असिद्ध पूर्वानुमान को लेकर चल निकलते है कि मानव की सरचनात्मक वाह्य आकृति का सान्निकट्य उस मात्रा का विश्वास्यसूचक है जहाँ तक वोधगम्य अनुभूति भौतिक प्रकृति मे मौजूद है।

(३) चलते चलाते एक और वात की ओर भी ध्यान दिला देना उचित होगा। स्पष्ट ही है कि यदि भौतिक प्रकृति वास्तव मे अनुभूतिशील व्यक्तियो का एक या अनेक समाज है।[1] तो हमे यह अवश्य ही मानना पडेगा कि अपने अजीव अथवा विशिष्ट हितो और प्रयोजनो से युक्त हमारी मानव अनुभूति के विशिष्ट स्वरूप के कारण हम भौतिक जगत् के उन अगो को छोड़कर जिनका विशिष्ट प्रकार का प्रयोजन-पर जीवन हमारे जीवन से वहुत कुछ मिलता जुलता है, किन्ही अन्य अंगो के साथ सामाजिक सपर्क स्थापित कर सकने से साधारणत: वचित या वर्जित हैं। भौतिक जगत् की विशाल-संख्यक अन्तर्वस्तुओ के विषय मे तत्त्वमीमासीय सामान्य सिद्धान्त के अनुसार हम विश्वास कर सकते है कि उन्हे जिस प्रकार के स्वरूप से हमने आभूपित किया है वैसा स्वरूप उनका स्वय अपना स्वरूप है भी या नही। इस निष्कर्ष की सत्यता की क्रियात्मक प्रत्यक्ष जॉच उन खास मामलो मे, जिस व्यष्ट जीवन के साथ उनका सम्वन्ध है वही उनको पहचान द्वारा कर सकने के कोई साधन हमारे पास नही है परिणामत. हम उनके साथ क्रियात्मक रूप से कोई सामाजिक सम्वन्ध भी स्थापित नही कर सकते तो भी यह नतीजा भी नही निकलता कि अति-मानव ज्ञानशील जीवन के साथ इस प्रकार के प्रत्यक्ष और वास्तविक सामाजिक सम्वन्ध स्थापित कर सकने से हम सदा के लिए पूर्णतया रोक दिए गए है। भौतिक प्रकृति तथा मानव वुद्धि के वीच 'अन्त सचरणर्हता का प्रवेशद्वार' अनुमानत अव भी एकदम अज्ञात परिस्थितियो के अन्तर्गत वनता विगडता रह सकता है। प्रत्यक्षत: आविर्भूत सत्य के समान महाकवियो के हृदय को स्पर्श करनेवाली, भौतिक जगत् के ज्ञानशील और प्रयोजन-पर स्वरूप की अनुभूति की जो झाँकी उन कवियो द्वारा साहित्य में प्रस्तुत की गयी है, तथा, जिसे किन्ही मनोदशाओ के अन्तर्गत किसी हद तक वहुत से लोगों ने जाना भी है, उस अनुभूति की निर्भरता अनुमानत. उपर्युक्त प्रवेश द्वार के मनोवैज्ञानिक अवचयन पर आधारित है। अत. कम से कम इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि कवि का 'प्रकृति दर्शन' उत्प्रेक्षा मात्र न होकर और अधिक कुछ हो और शायद

---

१. यहाँ अनेक 'समाज' शब्द का ग्रहण ही अधिक स्वाभाविक होगा। हमारे पास इस वात से इनकार करने का कोई कारण नहीं कि विभिन्न प्रकार के अमानवीय वोध पारस्परिक सामाजिक समागमन से उसी प्रकार वचित रह सकते हैं जिस प्रकार कि वे हमारे साथ समागमन नहीं कर पाते।

प्रकृति के साथ कवि के सामाजिक सम्बन्ध की वास्तविकता का मात्रा तक प्रतिनिधित्व वह उस प्रकार ही करता हो जिस प्रकार कि अपने साथियो तथा अन्य उच्च श्रेणी के अन्य जीवो के साथ के हमारे अपने सम्बन्ध करते है। यह सच हो सकता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के समान ही, प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध पारस्परिक प्रेम नामक उस महान् सीमावरोध निवारक वस्तु के कारण जो प्रयोजन और हित के साम्य का ही प्रतिरूप है, स्वरूप हो जाते हो।

(४) इस ओर अगुलि निर्देश की आवश्यकता शायद नही है कि इस अध्याय मे प्रतिपादित प्रकृति विषयक अर्थागम का दृष्टिकोण वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के अप्रतिहत विकास का न तो विरोध ही करता है, न ही उसका उद्देश्य उस विकास पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाना है। भौतिक जगत् विषयक हमारा दृष्टिकोण भले ही चाहे जो हो लेकिन मनुष्य की सेवा मे लगी हुई प्राकृतिक प्रक्रियाओं के क्रियात्मक नियन्त्रण सम्बन्धी किसी भी सिद्धात के लिए यह भी उतना ही आवश्यक है कि वह उन प्रक्रियाओ के परस्पर सम्बन्ध विषयक नियमो का सूत्रीकरण करता रहे। और इन नियमो के सूत्रीकरण का कार्य तभी सतोषजनक रूप मे हो सकता है, जब इन्द्रियगम्य अन्तर्वस्तु व्यवस्था रूप मे, इस भौतिक जगत् का विश्लेषण, उसके अप्रपचात्मक आधार विषयक तत्त्वमीमासीय समस्याओ की ओर से एकदम आँख मूँदकर किया जाय। यह कहना भी सही न होगा कि अगर हमारी तत्वमीमासीय व्याख्या वैध है तो वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुति प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण असत्य है। क्योकि कोई प्रस्तावना, साध्य अथवा तर्कवाक्य कभी भी इसलिए असत्य नही ठहराया जा सकता चूँकि वह समग्र सत्य नही है। उसे तभी असत्य कहा जाता है जब उसके समग्र सत्य न होने पर भी गलत तौर पर उसे समग्र सत्य कहा जाय। यदि दर्शनशास्त्रानुसार कभी हम कहे भी कि जो कुछ समग्र सत्य से कम है वह असत्य ही होना चाहिए। तो इसका मतलब यही समझना चाहिए कि तत्त्वमीमासक रूप मे वह बात हमारे विशिष्ट अभिप्रायार्थ असत्य है अत. तत्त्वमीमासक समग्र सत्य से कम किसी वस्तु को स्वीकार कर ही नही सकता। अन्य प्रकार के प्रयोजनो के लिए वही बात ही नही अपितु शुद्ध सत्य[1] हो सकती है।

भौतिक जगत् विषयक हमारी तत्त्वमीमासीय व्याख्या गुणवाची वर्णनात्मक

---

१. अर्थात् सत्य की श्रेणियाँ या मात्रायें भी उसी प्रकार की जा सकती हैं जिस प्रकार वास्तविकता की और यह जरूरी नहीं कि दोनो तद्रूप हों। कोई अभिमत किस मात्रा में सत्य है यह बात उस प्रयोजन का विचार किए बिना नहीं निर्धारित की जा सकती जिसकी पूत्यर्थ वह प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वमीमांसा के विशिष्ट अभिप्रायार्थ अर्थात् अन्तमतः संगतरूपेण विश्व-विषयक चिन्तन करने के लिए जो

विज्ञान के परिणामो के 'अपने प्रयोजनार्थ' उनकी वैधता और अर्हता विषयक पूर्ण विश्वास के प्रति उतनी से अधिक असगत नही है जितनी कि वह मानव शरीर के क्रियाकलाप और यंत्र विन्यास विषयक शरीर क्रिया सम्बन्धी और शरीर रचना सम्बन्धी अनुसन्धानो की अर्हता को समान ही मानव अनुभूति की एकोद्देश्यिता और प्रयोजन-परता को मान्यता के प्रति असंगत है। मानव अपने असली रूप मे, शरीर-क्रिया शास्त्री और शरीर-रचना शास्त्री के अध्ययन विषयक मानव से एकदम भिन्न वस्तु होता है। कोई भी आदमी 'मानवीय इन्द्रिय संरचना' का चलता फिरता नमूना मात्र नही हुआ करता। प्रत्येक मानव वास्तव मे सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ रूप मे एक प्रयोजन-पर तथा ज्ञानशील कर्ता है। लेकिन तद्विषयक यह विचार उस शारीरशास्त्रीय तथा शरीर-क्रिया-शास्त्रीय अनुसंधान की क्रियात्मक अर्हता को किसी प्रकार भी प्रभावित नही करता जो मानव शरीर की वैसी सरचना के बारे मे किया जाता है जैसी कि वह किसी दूसरे मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रस्तुति व्यवस्था के सामने आती है। इस मामले मे जो कुछ सही है वह और सब मामलो के बारे मे भी निःसन्देह वैसा ही सच है।

प्रकृति की आदर्शवादी व्याख्या के मार्ग की सबसे बडी और गभीर बाधा उसकी ऐसी प्रक्रियाओं के जिन्हे एकाएक देखने पर ऐसा प्रतीत हो मानो वे प्रयोजन-पर व्यक्तियो के वास्तविक कार्य हो ही नही सकती—अनुक्रमविषयक कठोर नियमो के प्रतिपालन पर विचार-विमर्श करना तो अभी बाकी ही है। यह बाधा ही हमारे अगले अध्याय का विचार्थ विषय होगी।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए—एफ० एच० ब्रैडले लिखित 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २२, एल० टी० हॉबहाउस लिखित 'थियरी आफ नालेज', भाग ३, अध्याय ३; एच० जे० लोट्जे, 'मेटाफिजिक', खंड २, अध्याय ५–६; एच० मंस्टरबर्ग, 'ग्रु डज्यूज जर साइकालोजी', १, पृ० ६५–९२; के० 'पीयर्सन', 'ग्रामर आफ सायस', अध्याय २; (दि फैक्ट्स ऑफ सायस), ८ (मैटर) (विशेषत. 'प्रपचवादी' के स्थिति विन्दु से लिखित किन्तु जिसमे अचेतनरूपेण बहुत सी बातें अधिक भौतिकतावादी दृष्टिकोणानुसार लिख गयी है); रॉयस लिखित, 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' नामक पुस्तक मे 'नेचर, कान्शसनेस एण्ड सेल्फ काशसनेस' तथा उन्ही की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' नामक पुस्तक की सेकड सीरीज का लेक्चर ४; जे० वार्ड लिखित 'नैचुरलिज्म एण्ड

कुछ भी समग्रसत्य नहीं होता वह असत्य ही कहा जायगा। किन्तु तत्वमीमांसक जिसे लघुतर सत्य कहे वह उसके प्रयोजन से भिन्न अन्य प्रयोजनों के लिए अपेक्षातया उच्चतर सत्य माना जा सकता है। 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक ग्रन्थ में लिखित डाक्टर स्टाउट के 'एरर' विषयक निबन्ध के अभिमत से तुलना कीजिए।

एग्नास्टिसिज्म' के लेक्चर १–५, १४, १९। प्राचीनतर साहित्य मे पढिए डेस्कार्तेज 'मेडिटेशन' ६, लीबनिट्ज़ लिखित 'मौण्डालॉजी' तथा' 'न्यू सिस्टम'; लॉक का 'ऐसेज़,' खड ४, अध्याय २; काण्ट का रेफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म, नामक अध्याय उसकी पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' के द्वितीय सस्करण मे, पहले ही उद्धृत वर्कले के ग्रन्थो के अतिरिक्त उपर्युक्त साहित्य का अध्ययन सम्भवत. अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा ।

अध्याय ३

नियम का अर्थ

१—भौतिक जगत् के बारे मे जन साधारण में प्रचलित यह कल्पना कि उसमें सामान्य नियमो की यत्रवत् अनुपालकता पायी जाती है तद्विषयक हमारी तत्व-मीमांसीय विवृति के विरुद्ध है। २—किन्तु हमारी व्याख्या मे साख्यिकी के तरीकों से निकटतम तथा सिद्ध की गयी एकरूपताओं अथवा माध्यों की स्थापना के लिए स्थान है क्योकि वह व्याख्या घटना के सामुहिक रूप से ही सम्वद्ध होती है उसके व्यष्ट विवरणो की वह परवाह नही करती। ३—प्रकृति की 'एकरूपता' न तो कोई स्वयसिद्ध है न अनुभवगम्यरूपेण सत्याप्य तथ्य अपितु वह एक प्रतिस्थापना मात्र ही है। प्रकृति विषयक इस प्रकार की 'एकरूपताओ' अथवा नियमो की स्थापना में कार्यरूप से प्रयुक्त होनेवाले तरीको पर विचार करने से पता चलता है कि इसकी कोई गारटी या प्रतिभूति हमारे पास नही कि वास्तविक और ठोस मामलो में हमे नियमो का यथार्थ प्रतिपालन का दिखाई पड़ेगा। ४—एकरूपता एक प्रतिस्थापना है जिसका जन्म, प्रकृति के नियन्त्रणार्थ क्रियात्मक नियमो की हमारी आवश्यकता के कारण हुआ है। इस प्रयोजन के लिए उसका यथातथ होना जरूरी नही और तथ्यत: हमारे वैज्ञानिक सूत्र भी तभी तक यथार्थ होते है जब तक कि वे गुणपरक अमूर्त और प्राक्कल्पनात्मक रहते है। उनके द्वारा हम किसी व्यष्ट प्रक्रिया के वास्तविक गति-क्रम का निश्चयपूर्वक निर्धारण नही कर पाते। ५—भौतिक जगत् की 'यान्त्रिक' रूपेण कल्पना प्रतिस्थापना की गुणपरक अभिव्यक्ति ही है और इसी लिए वह उन अनुभव-साध्य विज्ञानो के लिए आवश्यक है जिनका काम ही भौतिक जगत् का अनुसन्धान है। ६—असली मशीनो के स्वरूप पर विचार करने से यह सुझाव मिलता है कि यान्त्रिक पहलू अपने पूर्णरूप मे बोधशील और प्रयोजन-पर प्रक्रियाओं का एक अधीनस्थ पहलू हुआ करता है।

१—भौतिक जगत् की अन्तर्हित वास्तविकता के बारे मे विगत अध्याय में वर्णित अपने विचारो द्वारा हमने अपनी शब्दावली और पद विन्यास को प्रशस्त करने के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा अधिक नही किया कि जिसके कारण ऐसे लोग जिन्हें तत्त्वमीमासीय सिद्धातों पर विश्वास है और जो निश्चयात्मक भौतिक विज्ञान के एकान्त भक्त है, हमारा अनुसरण कर सकें। निश्चयात्मक विज्ञान द्वारा हमें प्रायः

यह याद दिलाई जाती है कि जैव और अजैव व्यवस्थाओ के बीच तर्कसगत रूप मे कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नही खीची जा सकती तथा यह कि हमे इस बात को पहले ही से मान बैठने का कोई अधिकार नही कि उत्क्रान्ति अथवा विकास का सातत्य तभी समाप्त हो जाता है जब हम अपने सूक्ष्मावेक्षी यन्त्र द्वारा उसका अनुसरण करने मे असमर्थ हो जाते है तथा यह कि अपनी वैज्ञानिक श्रद्धादृष्टि के अनुसार हमे भौतिक जगत् के नीचातिनीच कण मे भी समग्र जीवन की 'आशा तथा शक्ति' के दर्शन करना चाहिए आदि। उपर्युक्त प्रकार के सब कथन भौतिक जगद्‌विषयक उस कल्पना को, जिसे बहुत सही और तर्कसगत रूप मे प्रस्तुत करने की कोशिश की है, एक भोडी और गड़बड़ शक्ल मे पेश करने के तरीके भर है। लेकिन हमारी सबसे बडी और गहरी कठिनाइयाँ तो अब शुरू हो रही हैं जब कि इस अध्याय मे प्रस्तुत समस्या का सामना हमे करना पड रहा है। हमे अब उन आपत्तियों का सामना करना है जो भौतिक जगत् विषयक हमारे अभिमत के विरुद्ध 'प्रकृति की एकरूपता' विषयक आगमनीय तर्कशास्त्र के सिद्धात के बल पर उठायी जा सकती है।

कहा जा सकता है भौतिक व्यवस्था की घटनाएँ अनुभूति के व्यष्ट केन्द्रो के न्यूनाधिक चेतन प्रयोजनो और हितो की अभिव्यक्तियाँ नही हो सकती और इसकी एक सीधी सी वजह यह है। कोई प्रयोजन-पर कारक किस प्रकार व्यवहार करेगा यह बात उन लोगो के सिवा जो वास्तव मे उसके प्रयोजन से अभिज्ञ है, अन्यो के लिए एक रहस्य ही होती है। उन प्रयोजनो के बारे मे वास्तविक अन्तर्दृष्टि प्राप्त किए बिना, केवल उनके विगत व्यवहार की परीक्षा मात्र से ही यह बता सकना असभव है कि उसका भावी व्यवहार कैसा होगा। क्योकि किसी प्रयोजन-पर कार्य का विशेष लक्षण उद्दीपन की अनुक्रीया के नये नये तरीके ढूंढ निकालने की उसकी शक्ति ही है यही कारण है जिसके बल पर हम अनुभव द्वारा सीखने की शक्ति को अर्थात् उद्दीपन की अनुक्रिया की अधिकाधिक उपयुक्त विधियाँ अधिग्रहीत करने की शक्ति को ही—किसी जीव की बुद्धि की सही कसौटी मानते हैं। जहाँ इस प्रकार की उत्तरोत्तर वर्धमान अनुकूलनीयता नही पायी जाती वहाँ बोधशीलता अथवा बुद्धि और प्रयोजन का अस्तित्व मान लेने का कोई कारण नही हुआ करता। इसी लिए फिर एक बार हम कह देना चाहते है कि जब तक आप किसी व्यक्ति के साध्य प्रयोजन से वस्तुत. अभिज्ञ नही होते तब तक निश्चयपूर्वक यह बता सकना असभव ही होगा कि उस बोधशील व्यक्ति का व्यवहार किस मार्ग का अवलम्बन करेगा।

कहा जा सकता है कि जैव जगत् को छोड कर प्रकृति के अन्य सभी क्षेत्रो मे कही भी हमे उत्तरोत्तर वर्धमान अनुकूलनीयता नही दिखाई पडती। भौतिक जगत् की अजैव अन्तर्वस्तुओ की एक ही प्रकार के पर्यावरण पर बिलकुल एक ही प्रकार की प्रति-

क्रिया सदा हुआ करती है। उनके व्यवहार मे, अनुक्रम के सामान्य नेमी कायदो या नियमों का कभी भी पथभ्रष्ट न होने वाला एकान्त अनुपालन पाया जाता है और यदि हमारे गणितशास्त्र के साधन समस्याओ का सामना करने के लिए पर्याप्त हों तो हम निरपेक्ष यथार्थता और निश्चय के साथ उस अनुपालन का पहले से ही परिगणन कर सकते है, हिसाव लगा सकते है। भौतिक प्रकृति मे उक्त प्रकार की नेमी एकरूपता मौजूद है यह वात आगमनी विज्ञान की तर्कना का मूलभूत सिद्धांत ही वास्तव मे है। वह प्रकृति अनुक्रमात्मक नियमो के कठोर प्रतिपालन ही का क्षेत्र है और ये अनुक्रम विना किसी अपवाद के तथा अपरिवर्त्य होने के कारण विशुद्ध रूपेण 'यान्त्रिक' अथवा मशीनी हुआ करते है अर्थात् प्रयोजनपरताविहीन और वोधरहित। वास्तव मे तो यह प्रकृति ही एक ऐसा पेचीदा यत्र सभार है जिसमे प्रत्येक घटना अपथभ्रष्ट तथा आवश्यक रूप से अपनी परिस्थिति का अनुगमन किया करती है।

उपर्युक्त प्रकार के अभिमत भौतिक विज्ञान के सिद्धातो के कारण प्राय. तार्किकतया आवश्यक हो जाते हैं। देखने से ही लगता है कि अगर ये अभिमत सही हो तो भौतिक जगत की जो व्याख्या इससे पहले की है वह सव अवैध हो जाती है। इस कारण तथा मानवीय स्वतंत्रता और नैतिक दायित्व सम्वन्धी जो दूरगामी निष्कर्ष उनसे प्राय. निकाले जाते है, उनके कारण भी इन अभिमतों के आधारों की विशद परीक्षा आवश्यक होगी।

२—इस परीक्षा या जाँच मे जो मुख्य समस्या मे हमारे सामने आयेंगी वे यह होंगी (१) अनुक्रम की यह परिगण्य एकरूपता वास्तव मे किस सीमा तक प्रयोजन तथा वुद्धि की उपस्थिति से मेल नही खाती ? (२) भौतिक जगत् के वास्तविक अनुक्रमो मे इस प्रकार की एकरूपता का अध्याहार करने के लिए कोई वास्तविक कारण या आधार भी हमारे पास है या नही ? (३) यदि ऐसे आधार हमारे पास नही है तो प्रकृति की तथाकथित एकरूपता के सिद्धात का वास्तविक तर्कसगत स्वरूप क्या है ? और (४) भौतिक जगत् की एक यत्र सभार रूप कल्पना मे सत्य की कितनी मात्रा है ? यान्त्रिक अनुक्रम की आवश्यकता तथा प्रयोजन-पर कार्य की स्वतन्त्रता के बीच लोक-प्रचलित वैरम्य द्वारा प्रस्तुत समस्या पर विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आवश्यक कारणीय कार्य विषयक लोक-प्रचलित अभिमत पर विचार करते समय हम देख चुके है कि यान्त्रिक अनुक्रम की आवश्यकता केवल एक विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ और तार्किक समस्या ही है। अनुक्रम की आवश्यकता तो केवल इस माने में ही होती है कि जव तक हम तर्कसगततया विचार करने के उद्देश्य को पकडे रहते है, तव तक ही पूर्ववर्ती की पुष्टि के साथ ही अनुवर्ती की पुष्टि करना भी आवश्यक होता है। सच्ची आवश्यकता ही सदा साध्य होती है और इसी लिए उसका प्रयोजन-पर कार्य की

विरोधिनी होना तो दूर, वह रह ही वहाँ सकती है जहाँ वास्तविक प्रयोजन की सभावना ही न हो अथवा जहाँ उसको सभावना को कुचल दिया गया हो।[१] जब तक हम भौतिक जगत् के प्रपचात्मक अनुक्रम पर ही विचार कर रहे होते हैं तब तक नेमी अपथभ्रष्ट अनुक्रमिक एकरूपता को ही आवश्यकता के पुरुषविध नाम से पुकारते है।

(१) गण्य एकरूपता और बौद्धिक प्रयोजन :—कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि किसी वस्तु के व्यवहार का समग्र सकल पूर्व निरूपण उस वस्तु मे प्रयोजनपरता अथवा बुद्धि के अध्याहार से मेल नही खाता अत लोक-प्रचलित प्रकार के नीतिदर्शन मे यह दलील पेश की जाती है और लगातार पेश की जाती रही है कि अगर हम बुद्धि युक्त और आत्म प्रयोजनवान जीव हैं तो किसी भी दर्शक के लिए पहले से ही यह बता सकना असभव होगा कि उस समय तक उपस्थित न हुई परिस्थितियो मे हम कैसा व्यवहार करेंगे। बौद्धिक प्रयोजन के प्रति गण्यता की अननुकूल्यता के विषय मे इस प्रकार का सीमान्तक दृष्टिकोण स्पष्टत दोहरी भ्रान्ति पर आधारित होता है। पहले तो वे लोग ही जो इस अभिमत पर बल देते है, यह मान बैठने की गलती करते हैं कि भविष्य विषयक प्रागुक्ति सभवत. वर्तमान दत्तो द्वारा भूत-विषयक गणना की अपेक्षा किसी अन्य तार्किक स्तर की होती है। मेरे भावी व्यवहार विषयक प्रागुक्ति को पहले ही से एक प्रयोजन-पर जीव रूप मे मेरे चरित्र के साथ जिस तरह पर बेमेल मान लिया जाता है। उसी तरह पर मेरे भूतकालिक व्यवहार से प्राप्त निष्कर्ष को नही देखा जाता। तर्क शास्त्रानुसार निश्चय

---

१. सही कहा जाय तो सभी आवश्यकता का उद्भव एक ही अनुभूति मे परस्पर विरोधी प्रयोजनो अथवा हितों की उपस्थिति से ही हुआ करता है। उदाहरणतः जब आधारो की स्थापना की जा चुकी हो तब परिणाम की स्थापना करने की तर्कसगत आवश्यकता के माने होते है (१) तार्किक रूप से विचार करने के सामान्य प्रयोजन की उपस्थिति, (२) ऐसे किसी प्रयोजन अथवा हित की उपस्थिति जिसके सिद्ध हो जाने पर पूर्व स्थापित आधारो से असगत परिणाम की स्थापना करना आवश्यक हो जाय, (३) इस स्थापना की अभिभावी प्रयोजन (१) द्वारा अधिभूति। मेरा विश्वास है कि सावधानी से विश्लेषण करने पर आवश्यकता विषयक प्रत्येक असली मामले मे यही सब तत्त्व प्रकट होंगे। अर्थात् मेरे प्रयोजन की निष्फलता मात्र सही तौर पर तब तक आवश्यक नहीं होती जब तक कि उसे किसी ऐसे द्वितीय हित अथवा प्रयोजन द्वारा पराजित न कर दिया जाय जिसने अपने अनुरूप बना लिया हो। इस प्रकार सर्वआवश्यकता अन्ततोगत्वा आत्मारोपित ही होती है। और जैसाकि हम आगे चल कर देखेंगे, नीतिशास्त्र पर सचारित हुए विना वह नहीं रहती।

ही यह एक प्रकार का प्रारंभिक विरोधाभास कहलाता है। कारणता विषयक समस्याओं पर विचार करते समय हम पहले ही देख चुके है कि प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की सफल उद्भावना हेतु आवश्यक शर्तें दोनों ही मामलो मे एक-सी ही होती हैं। यह निर्णय करने के लिए किसी निर्दिष्ट व्यक्ति ने किसी निर्दिष्ट परिस्थिति मे अपने पहले के इतिहास मे किस प्रकार से व्यवहार किया होगा ठीक उसी प्रकार की अन्तर्दृष्टि आवश्यक होती है जिस प्रकार की कि यह बता सकने के लिए आवश्यक है कि वह उस परिस्थिति में जो आगे चल कर समुपस्थित होगी किस प्रकार का व्यवहार करेगा। अतः हमें अपने विचार विषय से प्रागुक्ति के विशिष्ट मामले को निरस्त करके उसे इस सामान्य प्रश्न तक ही सीमित कर लेना होगा कि किसी प्रक्रिया के गतिक्रम की सामान्य गण्यता किस हद तक उसके प्रयोजन-पर तथा बौद्धिक स्वरूप के प्रतिकूल है ।

इस प्रश्न के उत्तर का सुझाव हमे हमारे अपने व्यवहार के गति क्रम की गणनार्थ किए जाने वाले इस प्रकार के प्रयत्नो के प्रति हमारी अपनी सामान्य अभिवृत्ति से ही तत्काल प्राप्त हो जाता है।[1] हम इस प्रकार के सभी प्रयत्नो का विरोध करते हो ऐसी बात किसी तरह भी ठीक नही है। इस पूर्वानुमान से कि हमारे व्यवहार मे आगामी व्यवहार के अनुमान की गणना के लिए उपर्युक्त एकरूपता पर्याप्त पायी जाती है, नाराज होने की बजाय हम अपने मित्रो से आशा रखते है कि वे एकरूपता के बल पर विश्वास पूर्वक पहले से ही यह अनुमान लगा सकें कि हम कुछ बातें तो अवश्य करेंगे ही और कुछ के करने से इनकार जरूर करेंगे और यह कि हमने अमुक प्रकार से काम अवश्य किया होगा और अमुक प्रकार से काम हम किसी प्रकार भी न कर सके होंगे। मित्रो मे ताना देने का यह एक सहज सामान्य वाक्य है कि 'तुम मुझे ठीक से समझने की कोशिश करो, मेरे बारे मे तुम ऐसा सोच ही कैसे सके कि मै ऐसी बात कर भी सकता हूँ ।' जब हम किसी मित्र पर भरोसा रखते है तो प्राय कहा करते है 'मै जानता हूँ कि तुम जरूर ऐसा कर सकोगे।' किन्तु इसके विपरीत कोई अपेक्षाकृत अपरिचित व्यक्ति यदि हमारे बारे में इस तरह का अन्दाज लगाने लगे कि जिससे वह हमारे व्यवहार की सही गणना कर सकता हो तो हम उसका बुरा जरूर मानेंगे। और यदि इस प्रकार की गणना उसके व्यक्तिगत ज्ञान पर बिल्कुल भी आधारित न होकर मनोवैज्ञानिक और नृवंशशास्त्रीय सामान्य साक्ष्यों पर आधारित हुई तब तो निश्चय ही हमे लगेगा कि आकस्मिक सफलता से बढकर कोई चीज हमारे नैतिक व्यक्तित्व के लिए खतरा बन रही है।

इस प्रकार के भावना वैविध्य का कारण क्या हो सकता है? स्पष्ट है इसका

---

१. आगे जो कुछ लिखा जा रहा है उसकी तुलना एफ० एच० ब्रैडले लिखित 'एथिकल स्टडीज' के प्रथम निबन्ध तथा आगामी खंड० ४, अध्याय ४ से कीजिए।

कारण हमें उपर्युक्त दोनों मामलों में जिन आधारों पर हमारे भावी व्यवहार का अनुमान लगाया गया था उन्हीं के मध्यगत विभेद में ढूंढना होगा। पहले मामले में हम उपर्युक्त प्रकार का अनुमान लगाने की आशा अपने मित्रों से इसलिए करते थे और हम उसका स्वागत भी करते थे क्योंकि हम उस अनुमान को अपने जीवन के पथदर्शक हितों और प्रयोजनों से अपने मित्र की पूर्णतः व्यक्तिगत अभिज्ञता पर आधारित अनुभव करते थे। वह अनुमान एक ऐसा निष्कर्ष था जो हमारे व्यष्ट चरित्र के अन्तर्ज्ञान पर आधारित था। दूसरे मामले में अपने चारित्रिक अनुमान से हम इसलिए उद्वेलित हो उठे थे चूंकि हम उसे आत्मविषयक वैयक्तिक प्रयोजनों और हितों के उपर्युक्त प्रकार के अन्तर्ज्ञान के अभाव पर आधारित और केवल मानव स्वभावविषयक सामान्य साध्यों के आधार पर लगाया गया अनुमान मात्र समझते थे। हम सहीतौर पर अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त द्वितीय प्रकार की अनुमान गणना की नियमित सफलता हमारे व्यष्ट चरित्र में अव्याहृत किसी वास्तविकता के अनुकूल नहीं है। मानव प्रकृति संबंधी विज्ञान के किसी सामान्य साध्य के आधार पर ही यदि हमारे सभी कार्यों की गणना हमारे व्यष्ट, प्रयोजन के बिना ही यदि की जा सकती होती तो, हमारे इतिहास की प्रगति निर्धारणार्थ वैयक्तिक प्रयोजनों और हितों की प्रत्यक्ष उपयोगिता एक थोथी भ्रान्तिमात्र ही होती और यह देखते हुए कि वास्तव में हम कुछ भी काम नहीं करते हम सच्चे बुद्धिमान विचमानिया नहीं हो सकते।

इस प्रकार दो प्रकार की गण्यता के बीच एक विशिष्ट विभाजन करना आवश्यक लगता है। व्यष्ट चरित्रगत तथा प्रयोजनगत अन्तर्दृष्टि पर आधारित गणना, बुद्धि तथा प्रयोजनपरता से असंगत नहीं है अपितु जीवन का नियंत्रण करनेवाले प्रयोजन जितने ही उससे संश्लिष्ट और व्यवस्थित होते हैं गणना उतनी ही अधिक संगत होती है। इसके विपरीत जहाँ प्रयोजन-पर व्यष्ट जीवों के व्यवहार की गणना का काम करना पड़ता है वहाँ इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान से रहित केवल सामान्य साध्यों पर आधारित यह गणना नियमितरूपेण सफल नहीं हो सकता।[1]

---

१. गाढ़े मित्रों के वृत्त से बाहर के अन्य साथियों के व्यवहार की हमारी साधारण गणनाओं में दोनों शैलियों की गणना का मिश्रण पाया जाता है। उनके बारे में हमारा अन्दाज कुछ तो उन अनुमानों पर आधारित होता है जो हम उनके विशिष्ट हितों और प्रयोजनों के अपने विगत ज्ञान के आधार पर लगाते हैं और कुछ सामान्य अनुमानों पर आधारित होता है। जो मानव जीवन में विस्तृत रूपेण कार्यरत हितों और प्रयोजनों को देख कर लगाये जाते हैं। कार्य-पर लोग कभी नहीं भूलते कि इस प्रकार से प्राप्त निष्कर्ष सदा उच्चतम सीमा तक समस्यात्मक ही होते हैं। हमारे समग्र अनुसन्धानों का इतिहास ही इस बात का

भौतिक जगत की, हमारे मतलब के लिए बुद्धिमान प्रयोजन-पर जीवो की एक व्यवस्था की प्रस्तुतिरूपेण व्याख्या करने में जो कठिनाई सामने आती है वह यह है कि भौतिक विज्ञान की सफलताओ को देखकर पहले पहल तो यह लगता है कि अन्तर्हित व्यष्ट प्रयोजन को जाने बिना भी केवल घटनाओ के गतिपथ के दृष्ट अनुक्रम की यान्त्रिक, गणना कर सकना भौतिक प्रकृति के बारे मे विचार करते समय सम्भव है। क्योकि एक ओर तो हम यह स्वीकार कर चुके है कि यदि भौतिक प्रकृति व्यष्ट प्रयोजन-वती होती तो हमे नही मालूम कि उन प्रयोजनो का विवरण क्या है। दूसरी ओर हम इससे भी इनकार नही कर सकते कि, भौतिक विज्ञान जो उन प्रयोजनो की उपस्थिति को ही व्यवस्थितरूपेण स्वीकार नही करता पहले भी भौतिक प्रकृति मे एकरूपताओं को ढूंढ निकालने मे विशेषत सफल हो चुका है और आगे भी उन एकरूपताओ का विशुद्ध गणनार्थ विनियोग कर सकने मे सफल होगा ऐसी आशा उससे की जाती है। इसलिए अनुमान लगाया जा सकता है कि अनुभवगम्य विज्ञान की वास्तविक सफलता का तालमेल, प्रकृति के गतिक्रम की हमारी तत्वमीमासीय व्याख्या के सिद्धातो के साथ नही बैठता।

लेकिन हमे इस बारे मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विभेद निर्धारित करना होगा। साख्यिकीय औसतो की विधि एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा विशिष्ट प्रकार की कुछ एकरूपताओ को प्रयोजन-पर बौद्धिक जीवो के व्यवहार मे उनके व्यष्ट प्रयोजनो के स्वरूप के भीतर झांके बिना भी, ढूंढ निकाला जा सकता है। अत यद्यपि किसी भी व्यष्ट व्यक्ति के बारे मे, उसके वैयक्तिक चरित्र और हितो के भीतरी ज्ञान के आधार के बिना, निश्चय-पूर्वक यह नही कहा जा सकता कि वह अपने आपको गोली मार लेगा या विवाह कर लेगा तो भी अनुभव से पता लगता है कि कुछ प्रतिशत गलती की सीमा के भीतर यह कह सकना सभव है कि अमुक वर्ष के भीतर कितने प्रतिशत अग्रेज अपने को गोली मार लेगे और कितने प्रतिशत शादी कर लेगे। सही है कि इस प्रकार से अनुमित प्रातिशत्य बहुत कम और शायद ही कभी किसी वर्ष सही उतरता है लेकिन जितने ही अधिक वर्षो का समय हम परीक्षण के लिए लेते है उतनी ही अधिक विशुद्धतापूर्वक किसी विशिष्ट वर्ष के लिए लगाये गये औसत के अनुमान की सही औसत से व्यपगति अन्य वर्षो की व्यप-गतिओ की कमी को पूरा करती चली जाती है। इसकी व्याख्या निश्चय ही यो की जा

सकती है कि मानव स्वभाव विषयक नियमात्मक वह विज्ञान जिसके द्वारा किसी व्यष्ट व्यक्ति के निश्चितचरित्र विषयक निष्कर्ष शारीरिक और मानसिक सामान्यताओ से निकाला जा सकता है एक उपहासास्पद भ्रान्ति मात्र है। देखिये आगामी खं० ४, अध्याय ४।

सकती है कि चूँकि किसी समाज की पर्याप्तत स्थिर स्थिति मे, विवाह और आत्मघात की प्रेरणा देने वाले कारण समग्रत वर्षानुवर्ष स्थिर ही रहा करते है इसलिए कई वर्षों की विवाहो और आत्मघातो की गण-सख्याओ का औसत लेकर हम उन परिणामो को निरस्त कर सकते है जो स्वभाव तथा स्थिति विषयक वैयक्तिक विशेषताओं के कारण प्राप्त होते है, और इस प्रकार उस मात्रा के माप से मिलती जुलती कुछ ऐसी वस्तु प्राप्त कर लेते हैं, जिस मात्रा को सामाजिक अस्तित्व की सामान्य परिस्थितियाँ व्यक्तियो के हितो और प्रयोजनो पर एक तरह के सामान्य चलन अथवा स्वरूप का ठप्पा लगा देती है ।

औसतो की विधि द्वारा प्राप्त सभी एकरूपताओं के सम्बन्ध मे दो बाते तुरन्त सामने ही दिखाई पड सकती हैं । पहली बात तो यह कि साख्यिक नियम द्वारा सूत्रीकृत परिणाम सदा ही इस प्रकार का होता है कि विचलन की कुछ सीमाओ के भीतर घटनाओ के वास्तविक क्रम के उस परिणाम के अनुसार चलते रहने की आशा उचित रूप से की जा सकती है किन्तु वह परिणाम ऐसा कभी नही होता कि जिससे हम आशा कर सके कि घटनाक्रम निरपेक्षरूपेण उसी का अनुसरण अवश्य करेगा । उदाहरण के लिए किसी एक साल मे हुए विवाहो की वास्तविक सख्या उदाहृत दस वर्ष की अवधि के लिए सगणित औसत प्रातिशत्य से सामान्यत तो कुछ ऊपर होगी या कुछ नीचे । लेकिन जब हम एक लम्बी अवधि की तुलना दूसरी अवधियो से करते है तब ज्यादा लम्बी अवधि के लिए सगणित औसत प्रातिशत्य स्वय भी कम-बढ होता है । इस प्रकार किसी सगणित-औसत का सही उतरना तभी उस 'लम्बे अरसे' मे ही सभव हो सकता हे जबकि गणना की अनन्त शृखला वस्तुत पूरी हो और ऐसा हो सकना प्राय असभव ही है । औसतो से जिन लोगो का किसी तरह का काम पडता है उनमे से शायद हर एक जानता है कि संगठित औसतो का मामलो की किसी निर्धारित शृखला के भीतर एकदम सही पाया जाना हमारी गणनाओ मे कही न कही गलती हो जाने का सन्देह तुरत पैदा कर देगा। अत इस प्रकार की एकरूपताये कभी निरपेक्ष तथा दृढ नही होतीं । वे ऐसी आदर्श सीमाये हुआ करती हैं जिनके निकट तक विचलन की कुछ सीमाओ के भीतर रह कर घटनाक्रम को पहुँचते हुए देखा गया है ।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार एकरूपता के अतित्व के कारण कोई तार्किक आधार हमे कभी नही मिलता कि जिसके आधार पर हम किसी खास ओर ठोस मामले मे किसी वास्तविक घटना के आवश्यक रूप से घटित होने का दावा भरोसे के साथ कर सके । आइये अपने उदाहरण की ओर फिर मुडे और देखे कि ठीक उसी तरह जिस तरह कि हमे किसी दत्त समाज मे प्रतिवर्ष होनेवाले विवाहो के निकटतमरूपेण स्थिर प्रातिशत्य से इस निष्कर्ष पर पहुँचने का, कि किसी खास एक वर्ष मे भी ठीक वही

प्रातिशत्य प्राप्त होगा, कोई अधिकार नहीं है। उसी तरह हमें यह नतीजा निकालने का उससे भी कम अधिकार है कि उस समाज का कोई विशिष्ट व्यक्ति विवाह करेगा या नहीं करेगा। उस विशिष्ट समाज-सदस्य के चरित्र, उसकी स्थिति तथा उसके हितों की गहराई तक पहुँचे बिना हमें कोई अधिकार नहीं कि हम विश्वासपूर्वक यह निर्णय कर सकें कि इस बारे मे उसका क्या व्यवहार होगा । इसी तरह पर गलती की किसी हद तक यह कह सकना तो संभव है कि अगले १२ महीने के भीतर साठ बरस से ऊपर की आयु के कितने आदमियो के मरने की आशका है किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि अमुक व्यक्ति वर्ष के भीतर मर जायगा तब तक तर्कानुगत पूर्वानुमान की पराकाष्ठा ही होगी जब तक कि हमे उस व्यक्ति के काम काज, आदतों, और उसके स्वास्थ्य सामान्य अवस्था के विशेष ज्ञान का बल प्राप्त न हो।[1] अतः हमे इसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि व्यष्ट प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि के बिना भी एकरूपताओ की गणना तथा स्थापना सभव है, किन्तु इस प्रकार से प्राप्त एकरूपताएँ सदा परिवर्तनशील और सन्निकट ही होगी और किन्हीं विशिष्ट ठोस मामलो मे उनके आधार पर सही निष्कर्ष निकाल सकना कभी निरापद न होगा।

३—(२) **भौतिक प्रकृति में एकरूपता**—भौतिक प्रकृति मे निश्चय एकरूपताओ की वर्तमानता से तब भौतिक व्यवस्था विषयक हमारी सामान्य अभिव्यक्ति मे तब तक कोई व्यवधान नहीं आता जब तक कि ये एकरूपताये उसी शैली की रहती है जिस शैली की एकरूपताओं को सामान्य सामाजिक सांख्यिक गणनाओ के सिलसिले में उदाहृत किया जा चुका है। दूसरी ओर ठोस गणनाओं के वास्तविक गतिक्रम का इस प्रकार के एकरूप सामान्य 'नियमों' का विशुद्ध और दृढ अनुसरण निश्चय ही लक्ष्यों के उद्देश्यपरक अभ्यनुकूलन की समुपस्थिति से असगत होगा । सामान्य नियम के

---

१. स्मरण रहे कि सामाजिक सांख्यिक गणनाओ का ऐसी निकटतम स्थिरता, प्रायः मूढ़तापूर्वक, नैतिक स्वातन्त्र्य की अप्रामाणिकता के तथाकथित साक्ष्य रूप में, प्रस्तुत की जा चुकी है। आवश्यकतावादी यौक्तिकता के ओर भी अधिक भोंडे रूप तक यह निष्कर्ष निकालने के लिए घर घसोटे गये हैं कि यदि किसी दत्त वर्ष की ३१ दिसम्बर तक की तारीख तक हुई आत्महत्याओं की संख्या किसी विशिष्ट वर्ष मे हुई आत्महत्याओ के औसत से एक कम रह गयी है तब किसी न किसी व्यक्ति को ३१ दिसम्बर को १२ बजे रात तक अवश्य आत्मघात इसलिए करना आवश्यक है कि जिससे उक्त औसत पूरा हो सके । लेकिन हमें यह कभी नहीं बताया जाता कि अगर औसत आत्मघातो की संख्या में एक की वृद्धि हो जाय तब क्या होना जरूरी है।

दृढ आनुचर्यपूर्वक अनुसरण का शासन प्रयोजन-पर व्यष्ट जीवन के साथ साथ कभी नही चल सकता। अब साधारणतया ऐसा माना जाने लगा है, तथा अभी शीघ्र ही हम देखेंगे कि एक रीति वैधानिक अभिधारणा के रूप मे ऐसा पूर्वानुमान न केवल आवश्यक ही है अपितु न्याय्य भी कि 'नियम का राज्य' भौतिक प्रकृति मे एकदम निरपेक्ष है। लेकिन इस पूर्वानुमान या अभ्युपगम को, मानव के क्रियात्मक प्रयोजनो की पूर्ति-हेतु निर्मित सभवत. असिद्ध एक अभिधारणा से अधिक कुछ मान लेने का कोई आधार है भी या नही मेरी समझ मे तो यह बता सकना आसान है कि ऐसा कोई आधार हमारे पास नही है और यह कि ऐसी प्रकृति की जो प्रयोजन और ऐन्द्रियानुभूतिरहित हो तथा सदा केवल यान्त्रिक 'नियमो' द्वारा ही सचालित और डगमग होती रहे, कल्पना स्वय हमारे द्वारा अविष्कृत एक तत्वमीमासीय स्वप्नजाल मात्र है।

आरम्भत ही स्पष्ट है कि किसी ठोस प्रक्रिया के वास्तविक गतिक्रम का वैज्ञानिक 'नियम' के अनुसार अविचलित अनुगमन अवलोकन या परीक्षण द्वारा एक अनुभव-सिद्ध तथ्य के रूप मे कभी भी सत्यापित नही किया जा सकता क्योंकि किसी भी अवलोकन अथवा परीक्षण मे हम कभी भी किसी ठोस वास्तविक घटना अथवा प्रक्रिया के समग्र को व्यवहृत नही कर सकते। अपने अवलोक हेतु हमे सदा किसी प्रक्रिया के सामान्य पहलुओ मे से कुछ ऐसे पहलुओ को चुन लेना पडता है जिन्हे हम 'सम्बद्ध कारकों' अथवा 'प्रतिबन्धों' के रूप मे अपने ध्यान का विषय बनाते है और अन्य पहलुओ को असार समझकर उन पर ध्यान नही देते अथवा 'आकस्मिक' परिस्थिति मानकर उन्हें त्याग देते है। इस प्रकार का कृत्रिम अवशोषण, जैसा कि कारणता-विषयक विवेचन में हमने देखा, यद्यपि हमारे क्रियात्मक प्रयोजनार्थं अनिवार्य है, तथापि तर्कनात्मकतया अप्रतिरक्ष्य है। साथ ही साथ जिन पहलुओं को हम अपने ध्यान हेतु चुनते है उनसे भी परीक्षण द्वारा जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है वह इतना ही कि एकरूप अथवा सर्व-सामान्य नियम से विचलन अथवा अपगमन, यदि ऐसा कोई विचलन होता हो तो, पर्याप्ततया इतना महान् विचलन नही होता कि जिसका कोई प्रभाव हमारी नाप-जोख अथवा गणना पर पड़ सके। किन्तु हमारे मापो के मानक कठोर सौक्ष्म्य से कितना दूर हुआ करते है यह बात आगमनात्मक विज्ञान सम्बन्धी तर्कशास्त्र की किसी भी अच्छी पुस्तक के भौतिक मानक विषयक अध्याय को पढकर जाना जा सकता है।[1] हमारा नियम से विचलन की पकड़ न कर पाना इस बात का सिद्धि के लिए कि किसी तरह का कोई विचलन नहीं हुआ, साक्ष्यरूपेण एकदम मूल्यहीन है।

---

१. तुलना कीजिए मॉख लिखित 'सायन्स आफ मैकैनिक्स', पृ० २८० एफएफ. (अग्रेजी अनुवाद), जेवोन लिखित 'प्रिंसिपल ऑफ सायन्स' अध्याय १३, १४।

अत भौतिक प्रक्रियाओ की निरपेक्ष एकरूपता यदि एक क्रियात्मक अभिधारणा से अधिक कुछ है तो उसका एक स्वयंसिद्ध होना आवश्यक है, अर्थात् उन प्रक्रियाओ की धारणा मात्र मे ही यह बात अन्तर्हित होना जरूरी है क्योकि वे एक व्यवस्थागत समग्र की सारतत्व रूप होती है। लेकिन यह बात भी तुरन्त ही स्पष्ट होनी चाहिए कि इस प्रकार की एकरूपता के एकस्वयं सिद्ध रूप मे पेश करने का कोई आधार उसी तरह पर नही है जिस प्रकार कि कारणता विषयक अभिधारणा को स्वयं सिद्धात्मक कहने का कोई आधार हमारे पास न था। व्यवस्थित समग्र की परिकल्पना मे किसी प्रकार भी यह बात अन्तर्हित नही है कि उसके भाग अथवा अग किसी एकरूप या समान नियम द्वारा सम्बद्ध होगे। क्योकि व्यवस्थागत एकता साध्यपरक भी हो सकती है अर्थात् भाग इस तथ्य द्वारा सम्बद्ध हो सकते है कि एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु अथवा एक ही कार्य की सिद्धि हेतु वे एक साथ मिलकर काम कर रहे होते है। उस दशा मे किसी भी एक भाग का चलन या व्यवहार उस व्यवस्था द्वारा आपूर्यमाण योजना की उस भाग से की गयी माँग पर निर्भर होगा। और चूँकि इस प्रकार की माँगे समयानुसार बदलती रहती है इसलिए विचाराधीन भाग का व्यवहार या चलन भी तद्नुसार ही बदलता रहेगा यद्यपि किसी ऐसे दर्शक को जो व्यवस्था द्वारा प्राप्य लक्ष्य अथवा प्रयोजन का निग्रह नही कर सका, ऊपर से देखने पर उस भाग का आस-पड़ोस एक समान ही दिखाई पड सकता है।[1] उन व्यवस्थागत समग्रो का जिनके भीतर मानवीय दृष्टि प्रत्यक्षत: प्रयोजन अथवा लक्ष्य विषयक एकता ढूँढ पा सकती है, मामला वास्तव मे ऐसा ही मामला है। निर्धारित प्रयोजनो को सामने रखकर चलनेवाला व्यक्ति उन परिस्थितियो मे एक-रूपता सदृश तरीके पर काम नही किया करता, जिन्हे उस व्यक्ति के प्रयोजन के सम्बन्ध को छोड़कर अन्य रूपेण एक समान ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए उन्ही परिस्थिति मे हुई पहले की असफलताओ से वह शिक्षा ग्रहण करता है और प्रतिक्रिया स्वरूप उन परिस्थितियों मे अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु वह और भी अधिक अच्छे अभियोज्य उपाय काम मे लाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। अथवा जहाँ वह कभी भी असफल नही होता वहाँ भी उसके प्रयोजन के अग्रगामी निष्पादन के लिए दोनों अवसरो पर अलग अलग तरह का चलन आवश्यक हो सकता है। तर्कनानुगत सही तरीके पर यही कहा जाय तो, दोनो ही स्थितियाँ उसके विशिष्ट प्रयोजन की अपेक्षानुसार कभी भी एक सदृश नही होती भले ही उसके उस विशिष्ट प्रयोजन के साथ

---

१. तुलना कीजिए 'लोत्से लिखित' 'मेटाफिजिक', खं० १, भूमिका १०, अध्याय ३—३३ (अंग्रेजी अनु०, भाग १, पृ० १८, ९०-९३), खं० १, अध्याय ७–२०८ एफएफ (अंग्रेजी अनु०, भाग २, पृ० ८८–९१)।

के उनके सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का विभेद भी उनके बीच न पाया जा सके। बोधगम्य प्रयोजनों की उस व्यवस्था की जो परिस्थितियों द्वारा अपनी संसिद्धि प्राप्त किया करती है, अपेक्षा रखते हुए, सही तौर पर कहा जाय तो हर एक स्थिति अनन्य ही होती है।

अब यदि हम उन तरीकों अथवा विधियों की जिनके द्वारा प्राकृतिक 'नियम' नामधेय एकरूपताओं का वास्तविक सूत्रीकरण किया जाता है, विवेचना करे तो इस निष्कर्ष के लिए आधार मिल सकता है कि वे सब एकरूपताएँ सन्निकटीय अयथार्थ प्रकार की ही है। सभी मामलो मे न सही अनेक मामलो मे तो ये एकरूपताएँ स्पष्टतया सांख्यिकीय विधियो द्वारा प्राप्त हुई होती है। अत उदाहरण के लिए जब कहा जाता है कि किसी दत्त रासायनिक तत्व के सभी परमाणु एक सदृश होते है, उदाहरणत जब हम कहते हैं कि ओषजन के प्रत्येक परमाणु का आणविक भार १६ होता है तब इस एकरूपता को व्यष्ट मामलो मे भी अविचल रूप से वस्तुत. ससिद्ध मान लेने का कोई नि निरपेक्षतया वैध आधार नहीं होता। परमाणु यदि हमारी अपनी सुविधा के लिए आविष्कृत ऐसा साधन मात्र सिद्ध हो जाय जैसा कि सभव है, जो सवेदनशील संहतियो के व्यवहार की संगणना के लिए उपयोगी तो है किन्तु जिसका अपना कोई अस्तित्व नही है, तब निश्चय ही सिद्ध हो जाता है कि व्यष्ट मामलो के वास्तविक नियमानुवर्तन का कोई प्रश्न ही नही हो सकता। किन्तु परमाणु की हमारी कल्पना से मिलते-जुलते अविभाज्य पिण्ड यदि कही वास्तव मे हो भी तो हमे याद रखना होगा कि व्यष्ट परमाणु से प्रत्यक्षतया काम लेने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। हम सवेदनशील उन द्रव्य संहृतियो के, जिन्हे हम अधिक प्रत्यक्षतया काम मे ला सकते है, व्यवहार से ही परमाणु के गुण धर्मों का अप्रत्यक्ष अनुमान लगाया करते हैं। अत इस कथन का कि ओषजन के परमाणु का भार इतना है, अधिक से अधिक यही अभिप्राय हो सकता है कि अपने कार्यपरक प्रयोजनार्थ हम उक्त भार से थोडा बहुत इधर उधर के संभाव्य विचलन की उपेक्षा कर सकते है। ओषजनीय परमाणुओ के अगर वास्तव मे ऐसे परमाणु मौजूद हैं तो व्यष्ट भार मे औसतन कुछ घटा बढी वास्तव मे हो सकती है, फिर भी, जब तक व्यष्टिश हम उनसे काम नहीं ले पाते और उनके अम्बारो से ही हमे काम करना पड़ता है, तब तक भार विषयक उतार चढावो अथवा विचलनो का, भले ही वे बहुत ही अल्प क्यो न हो, हमारे निष्कर्षों पर कोई विवेच्य प्रभाव नहीं पडता और इसी लिए हमारे विज्ञान शास्त्र के लिए उन्हे अस्तित्वहीन मानना ही उचित होगा। प्रकल्प्यरूपेण, तब इस प्रकार की रासायनिक एकरूपताओ से हमे व्यष्ट परमाणु के भार विषयक सही कथन के लिए नृतत्वशास्त्रीय उन सांख्यिक गणनाओ की अपेक्षा जिनके आधार पर व्यष्ट मानव की वास्तविक ऊँचाई,

भार तथा आगाकृत जीवनमान विषयक विवरण वह शास्त्र देता है, कोई सुरक्षिततर आधार हमें नहीं मिल सकते। और तत्काल ही हम देख लेते है कि कोई ऐसा अमानव प्रेक्षक जिसकी इन्द्रियाँ एक मानव से दूसरे मानव मे व्यष्ट प्रभेद कर सकने में असमर्थ हैं, मानवीय जीवों के बड़े समुदायो के व्यवहार मे दृश्यमान आभासी एकरूपता द्वारा उसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है जिस प्रकार का निष्कर्ष परमाणुओं के बारे मे निकालने का लोभ हमे हो जाता है।[1]

आभासत दृढ एकरूपता के अन्य मामलो मे भी बात ऐसी ही है जैसाकि किसी भी प्रयोगशाला मे काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पता है।[2] इस तरह के परिणाम या नतीजे वास्तविक अभ्यास के समय विशिष्ट परिणामो की एक लम्बी शृंखला का माध्य लेकर तथा छोटे मोटे विचलनो का इसलिए अस्तित्वहीन मानकर क्योंकि सभी क्रियात्मक प्रयोजनार्थ वे उपेक्षणीय होते है, प्राप्त किए जाते है। दूसरे शब्दो मे सभी भौतिक प्रक्रियाओं का एक रूप नियम के प्रति आभासी दृढ़ अनुवर्तन इस बात का अपरिहार्य परिणाम है कि व्यक्तिनिष्ठ प्रकार के विविध सीमाबन्धनों के कारण हम किसी प्रक्रिया की व्यष्ट विवृतियो के गतिक्रम का अनुसरण नहीं कर सकते और इसी लिए हमे अपने सब अनुमान पर्याप्त इतनी विस्तीर्ण प्रक्रिया शृंखलाओं के अवलोकन और उनकी तुलना द्वारा लगाने पड़ते है कि उनका विस्तार व्यष्ट प्रभेदो को परस्पर निराकृत कर देता है। किन्तु इस सब मे यह नतीजा निकालने का कोई समाश्वासन एकदम मौजूद नहीं कि किसी एक व्यष्ट प्रक्रिया का गतिक्रम किसी भी दूसरी प्रक्रिया के गतिक्रम के तत्सदृश होता है। इन तुलनात्मक तरीको ने एकरूपता मे व्यष्ट विवृत्ति के उस अनन्त वैविध्य के लिए जगह बना ली है जिसका हमारी वैज्ञानिक निर्मित जरा सा भी ख्याल था तो इसलिए नही करती चूँकि उस वैविध्य को पकड पाने के लिए हमारे अवलोकनात्मक साधन ही अपर्याप्त है अथवा इसलिए कि निगृहीत होने पर भी

---

१. इस अभिमत की पूर्ण व्याख्या के लिए देखिए वार्ड लिखित "नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर ४ जिसके आधार पर उपर्युक्त अनुच्छेद आधारित है; तुलना कीजिए जे० टी० मर्ज लिखित हिस्ट्री आफ योरोपियन थॉट, भाग १, पृ० ४३७-४४१।

२. मेरी टिप्पणी का अधिकतम आधार विशेषतः वे विधियाँ हैं जिनके द्वारा मनोभौतिकी के अनुसंधानों मे मात्रात्मक एकरूपताएँ प्राप्त की जाती हैं। अन्य क्षेत्रो के स्वतः कृत अनुसंधानो से मेरा कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं है किन्तु जिस विधि द्वारा सामान्य एकरूपताओं की प्राप्ति उन क्षेत्रो मे की जाती है वह एक ही सी प्रतीत होती है।

वह वैविध्य, हमारे विज्ञान के मौलिक ध्येय--घटनाओ के गतिक्रम मे हस्तक्षेप करने की क्रियात्मक सफलता के लिए किसी प्रकार से भी सार्थक नही है।

एकरूपता के मार्ग से विचलित करनेवाले वस्तुत वर्तमान व्यष्ट विचलनो मे से कुछ विचलनो की ओर सकेत कर सकना आसान है। इस संबध मे प्रोफेसर रॉयस ने इस प्रकार की एक शर्त पर विशेष वल दिया है और उसे हमारे अवधान के काल विस्तार का सीमावन्धन की सज्ञा दी है। जैसाकि मनोविज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि यदि किसी प्रक्रिया की कार्यावधि निर्धारित सकीर्ण सीमाओ से कम पड़ जाती है अथवा ज्यादा वढ जाती है तव हम समग्र प्रक्रिया से अवहित हो सकने मे असमर्थ रहते है। किन्तु अवधान प्रक्रिया के स्वरूप को देखते हुए हमे उसमे उन काल-सम्वन्धी विशिष्ट सीमा-वन्धनो के लिए जो हमारे अपने अनुभवार्थ उस पर लादे जा रहे हैं, कोई आधार दिखाई नही पडता न हमे इस सभाव्यता से इनकार करने का कोई उपाय ही सूझता है कि इस दुनिया में ऐसे भी बुद्धिमान जीव मौजूद हो सकते है जिनके अवधान का काल-विस्तार हमसे विशालतर हो अथवा अधिक सकीर्ण। ऐसे किसी जीव की भी कल्पना की जा सकती है जो अवधानावधि के यथेच्छ वैविध्यीकरण की शक्ति से युक्त हो। अत स्पष्ट है कि अगर हम अपने अवधान काल को ऐसा घटा-वढा सकते हो कि उन प्रक्रियाओ को जो इस समय इतनी द्रुतिगति अथवा अति मन्थर है कि हम उनकी व्यष्ट विवृतियो को ग्रहण नही कर पाते, एकल समग्रो के रूप मे ग्रहण कर सकने मे समर्थ हो सकें तो हमारे अवधान की परिस्थितियों मे हुआ ऐसा विशुद्धत व्यक्तिनिष्ठ परिवर्तन हमे व्यष्टता और प्रयोजन के दर्शन वहाँ करा दे सकता है जहाँ मौजूदा हालत मे नैमी एकरूपता के सिवाय और कुछ नही दिखाई देता। इसी तरह तुरन्त ही यह भी हमारी समझ मे आ सकता है कि हमारे अवधान-विस्तार से अधिक विस्तृत अवधान-कालवान जीव को मानव इतिहास के गतिक्रम मे निरुद्देश्य अथवा निष्प्रयोजन नैमिकता के अतिरिक्त और कुछ भी देखने को न मिले। मान लीजिए यदि हमे बौद्धिक और प्रयोजन-पर सक्रियता की दुनिया मे ला विठाया जाय, तो स्पष्ट है कि हम उस दुनिया के निवासी जीवो के मामले मे उस सक्रियता के स्वरूप को उसी दर पर मान्यता देने की आशा कर सकते है जिस दर पर कि हम अपनी दुनिया की सक्रियता को स्वीकार करते है। पर्यावरण के प्रति सप्रयोजन अभ्यनुकूलन के साथ प्रतिक्रिया-विषयक एकरूपता से हुआ तत्परिणामी विचलन भी यदि मच्छड के पख हिलाने की-सी तेजी के साथ हो जाय अथवा उसके होने मे शताब्दियाँ लग जायँ तो अवश्य ही हमारा ध्यान उसकी ओर नही जायगा।[१]

---

१. सीएफ. मि० एच० जी वेल्स लिखित 'द न्यू अक्यूम्यूलेटर'।

हमारे अपने जीवन में घटित होनेवाले अभ्यनुकूलनों से अत्यधिक विभिन्न प्रकार के सप्रयोजन और सघ अभ्यनुकूलनों के स्वीकरण में हमे आवश्यकरूपेण वर्जित करने वाले इसी प्रकार के अन्य व्यक्तिनिष्ठ प्रतिबन्ध वे प्रतिबन्ध हैं जो निर्धारित संख्या से अधिक प्रस्तुतियो पर एक साथ ध्यान देने की हमारी शक्ति पर लगे हुए हैं। साथ ही साथ ऐसे प्रतिबन्ध भी हैं जो हमारी इन्द्रिय प्रत्यक्षणता को कुछ विशिष्ट उपलक्षको तक ही सीमित करते है। फिर उन उपलक्षको से सम्बद्ध अन्तर्वस्तुओं के प्रत्यक्षणों की उस समय का असंभाव्यता भी है जब कि वे प्रत्यक्षण सवेद्यता की ऊपरी और निचली देहरियों से नीचे उतर जाते अथवा ऊपर उठ आते हैं। निश्चय ही इन अभिसधानों द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक प्रक्रियाओ की यह नैत्यिक एकरूपता एक व्यक्तिनिष्ठ आभास मात्र है अपितु वे अभिसधान यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उस एकरूपता को उससे अधिक और कुछ समझने का कोई वैध कारण नही है तथा यह कि समग्र वास्तविक अस्तित्व की इन्द्रिय सवेदक व्यष्टता के लिए प्रस्तुत हमारे पूर्वोक्त तर्क के साथ मिलकर वे भौतिक जगत्-सम्बन्धिनी हमारी सामान्य व्याख्या को श्री ब्रैडले के इस सामान्य नियम कि 'जिसका होना अनिवार्य है और जो हो सकता है वह है' के अन्तर्गत ला देने के लिए पर्याप्त है।

४—(३) 'प्रकृति की एकरूपता' विषयक सिद्धांत का तब हमे क्या करना होगा? वैज्ञानिक कार्य-सक्षम किसी भी सिद्धात का किसी न किसी तरह न्याय्य ठहराने योग्य होना आवश्यक है अत. यदि भौतिक जगत्-सम्बन्धिनी हमारी व्याख्या वास्तव मे विज्ञान के किसी भी मौलिक सिद्धात से टकराती है तो उसमें कहीं न कही तर्क-दोष होना ही चाहिए। किन्तु सौभाग्य से ऐसा कोई टकराव अथवा विरोध है नहीं। एकरूपता के सिद्धात का विवेचन करते समय हमे उन अर्थों को जिन मानो मे वह विज्ञान के उपयोग के लिए वस्तुत. वांछित होती है उन अर्थों से विभेद करना होगा जो विज्ञानो के वास्तविक विधि-विधान के आधार पर साधारण किन्तु अतर्कसंगत तरीके से निकाले जाकर तत्त्वमीमांसीय सिद्धाततन्त्र द्वारा उस एकरूपता ने पिरोये गये है। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं एकरूपता के सिद्धात की व्यवस्थित विचार प्रणाली के किसी स्वय-सिद्ध के रूप में अभिपुष्टि कर सकना असभव है। न किसी अनुभूत सत्य के रूप मे उसका सत्यापन ही कराया जा सकता है। अत उसका तार्किक स्वरूप किसी अभ्युपगम अथवा ऐसे पूर्वानुमान का ही हो सकता है जिसका पक्षपोषण क्रियात्मक उपयोगिता के आधार पर किया जा सकता है किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक वह सफल हो सकता हो।

और ठीक यही वह जगह है जिसकी पूर्ति उपर्युक्त सिद्धात विज्ञानों के वास्तविक विधि-विधान मे करता है। प्रकृति का मूर्त गतिक्रम कठोरतापूर्वक एक रूप है यह सिद्ध

कर सकने का कोई उपाय हमारे पास नही है यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी है। किन्तु उसका एकरूप होना, हमारे वैज्ञानिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक भी नही है हमे जितना कुछ चाहिए वह यही है कि भौतिक प्रक्रियाओ के वृहत्समूह से जब हमे काम पडा करे उनमे नैतिकता से तब उस विचलन के अतिरिक्त जिसकी घटना क्रम के गणन और नियत्रण कार्य मे उपेक्षा की जा सके अन्य किसी प्रकार का भी विचलन सामने न आये । अनुभवपरक विज्ञानो की वास्तविक सफलता से सिद्ध होता है कि हमारे सभी क्रियात्मक प्रयोजनो के लिए सनिकटीय एकरूपता की यह माग पर्याप्त सूक्ष्मतापूर्वक वस्तुत पूरी होती रहती है। और यह माँग वस्तुत यो पूरा हो सकेगी इस बात का पहले से अनुमान कर चौकस कसे बिना हमे मिल नही सकता था। इन अर्थो मे यह सिद्धात कारणता सिद्धात के समान ही, प्रागनुभवजात अभिधारणा कहा जा सकता है। लेकिन कारणता सिद्धात की तरह ही फिर एक बार इस सिद्धात को भी विश्वास योग्य तब तक नही माना जा सकता था जब तक कि उसके प्रयोग के बाद प्राप्त हुए परिणामो से इस बात की पुष्टि न हो गयी अत काण्ट के मतानुसार अनुभवाधारित सत्यापन के बिना ही सत्य मान लिए जाने के कारण वह प्रागनुभवीय ही है।[1]

जिन विशिष्ट मामलो मे एकरूपता के इस नियम का वस्तुत जिस प्रकार विनियोग हुआ है उस तरीको पर विचार करने से इस परिणाम की पुष्टि हुई है। हम सबको मालूम है कि वैज्ञानिक नियम विशुद्धत. सर्वसामान्य और अपूर्त है। वे यह नही कहते कि ऐसा होगा ही अपितु यह कि यदि परिणाम पर पहुँचने के लिए दी गयी शर्तो के अतिरिक्त अन्य कोई शर्त न हो तो उस हालत मे क्या हो सकता है, इतना ही वे कहते है। इस अपूर्त अथवा शेपात्मक रूप मे वे उन नियम के निश्चय ही यथार्थ और निरपेक्ष एक-रूपताओ के विवरण है। किन्तु इस अमूर्त रूप मे किसी प्रक्रिया के वास्तविक गति क्रम मे उनका प्रत्यक्षत. विनियोग नही किया जा सकता। नमूने के तौर पर प्रोफेसर वार्ड द्वारा प्रयुक्त उदाहरण को ही ले लीजिए।[2] यान्त्रिकी मे हम पढते है कि आलम्ब

---

१. एक बार फिर तुलना कीजिए पहले भी उद्धृत लोट्से कृत 'मेटाफिजिक', १, ३, ३२ के अनुच्छेद खण्ड से ।

२. देखिए 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर २ और तुलना कीजिए मॉश लिखित' 'सायंस आफ मेकैनिक्स' के पृष्ठ ९–२३ तक मे लिखित विशद इस प्रमाण से कि उत्तोलक के समान्य सिद्धांत सम्बन्धी सारे तथाकथित निदर्शन उस सम्बन्ध के अत्यधिक सीधे-सादे मामले के अधिक उलझे हुए रूप के विघटन मात्र हैं, जो अन्ततोगत्वा अपनी मान्यता के लिए इन्द्रियो के प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य अधिक विश्वसनीय प्रमाण पर निर्भर नहीं होते ।

पर जब भार-घूर्ण समान और विपरीत होते है तब उत्तोलक पर सन्तुलन की स्थिति बनी रहती है। अमूर्त साधारणीकरण के रूप मे यह कथन या अभिवचन स्थिर एक-रूपता विषयक कथन है। किन्तु सार्वत्रिकरूपेण इसके सत्य होने के लिए साध्य के सूत्री-करण मे अन्तर्हित प्रतिबन्धो अथवा शर्तो की पूर्ति हो चुकी है ऐसा मान लेना होगा। उत्तोलक का स्वयं अनम्य अथवा दृढ होना जरूरी है साथ ही भाररहित होना भी। उसका एकदम एकरूपेण रचित होना भी आवश्यक है आलम्ब का गणितीय बिन्दुवत होना इसलिए आवश्यक है कि जिससे घर्पण का अपहार हो सके इसी तरह भारो को ऐसे पदार्थ मात्र समझना होगा जिनमे कोई गुणात्मक विशेपतायें नही होती जिससे उत्तोलक पर केवल उनके एक गुण भार-गुण का ही प्रभाव पड सके। उनके जोतों का तनाव आदर्श तनाव होना चाहिए अन्यथा कुछ नयी गडबडियाँ पैदा हो सकती है। लेकिन जब तक इन सब शर्तो को पूरा कर लिया जाता है तब तक यह सिद्धात इतना अमूर्त बन चुका होता है कि जो वस्तु अपने द्रव्यमान तथा आलम्ब से उसकी दूरी द्वारा कार्य किया करती है किसी अन्य गुण धर्म द्वारा कार्य नही करेगी।

किसी भी वास्तविक मामले में, घटनाओ का गतिक्रम उन सब परिस्थितियों से प्रभावित हो सकता जिन्हे इस सिद्धात के अमूर्त सूत्रीकरण मे शामिल नही किया गया। कोई भी वास्तविक उत्तोलक न तो भाररहित होगा न ऐसा कि उसे नवाया न जा सके या तोडा न जा सके। उसकी बनावट भी कभी एकरस नही हो सकती। वास्तविक भारों का प्रभाव भी उत्तोलक के व्यवहार पर भारो के वैपुल्य, उनके रासायनिक सयोजन, और उनके जोतो के स्वरूप के कारण भिन्न भिन्न प्रकार से पडेगा। किसी मूर्त अथवा वास्तविक आलम्ब पर उत्तोलक की डण्डी और उसके आश्रय के बीच घर्पण की कुछ न कुछ मात्रा भी अवश्य होगी आदि आदि। वस्तुतथ्यत' इनमे से कोई भी एक अथवा सभी परिस्थितियो का उत्तोलक दण्डिका के चलन को तब प्रभावित कर सकती है जब भार को उससे लटकाया जाता है। परिणामत. किसी भी मूर्त मामले मे घटनाओ के गति क्रम का निर्धारण करने के लिए यात्रिक साधारणीकरणो का विनियोजन कर सकना एकदम असम्भव होता है।

इस दृष्टान्त मे जो बात सही उतरी है वही प्रकृति सम्बन्धी नियमों के इसी प्रकार के सभी मामलो मे भी सही है। जहाँ तक ये नियम वास्तव मे यथार्थ होते है वहाँ तक वे सब सोपाधिक ही होते हैं और समस्या के ही काम के है। अगर किसी भौतिक अनुक्रम के सपूर्ण आधार इस नियम के प्रतिज्ञापन मे परिगणित प्रतिबन्धो मे निहित मान लिए जायें तो उस अनुक्रम का गतिक्रम क्या होगा? इसके माने ये हैं कि वे सब नियम जिस हद तक निरपेक्ष है, वहाँ तक समानार्थवाची इस साध्य के ही विभिन्न रूप है कि जहाँ दो वस्तुओ मे विभेद करने का कोई कारण न हो वहाँ कोई विभेद न

होगा। लेकिन ज्यो ही हम अपने नियमो का विनियोजन किसी व्यष्ट प्रक्रिया के वास्तविक गतिक्रम की गणना के लिए करते है त्यो ही हमे स्वीकार कर लेना पडेगा कि उनकी दृढ यथार्थता-विषयक शर्त गायब है, व्यष्ट प्रक्रिया मे सदा ऐसे पहलू मौजूद रहते है जो उन शर्तो मे जिनके लिए कि वे नियम बनाये गये थे, शामिल नही किए गये और यह कि क्रियात्मक अनुभव ही हमे बता सकता है कि इन पहलुओ की उपस्थिति हमारे अभिप्रेत परिणामों के प्रत्यक्षत प्रभावित करेगी या नही। अत किसी व्यष्ट प्रक्रिया के अध्यनार्थ इस प्रकार विनियुक्त एकरूपता का सिद्धात कारणता विषयक सिद्धात की तरह ही एक ऐसा अभिधारणा ही है कि जिसका औचित्य उसकी क्रियात्मक सफलता द्वारा ही सिद्ध होता है।

कारणता सिद्धात के समान ही एकरूपता सिद्धात फिर एक बार विभिन्न मात्राओ मे उन प्रक्रियाओ के जिनके लिए उसे परिकल्पित किया जाय, स्वरूप के अनुसार ही सफल हो सकता है। जिस प्रकार कि कारणता विषयक अभिधारणा का आधार वह प्रक्कल्पना थी कि किसी घटना के पूर्ववर्तियो मे से किये गये चुनाव को, सभी कार्यार्थी प्रयोजनो के हेतु, सपूर्ण आधार का समकक्ष मान लिया गया था उसी प्रकार उससे भी अधिक सामान्य प्रकार की अभिधारणा, एकरूपता विषयक अभिधारणा भी इसी पूर्वकल्पना पर आधारित है कि किसी प्रक्रिया के आधार का निर्धारण करते समय उसके व्यष्ट प्रयोजन को गिना ही न जाय। इससे यह परिणाम नही निकलता कि इन अभिधारणाओ को भौतिक व्यवस्था के सभी विभागो के लिए अनुभवजन्य और चित्य की मात्रा एक जैसी ही मिल सकेगी। अर्थात् सब जगह उन्हे एक जैसा ही ठीक समझा जायगा। ऐसी कुछ प्रक्रियाएँ हो सकती है जिनका व्यष्ट प्रयोजनार्थक स्वरूप इतना स्पष्ट हो कि अपने कामचलाऊ मतलब के लिए हम उनके लक्ष्य अथवा प्रयोजन का ख्याल किए बिना उनके गतिक्रम की गणना कर सके। उस हालत मे एकरूपता अथवा सादृश्यता के सिद्धात तथा कारणता के सिद्धात की भी कोई क्रियात्मक मूल्य, भौतिक व्यवस्था के इस भाग के लिए नही रहता। और जनसाधारण का ऐसा ख्याल है कि इन दोनो क्रियात्मक अभिधारणाओ की इस प्रकार की असफलता वास्तव मे तब हुआ करती है जब उनका उपयोग मानव कारको के चेतन सकल्पों पर करना प्रारम्भ करते है। यह ऐसी समस्या है जिस पर और अधिक अच्छी तरह विचार करने का काम अगले खड के लिए छोड देना जरूरी है लेकिन अभी हम दो सामान्य वक्तव्य दे सकते है।

(१) किसी विशिष्ट क्षेत्र मे कारणता और एकरूपता अथवा सादृश्य विषयक अभिधारणाओ की इस प्रकार की असफलता मे आधार और परिणाम विषयक तर्कशास्त्र के मौलिक सिद्धात शामिल इस लिए नही होते चूंकि, जैसा कि हम पहले ही पर्याप्तरूपेण देख चुके है—दोनो ही अभिधारणाएँ इस सिद्धांत पर ऐसे प्रतिबन्ध

लगाती है जो स्वय उस सिद्धात के स्वरूप को देखने से उचित नही प्रतीत होते। अतएव यह स्थिति कि मानवीय कार्य विषयक किन्ही भी सामान्य नियमो का सूत्रीकरण नही हो सकता, आविचार्य अथवा तार्किकरूपेण अमान्य नही हो सकेगा।

(२) जब मानवीय कार्य सम्बन्धी नियमो के एकान्त अस्वीकरण की सभाव्यता तर्क शास्त्रानुसार सभव है तब मानवीय व्यवहार से सबद्ध विज्ञानो की सांख्यिकी-परक विधियो द्वारा प्राप्त सफलता हमे उसे स्वीकार करने से रोकती है। इन विज्ञानो की सफलता से सिद्ध होता है कि साकल्यरूपेण ग्रहीत होने पर मानवीय व्यवहार मे कुछ सन्निकटीय एकरूपताएँ देखने को अवश्य मिल जाती है। लेकिन यह सिद्ध करने के कि सकलरूपेण तथा उसी विधि से ग्रहीत होने पर भी मानव व्यवहार के सभी पहलुओ मे इसी प्रकार का सादृश्य अथवा ऐसी ही एकरूपता पाई जा सकती है कोई साधन उपलब्ध नही है। कम से कम इतना तो देखा ही जा सकता है कि कुछ सामाजिक क्रिया-कलाप किसी औसत अर्हता का सन्निकटन नही करते अर्थात् निर्धारित औसतों के निकट तक पहुँच सकने मे असमर्थ रहते है भले ही उनके अनुसधान के लिए कितना ही व्यापक क्षेत्र कितना ही लम्बा समय आधार रूप मे क्यो न लिया जाय। अनुमानत: हमे शायद स्वीकार करना पडेगा कि सामाजिक जीवन के ऐसे भी विभाग है जिनके लिए नियमो का सूत्रीकरण नहीं हो सकता, यदि हम इस अभ्यासिक सभावना की उपेक्षा करते हैं तो उसका कारण कोई रीति वैधानिक कारण ही होगा। इस प्रकार की एकरूपताओ अथवा सादृश्यो को ढूँढ निकालना हमारी रुचि का विषय है और इसी लिए हमने सही तौर पर ही इस मान्यता को कि एकरूपता से अधिक कुछ नही है। कार्यविधि का नियम इस लिए बना लिया है कि असफलता का अर्थ होगा अस्थायिनी बाधा मात्र, जिस कारण हम सभी अपराधियो को सभवत. सुधार योग्य समझकर वैसा ही व्यवहार उनसे किया करते हैं उसी कारण हम सभी अनुक्रमो को भी उचित विधियो द्वारा एकरूपताओं मे विघटनीय समझते है। हम चाहते हैं कि उन्हे ऐसा होना चाहिए और हम यह सिद्ध कर नहीं सकते कि वे ऐसे हैं अतः हम ऐसा व्यवहार करते है उनका होना मानो हम उन्हे वैसा ही समझते भी है।

उस क्रियात्मक आवश्यकता के स्वरूप के विषय मे, जिस पर एकरूपता की अभिधारणा आधारित है एक आध बात यहाँ कह दी जा सकती है। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं कि कारणता विषयक ऐसी ही अभिधारणा भी प्राकृतिक प्रक्रियाओ के नियत्रण के उपायो का जोड तोड लगाने की क्रियात्मक आवश्यकता से ही उत्पन्न हुई है। लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कारणता-विषयक अभि-धारणा अकेले ही पर्याप्त नही होती। क्योकि अगर हम मान भी ले कि क्रियात्मक प्रयोजनो के लिये प्रत्येक घटना का निर्धारण उसके पूर्ववर्तियो द्वारा पर्याप्त रूप

से हो जाता है और यह कि उन पूर्ववर्तियो के ज्ञान की प्राप्ति जब इस प्रकार हो जाती है और वह ज्ञान उस घटना के उत्पादन के उपायो का ज्ञान होता है, तब भी उस घटना के उत्पादन का क्रियात्मक नियत्रण हमारे हाथ मे नही होता । क्योकि ठीक तरह से ज्ञात उन उपायो का उपयोग करके उस घटना के पुनरुत्पादन कर सकने की अपनी शक्ति पर साधारणत हमे भरोसा तब तक नही हो सकता जब तक कि यह सम्भावना मौजूद रहती है कि हमारे प्रयत्नो का परिणाम प्रत्येक बार हमारी पकड से बाहर के अति सूक्ष्म वैविध्यो द्वारा अथवा ऐसे अन्य कारणो द्वारा जो हमारे प्रेक्षणातिरिक्त है, प्रभावित हो सकता है । हमे यह विश्वास दिलाया जाना आवश्यक है कि जो कुछ हमे सदृश प्रतीत होता है वह सभी क्रियात्मक प्रयोजनार्थ सदृश या वैसा ही है भी, जिससे सदृश उपायों के प्रयोग पर भरोसा करके सदृश परिणाम प्राप्त किए जा सके यही वह प्रतिबन्ध अथवा स्थिति है जिसे एकरूपता का सिद्धात अमूर्तरूप से व्यक्त करता है । वह बताता है कि प्राकृतिक प्रक्रियाओ का गतिक्रम सामान्य नियमो के अनुसार ही चला करता है और क्रियात्मक प्रकार की मूर्त घटनाओ पर जब उन नियमो का क्रियात्मक विनियोग होता है तब वे नियम प्रभावो के उत्पादन हेतु सहीतौर के क्रियात्मक नियम होते है और उन नियमो की अनुल्लघ्यता का अर्थ केवल इतना ही होता है कि तुलना के कुछ मानको की अपेक्षानुसार जो वस्तुये सदृश प्रतीत होती है वे उन परिणामो के सम्बन्ध मे भी जिनमे हमे दिलचस्पी है, समान रूप से ही सफल प्रभावशाली मान सकते है जैसाकि हम पहले भी देख चुके है इस पूर्वानुमान का वैधता प्रागनुभवरूपेण कभी भी ज्ञात नही हो सकता थी । उसे वस्तुत वैध तभी कहा जा सकता है जब उसके वास्तविक प्रयोग से उसका औचित्य सिद्ध हो जाय । साथ ही साथ यह कार्यविधि विषयक एक सिद्धात है कि पिछले अनुच्छेद मे बताए गए तरीके पर जब कभी किसी क्रियात्मक अभिधारणा का विनियोग हमारे हितार्थ उपयोगी समझा जाय तब उसकी सार्वत्रिक विनियोज्यता पहले ही से मान लेना ठीक होता है । इसी लिए तो उन क्षेत्रो मे जहाँ सामान्य एकरूपताओ की सफल स्थापना जब तक नही हो सकी है तब तक के लिए जब तक कि उनके विनियोजन के विरुद्ध कोई दृढ कारण प्रस्तुत नही किया जाता, अभिधारणाओ की विनियोज्यता को हम सही मानते है । आगे चलकर जब हम उन नैतिक कठिनाइयो पर जो एकरूपता तथा कारणता विषयक अभिधारणाओं के स्वेच्छा कार्य मे विनियोजित करने से सामने आयी है विचार करेंगे तब हमारा यह अन्तिम अभिमत सुझाव देगा ।

नि सदेह स्पष्ट है कि एकरूपता को केवल एक क्रियात्मक अभिधारण मात्र बना डालने के कारण वर्तमान वस्तुओ की क्रियात्मक व्यवस्था में विशुद्ध सयोग की कोई बात शामिल नही हो जाती । 'सयोग' अनेकार्थवाची शब्द है और उसकी अनेकार्थकता

के कारण अनेक प्रकार के भ्रम अथवा दुरुहताएँ पैदा हो सकती हैं । सयोग का अर्थ हो सकता है (अ) ऐसा अनुक्रम जिसका कोई आधार हमारे वास्तविक ज्ञान द्वारा नही बताया जा सकता, निश्चय ही हमारे अपने अज्ञान मात्र के इस अर्थ मे, सयोग को कोई भी ऐसा सिद्धात मान्यता दे सकता है जिसमें मानवीय अज्ञान तथा त्रुटि सभाव्यता को आँख ओझल नही किया जाता ।

इसके अतिरिक्त सयोग का (ब) ऐसा अनुक्रम भी हो सकता है जिसका आधार आंशिक रूप से ही समझा जा सका हो सभव है। कि ऐसे अनुक्रम के आधार के विषय मे हमे इतना पर्याप्त ज्ञान हो कि जिससे हम संभावनाओ के विकल्पो की एक निश्चित संख्या तक सीमित कर सकने मे तो समर्थ हो सकते हो लेकिन इतना पर्याप्त ज्ञान हमे न हो कि जिसके आधार पर हम बता सकें कि कौन सा विकल्प किसी विशिष्ट मामले की सब शर्तो को पूरी तरह पूरा करता है । यही वह अर्थ है जिसमे हम सयोग शब्द का प्रयोग तब करते हे जब हमे वैकल्पिक घटनाओ मे से किसी एक को सगणन योग्य कह कर उन घटनाओ के सगणनार्थक नियमो को तथाकथित 'सभाव्यता-सिद्धात' मे विशिष्ट गणितशास्त्रीय विस्तार का लक्ष्य बनाना होता है ।

(स) और अन्तत. सयोग का अर्थ विशुद्ध सयोग मात्र भी हो सकता है अर्थात् किसी वस्तु का ऐसा अस्तित्व जिसका कोई आधार ही न हो। इस अन्तिम अर्थ मे सयोग समस्त सगत विचारप्रणाली के चरम स्वयं सिद्ध के रूप मे, आधार और परिणाम के सिद्धात द्वारा व्यक्त वास्तविकता की व्यवस्थित एकता की कल्पना से एकदम बहिष्कृत हो जाता है। अगर हम कारणता और एकरूपता के सिद्धातो की निरपेक्ष वैधता से इनकार करते है तो इसके यही माने होगे कि हम उन सिद्धातों को आधार और परिणाम विषयक स्वय सिद्ध के आवश्यक परिणाम रूप मानकर वस्तुओ के विशुद्ध सयोग को स्वीकार कर रहे हैं। यदि वे सिद्धात ऐसी क्रियात्मक अभिधारणायें मात्र है जो आधार विषयक स्वय सिद्ध को ऐसे कृत्रिम प्रतिबन्धो के वश प्रस्तुत करती है जिनका कोई तर्कसगत औचित्य स्वय उस स्वयसिद्ध मे ही नही है तब यह स्वीकरण कि वे अन्तिमत. सत्य नही, किसी प्रकार भी अस्तित्व की सुदृढ व्यवस्थिति एकता की पूर्ण मान्यता के विरुद्ध नही पडता। उसका केवल यही मतलब है कि हमारी क्रियात्मक अभिधारणाओ द्वारा ग्रहीत उस एकता के स्वरूप विषयक अभिमत का पूर्वानुमान, विशिष्टरूपेण उपयोगी होते हुए भी अपर्याप्त है ।

यहाँ अपने निष्कर्षो की सक्षिप्तावृत्ति कर देना सुविधाजनक होगा। तत्त्व-मीमासीय आधार पर भौतिक व्यवस्था अथवा जगत् को अपनी विशिष्ट संवेदनात्मकता के लिए अभिव्यक्त हमारे अपने सदृश अन्त सम्बद्ध ऐसे जीवो की जिन्हे हमारी तरह के ही इन्द्रियवेद्य तथा सप्रयोजन अनुभव हुआ करते है, एक व्यवस्था मानने के लिए

हमें बाध्य होना पड़ा था। उस व्यवस्था के अधिकांश भाग की आभासी निष्प्रयोजनीयता तथा निर्जीवता का समाधान हमने यों किया था कि उसकी वह दशा तब समझ में आ सकती है जब हम मान लें कि उसके अनेक अगो के व्यक्तिनिष्ठ प्रयोजन और हित हमारे अपने हितो और प्रयोजनो से इतने ज्यादा भिन्न प्रकार के हैं कि हम उन्हे जान नही पाते। तब हमे समझ मे आया था कि यदि प्रकृति ऐसी इन्द्रियवेद्य अनुभूतियो से बनी है तो उस प्रकृति का निरपेक्ष नियम तथा एकरूपता के वशवद होना कभी भी अन्तिम रूपेण सत्य नही हो सकता। उसमे जो कुछ भी एकरूपता पायी जाती है वह अवश्य ही सन्निकटीय होगी और वह आवश्यक परिणाम होगी ऐसे तथ्य संग्रहो के वैपुल्य से भरे हमारे काम का, कि जिस सग्रह के तथ्यों का व्यष्ट ब्योरेवार हम अनुसरण नहीं कर पाते और इसी लिए वह एकरूपता उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार कि मानव चरित्र के विभिन्न विभागो मे नृतत्वीय विज्ञानों द्वारा स्थापित सांख्यिकीय एकरूपताएँ होती है। आगे फिर हमने यह भी पाया था कि जिन एकरूपताओ को हम प्रकृति के 'नियम' कह कर पुकारते हैं वे दरअसल इस उपर्युक्त प्रकार की एकरूपताएँ है। और यह कि वे उन औसत निष्कर्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो ऐसे दृष्टान्तो के ऐसे वृहत्समूहो की तुलना द्वारा सगणित किए गए हैं। जिन दृष्टान्तो का व्यष्टरूपेण विवेचन हम नहीं कर सकते अथवा तव तक नही कर पाते जब तक हम अपने वैज्ञानिक उद्देश्य से चिपटे रहते हैं। वे एकरूपताएँ तभी तक निरपेक्ष रहती है जब तक वे प्राक्कल्पनात्मक रहती है। वे कभी भी मूर्त घटनाओ के गतिक्रम के विषय मे किसी निरपेक्ष दावे को आधार नही बन पाते।

आगे चलकर हमने यह भी पाया था कि विज्ञान प्रकृति के वास्तविक गतिक्रम के विषय मे जिस एकरूपता की अपेक्षा करता है वह पर्याप्तत. इतनी सन्निकट है कि हम उसके बल पर अपने विशिष्ट प्रयोजन की प्राप्ति के लिए व्यष्ट विचलनो की उपेक्षा कर सकते है। हमने यह भी देखा कि एकरूपता का सिद्धान्त स्वय भी कोई तार्किक स्वयसिद्ध नही है अपितु यह एक ऐसी क्रियात्मक अभिधारणा मात्र है जो प्रकृति के गतिक्रम के क्रियात्मक हस्तक्षेप के नियमो के सफल निर्धारण के लिए आवश्यक शर्त को व्यक्त करती है। अन्त मे हमने यह भी देखा कि जहाँ हमे यह मान बैठने का कि भौतिक जगत् के सभी विभागो के लिए इस प्रकार के नियम बनाए जा सकते हैं कोई प्रागनुभवीय तर्कसंगत अधिकार नहीं है वहाँ रीति-वैधानिक आधारो पर हम मानने के लिए बाध्य है कि जब तक हमारे पास इसके विपरीत बात पर विश्वास करने के कोई विशेष कारण न हो तब तक वे नियम बनाए जा सकते है। अत. एकरूपता-विषयक अभिधारणा की सार्वत्रिकता का यह अर्थ नहीं कि वह सार्वत्रतया 'सत्य' है अपितु यह कि सामान्य नियमो के सूत्रीकरण के प्रयत्न मे जहाँ कही भी हमारी अभिरुचि हो वहाँ ही इस एक-

रूपता का सार्वत्रिकरूपेण गठन हम कर सकते है।

५—(४) यंत्र-विन्यास के रूप में भौतिक व्यवस्था की परिकल्पना— सामान्य नियमो के दृढ समविन्यासी के रूप मे प्रकृति की कल्पना उलझे हुए यंत्र-विन्यास के रूप मे समग्र भौतिक जगत् के अभिदर्शन मे पूर्णत. अभिव्यक्त होती हैं।

यह कहना आसान नही कि जब हम भौतिक प्रक्रियाओ अथवा संसार विषयक 'विशुद्ध यान्त्रिक', सिद्धान्त की बात सुनते है तब उसमें क्या क्या और कितना शामिल रहता है। कभी तो उसका मतलब इतना ही होता है कि विचाराधीन सिद्धान्त के अनुसार दृढ़ एकरूपता सिद्धान्त का सामान्य नियमो का अनुसरण एक चरम स्वयंसिद्ध है कभी ससार के प्रति एक 'यान्त्रिक दृष्टिकोण' भी अपनाया जाता है जिसका मतलब संकुचित रूप मे होता है भौतिक व्यवस्था की रासायनिक, वैद्युत तथा अन्य सभी प्रक्रियाओ का द्रव्यमानीय कण-व्यवस्था के विन्यास परिवर्तन की जटिल घटना मात्र समझा जाय। इस सकीर्णार्थ मे भौतिक जगत् विषयक यान्त्रिक सिद्धान्त उस यथार्थपरक तत्त्वमीमासा का ही एक अनगढ रूप है जिसके अनुसार गतिमान द्रव्यमानों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नही होता और द्वितीयक गुण विशिष्ट प्रत्येक वस्तु एक व्यक्तिपरक भ्रातिमात्र होती है। इस यान्त्रिक दृष्टकोण के विस्तृततर तथा संकीर्णतर दोनो ही रूप भौतिक प्रकृति की प्रक्रियाओ को अबौद्धिक और अचेतन मानने तथा जिस उद्देश्य अथवा प्रयोजन की पूर्ति वे करती है उसका कोई हावाला लिए बिना पूर्ववर्तिनी परिस्थितियो द्वारा ही उन्हे पूर्णतया निर्धारित मानने मे एकमत है। इस सिद्धान्त को यान्त्रिक, नामधेय बनाने का श्रेय उन साम्यानुमान को है जो भौतिक व्यवस्था तथा मानव निर्मित उन मशीनो के बीच मौजूद माना जाता है और जिसके अगोपागो की गति क्रिया शेष अगो के साथ उनके सम्बन्ध के आधार पर मशीन के सदृश ही हुआ करती है न कि किसी प्राप्य लक्ष्य के प्रति चैतन्यता द्वारा प्रेरित होने के कारण।[1]

निश्चय ही इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रकृति के गतिक्रम सकल हस्तक्षेप के लिए नियमों के सूत्रीकरण की जहाँ कही भी आवश्यकता होती है वहाँ हमारी क्रिया विषयक आवश्यकताएँ भौतिक प्रक्रियाओ के उपर्युक्तार्थक यान्त्रिक अभिदर्शन के लिए हमे बाध्य कर देती है। यदि हमे घटनाओ के गतिक्रम मे सफलतापूर्वक दखल देना है तो जैसाकि

---

१. 'यांत्रिक अभिमत' विषयक संकीर्णतर और अधिविशिष्ट अर्थ पर कुछ अन्य टिप्पणियो के लिए देखिए इसी खंड का अध्याय ६। अधिक विशुद्धतार्थ यान्त्रिक अभिमत के इस विशिष्ट रूप को प्रकृति का यांत्रिक सिद्धांत कहना अधिक सुविधाजनक होगा।

हम पहले ही समझ चुके है, उस गतिक्रम का सन्निकटतया एकरूप समझा जा सकने योग्य होना जरूरी है अन्यथा कोई सुरक्षा इस बात की हमारे पास नही है कि नियमानुसार तथा पूर्ववर्ती अनुसार किये गये हमारे हस्तक्षेप का परिणाम या निष्कर्ष एकरूप और असंदिग्ध होगा। अत. यदि हमे क्रियात्मक हस्तक्षेप के सामान्य नियम सूत्रीकृत करना है तो हमे वस्तुओ के गतिक्रम को सब तरह से यान्त्रिक रूप मे ही देखना होगा। इनके विपरीत अगर ऐसी प्रक्रियाएँ हुई जिन्हे सनिकटतया भी यान्त्रिक न समझा जा सकता हो तो घटनाओ के क्रियात्मक परिचालन के सामान्य नियम बना सकने की हमारी शक्ति उन घटनाओ तक नही पहुँच सकती। घटनाओ के यान्त्रिक अभिदर्शन की सीमाएँ ही अनुभवाधारित विज्ञान तथा व्यावहारिक कला विषय के सामान्य उपदेशो की भी सीमाएँ होती हैं।

इस बात का प्रशसनीय दृष्टान्तीकरण हमे मानवीय स्वभाव के अध्ययन मे मिलता है। जैसाकि हमे पहले ही ज्ञात हो चुका है, मानवजीवो के विशाल समुदायो के व्यवहार की कम से कम अनेक बातो मे हमे सनिकटीय एकरूपता देखने को मिलती है और इसी लिए उसे उन बातो के सन्दर्भ मे तो सब प्रकार से यान्त्रिक ही माना जा सकता है। अत मानव-जाति-विज्ञान, समाज विज्ञान, आदि अनेको मानवीय प्रकृति विषयक ऐसे अनुभवाधारित विज्ञानो का अस्तित्व सभव है जिनमे वे एकरूपताएँ सग्रहीत होती रहे और उन्हे सहिता रूप मे ग्रथित किया जाता है। साथ ही यह भी सभव है कि इन विज्ञानो के आधार पर अमूर्त अथवा गुणात्मक रूपेण ग्रहीत अपने साथी मानवो के प्रति हमारे व्यवहार का नियमन करने के लिये अनेको प्रज्ञात्मक सामान्य सूत्र अथवा उक्तियाँ गढ ली जायं। किन्तु जब हमे मूर्ति विशिष्ट मानव-व्यष्टियो से काम पडता है, तब जैसा कि हम देख चुके हैं, यह यान्त्रिक अभिमत सफल नही हो पाता और हमारी सहायता नही कर पाता। मूर्तव्यष्टि क्या कर बैठेगी इसका अनुमान निश्चयपूर्वक केवल उस व्यक्ति के हितो और प्रयोजनो के ज्ञान के आधार पर ही लगाया जा सकता है, अत व्यष्ट चरित्र विषयक कोई सर्व-सामान्य विज्ञान हो ही नही सकता न किसी व्यष्ट सहयायी मानव के प्रति व्यवहार के प्रज्ञात्मक सर्वसामान्य नियम ही परिणामत. बनाये जा सकते है। यह जानने के लिए कि उन वास्तविक व्यक्तियो के साथ जिन्होंने हमारा जीवन क्रम हमारे साथ प्रत्यक्ष, गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध सूत्र मे बाँध देता है, हमारे व्यवहार का नियमन कैसे हो, हमे मानव स्वभाव के तथाकथित विज्ञानो की शरण नही लेनी पडेगी अपितु इसके लिये हमे उन व्यक्तियो के विषय मे अपने वैयक्तिक अनुभव ही से काम लेना होगा। वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप और उसकी मर्यादाओं पर हुए दार्शनिक विमर्श ने पूरी तरह उस निर्णय का समर्थन किया है जो मानवजाति की व्यवहार बुद्धि ने उस सिद्धातवादी अहम्मन्य पाण्डित्य के विरुद्ध लिया है, जो वैयक्तिक

चरित्र और प्रयोजन की ठोस समझदारी को छोड़कर और चाहे जिस आधार पर वास्तविक व्यक्तियों के साथ व्यवहार के नियम ढूंढ निकालना चाहता है।

अत. भौतिक-प्रक्रिया विषयक यान्त्रिकीय अभिमत उन अनुभवाधारित विज्ञानों की एक अनिवार्य अभिधारणा बन गया है जो सामान्य सूत्रों की सहायता से उन प्रक्रियाओं का वर्णन करना चाहते हैं। इसी लिए तो वे सम्यापत्तियाँ जो कभी-कभी वर्णनात्मक विज्ञानों मे यान्त्रिकीय अर्थनिर्णयों के प्रयोग के बारे में उठायी जाती हैं, वास्तव मे वैज्ञानिक सामान्यीकरण और वर्णना के सारे ही व्यापार के प्रति अभिव्यक्त वैयक्तिक अरुचि के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होतीं। यदि भौतिक प्रक्रियाओं के बारे में कोई विज्ञान हो सकते हैं तो उन विज्ञानों का यान्त्रिकीय होना आवश्यक है अर्थात् यान्त्रिकता के विस्तृत अर्थों मे यान्त्रिकीय। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि चूंकि हमारे अनुभवाश्रित विज्ञानों के लिए भौतिक प्रक्रिया विषयक यान्त्रिकीय अभिमत जरूरी है इसलिए वह अभिमत परिणामतः अन्तिमेत्थ रूपेण सही भी है। जैसा कि हमें पहले ही ज्ञात हो चुका है कि जब इस कथन को छोड़ कर कि भौतिक जगत् की प्रक्रियाओं को सामान्य सूत्रों द्वारा वर्णन करने के लिए तथा उनके उत्पादनार्थ व्यवहारिक विधियो का आविष्कार करने के लिए सब प्रकार से यांत्रिक माना जा सकता है उस कथन से बिलकुल भिन्न दूसरे इस कथन की ओर की भौतिक व्यवस्था दृढतया यान्त्रिक है, तब हम अनुभवाश्रित विज्ञान को छोड़कर कट्टरपंथी तत्त्वमीमांसा का पल्ला पकड चुके होते हैं और हमारे तत्त्वमीमांसीय मताग्रह को सत्ता विषयक विचारप्रणाली के रूप में स्वय अपनी चरम संगति और बुद्धि ग्राह्यता के बल पर ही या तो खड़ा रहना होगा या नष्ट हो जाना होगा। अन्य प्रयोजनों के लिए यान्त्रिकीय निर्वचन या अर्थनिर्णय की उपयोगिता, तत्त्वमीमांसक के विशिष्ट प्रयोजनार्थ उसके उपयोगार्ह होने का कोई प्रमाण नहीं है।[1]

६—हमारे पहले वाले विचारविमर्श ने हमारा संतोष कर दिया था कि तत्त्वमीमांसा के रूप में भौतिक जगत के यांत्रिकीय अभिमत की आधार एकरूपताविषयक अभिधारणा अबोधगम्य अथवा दुरूह है और इसीलिए अपक्षपोष्य भी है किन्तु उक्त विचारविमर्श

---

१. मनोविज्ञान को उन विज्ञानो की श्रेणी मे रखना शायद उचित नहीं जिनके लिए यान्त्रिकीय अभिमत मूलाधार रूप है। किन्तु भौतिक जगत् के किसी भी भाग से मनोविज्ञान को काम नहीं लेना पड़ता। देखिए इस पुस्तक के लेखक द्वारा की गयी मस्टरबर्ग लिखित 'ग्रुण्डजिग डर साइकालॉजी', की 'माइण्ड' नामक पत्रिका के एप्रिल १९०२ के अंक में प्रकाशित समालोचना, तथा हवाला लीजिए लेखक की इसी पुस्तक के खंड ४ के अध्याय १ व २ का।

की अनुपूर्ति के लिए दो एक ऐसे विमर्श प्रस्तुत कर रहे है जिनसे भौतिक जगत् की ए स्वय कार्य करनेवाली ऐसी वृहत्काय मशीन के रूप मे परिकल्पना की जिसे वैज्ञानिक विचारधारा के अन्तिम निर्णय के रूप मे आज हमारे सामने पेश किया जाता है, अपर्याप्तता एकदम स्पष्ट होकर सामने आ जाती है। तत्त्वमीमासा के यान्त्रिकीय सिद्धातो मे दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उस सिद्धात के सूक्ष्मदर्शी प्रतिपादको के अनुसार यह भौतिक जगत ऐक ऐसा यन्त्र विन्यास है जो (अ) स्वय पूर्ण और स्वत कार्यकारी है तथा (ब) आन्तरिक प्रयोजन से पूर्णतया विरहित भी।

इन दोनों ही सदर्भो मे अनुमित जगद्यत्र उस वास्तविक यत्र से एकदम भिन्न पाया जाता है। जिसके साम्यानुमान पर अन्तिमोपाय रूपेण यात्रिक अभिमत आधारित है। पहली बात तो यह है कि हर एक असली मशीन किसी सवेदनशील जीव के आन्तरिक प्रयोजन का अवतार होती है। वह ऐसी कोई चीज हुआ करती है जिसे किसी परिणाम के प्राप्ति के विशिष्ट उद्देश्य से गढा जाता है और उसकी सरचना जितनी ही यथार्थ होती है उतनी ही अधिक असभाव्यता जिस परिणाम की प्राप्ति के लिए उसका जोड तोड बैठाया गया है उसे समझे विना, उसके निर्माण के सिद्धात के समझ मे आने की होती है। जब आपको यह मालूम हो जाय कि मशीन वनाने वाले ने क्या काम करने के लिए उस मशीन को वनाया तभी आप वता सकते है कि विविध पुर्जो और हिस्सों के आकार दृढता आदि गुण जिस प्रकार के उस मशीन मे पाये जाते हैं वे वैसे क्यो है। जहाँ तक मामला इस तरह का नही होता। और जहाँ आप मशीन की गढन को उसकी रचना के विशिष्ट उद्देश्य के ज्ञान के विना भी मशीन मे लगे पदार्थ गढन के परम्परा द्वारा पवित्रीकृत ढाँचे अन्य वातो को देख समझकर ही समझा सकते है वहाँ उस मशीन को सही शैली तक न पहुँची मशीन ही मानना होगा। पूर्णतया यथार्थ मशीन मे तो उसके हर एक हिस्से और पुर्जे के स्वरूप और उसकी चलन का निर्धारण निरपेक्षतया उस हिस्से और पुर्जे से लिए जाने वाले उस काम के द्वारा हुआ होता है जिस प्रयोजन की पूर्ति के लिए वह सारी मशीन तैयार की गयी होती है। कभी भी इस तरह का पूर्ण विशुद्ध मशीनी ढाँचा वना सकने की हमारी असमर्थता के कारण हमारी सारी वास्तविक मशीनें उनके निर्माण के हमारे आदर्श की पूर्ति यथार्थ और पर्याप्त रूप से नही कर पाती।

अत एक सच्ची मशीन निष्प्रयोजन तो होती ही नही हाँ चैतन्य प्रयोजन का मूर्त रूप अवश्य होती है। सही है कि एक वार चालू कर दी जाने पर मशीन विना इस बात न ख्याल रखे ही निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति पर्याप्तरूपेण हो रही है या नहीं। अपने निर्माण मूर्त हुई दिशाओ के अनुसार लगातार काम करती रहेगी। घडी मे एक वार चाभी भर जाय तो वह चलती रहेगी भले ही नयी परिस्थितियो मे व्यतीत हुए समय का

निर्देश उस घडी के बनानेवाले या उस घडी के मालिक के हितो की पूर्ति न करे। और फिर अगर घडी की बनावट ही दोषपूर्ण हुई तो वह जिस काम के लिए बनायी गयी है उसे ठीक से पूरा नही करेगी। मशीन में यह शक्ति नहीं होती कि वह अपने आप को बदलकर नये उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपयुक्त बना ले अथवा जिस काम या प्रयोजन की द्योतक वह है उस उद्देश्य या प्रयोजन मे ही सुधार कर ले अथवा अपने काम मे पाये जाने वाले मौलिक दोष को दूर कर ले लेकिन इससे केवल इतना तो पता चलता है कि मशीन के निर्माण से प्रकट होने वाले प्रयोजन का उद्गम मशीन से बाहर की ही वस्तु है और यह भी कि मशीन का जनक अपने उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति पूर्ण सगत रूप से कर सकने की शक्ति से रहित था। बहैसियत एक मशीन के, मशीन के सारभूत साध्यपरक अथवा प्रयोजनपरक स्वरूप मे इससे कोई कमी नही पड़ती।

अब हम दूसरे विचार बिन्दु तक आ पहुँचते हैं। जिस तरह पर कोई भी सच्ची मशीन निष्प्रयोजन नही हुआ करती ठीक उसी तरह पर कोई भी सच्ची मशीन स्वतः कार्य करनेवाली भी नही होती। सारी मशीने अन्ततोगत्वा न केवल अभिकल्पनात्मक बुद्धि का उत्पादन ही होती है अपितु अपने नियन्त्रण के लिए वे बाहरी प्रयोजक बुद्धि पर निर्भर भी होती है। उन्हे चालू करने के लिए तो बुद्धि की जरूरत तो होती ही है उनके कार्य-कलाप की देख-रेख और नियंत्रण के लिए भी उसी मात्रा मे उस बुद्धि की किसी न किसी रूप मे आवश्यकता होती है। कोई मशीन कितने ही उलझे हुए तरीको की क्यों न हो, स्वत नियमन और स्वत समंजन, स्वत. भरण आदि के चाहे जितने पेचीदे उसके उपकरण आदि क्यो न हो तो भी उसे चलाने वाला आदमी, ध्यान से देखने पर आपको कही न कही मिल ही जायगा। इस विमर्श का ऊपर से ही स्पष्ट स्वरूप दुर्भाग्य से तत्त्व-मीमांसको को उस विमर्श की स्वय उपेक्षा करके विचित्र प्रकार के निष्कर्ष निकालने से रोक नही सका।

मशीनो के सही रूप पर गहराई से विचार करने पर भौतिक जगत् की एक-रूपताओ तथा हमारी मशीनो की नियमित कार्य व्यवस्था विषयक साम्यानुमान की व्याख्या प्रकृति विषयक 'यान्त्रिक अभिमत' द्वारा स्वीकृत और तत्त्वमीमास के सिद्धात के रूप मे विस्तरित व्याख्या से इस प्रकार अत्यधिक भिन्न पड जाती है उस व्याख्याओ के आधार पर कल्पना की जा सकती है कि आभासी यान्त्रिक सर्वत्र ही वहीं कार्य करता है जिसकी पूर्ति वह हमारे सामाजिक जीवन मे किया करता है। हमे समझ रखना होगा कि यान्त्रिक उन प्रक्रियाओ का जो अपने पूर्ण स्वरूप मे, सारत साध्यपरक और प्रयो-जनात्मक है, एक अपरिहेय किन्तु गौण भाग है, साध्यपरक कार्य की सफलता स्पष्ट. दो मौलिक परिस्थितियो पर निर्भर होती है। उसके लिए प्रक्रिया के ऐसे प्रकार आव-श्यक होते हैं जो तब तक एक रूप रहे जब तक उनके रख-रखाव मे उस उद्देश्य की जिसकी

प्राप्ति के लिए उन्हे निर्देशित किया गया है पूर्ति होती रहे। साथ ही साथ वह शक्ति भी आवश्यक होती है जिसके द्वारा समय समय पर उन प्रतिक्रिया प्रकारो मे इस प्रकार के सुधार किये जा सकें जो उद्देश्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति के मार्ग मे आ टकराने वाली अथवा स्वय उत्पादित नयी परिस्थितियो का सामना भी कर सके। हमारे अपने वैयक्तिक जीवन मे भी यह दोनो परिस्थितियाँ यानी आदतें डाल सकने की शक्ति तथा पर्यावरण के परिवर्तित हो जाने पर उसका सामना करने के लिये नये तरीके पर तुरन्त अपने आप को बदल डालने की शक्ति पायी जाती है। जिस सीमा तक हम एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की एकरूप प्रत्यावृत्ति द्वारा अपने मुख्यहितो का अनुसरण श्रेष्ठतम रूप मे करते रहते हैं। वहाँ तक हमारा ध्यान उस प्रतिक्रिया के कार्यानुसरण के प्रति स्वभावानुसारी हो जाने के कारण अर्थ-चेतन बन जाता है यानी जैसाकि हम सहीतौर पर कहा करते है मशीनी अथवा यान्त्रिक बन जाता है क्योकि तब वह ध्यान स्वाभाविकी क्रिया मे आवश्यक नये अथवा टटके सुधार करने के लिए छुट्टी पा जाता है। हमारी विविध औद्योगिक तथा अन्य प्रकार की मशीनें श्रम के उपर्युक्त विभाजन की सुविधाजनक साधन हैं। मशीन को एक बार ठीक से बनाकर चालू कर देने पर वह अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया करती चली जाती है और मशीन निरीक्षक का ध्यान पर्यावरण की नयी परिस्थितियो का सामना करने के लिए आवश्यक और अपेक्षतया नवीन अनुक्रियात्मक परिवर्तन प्रारम्भ कर सकने के लिए स्वतत्र हो जाता है।

भौतिक जगत मे पायी जानेवाली इन यान्त्रिक एकरूपताओ को उपर्युक्त साम्यानुमान के रूप मे व्यक्त करने मे हमे कोई बाधा नही है किन्तु तब हमे भौतिक प्रकृति मे पायी जाने वाली 'एकरूपताओ' अथवा उसके 'नियमो' को एन्द्रिय ज्ञानवान उन जीवो की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं की विधाओ के अनुरूप देखना होगा। जिनके आन्तरिक जीवन प्रपञ्च का ही प्रतिबिम्ब यह भौतिक जगत है। ये एकरूपताएँ अपने स्वभावानुसार ही मूलत उद्देश्यपरक होंगी और ऐन्द्रिय-ज्ञान-सपन्न उन्ही जीवो के पर्यावरण सबधी वैविध्यो अथवा विचलनो के नवीन अनुक्रियात्मक स्वत स्फूर्त उपक्रमणो के साथ उनका गहरा सम्बन्ध होगा। स्वभाव और स्वत स्फूर्ति जिस प्रकार हमारे अपने मानसिक जीवन मे परस्पर अन्तर्हित रहती है उसी प्रकार प्रकृति के उन्मुक्त स्वरूप मे भी वे उसी प्रकार अन्तर्हित होगी। और इसी लिए दोनो ही मामलो मे यान्त्रिक ही वह निम्नतर स्तर होगा जिसको सनिकट अनुपाती साध्य अथवा उद्देश्यपरक कार्य तब होगा जब उसकी पूर्ति हेतु ध्यान अथवा अवधान की आवश्यकता न रहेगी।

हमारी इस कल्पना का प्रकृति के 'एकरूप नियमों' के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले साध्य के प्रकार के विषय मे की गयी हमारी विगत जाँच के साथ बहुत बढिया मेल बैठेगा क्योकि वह उन व्यक्तिपरक सीमाओ का अनिवार्य परिणाम होगा जो हमे उस

प्रक्रिया वैपुल्य से जिसकी व्यष्ट विवृतियो का व्यष्टिश अनुसरण हम नही कर पाते, काम लेने के लिए यो वाध्य करती है कि जिससे हमारा भौतिक जगत का प्रेक्षण शैलीवद्ध वाह्य परिस्थितियो की आभासिक अनुक्रियाओ के मोटे-मोटे सामान्य प्रकारों को तो प्रकट कर दे भले ही हम उन परिस्थितियो के विशिष्ट विचलनो की जवावी अनुक्रियाओं के सूक्ष्मतर रूपान्तरणो का निग्रह न कर पायें। मानव स्वभाव के सांख्यिकीय अध्ययन द्वारा निश्चयीकृत एकरूपताएँ भी विशेष प्रकार की वाह्य परिस्थितियो मे होने वाली मानव जीवो की प्रधान आभ्यासिक प्रतिक्रियाओ का ठीक इसी तरह वडे पैमाने पर ऐसा प्रदर्शन करती है कि जो उपर्युक्त प्रकार से ही उस अनाभ्यासिक स्वत स्फूर्ति अनुक्रिया से भिन्न होता है जो किसी भी वौद्धिक प्रयोजनपरक व्यष्ट मूर्त जीवन के साथ अवियोज्यरूपेण सम्बद्ध वाह्य परिस्थितियो के नवीन तत्वो के कारण उत्पन्न होती है।

'प्राकृतिक नियमो' की वेदनाशील जीवो की जटिल व्यवस्था के आभ्यासिक व्यवहार के वर्णनात्मक सूत्रो के रूप मे ग्रहण करने के वारे मे इस कथन पर आधारित आपत्ति के अतिरिक्त कि ये 'नियम' निरपेक्ष, यथार्थ और निरपवाद है, अन्य कोई आपत्ति प्रतीत नही होती। हम पहले ही देख चुके है कि भौतिक विज्ञान के पास उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने का कोई उपाय नही है न इस तरह का कथन प्रस्तुत करने की जरूरत ही उसे है क्योकि नियम के 'दृढ' और 'अविचल' अनुसरण विपयक मत एक ऐसी व्यावहारिक अभिधारणा मात्र है जिसे विचारको की एक विशिष्ट शाखा गलत तरीके पर एक स्वयसिद्ध मान वैठी है। हम यह भी देख चुके हैं कि दृढ और अविचल नियम विपयक धारणा भौतिक व्यवस्था के वास्तविक अस्तित्व सम्वन्धिनी परिकल्पना की समझ मे आ सकने वाली जो एकमात्र व्याख्या हम प्रस्तुत कर सके हैं, उसके साथ मूलरूपेण मेल नही खा सकती। इसीलिए उसे सत्य मान लेने के लिए हमारे पास कोई कारण नही, न उसे असत्य मान कर उसका निरास कर देने के ही लिए कोई पूर्णतम आधार हमारे पास है। 'प्राकृतिक नियमों' के अन्धविश्वासी और अवौद्धिक पूजा करनेवाले कुछ लोग अगर न होते तो इस साधारण सीधी-सी वात पर इतना लम्वा चौड़ा और सपुष्टियुक्त विचार करने की जरूरत ही न होती।

कुछ भिन्न रूप मे अन्यत्र दिए गए एक सुझाव पर फिर से एक वार निष्कर्परूपेण जोर दिया जा सकता है। मानव जीवो मे भी वैयक्तिक जीवन की आभ्यासिक प्रतिक्रियाओं तथा नव और स्वत स्फूर्ति अभ्यनुकूलनो आपेक्षिक प्रधानता विभिन्न व्यक्ति क्रमानुसार वहुत कुछ घटती-वढती रहती है भिन्न भिन्न मनुष्यो के प्रतिक्रियामूलक अपने स्थिर अभ्यासो मे परिस्थितियो के अनुकूल तत्काल नये परिवर्तन कर सकने की उनकी शक्ति के आधार पर नापी गयी वौद्धिक शक्ति की विभिन्न अर्हताओ की श्रेणी नम अत्यधिक दूर तक फैला पाया गया है। अपने आस पास के साथियो के उद्देश्यों

अथवा प्रयोजनो का जितना गहरा पता हमे रहा करता है अगर वैसी ही गहरी अन्तर्दृष्टि हमे अमानव कारको के व्यष्ट प्रयोजनो के वारे मे भी कही प्राप्त हो जाए तो अनुमानत. हम पायेंगे कि वहाँ भिन्नता की श्रेणी माने मे और भी अधिक लम्बी चौडी है। सिद्धातत. इस श्रेणी की किसी भी दिशा मे ओर-छोर का सीमावन्धन कर सकने के सावन हमे उपलब्ध नही है। प्रतिक्रिया के इतने पूर्ण अवधानात्मक नियन्त्रण की मात्रा की कल्पना हम कर सकते है कि जिससे प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी अन्तर्हित विचार के सिद्धिमार्ग की किसी नवीन अवस्थिति का ऐसा प्रतिनिधित्व करें कि जिसमे वृद्धि ही सव कुछ हो और अभ्यास कुछ न हो। अथवा हम ऐसी वस्तुस्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमे अभ्यास मात्र ही सव कुछ हो और वौद्धिक स्वत स्फूर्ति कुछ न हो। इन दोनो ही आदर्श सीमाओ के वीच किसी जगह भी परिमित प्रयोज्य वुद्धि के सभी मामलो को समाविष्ट करना होगा और आसानी से सिद्ध किया जा सकेगा कि दोनो ही सीमाओ मे से किसी एक तक भी परिमित वुद्धि की वास्तविक पहुँच नही हो सकती यद्यपि वह उनमे से किसी के भी अनिश्चित निकट तक पहुँच सकती है।[1]

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—एच० लोत्जे की 'मेटाफिजिक,' पुस्तक १ इट्रोडक्शन १० (अग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० १८), पुस्तक २, अध्याय ७, ८ (अग्रेजी अनुवाद भाग २, पृ० ६६–१६२), ई० मॉश की 'दि सायस ऑफ मेकेनिक्स,'

---

१. इस अध्याय मे दी गयी उक्ति प्रत्युक्तियों की तुलना कीजिए रॉयस लिखित 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' नामक ग्रन्थ के 'नेचर कांशसनेस एण्ड सेल्फ कांशसेनेस', प्रकरण के साथ तथा इस पुस्तक के लेखक द्वारा लिखित 'माइण्ड एण्ड नेचर' शीर्षक लेख के साथ जो 'इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स' पत्र के अक्तूबर १९०२ के अक मे प्रकाशित हुआ था। यह बद्धमूल दुराग्रह कि वैज्ञानिक उपयोगार्थ होने के लिए प्राकृतिक नियमो का दृढ़तापूर्वक यथार्थ एकरूपताएँ होना परमावश्यक है, इतना प्रवल है कि सामान्य सिद्धांतों के पूर्वयायी विमर्श के वाद भी पाठक को इस प्राथमिक तथ्य की कि हमारे वैज्ञानिक सूत्रो में ओतप्रोत अत्यधिक परिचित राशियों (उदाहरणार्थ स्वाभाविक अंकों के लघुगणकों के द्वितीय अथवा तृतीय मूलो का विशाल अधिकांश कोणो के वृत्तीय फल की राशियाँ आदि) का यथार्थ मूल्य नहीं आंका जा सकता, याद दिलाकर उसकी सहायता करना उचित होगा। यह तथ्य स्वयं भी एक ऐसा वैज्ञानिक नियम ऐसे रूप मे प्रस्तुत कर देता है कि जिसका उपयोग वास्तविक घटनाओ के संन्निकटीय मात्र निर्धारण मे किया जा सकता है, और इस प्रकार यह सिद्ध कर देता है कि अनुभवाश्रित विज्ञानो के व्यावहारिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए यथार्थ एकरूपता वांछित नहीं होती।

पृ०४८१–५०४ (अंग्रेजी अनुवाद); के० पीयर्सन लिखित 'ग्रामर आफ सायस', अध्याय ३ (दि सायटिफिक ला), अध्याय ९ (दि लॉज आफ मोशन); जे० रॉयस लिखित 'स्टडीज़ इन गुड एण्ड ईविल' का 'नेचर, काशसनेस एण्ड सेल्फ कांशसनेस,' प्रकरण, जे० स्टालो कृत्त 'कासेप्ट्स एण्ड थियरीज आफ मार्डन फिजिक्स', अध्याय १, १०–१२ (मेटाफिनकल स्टैण्डपाइन्ट, 'फिनामिनिलिस्ट'); जे० वार्ड लिखित 'नेचरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर्स २–५।

अध्याय ४

आकाश या अवकाश तथा काल

१—क्या काल और आकाश अन्तिमेत्थत वास्तविक हैं या प्रपचात्मक ? २—प्रत्यक्षण के कालाकाश सीमित होते है, ज्ञेयरूपेण सतत होते है तथा ऐसे मात्रात्मक तत्व के बने होते हैं जिसमे अव्यवहृत व्यष्ट अनुभूति के 'यहाँ' और अभी' के सम्बन्ध पर निर्भर गुणात्मक लक्षण भी शामिल रहता है। ३—प्रत्ययात्मक काल और आकाश की सृष्टि प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक दत्तों से सश्लेषण, विश्लेषण और अवशेषण की सयुक्त प्रक्रिया द्वारा हुआ करती है। ४–वे दोनो ही असीम तथा अनतरूपेण विभाज्य होते है और उन्हे गणितीय रूप से सतत मानने का वैध तथा निश्चय आधार मौजूद है। इस प्रकार उनके द्वारा स्थितियों की अनन्त सतत शृखला का निरूपण होता है। अव्यवहृत अनुभूति के 'यहाँ' और 'अभी' अथवा 'अत्र' और 'अधुना' के सकल सदर्भ से अपाकर्षण उनमें अन्तर्ग्रस्त रहता है और इसी लिए वे एकसार रहते है अर्थात् उनमे की स्थितियाँ पहचानी जाने योग्य अथवा प्रभेद्य नही हुआ करती। सामान्य तौर पर उन्हे इकाइयाँ भी समझा जाता है। ५—प्रत्यक्षज्ञानात्मक आकाश और काल अन्तिमेत्थत वास्तविक नही हो सकते क्योकि उनमे परिमित अनुभूति का 'अत्र' और 'अधुना' विषयक सदर्भ अन्तर्ग्रस्त रहता है। प्रत्ययात्मक आकाश और काल इसलिए अन्तिमेत्थत वास्तविक नही हो सकते चूंकि उनमे आन्तरिक प्रभेद का कोई सिद्धात वर्तमान नही रहता और इसीलिए वे व्यष्ट अथवा वैयक्तिक नही होते। ६—आकाश और काल को वास्तविक मान लेने का प्रयत्न गुणो और सम्बन्धो विषयक कठिनाइयो मे ला घसीटता है और इस तरह अनिश्चित प्रतिगामिता तक पहुँचा देता है। ७—आकाश और काल मे एकता का कोई सिद्धात अन्तर्ग्रस्त नही होता और ऐसी अनेक आकाशीय तथा कालीय क्रम निरपेक्ष के बीच मौजूद है जिनके बीच किसी प्रकार का आकाशीय अथवा कालीय सम्बन्ध परस्पर नही है। ८—काल और आकाश की अनन्त विभाज्यता सम्बन्धी तथा उनके विस्तार विषयक विप्रतिषेधो का जन्म गुणों और सम्बन्धो की योजना मे अन्तर्ग्रस्त अनिश्चित प्रतिगामिता से होता है और उन विप्रतिषेधो का हल तब तक नही मिल पाता जब तक कि आकाश और काल विषयक सरचना को ही वास्तविकता या सत्ता समझा जाता है। ९—आकाश तथा काल विषयक क्रम परिमित व्यष्टियो के प्रयोजन-परक आभ्यन्तर जीवनो के बीच के तार्किक

सम्वन्ध,की एक अपूर्ण प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति ही है। काल परिमित अनुभव का एक अनिवार्य पहलू है। निरपेक्ष अनुभव मे आकाश और काल का अतिक्रमण क्यो कर होता है यह हम नही बता सकते ।

१--हमारी ज्ञानेन्द्रियो के समक्ष प्रस्तुत यह भौतिक जगत, आकाश-कालावस्थित तत्वों से निर्मित है इस बात को लेकर उत्पन्न होने वाली समस्याएँ तत्वमीमासक की प्राचीनतम समस्याओ मे से अन्यतम है। वे हमारे अनुभूति-क्रम से उद्भूत पहेलियों मे सबसे ज्यादा परेशान करनेवाली समस्या हैं। उन पर विचार-विमर्श करने के लिए न केवल हमारे वश से बाहर अत्यधिक लम्बा स्थान ही आवश्यक है अपितु उसके लिए क्रम और शृंखला विषयक गणितीयसिद्धात का इतना परिचय आवश्यक है जितना मौलिक गणितशास्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी मे मुश्किल से ही पाया जा सकता है। इस अध्याय मे हम केवल इतना ही कर सकते है कि एकदम ऊपरी तौर से ही उन दो एक मुख्य समस्याओ पर विचार इसलिए कर ले कि जिससे पता चल जाय कि तत्वमीमासक को किस तरह के प्रश्नो का सामना करना पड़ता है न कि इसलिए उन प्रश्नों का उत्तर यह दिया जाय ।

नि.सन्देह तत्वमीमासा की मौलिक समस्या यही है कि क्या आकाश और काल अन्तिमेत्य सत्ताएँ अथवा वास्तविकताएं है अथवा आभास मात्र अर्थात् निरपेक्ष सर्वग्राही अनुभूति द्वारा प्रत्यक्षत· ग्रहीत समग्र सत्तात्मक व्यवस्था क्या काल विषयक विस्तार और अनुवर्तन का जामा पहन सकती है, अथवा क्या वस्तुओ की हमारे सम्मुख तद्रूप उपस्थिति हमारे अपने परिमित अनुभव की मर्यादाओं का ही परिणाम है ? वास्तव मे यो कहा जा सकता है कि अपनी व्यवस्थागत एकता के कारण विश्व की अन्तर्वस्तुओं का किसी भी प्रकार से क्रमवद्ध होना निरपेक्ष अनुभूति हेतु आवश्यक है। किन्तु ऐसा होते हुए भी वह स्पष्ट नही होता कि उस क्रमव्यवस्था का, एक व्यवस्था के रूप मे आकाशीय अथवा कालीय होना ही आवश्यक है। हमारे दैनदिनीय जीवन तथा गणितीय अध्ययनो से ज्ञात क्रमो के अधिकाश रूप, ठीक कहा जाय तो, नि सन्देह अनाकाशीय और अकालीय दोनो ही होते है। इस प्रकार उदाहरणत जब हम प्राकृतिक अक शृखला के 'अनुक्रमिक' पूर्ण अको, किसी बीजगणितीय सकेत के अनुक्रमिक घातों तथा किसी वितत भिन्न के मान विषयक अनुक्रमिक सनिकटनों का वर्णन प्रकट रूप मे ऐसे उत्प्रेक्षात्मक शब्दो मे करते है जिन्हे हमने घटनाओ के काल प्रवाह से उधार लिया होता है। तब पहले के दो मामलो मे अभिग्रस्त सच्चा सबंध तार्किक व्युत्पत्ति जात कालरहित सबंध होता है और तीसरे मामले मे भी वह इसी तरह एक आदर्श मानक के साम्य का कालरहित सम्वन्ध ही होता है। तब आकाश और काल की इस तत्वमीमासीय समस्या के सपूर्ण हल में दो बातें शामिल होगी। (१) एक तो

आकाशीय अथवा अवकाशिक और कालिक क्रम का अन्य समवर्गी क्रमो से प्रभेद और (२) दूसरा इस विशिष्ट प्रकार के क्रम के अन्तिमेन्यत. संगत और वोधगम्य होने के दावे का निर्णय।

हल करने के लिए इस प्रकार से प्रस्तुत की गयी समस्या प्राय- 'ट्रान्सिण्डेण्टल ऐस्थटिक' मे वर्णित, आकाश तथा काल विषयक काण्टीय विमर्श के विशिष्ट संदर्भ मे सामान्यतः इस प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत की जाया करती है कि क्या अवकाश और काल व्यक्तिनिष्ठ है अथवा वस्तुनिष्ठ। अपने श्रेष्ठतम रूप मे यह प्रश्न अभिव्यक्ति का ऐसा भुलावा देनेवाला और दुर्भाग्यपूर्ण तरीका है जिससे दूर रहना ही अच्छा होगा। अनुभूतिगत किसी व्यक्तिनिष्ठ अथवा वस्तुनिष्ठ कारक के वीच के सारे प्रभेद की सार्थकता वहुत कुछ, 'प्रत्यक्षणार्थ दत्त', तथा 'मानसिक कर्म' के वीच के नदोल काण्टीय प्रभेद के अभी मनोविज्ञानशास्त्र द्वारा उन्मूलित कर दिए जाने के कारण नष्ट हो गयी है। जव हम एक वार मान लेते हैं कि दत्त स्वयं ही चयनात्मक अवधान के सचलन से वना होता है तव उसके वाद, उसे एक ज्ञान के वस्तुनिष्ठ कारक के रूप मे, उसके आधार पर वाद मे खड़े किए गए व्यक्तिनिष्ठ ढाँचे से पृथक् कर सकना असभव हो जाता है। काण्ट का इस झूठी मनोवैज्ञानिक प्रतिस्थापना को पकडकर वैठे रहना, 'अन्त प्रज्ञा' विषयक उसके सारे प्रतिपादन को इस वुरी तरह तोड़-मरोड़ डालता है कि, हमारे अपने विमर्श जैसे सक्षिप्त विचार-विमर्श द्वारा इस विषय की व्याख्या 'ऐस्थटिक' नामक ग्रन्थ मे वर्णित उन सिद्धातो से जो दुर्भाग्य से इस समस्या की प्रचलित तत्वमीमासीय प्रस्तुति पर विषमानुपातिक प्रभाव डालते चले आ रहे हैं दूर रहते हुए करना एकदम जरूरी होगा।[1] यह वताने की जरा भी जरूरत नही कि

---

१. जो विद्यार्थी इन समस्याओ पर स्वयं ही विचार करना चाहते हो उनके लिए आरम्भ-विन्दुरूपेण काण्टीय विमर्श की अपेक्षा लॉक और ह्यूम के विमर्श से प्रारम्भ करना अच्छा होगा। (देखिए लॉक लिखित 'एस्से', वुक २, अध्याय १३–१५ तथा ह्यूम लिखित 'ट्रीटाइज आफ ह्यूमन नेचर', वुक १, भाग २) क्योकि उनमें मनोवैज्ञानिक अन्धविश्वासो का दोष अपेक्षाकृत कम है। हाल के तत्त्वमीमांसा विषयक ग्रन्थो मे, ब्रैडले लिखित 'अपीयरेंस एण्ड रीयालिटी' नामक पुस्तक एतद्विषयक अध्याय सम्भवतः अधिक उपयोगी जंचेंगे। 'फाउण्डेशंस ऑफ ज्यामेट्री' नामक श्री रसेल द्वारा लिखित ग्रन्थ से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। किन्तु उसके साथ उसी लेखक के वाद के लेख 'इज पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम रिलेटिव आर एब्सोल्यूट?' (माइण्ड, जुलाई १९०१) के अधिकतर त्रुटिपूर्ण निष्कर्षो से तुलना करना उचित होगा।

तत्त्वमीमासीय प्रश्नो का, आधुनिक विज्ञान मे प्राधान्यता प्राप्त मनोवैज्ञानिक समस्याओं से उस सही तरीके के बारे मे जिसके द्वारा हमें विस्तरण और अनुक्रमण का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है, और भी कम सरोकार होता है। क्योकि तत्त्वमीमासा के सामने इन विचारो के तार्किक मान का ही प्रश्न ही एकमात्र प्रश्न हुआ करता है न कि उनके मूल का।

इस विषय के समग्र तत्त्वमीमासीय प्रतिपादन के लिए यह एक मौलिक महत्व की बात होगी कि हम उसका प्रारम्भ अवकाश या आकाश तथा काल के प्रत्यक्षणात्मक रूपो और आकाश तथा काल के प्रत्ययात्मक उन रूप के पृथक्करण अथवा प्रभेद द्वारा करें जिनके अन्तर्गत हम भौतिक जगत् विषयक अपनी वैज्ञानिक धारणा का निर्माण किया करते हैं। काण्टीय अभिमत के आडे आनेवाली भ्रान्तियो का एक प्रधान स्रोत काण्ट तथा उसके अधिकाश अनुयायियो द्वारा पर्याप्त स्पष्टरूपेण यह प्रभेद न करने की लापरवाही है। इस बात पर कि जिन आकाश और काल के बारे में हम अपने विज्ञान विषयक अध्ययन मे सोचा करते है कि सारा भौतिक जगत् उनमे ही पूर्ण है, वे आकाश और काल वे नही है जिन्हे ऐन्द्रिय प्रत्यक्षण द्वारा हम प्रत्यक्षतः जानते है बल्कि वे ऐसी परिकल्पनाएँ है जिन्हे प्रत्यक्ष प्रत्यक्षण के आकाश और काल को विश्लेषण और संश्लेषण की पेचीदा प्रक्रियाओ द्वारा खूब बढा-चढा कर और उसके साथ वास्तविक अनुभूतिगत काल और आकाश के कुछ मौलिक लक्षणों का अवशेषण अभिग्रस्त करके हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। निम्नलिखित सक्षिप्त विमर्श से आकाश और काल के दोनो रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश पड सकेगा और उनकी मुख्य-मुख्य भिन्नताये भी सामने आ सकेगी।

२—**प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल**'—अव्यवहृत प्रत्यक्षण मे हमे आकाश और काल दोनो ही (१) सीमित होते है। श्रान्त चक्षु द्वारा अपने सामने की ओर के आकाश को देखने पर वह सदा ऐसे क्षितिज द्वारा, जिसकी रूपरेखा बहुत कुछ सु-सीमा-निर्दिष्ट ही लगा करती है परिसमाप्त दिखायी पडता है। उस 'असत्य वर्तमान' अथवा अवधि के उस खण्ड को जिसका ज्ञान हमे किसी समय भी तत्काल प्रस्तुत अन्तर्वस्तु मे होता है, विशद् मनोवैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा सु-सीमा-निर्दिष्ट विस्तारवान् सिद्ध किया जा चुका है। 'अवधान'-विस्तार-बाह्य जो कुछ भी है वह अब न तो प्रस्तुत हो चुके भूतकाल की ही वस्तु है न अभी तक अप्रस्तुत भविष्य की ही बल्कि इन्द्रियवेद्य वर्तमान के प्रति उनका सम्बन्ध बहुत कुछ वैसा ही है जैसाकि मेरी पीठ के पीछे वाले आकाश का मेरी आँखो के सामने वाले आकाश के साथ। और दोनो ही मामलो मे नि:सन्देह वस्तुत: प्रस्तुत आकाश और काल निरपेक्षतया सीमानिर्दिष्ट नही होते। दृष्टि-रेखा के दाहिने और बाये दृश्यमान क्षितिज मन्द होते होते अस्पष्टतया प्रस्तुत

'चेतना के उपान्त' मे जा मिलता है। ज्ञेय अथवा 'इन्द्रियवेद्य वर्तमान' भी इसी तरह क्रमश या तो उस सिरे पर भूतकाल मे या इस सिरे पर भविष्य मे छायान्तरित हो जाता है। फिर भी निरपेक्षरूपेण सीमा-निर्दिष्ट न होते हुए भी इन्द्रियवेद्य आकाश और काल कभी भी सीमा-हीन अथवा निस्सीम नही होते।

(२) प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल दोनो ही आभ्यन्तरिकतया इन्द्रिय-गम्यरूपेण सतत अथवा अटूट हुआ करते है। विस्तार अथवा आकाश के वस्तुत दृष्ट किसी लघुतर भाग पर यदि आप अपना ध्यान केन्द्रित करे तो तुरन्त आपको लगेगा कि अवकाश या आकाश का वह भाग भी आकाश ही है और उसमे इस विस्तृततर आकाश के सभी लक्षण मौजूद है जिसका वह भाग एक टुकडा है वस्तुतः दृष्ट आकाश 'अश्लिष्ट दृश्य' मानताओ का ऐसा समूह अथवा प्रत्यक्षणात्मक बिन्दुओ का ऐसा सग्रह मात्र नही है जिसके लघुतर भाग पृथक् न किये जा सकते हो और जब तक आकाश दृष्टि अथवा स्पर्शग्राह्य रहता है तब तक ऐसे लघुतर भागो के रूप मे उसका ग्रहण कर सकते हैं जिन पर ध्यान देने से उनमे वृहत्तर आकाश के सब लक्षण पाये जाते हैं। अत 'असत्य वर्तमान' का कोई सा भी वह भाग जिस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा सके, स्वय भी एक इन्द्रियग्राह्य अवधि सिद्ध होता है। प्रेक्षित आकाश लघुतर अवकाशों द्वारा बना होता है प्रेक्षित काल भी लघुतर कालो का सघट्ट ही होता है। ये लघुतर अश, निश्चय ही मूलभूत प्रत्यक्ष मे एक दूसरे से पृथक नही होते किन्तु वे अवधान के गति वैविध्य के परिणामस्वरूप एक-दूसरे से पृथक् अवश्य किये जा सकते हैं।

(३) आकाश और काल के हमारे वास्तविक प्रत्यक्षण के स्वरूप की खोज करने पर उसमे हमे उसके दो पहलू देखने को मिलते है जिन्हे हम मात्रात्मक और गुणात्मक सज्ञा दे सकते है। एक ओर तो, जब कभी हम आकाश को देखते है तो वहाँ हमे विस्तार की कुछ मात्रा दिखाई देती है और जब कभी हम काल का प्रत्यक्षण करते हैं तब उसकी अवधि कम या ज्यादा लगती है। अत विभिन्न आकाशो और विभिन्न कालो की मात्रात्मक तुलना प्रत्यक्षणो मे वर्तमान विस्तार की विशालताओ और समयान्तरो की दीर्घता के आधार पर की जा सकती है। दूसरी ओर, आकाश और काल का प्रत्यक्ष केवल विस्तार और अवधि मात्रात्मक की नही होता। उसका एकदम भिन्न, गुणात्मक पहलू भी होता है विस्तार की इयत्ता के साथ साथ हमे उसकी रूपरेखा की आकृति का भी प्रत्यक्ष होता है। आकाशीय आकृति का यह प्रत्यक्षण अन्ततोगत्वा आकृति निर्णायक रेखा या रेखाओ की दिशा पर निर्भर होता है। इसी प्रकार आकाश के केवल विमितीय पहलू पर ध्यान देते समय हम दैर्घ्य (एक आकाशीय इयत्ता) को दिशा (एक आकाशीय गुण) से पृथक् नही पाते। काल के प्रत्यक्षण मे भी यही बात पायी जाती है। अवधि की जिन व्यपगतियो का हमे अव्यवहृत प्रत्यक्षण होता है उन सब मे ही उनका दिशात्म गुण मौजूद

रहता है। 'तात्कालिक प्रस्तुति अथवा असत्य वर्तमान मूलत. युगपद्-प्रस्तुत पौर्वापर्य ही होता है अर्थात् पहले वाले से बाद वाले की ओर अतिक्रमण वहाँ मौजूद रहता है। यह भी कहना होगा कि प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल मे इस प्रकार प्रेक्षित दिशाओ का प्रत्यक्षणकर्ता के साथ एक अनुपम सम्बन्ध रहता है और इससे वे दिशाये सबकी सब गुणात्मक रूपेण एक दूसरे से पृथक् और अप्रत्यावर्तिनी अथवा अनपलट रहती है। आकाशीय दिशा का अनुमान कि वह दाहिनी है या बॉयी; ऊर्ध्व है अथवा अधोगामिनी, प्रेक्षक के शरीर केन्द्र के बीच होकर एक दूसरे से लम्बकोण बनाते हुए गुजरनेवाले अक्षो के अनुसार ही लगाया जाता है और इस प्रकार वह अन्दाजा अनुभूति के किसी भी दत्तक्षण पर अनन्य तथा असंदिग्धरूपेण परिमित या निर्धारित होता है। काल की दिशा का अन्दाजा भी इसी प्रकार से 'चेतना सगम' की अन्तर्वस्तु के हवाले से ही लगाया जाता है। जो चेतना-सगमगत है वह दिशात्मकतया अब होता है और जो चेतना-सगम से वहिर्गत हो रहा होता है वह 'भूत' और जो उसमे प्रविष्ट हो रहा होता है वह भविष्य'।[1]

वास्तविक प्रत्यक्षण के आकाश और काल की सभवत. यह शायद एक मौलिकतम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता है । इन दोनो की दिशाओ का असदिग्ध निर्धारण व्यष्टकर्ता की अव्यवहृत अनुभूति के 'यहाँ' अथवा 'अत्र' तथा 'अब' या 'अधुना' के सन्दर्भ मे ही होता है। परिणामत प्रत्येक व्यष्टकर्ता का अपना अपना प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल तद्विशिष्ट ही होता है । निश्चय ही, ज्यामिति तथा यान्त्रिकी इन आकाशीय तथा कालिक व्यवस्थाओ के बीच अनुरूपता की स्थापना की सम्भावना पर ही निर्भर रहती है। किन्तु यह याद रखना जरूरी है कि सही कहा जाय तो प्रत्येक व्यष्टि की प्रत्यक्षण विषयक अवकाश और काल व्यवस्था उसके विशिष्ट अत्र और अधुना से विकीर्ण होनेवाली दिशाओ से मिलकर बनी होती है और इसी लिये उसकी ही व्यष्ट होती है।[2]

---

१. क्या 'प्रत्यक्ष प्रत्यक्षण' की तात्कालिक प्रतीति के भीतर भूत और भविष्य दोनो ही दिशायें निग्रहीत हो सकती हैं या नहीं? अथवा 'तात्कालिक प्रतीति' में केवल 'अधुना और 'इससे लम्बतर नहीं' यही दोनों तत्व शामिल रहते हैं 'अभी नहीं' तत्व उनमें इसलिये शामिल नहीं होता क्योंकि वह अनुवर्तिनी बौद्धिक रचना है जैसाकि श्री बँडले और श्री शैडवर्थ हॉगसन ने बताया—इस तरह के प्रश्नों की बहस में पड़ने की हमे जरूरत नहीं है ये प्रश्न विशेषतः मनोविज्ञान सम्बन्धी हैं।

२. हम इससे आगे जा सकते हैं और यह कह सकते हैं कि प्रत्येक अनन्यक्षण अथवा अनुभूति की अपनी एक विशिष्ट आकाशीय और कालिक व्यवस्था हुआ करती है। अपने मानसिक जीवन के भीतर विभिन्न अनुभूतियो के प्रत्यक्षीकृत आकाश और काल-

३—कल्पनात्मक आकाश और काल विषयक वैज्ञानिक क्रम का निर्माण — न केवल व्यावहारिक जीवन के लिये ही अपितु भौतिक व्यवस्था के वैज्ञानिक विवरण के तदनुगत उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी विभिन्न प्रेक्षको की व्यष्ट देशकालीय व्यवस्थाओ के बीच समीकरणो और अनुरूपताओ की स्थापना करना अपरिवर्ज्यतया आवश्यक है। ऐसी अनुरूपताओ के अतिरिक्त किसी एक व्यक्ति के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की आकाशीय तथा कालीय व्यवस्था को अपनी अनुभूति मे अनूदित कर लेना सम्भव न होगा । और इस प्रकार कार्यार्थ दिशा—निदेश करने के लिये सारा ही व्यावहारिक ससर्ग समाप्त हो जायेगा। क्योकि इस प्रकार के दिङ्‌निर्देश के लिये यह आवश्यक है कि हमारा मनोबल ऐसा हो कि हम अपनी अनुभूति के आकाशीय और कालिक पहलुओ की रचना ऐसे रूप मे फिर से कर सकें जो अनुभूति के उस व्यष्ट-क्षण के अत्र और अधुना विशेषो के संदर्भ मे स्वतत्र हो। इस प्रकार हमारी अन्य वैज्ञानिक रचनाओ के समान समस्त भौतिक क्रम के लिये कल्पनात्मक आकाश और काल की किसी एकल व्यवस्था की स्थापना अन्ततोगत्वा हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओ के लिये वांछित एक अभिधारणा ही होती है और इसीलिये हमे इस सम्भावना का सामना करने के लिये तैयार रहना होगा कि इसी प्रकार की अन्य अभिधारणाओ के समान ही इस अभिधारणा मे भी कही ऐसी पूर्वमान्यताएँ न अन्तर्ग्रस्त हो जिन्हे तर्कानुसार सही न ठहराया जा सके। यह सरचना उस सीमा तक कीमती है जिस तक कि वह व्यक्तियो के बीच अन्त-सूचना के अपने कार्य को सम्भव बनाती है। यह सोचना कि वह व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये आवश्यक अनुरूपता से बढ कर, वास्तविकता की अन्तिमेत्थ सरचना के अनुरूप हो जाय जरूरत से ज्यादा की आशा करना है।

वर्णनात्मक विज्ञान सम्बन्धी कल्पनात्मक आकाश और काल की सरचना मे अन्तर्ग्रस्त मुख्य प्रक्रियाएँ तीन हैं :—सश्लेषण, विश्लेषण और अवशेषण। (अ) संश्लेषण, मनोविज्ञान शास्त्रानुसार कहा जाय तो व्यष्टि के विविध प्रत्यक्षणात्मक अवकाशो का एकात्मक सश्लेषण अन्तिमेत्थरूपेण व्यष्ट प्रेक्षको की सक्रिय गतिविधियो द्वारा ही हो पाता है। जैसे जैसे ध्यान क्रमश उस हालत मे भी जबकि शरीर समग्ररूपेण स्थायी अथवा अविचल हो । आँखो के सामने के समग्र

सम्बन्धी व्यवस्थाओं के ताने-बाने को मैं किस प्रकार प्रत्यक्षणात्मक व्यवस्था में जिस तरकीब से बुन डालता हूँ वह सिद्धान्त रूप मे वही तरकीब है जिसके द्वारा मेरे अपने तथा अन्यो के आकाश और काल व्यवहारिक आदान-प्रदान हेतु एक व्यवस्था मे ढाल लिये जाते हैं।

विस्तार के विभिन्न भागो की ओर लगाया जाता है वैसे ही वैसे वह दृष्य आकाश जो प्रस्तुत्यन्तर्गत रूप मे मूलत सगमीय अथवा नाभीय था इन्द्रियगम्य क्रमिक सक्रमण द्वारा औपान्तिक बन जाता है और औपान्तिक आकाश नाभीय। और जब अवधान के इस प्रकार के परिवर्तनों की सहगामिनी, सिर और आँखो की गति के साथ सारे शरीर की सचालन गति जुड जाती है तब यह प्रक्रिया और आगे बढती है और तब प्रारभ मे प्रस्तुत अवकाश धीरे धीरे प्रस्तुति पथ से लुप्त होते जाते है और साथ ही धीरे धीरे वे अवकाश जो पहले बिल्कुल ही प्रस्तुत नही हुए थे उभरते आते है। और इस प्रकार हम विस्तृततर अवकाश की ऐसी मानस सरचना तक जा पहुँचते है जिसमे व्यक्ति प्रस्तुतिगत सारे ही विविध प्रकार के वे अवकाश मौजूद रहते हैं जिनका स्थित क्रम एक से दूसरे मे हुए सक्रमण के लिये वाञ्छित गतियों की भावित दिशा द्वारा निर्धारित हुआ करता है।

अपने साथी मनुष्यो के साथ हुए अन्त-सचरण द्वारा हमे पता चलता है कि उनके प्रत्यक्षज्ञान के लिये वर्तमान प्रत्यक्षणात्मक अथवा प्रत्यक्ष नानात्मक विस्तार जो हमारी अपनी इन्द्रियो के प्रत्यक्षणार्थ कभी प्रत्यक्षत. प्रस्तुत नही होता सश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा इतना आगे बढ जाती है कि सभी व्यष्ट प्रेक्षको के सारे प्रस्तुति-गत अवकाश प्रत्येक के अन्यो मे सक्रमण करने की गतिविधियो की दिशा द्वारा फिर एक बार निर्धारित क्रम के अन्तर्गत एक एकल आकाशीय व्यवस्था मे समा जाते हैं। अन्तिमत: विश्लेषण के इस सिद्धान्त मे चूँकि ऐसी कोई बात नही कि जिससे उसके पुनरावर्तन की सीमा बाँधना जरूरी हो इसलिये हम इस प्रक्रिया को अनन्त धारा प्रवाह्य समझने लगते हैं और इस प्रकार एक ऐसे आकाश की कल्पना कर उठते हैं जो सारी दिशाओ मे फैला हुआ है पर किन्ही निर्धारित सीमाओ से बँधा हुआ नही है। प्रेक्षित आकाशो के संश्लेषण का यह अन्तहीन पुनरावर्तन आकाशीय अनन्तता नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्त का आधार बन गया है।

भौतिक जगत् की घटनाओ के लिये एकल काल-व्यवस्था अथवा समय-क्रम की मानस-रचना भी ठीक इसी तरह के सश्लेषण द्वारा ही की गई है। अधुना या अब का अर्थ मेरे लिये वह अन्तर्वस्तु है जो अब धानीय रुचि का विषय उस काल मे हो। रुचि की तृप्ति अथवा हित की अवाप्ति के विभिन्न श्रेणी क्रमो के अनुसार अवधान केन्द्र भी बदलता रहता है। पहले जो कुछ केन्द्रगत था वह पहले औपान्तिक बाद मे लुप्तप्राय अथवा अस्तोन्मुख हो जाता है। और जो औपान्तिक था वह केन्द्रगत हो जाता है। इसी से मेरे आभ्यन्तर जीवन की घटनाओ के विषय मे ऐसी कल्पना उठ खडी होती है जो कि उन्हे निर्धारित क्रमानुसारी क्षणो के आनुपूर्व्य का रूप दे देती है, जिनमे का प्रत्येक क्षण 'अभी या 'अधुना' रह चुका है अर्थात् अपनी बारी पर प्रत्यक्ष-नानात्मक

काल की दिशा का प्रस्थान बिन्दु रह चुका है। किसी मानव का दूसरे मानव के साथ का अन्तर्वैयक्तिक संसर्ग जितना अवकाशीय मामलों में उतना ही काल सम्बन्धी विषयों में भी कालीय क्षणों के इस कल्पनात्मक संश्लेषण को इतनी दूर तक खेंच ले जाना मेरे लिये सम्भव कर देता है कि अपनी अनुभूति के जिस 'अधुना' को दूसरों की अनुभूति के प्रथम 'अधुना' का समसामयिक मैं बना सकता हूँ उसको बहुत पहले ही से अतिक्रान्त कर गये। अन्य व्यक्तियों के अनुभूति के 'अधुना' भी उसमें शामिल किये जा सकें और साथ ही उन अन्य व्यक्तियों की वे अनुभूति के वे 'अधुना' भी उसमें शामिल हो सकें जिनका अन्तिम 'अधुना' मेरी अपनी अनुभूति के अन्तिम 'अधुना' की अपेक्षा भूत है। इस प्रकार के संश्लेषण की अपरिमित पुनरावृत्ति आकाश विषयक पहले वाले मामले की तरह ही यहाँ भी हमें अवधि विषयक ऐसी विचार स्थिति तक पहुँचा देती है जहाँ काल भूत और भविष्य दोनों में ही अनन्त रूपेण जा घुसता है और इस प्रकार वह काल की अनन्तता की सुपरिचित कल्पना हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है।[1]

(ब) विश्लेषण—कल्पनात्मक आकाश और काल के रूप निर्धारण में विश्लेषण की भूमिका भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि संश्लेषण की भूमिका। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं कि किसी भी प्रस्तुत विस्तार अथवा प्रस्तुत व्यपगति के लघुतर भागों में हमें उसी प्रकार की संरचना के दर्शन होते हैं जो संरचना हमें उसके समग्र में देखने को मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि आकाश और काल दोनों ही सतत संवेद्यरूपेण सतत हैं अथवा उनमें संवेद्य सातत्य का गुण मौजूद है। वास्तव में देखा जाय तो काल और आकाश के लघुतर और उनसे भी लघुतम अंशों के पौर्वापर्य पर ध्यान रखने की प्रक्रिया निःसन्देह अनन्त तक चालू नहीं रखी जा सकती लेकिन हम अपने अवधान के विस्तार द्वारा उस प्रक्रिया के आनन्त्य पर जबर्दस्ती लादी गयी सीमाओं के उस पार तक भी अपने विचारशक्ति द्वारा इस प्रक्रिया की अनन्तबार आवृत्ति की कल्पना तो कर ही सकते हैं। और इस प्रकार मानसिक विश्लेषण के कार्य द्वारा हम काल और आकाश विषयक एक ऐसी कल्पना तक जा पहुँचते हैं जो उन्हें 'अनन्तरूपेण विभाज्य बना देती है यानी ऐसे अन्तिमांशों से युक्त जो अन्ततोगत्वा भी अविश्लेष्य नहीं होते। इन अंशों का यह गुण ही तो ज्यामिति और गति विज्ञान शास्त्रों की सबसे पहली और अनिवार्य आवश्यकता है।

---

१. इस सब में अन्तर्ग्रस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के विवरण के लिये उदाहरणतः देखिये स्टाउट लिखित 'मैनुअल ऑफ सायकॉलोजी' खंड, ३, भाग २, अध्याय २-५; खंड ४, अध्याय ६

काल्पनिक अथवा कल्पनात्मक काल और आकाश की यह अतन्त विभाज्यता स्वय अपने आप मे इतनी पर्याप्त नही होती कि उसके द्वारा सातत्य शब्द के गणितशास्त्रीय अर्थो मे दोनो की सततता सिद्ध की जा सके । उनकी सततता के लिये एक और पूर्वमान्यता आवश्यक होती है और वह यह कि जो वस्तु भी आकाशस्थ स्थिति-शृखलाओ अथवा कालीय घटना शृखलाओ को जो अन्योन्यापवर्जक श्रेणियो मे विभक्त कर दे वह स्वय भी एक आकाशीय स्थिति अथवा कालीय घटना हुआ करती है। लेकिन यह पूर्व-मान्यता काल और अवकाश विषयक समस्याओ के सभी प्रकार के वैज्ञानिक प्रतिपादनो के लिये निरपेक्षतया आवश्यक प्रतीत नही होती ।[1] किन्तु आकाशीय तथा कालीय शृखलाओ और वास्तविक अको की सतत शृखलाओ मे व्यवस्थित अनुरूपता स्थापित करने के लिये उसकी माँग अवश्य होती है। इसके अतिरिक्त किसी ऐसी काल की मानसिक कल्पना को जो कालीय तथा आकाशीय व्यवस्था मे स्वय स्थित न होते हुए भी उस व्यवस्था को समान भागो मे बाँट सके, सारवती बनाना असम्भव होता है। इसीलिये तो जिस विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के सहारे हम कालीय तथा आकाशीय क्रमव्यवस्थाओं की कल्पना अनन्त शृखलाओ के रूप मे करते है उसके ही बल पर उन व्यवस्थाओ को हम सही मानो मे सतत शृखलाओं के रूप मे भी कल्पित कर लेते है। असतत रूपी तद्विषयक वैकल्पिक कल्पना निरपेक्षतया निरस्त न होते हुए भी किसी निश्चयात्मक उद्देश्य के आधार पर आवश्यक भी नही प्रतीत होती और उन उद्देश्यो अथवा प्रयोजनो की जिनकी विशिष्ट आकाशीय और कालीय अन्तर्वस्तु हेतु आंकिक शृखला की आवश्यकता पडती है, पूर्व निष्पति के साथ उस कल्पना की सगति भी नही बैठती ।

(स) प्रत्यक्षज्ञानात्मक दत्तो के आधार पर कल्पनात्मक आकाश और काल विषयक क्रम के रूपनिर्धारण मे अवशेषण की भूमिका पर सिद्धान्तवादी लोग प्राय: ध्यान नही दिया करते, लेकिन उसका मौलिक महत्व बहुत बड़ा है जैसाकि तुरन्त ही स्पष्ट हो जायेगा । हम पहले ही जान चुके है कि वैयक्तिक अनुभूति विषयक देशकालीय क्रम के बारे मे अधिकतम विशिष्ट तथ्य यह है कि उसके दिग्निर्देश अनन्य प्रकार के इस लिये होते है क्योंकि वे तात्कालिक अथवा अव्यवहृत भावना के अनन्य अत्र और अधुना से विकिरित हुआ करते है। कल्पनात्मक आकाश और काल व्यवस्था की रचना करने मे हमारा सारा अवशेषण व्यक्ति की अव्यवहृत

---

१. इसी से दे दे किण्ड (war sind und was sollen die zahlen ?) कहता है कि यूक्लिड अथवा उकलैदस की किसी भी संरचना मे आकाशीय सातत्य का समावेश नहीं है।

अथवा तात्कालिक भावना निर्भरता पर ही आधारित रहता है। कल्पनात्मक आकाश मे अवस्थितियों का आनन्त्य मौजूद रहते हुए भी उन अनन्त अवस्थितियो मे से किसी को भी अधुना नही कहा जा सकता। इसी प्रकार कल्पनात्मक काल मे अनन्त क्षण मौजूद होते हुए भी उनमे से किसी को भी 'अधुना' नही कहा जा सकता। चूंकि कल्पनात्मक क्रम विषयक आकाश और काल का अवशेपण वैयक्तिक अथवा व्यष्ट दृष्टि-बिन्दुओ के पारस्परिक विभेदो के आधार पर किया जाता है इसलिये उनमे से किसी भी एक बिन्दु का दूसरे अपेक्षा निर्देशाकों का ऐसा स्वाभाविक उद्गम कहलाने का दावा नही कर सकता जिसके सदर्भ द्वारा दिङनिर्देशो का अधिमान लगाया जा सके। इस अध्याय के शेप भाग मे अवशेपण के परिणामो की महत्ता को देख सकने के अवसर हमे बार बार मिलेंगे।

कल्पनात्मक आकाश और काल की सर्जिका सरचना मे अन्य तरीके पर भी अवशेषण का प्रवेश हो जाता है। वस्तुत. प्रेक्षित आकाश और काल कभी भी रिक्त नही रहते बल्कि वे *'द्वितीयक'* गुण विशिष्ट सार वस्तु से पूर्ण ही रहा करते हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो सदा तथ्य के बृहत्तर समग्र का एक पहलू हुआ करते है। विस्तीर्ण के किसी अग्रतर चाक्षुप अथवा स्पर्शात्मक गुण से व्यतिरिक्त विस्तार का प्रत्यक्षण कभी नही हुआ करता, कालीय व्यतिक्रमण भी प्रस्तुत वस्तु मे परिवर्तन के बिना कभी नही पाया जाता भले ही वह परिवर्तन सुक्ष्मातिसूक्ष्म ही क्यो न हो। किन्तु कल्पनात्मक आकाश और काल की क्रम व्यवस्था की रचना करते समय हम इस गुणात्मक पहलू से एक-दम अवशेप कर जाते हैं। हम तब केवल कालीय अवस्थितियो और आकाशीय दिङ्-निर्देशों पर ही विचार किया करते है और उनके उन अग्रतर गुणात्मक विभेदो पर जो मूर्त अनुभूति के समय उनके अनुगामी रहते हैं—कोई ध्यान नही दिया करते। इस प्रकार हम रिक्त आकाश और रिक्त काल विषयक स्थितियो के उस व्यवस्था-त्मक विचार तक आ पहुँचते जिन परिस्थितियो मे कि विविध अन्तर्वस्तुओ को बाद मे स्थित किया जा सके।

सही तौर पर कहा जाय तो रिक्त अवकाश और रिक्त काल का ख्याल ही बेमानी है जैसाकि उनके अस्तित्व मात्र के बारे मे सोचने से ही पता चल जायेगा। अनुभूति के आकाशीय और कालीय पहलुओं का हम विचार काल मे ही उस समग्र के शेष भाग से जिसके वे पहलू अग हैं हम पृथक नही कर सकते न हम उन्हे इतने से अधिक अपने आप चलते रहनेवाला मान सकते है जितना कि हम सागीतिक तारत्व विरहित लकडी को तथा सतृप्ति विरहित रग के छाया घनत्व को वर्तमान मान सकते है। विस्तीर्ण और आनुक्रमिक के विशिष्ट द्वितीयक गुणो का ध्यान रखे बिना भी हम देश-कालिक अवस्थिति व्यवस्था तक ही अपना ध्यान सीमित रख सकते है। इस तार्किक विविक्ति से ही माया अथवा भ्रान्ति तब उद्भूत होती है जब आकाशीय तथा कालीय

वस्थितियों के रिक्त कुलक (सेट) के विषय मे यह कल्पना करने लगते है कि उन वस्थितियो का पहले से अस्तित्व इसलिये आवश्यक होता है कि जिससे कि वाद मे उन्हे विविध प्रकार की अन्तर्वस्तुओ द्वारा आपूरित किया जा सके ।[1]

४—कल्पनात्मककालीय तथा आकाशीय क्रम-व्यवस्था के लक्षण :—अभी अभी हम जिस अर्थरचना का विवेचन कर चुके है तज्जनित कल्पनात्मक आकाश और कालके निम्नलिखित लक्षणो पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहलेही वताये जा चुके कारणों के आधार पर कल्पनात्मक आकाश और काल को आवश्यकरूपेण असीम और अनन्तश. विभाज्य माना जाता है। यद्यपि जहाँ एक ओर उनका सतत होना अनिवार्य नही प्रतीत होता वहाँ दूसरी ओर तद्विषयक असातत्य का हमारे लिये कोई निश्चयात्मक अर्थ भी नही है अतः उनके साथ अको की पूर्ण श्रेणी अथवा शृखला का विनियोजन करने की व्यावहारिक आवश्यकता ही उन्हे सतत मानने का दृढ आधार हमारे लिये वन गयी है। किन्तु आकाश और काल इस प्रकार अपनी कल्पनात्मक रचना-प्रक्रियान्तर्गतरूप मे ही एक ऐसी सतत अनन्त शृखला या श्रेणी मे विघटित हो जाते है अवकाशीय और कालीय विन्दु अथवा अवस्थितियाँ ही जिसके पद है। प्रत्यक्षज्ञानात्मक अथवा प्रत्यक्षात्मक काल और अवकाश के विभागो के विपरीत इन कल्पनात्मक अवकाश और कालों के पद विभाग आत्मरूपेण अवकाश और काल नही होते क्योकि उनके भीतर सरचनात्मक वाहुल्य नही होता। अतः कल्पनात्मक अथवा काल्पनिक आकाश और काल भागों अशो अथवा खडो के समग्र अथवा सग्रह नही होते अपितु वे मात्रात्मकता रहित पदो के पारस्परिक सम्वन्धो की व्यवस्था मात्र होते है।

किसी भी आकाशीय अथवा कालीय शृखला के किन्ही दो पदो के वीच एक ऐसा अनन्य सम्वन्ध होता है जिसका निर्धारण पदो के अधिन्यसन उनकी दूरी पर निर्भर

---

१. निःसन्देह 'भौतिक रिक्तत्व' और 'आकाशीय रिक्तत्त्व' एक ही वस्तु नहीं है। किसी विशेष विज्ञान के प्रयोजनार्थ रिक्तत्व का अर्थ होता है वह अवकाश या आकाश जो उस विज्ञान की विशिष्ट रुचि की विशिष्ट जातीय अन्तर्वस्तुओं से घिरा न हो। अतः भौतिकी की सामान्य बोल-चाल के अनुसार 'रिक्तकत्व' का अर्थ होता है वह अवकाश जिसमें कोई द्रव्यमान मौजूद नहीं रहता। भौतिक विज्ञान के प्रयोजनार्थ 'रिक्तकत्व' को मान लेना वांछनीय है या नहीं यह प्रश्न भौतिकी के स्वयं सुलझाने का है। उसे सकारने का निश्चय करने के माने यह हैं कि उस निरर्थक विविक्ति की अर्थात् निरपेक्षतया रिक्त अवकाश की संपुष्टि न की जाय। वहरहाल यह कहा जा सकता है कि यह वहु विस्तृत विचार की गति किसी भौतिक 'रिक्तकत्व' में ही सम्भव है, गलत है, क्योकि तरल प्लीनम में भी गति का अस्तित्व सम्भव है।

होता है। कालीन शृंखला जिसका केवल एक ही परिमाण होता है से चूँकि हम किसी एक पद अथवा संख्या से दूसरी संख्या तक केवल मध्यवर्ती संख्याओं की इस शृंखला के द्वारा ही पहुँच सकते हैं जिसका एकमात्र और अन्तिम निर्धारण तभी होता है जब प्रारंभिक और अन्तिम पद या मात्रायें दी हुई हों अतः उनकी दूरी निश्चित करने के लिये स्वयं इन संख्याओं के अतिरिक्त और किसी चीज की जरूरत नहीं होती। अवकाशीय शृंखला बहु-परिमाणी होती है यानी आप उसके किसी पद से दूसरे अन्य पद तक मध्यवर्ती पदों के बीच होते हुए अनन्ततः विविध मार्गों द्वारा पहुँच सकते हैं लेकिन फिर भी यह सही है कि जब प्रश्नान्तर्गत पद अथवा मात्रायें ज्ञात हों तो ऐसा एक ही और केवल एक ही मार्ग रहता है जो पूर्णतया निर्धारित होता है वह मार्ग है दोनों के बीच से गुजरनेवाली सीधी रेखा। यह सीधी रेखा दो बिन्दुओं के बीच, की एक से दूसरे तक की अनन्य दूरी ही है।[1] अतः इस बात की शुद्ध कल्पना जिस बात की कि अवकाश और काल-विषयक कल्पनाएँ हैं न तो इयत्ता ही न ही मात्रा व्यक्त करती है वह बात तो श्रेणिक अथवा, क्रमिक रूप ही है।

इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने योग्य है कल्पनात्मक अवकाश और काल तथा प्रत्यक्ष के तात्कालिक या अव्यवहृत अवकाश और काल के बीच का मौलिक विभेद। इन दोनों में से किसी भी रूप की कोई सी भी एक अवस्थिति स्वत-गृहीत दशा में किसी भी अन्य अवस्थिति से विभेद्य नहीं होती। अवकाश के सारे ही

---

१. यह बात अच्छी तरह नोट करने की है कि उपर्युक्त रूपेण परिभाषित दूरी को सही मानों में मात्रात्मक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। न उसमें इयत्ता का कोई ख्याल ही शामिल रहता है बल्कि उसमें तो तत्सम्बन्ध श्रेणीगत स्थान की भावना ही समाविष्ट रहती है. यह भी देखना होगा कि बिन्दुओं के प्रत्येक युग्म के विषय में इस प्रकार के अनन्य सम्बन्ध के अस्तित्व को पहले ही से मान लेने से स्वयं ही यह स्वीकार कर लेना प्रकट होता है कि अवकाशीय क्रम-व्यवस्था के परिमापों की संख्या परिमित होती है। किन्तु अपरिमित या अनन्त-परिमापवान् अवकाश में इस प्रकार का अनन्य सम्बन्ध असम्भव होगा। (देखिये रसेल कृत 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री', पृष्ठ १६१एफ०एफ०) एतद्विषयक इस प्रकार की पूर्वमान्यता की तथा काल को एक परिमापी ही मान लेने का औचित्य इतना ही प्रतीत होता है कि ये मान्यताएँ उन सभी व्यवहारिक प्रयोजनों के लिये अनिवार्य हैं, जो ज्यामितीय विज्ञान की सृष्टि कर सकने की हमारी सामर्थ्य पर निर्भर हैं और यह कि इन मान्यताओं के विपरीत बात मान सकने के लिये हमारे पास कोई दृढ़ आधार भी नहीं है। और इस दृष्टि से यह मान्यता एक अधिकारात्मक मान्यता ही प्रतीत होती है।

विन्दु और इसी तरह काल के सारे क्षण भी एक तरह के होते है अथवा जैसाकि दूसरे शब्दों मे अक्सर कहा जाता है—काल्पनिक अवकाश और लगातार एकरूप अथवा एकरस हुआ करते है। यह पार्थक्य तव तक सम्भव नही हो पाता जव तक कि आप आकाशीय अथवा कालीय शृखला के कम से कम दो पदो या सख्याओ को लेकर उनके द्वारा निर्धारित होनेवाले सम्वन्ध पर विचार नही कर लेते। काल्पनिक आकाश और काल की यह एकरसता जैसाकि हम देख चुके है उनकी सरचना प्रक्रिया मे अन्तर्ग्रस्त अनुभूति के व्यष्ट विपय के अवशेपण का एक अनिवार्य परिणाम है। आकाशीय और कालीय विस्तार के हमारे वास्तविक प्रत्यक्षण मे प्रेक्षित अवकाश और काल का वह भाग जिसका तात्कालिक भावना के साथ सीधी एकात्मता रहती है गुणात्मकतया अन्य भागो से अत्र और अधुना रूपेण पृथक् रहता है और इसीलिये उसकी अभिज्ञेयता द्वितीय आकाशीय तथा कालीय-अवस्थिति के विशिष्ट विवरणो पर निर्भर नही होती। अत्र वही होता है जहाँ मैं होता हूँ और अधुना होता है भावनागत प्रस्तुत या वर्तमान। और इसी तरह वस्तुत प्रस्तुत अवकाश और काल के प्रत्येक अन्य भाग को इस अत्र और अधुना के साथ उसके विशिष्ट सम्वन्ध के कारण एक अनन्य गुणात्मक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। वह दहिना या वायाँ वन जाता है आगे का या पीछे का, पहले वाला या पीछे वाला कहलाने लगता है। प्रत्यक्षण के अत्र और अधुना की कारणभूत व्यष्ट अनुभूति के साथ वाले अनन्य सम्वन्ध से जव हम उसी तरह एकदम अवशेपण कर जाते है जिस तरह कि कल्पनात्मक काल और आकाश विषयक क्रम-व्यवस्था के निर्माण मे हम किया करते है तव प्रत्येक अवस्थिति समान रूपेण अत्र और अधुना की एक सम्भावना मात्र वन जाती है और इस सम्भावना मात्र रूप मे इन विविध अवस्थितियो को पृथक् पहचाना नही जा सकता। विस्तार और अवधि के विभिन्न अशो की मात्रात्मक तुलना हेतु एक अपरिहार्य शर्त के रूप में यह एकरसता व्यावहारिकतया वडी महत्वपूर्ण होती है।

आकाशीय तथा कालीय अवस्थिति की सापेक्षता काल्पनिक देश-काल की एकरूपता का एक आभासतः अनिवार्य परिणाम है जैसाकि हम देख चुके हैं, कल्पनात्मक आकाश और काल की अवस्थितियाँ तव तक अविभेद्य रहती है जव तक कि युग्मो मे उन्हे नही लिया जाता। दूसरे शब्दो मे आकाश मे किसी अवस्थिति को स्थिर करने के लिए अथवा किसी तिथि का निर्धारण करने के लिये आपको उसका सम्वन्ध किसी अन्य अवस्थिति अथवा किसी अन्य तिथि के साथ वैठाना पड़ता है और उस अवस्थिति या तिथि के निश्चयनार्थ किसी तीसरी स्थिति अथवा तिथि के साथ उसका सम्वन्ध स्थापित करना होता है और यह प्रक्रिया अनन्तश. चलती जाती है। अगर हमे वताना हो कि अ कहाँ है तो इसका अर्थ होगा कि हम वताये कि अ तक हम व से चल कर कैसे पहुँचते है और व की स्थिति भी इसी तरह स से चलकर व तक कैसे पहुँचा जाता है यह

बताने पर ही मालूम हो सकती है। और यों यह क्रम अनन्त बार चलता रहता है। तर्कसंगत रूप में यह प्रक्रिया आकाश और काल के स्वरूप को काल्पनिकरूपेण अनन्त श्रृंखलाओ मे विश्लेषित कर डालने का ही सीधा-सादा परिणाम है। इन श्रृंखलाओ के किसी पद या सख्या का उल्लेख करने के लिये उस अनन्य सम्बन्ध को बताना जो उस सख्या या पद का दूसरी सख्या या पद के साथ है। जरूरी होता है। अर्थात् उसकी तार्किक दूरी अथवा सविकल्पक अनुभूति को बतलाना। और किसी ऐसी श्रृखला या श्रेणी के जिसमे न तो प्रथम पद हो न ही अन्तिम पद, इस द्वितीय पद का परिभाषण तृतीय पद से उस द्वितीय पद की तार्किकरूपेण सविकल्पक अनुभूति या दूरी के बिना नही हो सकता। वास्तविक प्रत्यक्षण मे यह कठिनाई इस तथ्य के कारण बरकाई जा सकती है कि अव्यवहृत अथवा तात्कालिक भावना से हमें उन अत्र अधुना की प्राप्ति हो जाती है और जिनसे हमारे सकल दिनिर्देश मापे जाते है। किन्तु कल्पनात्मक देश और काल अथवा आकाश और काल मे ऐसी कोई वस्तु नही होती जिससे किसी एक अत्र को पृथक् करके हम उसे अपने 'निर्देशाको का मूल' बना सकें न हमे ऐसा कोई अधुना ही प्राप्त होता है जिसे किसी दूसरे अधुना की अपेक्षा हम अपना प्रस्तुत अधुना बना सकें अत अन्तहीन प्रतिगामिता अनिवार्य प्रतीत होता है।

नतीजा यह निकलता है कि कल्पनात्मक देश काल मे ऐसा कोई सैद्धान्तिक नियम नही जिसके द्वारा विभिन्न दिनिर्देश पहचाने जा सके। प्रत्यक्षण मे उन्हे दहिना या बायाँ, ऊर्ध्व या अध. आदि रूप मे पहचाना जा सकता है। लेकिन चूँकि जो किसी एक प्रेक्षक के दायी तरफ है वही दूसरे के बायी ओर स्थित हो सकती है। काल्पनिक आकाश मे जहाँ किसी व्यष्ट प्रेक्षक की उपस्थिति या प्रस्तुति से ही सकल अवशेपण किया जाता है किसी दिनिर्देश मे दूसरे की अपेक्षा न तो कुछ दाहिना ही होता है न बायाँ न ऊपर न नीचे न किसी प्रकार का कोई अन्य गुणात्मक विभेद ही क्योकि इस प्रकार के सब विभेद व्यष्ट प्रेक्षक के सापेक्ष हुआ करते है। काल्पनिक अवकाश मे जब भी हम दिशात्मक विभेद प्रतिनिविष्ट करना चाहते है तब सदा ही हमे अपने प्रस्थान बिन्दु के रूप मे स्वच्छन्दतया निर्दिष्ट किसी मानकीय दिनिर्देश को लेकर ही अपना कार्यारंभ करना होता है। उदाहरण के लिए आइये हम स्वच्छन्दतया चुनी हुई अ———ब रेखा को किसी दत्त समतल का मानक मान लें और अन्य सभी दिशाओ को उस कोण के आधार पर एक दूसरे से अलग करें जो प्रत्येक दिशा उस रेखा अ—ब के साथ बनाती हैं, साथ ही उस अभिदिशा को भी पहचाने जिसके अनुसार उन दिनिर्देश का अन्दाज (चाहे वह ब से अ तक हो या अ से ब तक) लगाया जाता है किन्तु रेखा अ ब और अ ब तथा ब अ के बीच की अभिदिशात्मक विभिन्नता का अभिलक्षण केवल किसी अन्य मानकीय दिनिर्देश के ऐसे ही सदृश सन्दर्भ द्वारा किया जा सकता है और यह प्रक्रिया इसी तरह

अनन्त प्रतिगामितान्तर्गत जारी रहती है।

काल्पनिक काल के विषय मे भी ऐसी ही बात सही है यहाँ भी, चूंकि परिमाप केवल एक ही है इस लिये कठिनाई उतनी स्पष्ट तो नही किन्तु फिर भी उसकी वास्तविकता किसी तरह कम नही। काल्पनिक काल में प्राक्तन को पश्चातन से भूत को भविष्य से पृथक् करने के कोई साधन नही होते। क्योकि भूत का अर्थ है हमारी स्मृतियों की दिशा, वह दिशा जो अतीत अथवा 'अब नही' की भावना विशिष्ट है। भविष्य प्राग्ज्ञान तथा सोदेश्य अभ्यनुकूलन विशिष्ट दिशा का नाम है अर्थात् जो 'अभी तक नही है।' और जब तक किसी व्यष्ट व्यक्ति के सोदेश्य जीवन की तात्कालिक अथवा अव्यवहृत भावना द्वारा दत्त सन्दर्भ के बिना ये दिनिर्देश पृथक् पहचाने नही जा सकते। सक्षेपत: काल्पनिक काल और आकाश या देश सारत: सापेक्ष इसलिए होते हैं चूंकि वे ऐसी सम्बन्धात्मक व्यवस्थाएँ है जिनका, उनके द्वारा सम्बन्ध पदो के गुणात्मक विभेदो के बिना उस सम्बन्धो का कोई अर्थ ही नही होता, जबकि फिर एक बार उस कल्पनात्मक सरचना के हेतु जो वे सम्बन्ध उत्पन्न करती है उन पदो को सम्बन्धाधिकार द्वारा प्राप्त स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्वरूप से युक्त नही माना जा सकता।[1]

---

१. अंग्रेजी जाननेवाले पाठक को आसानी से मिल सकनेवाली आकाशीय अवस्थिति विषयक सापेक्षता की सर्वोत्तम विवरणात्मक व्याख्या श्री रसेल की पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्यामेटरी' के अध्याय iii A, iv में दी हुई है। उसके बाद श्री रसेल ने 'माइण्ड' नामक पत्रिका के जुलाई १९०१ के अंक में सहविपरीत मत पुष्ट करने की चेष्टा की है कि आकाशीय और कालीय अवस्थितियाँ निरूढ़तया विशिष्ट होती है किन्तु श्री रसेल ने सापेक्षताविषयक अपने पहले वाले अभिमत की कोई चर्चा इस लेख मे नहीं की। श्री रसेल के इस लेख के विशुद्ध गणितीय भाग में दखल देने योग्य मै नहीं हूँ। लेकिन मै यह सुझाव तो दे ही सकता हूँ कि तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न केवल इतना ही कहकर जैसाकि श्री रसेल ने किया है, नही सुलझाया जा सकता कि निरपेक्ष की प्राक्कल्पना के आधार पर ज्यामिति की रचना करने के लिए आपेक्षिक अवस्थिति के आधार पर उसकी रचना करने की अपेक्षा कहीं कम पूर्वानुमितियों की जरूरत होती है। किन्हीं विशिष्ट पूर्वानुमिति की विशिष्ट सुविधा उस प्रयोजन की अन्तिमेत्य बोधगम्यता का प्रमाण नहीं होती। और जब श्री रसेल यह स्वीकार करते चले जाते हैं कि आकाशस्थ बिन्दु हमारी पहचान से बाहर होते हैं तो वे अपना दावा खुद ही खारिज करने से मुझे लगते हैं। क्योंकि उनके ऐसा कहने का मतलब क्या यह मान लेना नहीं कि जिस आकाश में हम ज्यामिति शास्त्र मे काम लिया करते हैं वह शुरू से आखीर तक सापेक्ष ही होता

देशकालीन संरचना का एक और पहलू भी इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि उसका यहाँ वर्णन कर देना जरूरी है। आकाश और काल को किसी न किसी तरह की इकाइयाँ समझा जाता है। साधारणत: समझा जाता है कि समस्त आकाशीय अवस्थितियाँ अवकाश-सम्बन्धों की एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत रहती हैं और सारी तिथियो का स्थान सर्वग्राही काल के भीतर ही रहता है। एकत्व के इस स्वरूप द्वारा ही देशकालिक व्यवस्था की कल्पना पूर्णता प्राप्त करती है। आकाशीय और कालीय व्यवस्थाओ मे से प्रत्येक व्यवस्था एक ऐसी इकाई है जिसमे देश या आकाश तथा काल विषयक सकल सभाव्य स्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। और उनमे से प्रत्येक एक अन्त ही, अपरिमिति, सतत अवस्थिति-शृखला होती है और वे सब विशुद्धरूपेण सापेक्ष होती हैं। आकाश विषयक प्रचलित कल्पना के संबध मे विशेषत. कुछ ऐसी खास बातें है जिनका यहाँ जिक्र करना इसलिए जरूरी नही क्योंकि वे आकस्मिक प्रकार की होती हैं और जिस प्रक्रिया द्वारा तद्विषयक कल्पना की रचना हुआ करती है उसके सारभूत स्वरूप से वे उद्भूत नही होती। अत. यह एक प्रचलित पूर्वानुमान सा सभवतः बन गया है कि आकाशीय परिमापो की सख्या केवल तीन ही होती है तीन से अधिक नही और यह कि उक्लैदस की समानान्तर विषयक अभिधारणा अपने संघटन द्वारा ही सत्यापित होती है। जहाँ तक प्रत्यक्षणात्मक आकाश का सवाल है वहाँ तक वे पूर्वानुमितियाँ, मेरा ख्याल है, अनुभवात्मक सत्यतापन पर निर्भर होती हैं। ऐसी कोई वजह नही मालूम देती कि वे पूर्वानुमान कल्पनात्मक आकाश-व्यवस्था के विषय मे भी क्यो लगाए जाँय क्योकि इतना तो निश्चित ही है कि आकाशीय सम्बन्धोविषयक एक संगत विज्ञान की रचना उनके विना भी हो सकती है।[1]

५—अब सवाल यह है कि क्या यह सारी की सारी आकाशीय और कालीय

है? निश्चय ही यह जान सकना कठिन है कि ऐसे गुणात्मक विभेद जिनके विषय में हम प्राक्कल्पना द्वारा कुछ भी नहीं जान सकते हमारी वैज्ञानिक रचनाओं मे क्या सहायता या बाधा पहुँचा सकते हैं।

१. यह बात मेरे जैसे उन लोगो की भी, जो गणितज्ञ नहीं हैं। समझ मे लोवात्शेवस्की की पुस्तक 'Unter Suchungen zur Theorie der Parallel Linien' जैसे ग्रन्थो के पारायण द्वारा आ सकती है। इस ग्रन्थ में सामानान्तर्य विषयक अभिधारणा से एकदम दूर रहकर एक संगत त्रिभुजीय ज्यामिति की रचना की गयी है। निश्चय ही अन्त में जाकर यह एक नाम निर्धारण का ही प्रश्न रह जाता है कि अर्थानुभवीय प्रतिबन्धो से स्वतंत्र शृंखला-व्यवस्था अथवा श्रेणी-व्यवस्था के प्रारूप को 'आकाश' नाम दिया जा सकता है या नहीं।

सरचना अपूर्णाधिक है और इसीलिए व्याघाती तथा आभास मात्र। पहले तो मैं यहाँ उन युक्तियो को सामान्य रूप मे पेश करूँगा जिनके आधार पर उसे आभास समझा जाता है और तब उसके वाद कुछ विशिष्ट कठिनाइयो का जिक्र करके उसकी परिपुष्टि प्रारभ करूँगा अतः अन्त मे मेरा इरादा यह पूछने का है कि क्या हम वास्तविकता के उस उच्चतर क्रम के बारे में आकाशीय तथा कालीय शृंखलाये जिसका प्रपंच है, किसी निश्चयी परिकल्पना का निरूपण कर सकते है या नही।

आकाशीय तथा कालीय क्रम प्रपंच मात्र ही है अन्तिमेत्थ वही यह बात, मेरे ख्याल से एक सामान्य तर्कना द्वारा निर्णयात्मकरूपेण सिद्ध की जा सकती है। इस तर्क की मुख्य बातें पहले वताकर वाद में मैं उसकी विशद व्याख्या करूँगा। कोई भी सर्वग्राहिणी अनुभूति आकाश काल रूपान्तर्गत अस्तित्व की विवृतियों का ग्रहण निम्न-लिखित कारणवश नही कर सकती। क्योंकि वह अनुभूति उस आकाश और काल की अनुभूति नही हो सकती जिन्हे हम देखते हैं अथवा जिनका प्रत्यक्षण हम किया करते हैं न उस आकाश या काल को ही जिसकी पुनर्रचना हम कल्पना द्वारा किया करते है। वह प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल की अनुभूति इसलिए नही होगी चूँकि हमारे प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल का समग्र स्वरूप ही उन अपूर्णताओ और मर्यादाओ या वन्धनो पर ही निर्भर होता है जिनके कारण हमारी अनुभूति खण्डित और अपूर्ण रह जाती है। मेरे लिए आकाश और काल वैसे ही हुआ करते हैं जैसे कि वे है क्योकि, मैं उन्हे आत्मीय अत्र और अधुना के विशिष्ट स्थिति-विन्दु से एक संदर्श रूप मे ही देखता हूँ। यदि वह स्थिति विन्दु ऐसा इधर उधर हो जाय कि जो कुछ वास्तव मे मेरे लिए तत्र और तव हो वे ही मेरे अत्र और अव या अधुना वन जाँय तो आकाश और कालविषयक मेरा सारा दृग्गोचर ही वदल जाय। किन्तु निरपेक्ष तो मेरे अत्र और अधुना के स्थिति विन्दु से आकाश और काल को नही देख सकता। क्योकि अपनी रुचियो और प्रयोजनो के पारिमित्य के कारण ही मुझे अपनी दृग्गोचरता को इन अत्र और अधुना की सीमाओ में वाँध रखना पडता है। यदि मेरे हित उस विशिष्ट रूप मे प्रतिवद्ध न होते कि जिस रूप मे वे विशालतर समग्र जीवन के केवल इस विशिष्ट भाग या पक्ष के साथ निगडित है, यदि वे उस समग्र के जीवन के साथ ही सह-विस्तृत होते तो हर एक जगह और प्रत्येक काल मेरा अत्र और अधुना होता। लेकिन मौजूदा हालत मे अत्र वह है जहाँ मेरा शरीर है, और अधुना है योरोपीय सामाजिक जीवन के विकास की यह वर्तमान विशिष्ट अवस्थिति, क्योकि यही वे वस्तुएँ है जिनमे मैं मूलतः रुचिमान हूँ। यही वात उन सव अन्य परिमित अनुभूतियो के वारे में भी सही है जिनके द्वारा निरपेक्ष अनभूति की विवृतियाँ अभिव्यक्त होती हैं। परिमित अनभूतियो की

प्रतिबाधक रूप्यात्मक मर्यादाओ से, निरपेक्ष अनुभूति चूंकि स्वतत्र होती है इसी लिए वह उन अनभूतियो के किसी भी विशिष्ट स्थिति बिन्दु से इस अस्तित्व-व्यवस्था को नही देख सकती और इसी लिए वह उसे प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल के वेश मे उसका ग्रहण नही कर पाती ।

इसके अतिरिक्त वह काल और आकाश के उस रूप मे भी अस्तित्व का ग्रहण नही पर पाती जिस कल्पनात्मक रूप मे हम उन्हे पुनर्गठित किया करते हैं। क्योकि निरपेक्ष अनुभूति के लिए वास्तविकता अथवा सत्ता का ऐसा पूर्ण व्यस्ट समग्र होना आवश्यक है कि उसके समग्र अवकलनो के आधार भी तदन्तर्गत ही हो । किन्तु कल्पनात्मक देश काल की रचना समस्त व्यष्टतान्तर्ग्रस्त अव्यवहृत अनुभूति सवध से उस विमृष्ट अवशेषण द्वारा की जाती है और परिणामत जैसाकि हमने अभी देखा, उन आकाश और काल में आभ्यन्तर विभेद का कोई वास्तविक नियम या सिद्धान्त नही होता क्योकि उनके सघटक पद सब ठीक बिलकुल एक से और अविभेद्य हुआ करते हैं। सक्षेप मे यदि हमारी मूर्त अनुभूति के प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल सम्बन्धी क्रम व्यवस्थाएँ वैयक्तिक या व्यष्ट किन्तु अपूर्ण और परिमित दृष्टिकोणो का प्रतिनिधित्व करते है तो हमारी वैज्ञानिक सरचना सम्बन्धी कल्पनात्मक आकाश या काल परिमित दृष्टिकोण की अमूर्त सभावना मात्र का प्रतिनिधित्व करता है । उन दोनो मे से एक भी, इसी कारण, किसी निरपेक्ष अनुभूति का दृष्टि बिन्दु नहीं हो सकता। निरपेक्ष अनुभूति का आकाशातीत और कालातीत इस अर्थ में होना आवश्यक है कि उसकी अन्तर्वस्तुएँ आकाशीय तथा कालीय शृखलाओ के रूप मे ग्रहीत नही होती अपितु किसी अन्य रूप मे ही निग्रहीत होती है। तब आकाश और काल का किसी ऐसी उच्चतर वास्तविकता का प्रपचात्मक आभास होना आवश्यक है, जो निरवकाश और काल-रहित हो ।

६—सिद्धान्तत तो उपर्युक्त तर्कना मुझे पूर्ण सी लगती है लेकिन उन पाठको के लिए जो उसकी मुख्य विचारणा को और भी अधिक विकसित रूप में जानना चाहते है उस तर्कना को फिर से यो पेश किया जा सकता है। प्रत्यक्षणात्मक देश काल जिस रूप मे सामने आते है, अन्तिमेत्थत. वास्तविक या सत् नही हो सकते। सम्बन्धगत गुणो द्वारा निर्मित होने के कारण सत् अथवा वास्तविकता विषयक विचार में सामने आई पुरानी कठिनाई के कारण वे आकाश और काल पहले ही निकम्मे ठहराये जा चुके है। प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल ऐसे लघुतर भागो के समूह होते है जो आत्मना भी अवकाश और काल ही है, इस प्रकार वे ऐसे पदो या कड़ियो के मध्यगत सम्बन्ध होते है जिनमे से प्रत्येक के भीतर स्वय एक बार फिर वही सम्बन्ध पाया जाता है और नव परिचित अनन्त प्रतिगामिता उसमे इस तरह अन्तर्हित रहती

है।[1] जब फिर हम अपनी काल्पनिक देश और काल की निर्मिति में इस दोष का सुधार करने के लिए आकाश और काल को सम्बन्धो की व्यवस्थामात्र में एकदम विघटित कर डालने का प्रयत्न करते है तब अवशेषण की इस प्रक्रिया द्वारा यह कठिनाई टल भर जाती है। क्योंकि जितनी देर तक हम सख्ती से अपनी काल्पनिक सरचना तक सीमित रहते है उतनी देर तक हमारे सम्बन्धो की विवृत्तियाँ अप्रभेद्य बनी रहती है। विशुद्धत: कल्पनात्मक देश काल मे, जैसाकि हमने देखा था, किसी एक दिशा या दिनिर्देश का दूसरी दिशा से प्रभेद कर सकने की कोई सभावना नही हुआ करती क्योंकि गुणात्मकतया सब एकसी ही होती है।

निश्चित ही आदिम सिद्धान्तानुसार स्पष्ट है कि जब ऐसे पदों के कुलक जिनके बीच एक ही शैली के बहुसख्यक सबध मौजूद रहते है, अविभेद्य हुआ करते है क्योंकि सम्बन्धो मे विवेचन नही किया जा सकता। दिशाओं को पृथक् करना ही हो तो अन्ततोगत्वा हमे कम से कम अपना कोई प्रस्थान बिन्दु और उस बिन्दु से गणितव्य से दो एक मानकीय दिनिर्देशो को जो हमारे प्रकृत विषय सम्बन्धी परिमापों की सख्यानुसार होगे, स्वतत्र दत्तो के रूप मे लेकर तो चलना ही होगा। इसका अर्थ होगा अन्य सभाव्य प्रस्थान बिन्दुओं और मानकीय दिनिर्देशों की अपेक्षा कही अधिक पहचानने योग्य गुणात्मक विभेदों को साथ लेकर चलना। (इस प्रकार, कल्पनात्मक देश और काल के प्रारभ और अन्त मे विभेद करने के लिए आपको कम से कम किसी ऐसे कालीय क्षण को जो गुणात्मकतया अन्य क्षणों से पहचाना जा सके, ऐसा निर्देश-क्षण मान लेना होगा जहाँ से आप अपनी गणना का प्रारभ कर रहे हो और इसके साथ ही आपके पास किसी तरह का ऐसा पहचान योग्य गुणात्मक वैशिष्ट्य भी होना चाहिए जिसके द्वारा आप भूत दिनिर्देश को भविष्यकालीन दिनिर्देश से पहचान सकें)। और इस गुणात्मक प्रभेद विषयक सदर्भ के साथ ही ठीक उसी तरह जिस तरह कि प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल के मामले मे, हमें फिर एक बार गुण और सम्बन्ध विषयक

---

१. यह बात अच्छी तरह याद रखनी होगी कि अनन्त या अपरिमित प्रतिगामिता का सारभूत दोष उसकी अपर्यवसेयता नहीं अपितु उसकी एक दिष्टता है। हमने स्वयं ही प्रतिपादित किया है कि वास्तविकता या सत्ता ऐसे लघुतर व्यष्टों द्वारा रचित व्यष्ट है जो हमारे दृष्टिपथ में समग्र की सरचना की पुनरावृत्ति करते रहते हैं और यह कि इन व्यष्टों की संख्या परिमित होना जरूरी नहीं है। लेकिन हमारी दृष्टि मे व्यष्टता का क्रम जितना ही उच्चतर होता गया उसकी संरचना भी उतनी ही अधिक स्वत: स्पष्ट होती गयी थी जबकि अनन्त प्रतिगामिता में अन्यापकार्यीय सरचना अन्तहीनबार उसी रूप में पुनरावृत्त होती रहती है।

असमाधेय पुरानी समस्या की ओर धकेल दिया जाता है। इस माने हुए प्रस्थान विन्दु तथा इन मानकीय दिनिर्देशो मे गुणात्मक व्यष्टता का होना जरूरी है अन्यथा उन्हे स्वतत्रतया पहचानना सभव न होगा और न उन्हे शेप दिनिर्देशो और अवस्थितियो मे विभेद करने का आधार ही वनाया जा सकेगा। लेकिन फिर भी कल्पनात्मक सरचना विषयक काल और आकाश की आवश्यक एकरूपता के कारण उनमे इस तरह की कोई भी गुणात्मक व्यष्टता हो नही सकती और मनमानी तौर पर ही उनकी कल्पना करनी होगी। और इसी लिए स्वय उनका निर्धारण भी किसी ऐसे ही मनमाने मानक के हवाले से ही हो सकेगा और इस तरह पर फिर एक वार हम अनन्त प्रतिगामिता के शिकार हो जाते हैं। इसी लिए इन निर्मितियो की व्यावहारिक उपयोगिता इसी तथ्य पर निर्भर है कि उनके उपयोग करने मे हम सगत नही वने रहते। उनके सभी व्यावहारिक विनियोजनो मे हम उनका उपयोग उस स्थिति विन्दु से जो स्वय कल्पनात्मक काल और आकाशीय व्यवस्था के मामले मे, अन्यो से स्वेच्छ और अप्रभेद्य होता है, देखी गयी दृश्यभूमि की घटनाओ की आकाशीय और कालीय क्रम-व्यवस्था को नक्श करने मे किया करते हैं।

७—इस सामान्य तर्कना को और भी विशद करने के वजाय जो काम कि उसका सिद्धान्त समझ लेने पर अपेक्षाधिक प्रतीत होगा और अगर छूट जाय तो अविश्वास्य भी—मैं ऐसी दो एक विशिष्ट विधियाँ पेश करना चाहूँगा जिनके द्वारा आकाशीय और कालीय सरचना विषयक मौलिक स्वेच्छापरता प्राहारिकतया उदाहृत होगी। प्रारभ मे एक आध शब्द आकाश और काल की तथाकथित एकता के वारे मे कहा जा सकता है। दार्शनिक लोग तथा अन्य व्यवहार कुशल व्यक्ति भी लगातार मानते चले आ रहे हैं कि आकाशीय व्यवस्था केवल एक ही हो सकती है ऐसे ही वे यह भी पहले से माने वैठे रहते है कि काल सम्वन्धी व्यवस्था केवल एक ही हो सकती है और वह इसलिये कि सारे ही आकाशीय और कालीय सम्वन्धी भी एक ही व्यवस्था के हैं। इस प्रकार यदि अ का आकाशीय सवध व के साथ हो और स का द के साथ तो यह मान लिया जाता है कि अ के साथ स का, अ के साथ द का, व के साथ स और स के साथ द का आकाशीय सवध जरूर होना चाहिये। इसी तरह पर अगर अ यदि कालीय दृष्टि से व से सम्वद्ध है और स द से तो उपर्युक्त अनुमान सही होगा। प्रकृति 'भौतिक विश्व' या 'भौतिक क्रम व्यवस्था' की आकाशीय और कालीय सकल-प्रक्रिया-समूह रूप प्रचलित कल्पना मे यही विचार प्रकटत पूर्वानुमित हुआ है। किन्तु उस पूर्वानुमान का कोई तर्कानुमत आधार प्रतीत नही होता। सैद्धान्तिक रूप से सभी आकाशीय और कालीय सम्वन्धो की कथित एकता का निरसन एक इसी वात से किया जा सकता है कि चूंकि आकाश और काल व्यष्ट सतत्र नही है इसलिये

उनमे आभ्यन्तरीय सरचनात्मक एकता निहित नही रह सकती। यह बात उस तरीके से स्पष्ट हो जाती हैं जिसके अनुसार हमारी कल्पनात्मक योजना के आकाश और काल रचे गये थे। जैसाकि हमने देखा उनकी उत्पत्ति हुई थी पदो के मध्यगत उस एकल शैली के सम्बन्ध की अपरिमित पुनरावृति से, जिसमें हमे आभ्यन्तर सरचना विषयक कोई भी अन्तिमेत्यत. बोधगम्य सिद्धान्त या नियम ढूंढे नही मिला था। लेकिन सरचनात्मक एकता वहाँ नही लाई जा सकती जहाँ वह अन्तहीन पुनरावर्तन मात्र द्वारा पहले ही से मौजूद न हो। इस प्रकार की प्रक्रिया का परिणाम भी मूलभूत दत्तों के समान ही आभ्यन्तरतः असगत और संरचनाहीन होगा। अतः सम्बन्धगत गुण-व्यवस्था की पुनरावृति मात्र होने के कारण आकाश और काल सच्ची इकाइयाँ नही हो सकते।

यह बात तब और भी साफ हो जाती है जब हम उन आधारो पर विचार करते हैं जो हमे अनेक घटनाओ को एक ही से आकाश और एक ही से काल मे स्थान प्रदान करने का वास्तविक अधिकार देते है। अगर अ से ब तक यात्रा कर सकने का कोई मार्ग मौजूद हो तो मेरे लिये अ और ब अन्ततोगत्वा एक ही आकाश मे स्थित होते है और वे एक ही काल मे तब होते है जब वे किन्ही व्यवस्थागत प्रयोजनो की पूर्ति की विभिन्न अवस्थितियो मे हो। इस प्रकार दोनो ही मामलो मे सदृश या समरूप हितो और प्रयोजनो की व्यवस्था से सम्बन्ध होने के कारण ही अवस्थितियो और घटनाओं के विभिन्न कुलक एक अवकाश और एक समय से सम्बद्ध हुआ करते हैं इस प्रकार के अवकाश और काल की एकता व्यवस्थित प्रयोजनात्मक जीवन की एकता के अमूर्त रूप की ऐसी धुंधली प्रतिच्छाया मात्र है जो इसलिए है चूंकि उसकी व्यष्ट रचना अनन्य प्रकार की है।

यही वह तरीका है जिसके अनुसार मैं अपने सामान्य जाग्रत जीवन के प्रयोजन और हितो की व्यष्ट एकता से उनकी अनभूतियो का हवाला किसी एकल देश-काल व्यवस्था के साथ देने का अधिकार प्राप्त करता हूँ। इसी तरह पर चूंकि मैं स्वय अपने तथा अपने साथी मनुष्यो के भी प्रयोजन को समाज के विस्तृततर व्यवस्था गत प्रयोजन-समग्र मे शामिल कर सकता हूँ इसलिये मैं उनकी अनभूति के आकाश काल विषयक सम्बन्धो को अपनी अनुभूतियों के साथ मिलाकर एक व्यवस्था के अन्तर्गत ला सकता हूं। इसके अतिरिक्त भौतिक जगत् की इन्द्रियगम्य घटनाएँ भी मानवीय अनुभूति की देश कालीय सम्बधो के साथ-साथ एक देश काल से सम्बद्ध उन विचलनशील तरीको के कारण हं जिनमे वे हमारे अपने सप्रयोजन आभ्यन्तर जीवन के विकास को ढाल देती है। किन्तु हमारे अपने चैतन्य जीवन मे भी ऐसे मामले पाये जाते हैं जहाँ यह स्थिति अनुपस्थित-सी प्रतीत होती है और इन मामलात मे एकल अवकाश

या एकल काल की कल्पना का बोधगम्य उपयोग कर सकने मे असमर्थ से प्रतीत होते है।

हमारे स्वप्नो का ही मामला ले लीजिए। मेरे स्वप्नो की घटनाएँ स्वय स्वप्न के अन्तर्गत ही देशकालीय सम्बन्धग्रस्त रूप रहती है लेकिन अगर मैं पूछूँ कि मैंने जिन जगहो को सपने मे देखा था उनके इग्लैण्ड के मानचित्र पर अकित जगहो के साथ कौन से आकशीय सम्बन्ध है तो उसके कोई माने न होगे। यह पूछना भी कि पिछली रात को देखे सपने की घटनाओ तथा आज सुबह के अथवा पिछले सप्ताह के सपनो के बीच कौन सा कालीय सम्बन्ध है व्यर्थ ही होगा। और यह बिलकुल इसलिए कि चूँकि सपने को जाग्रत जीवन के साथ अथवा अन्य स्वप्नो के साथ जोडनेवाली व्यवस्थागत प्रयोजनात्मक एकरूपता आमतौर पर वहाँ नही होती तथा स्वप्न विषयक आकाश और काल की कोई अवस्थिति जाग्रत जीवन की देश-कालिक व्यवस्थापेक्षी नही होती न किसी एक स्वप्न की अवस्थितियो का कोई सम्बन्ध दूसरे स्वप्न की अवस्थितियो से होता है।[1] निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि स्वप्नीय काल और स्वप्नीय अवकाश काल्पनिक 'वस्तुए है' लेकिन किसी विशेषण मात्र के प्रयोग द्वारा समस्या से छुटकारा नही मिल सकता। उन्हे काल्पनिक कहने का सिर्फ यही मतलव है कि वे जाग्रत जीवन के देशकाल से व्यवस्थितरूपेण सम्बद्ध नही हैं। न कि उससे उनकी वास्तविक देशकालिक-सरचना विषयक यथार्थता गलत साबित होती है।

इसी तरह अगर कोई ऐसे बोधगम्य प्रयोजन मौजूद हो जिनपर तद्रूप मे ध्यान दे सकना हमारे सप्रयोजन जीवन के लिए निषिद्ध हो तो जैसाकि हमने कहा था, प्रपचात्मक भौतिक क्रम के पीछे कोई ऐसा काल अवश्य होना चाहिए जहाँ जन्म लेकर वे प्रयोजन कार्यरूप मे परिणत होते हैं, किन्तु उनका कोई स्थान हमारी देश-कालिक व्यवस्था मे न होगा। भौतिक जगत् की ऐन्द्रजालिक या प्रपची घटनाएँ तो हमारी व्यवस्था के अन्तर्गत होती ही है, किन्तु आभ्यन्तर प्रयोजन सम्बन्धी वह जीवन उसके अन्तर्गत नही होता क्योकि यह भौतिक क्रम व्यवस्था हमारी इन्द्रियो के लिए उस जीवन की अभिव्यक्ति है। अन्तत सही बात तो यह है कि सारे ही काल और सारे ही अवकाश मिलकर इस शर्त पर देशकाल की एक ही व्यवस्था ही का निरूपण इस शर्त पर कर सकेंगे कि अनन्त या अपरिमित निरपेक्ष अनुभूति को अपनी सब

---

१. ऐसा साधारणतया ही होता है। सक्षिप्ततार्थ मै यहाँ रात्रानुरात्र चलनेवाले स्वप्नीय जीवन के सभाव्य मामले को मैं यहाँ दर्ज नहीं कर रहा हूँ। सिद्धान्तत. इस प्रकार के स्वप्नीय जीवन के देश और काल के मामले तथा हमारे जाग्रत घण्टों के देशकाल के मामले में कोई अन्तर न होगा।

.न्तर्वस्तुएँ आकाशीय और कालीय रूप मे ही दिखाई पडे। तव अनन्त या अपरिमित व्यष्ट के लिए विभिन्न परिमित व्यष्ट समूहो के प्रयोजन मिलकर काल और देश विषयक सम्वन्धों की एक महती व्यवस्था निरूपित करेगे। किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि अपरिमित अनुभूति अपनी अन्तर्वस्तुओ का आकाशीय अथवा कालीय रूप मे निग्रह नही कर पाती।

अत' हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि भौतिक जगत् विषयक हमारी व्याख्या वैध हो तो जरूर ही, सत् अथवा वास्तविक के अन्तर्गत अवकाशो और कालो का वाहुल्य होना आवश्यक है, यदि वह वैध न हो तो भी ऐसा वाहुल्य हो सकता है। इनमे से किसी भी अवकाश अथवा काल के भीतर उसके सारे अश आकाशीय और कालीयरूपेण अन्त. सवद्ध होते है किन्तु ये विविध अवकाश स्वय आकाश में सम्वद्ध नही होते न विविध काल एक दूसरे से पहले अथवा पीछे काल मे ही सम्वद्ध होते हैं। उनका सम्वन्ध तो एक विशुद्धतया तार्किक सम्वन्ध इस प्रकार का है कि जिसके अनुसार चरम सत्ता के अन्तर्हित स्वरूप की परिमित विवृति पूर्ण अभिव्यक्ति विविध प्रकार से होती है।[1] निरपेक्ष अनुभूत्यर्थ उन सवका एक साथ और एक ही समय होना जरूरी होता है लेकिन इस माने मे नही कि वे 'एक ही अवकाश और काल' में हो वल्कि इस माने मे कि वे मिलकर एक सगत आधार भूमि अथवा सिद्धान्त का व्यवस्थित मूर्त रूप ग्रहण करें।

८—आकाशीय तथा कालीय अनन्ततता की कल्पना पर आधारित काण्ट के

१—इसी तरह मेरे स्वप्नों की घटनाएँ भी, जाग्रत जीवन की घटनाओं की आकाशीय और कालीय शृखलाएँ किसी प्रकार भी अवस्थित न होते हुए भी, उन शृंखलाओं से तार्किकरूपेण इतनी सम्वद्ध होती हैं कि घटनाओं के दोनो ही कुलक मानसिक स्वभाव तथा प्रवृत्ति विषयक कुछ एक सदृशीय तत्वो से उनका कोई न कोई रिश्ता रहता है। दूसरा रोचक मामला है तथाकथित 'द्वैत-व्यक्तित्व' का। दोनों ही प्रत्यावर्ती व्यक्तित्वो की अनुभूति एक ही कालीय शृखला में उस विधि के कारण सज्जित की जा सकती है जिसके अनुसार दोनो ही कुल ऐसे अन्य मनुष्यों के व्यवस्थित हितो के साथ अन्तर्ग्रथित हो जाते हैं। जिनका व्यक्तित्व प्रत्यावर्तित नहीं होता यदि होता भी है तो दूसरी ही स्पन्दलय के साथ। यदि सारी ही मनुष्य जाति व्यक्तित्व प्रत्यावर्तन का विषय वन जाय तो हमारी सारी अनुभूतियो के लिए एक ही काल-शृखला की रचना असम्भव हो जाय। इस विवेचन मे शुरू से आखीर तक मैंने श्री ब्रैडले के इस समस्या के प्रतिपादन (अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी, अध्याय १८) का ही अनुसरण किया है।

परिचित अर्थ-विप्रतिषेधो पर सोच विचार करने से भी आकाश और काल के प्रपचात्मक स्वरूप के बारे मे इसी तरह के नतीजे सामने आते है। आकाश और काल का बाह्यतः सीमाहीन और अन्तरत अपरिमितरूपेण विभाज्य होना आवश्यक है और फिर भी दोनो ही एक भी नही हो सकते। अनावश्यक उपकरणो से रहित होने पर अर्थ विप्रतिषेध विषयक दोनो ही पक्षो की तर्कनाएँ यो पेश की जा सकती हैं। आकाश और काल को सीमाहीन होना इसलिए जरूरी है कि सारे ही आकाशीय तथा कालीय अस्तित्व के माने हैं किसी ऐसे दूसरे पद के साथ उनका आकाशीय तथा कालीय सम्बन्ध होना जो स्वय भी किसी तीसरे पद से सम्बद्ध हो। क्योकि ठीक इसी कारण दोनो का ही अनन्तरूपेण विभाज्य होना जरूरी है। लेकिन दूसरी ओर वे दोनो ही इनमे से एक भी इसलिए नही हो सकते चूँकि व्यष्ट ही वर्तमान रहता है और ऐसे पदो के सम्बन्धो के इस तरह के अपरिसमाप्य जजाल के भीतर, जो पद कि इन सम्बन्धो के समर्थक मात्र ही होते है, व्यष्ट रचना विषयक कोई सम्बन्ध मौजूद नही होता।[१] इस प्रकार काण्टीय अर्थ विप्रतिषेध गुण तथा सम्बन्ध विषयक पुरानी कठिनाई के सीधे सादे परिणाम मात्र है। आकाश और काल का सम्बन्ध मात्र होना आवश्यक है और उन सम्बन्धो के पदो का भी इसी लिए गुणात्मकतया अप्रभेद्य होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त चूँकि वे सम्बन्ध है इसलिए अवस्तुओ के मध्यगत सम्बन्ध नही हो सकते। दूसरे रूप मे यही बात यो कही जा सकती है कि वे ऐसे पदो के मध्यगत सम्बन्ध नही हो सकते जिनका कोई अपना व्यष्ट स्वरूप नही होता। ऐसे सब मामलो मे जहाँ गुण और सम्बन्ध विषयक समस्या उठ खडी हो वह हमे अनन्त प्रतिगामिता की ओर ही ले जायगी।

हम जब तक काल और आकाश को वास्तविक मानते चले जायेगे तब हमें समान रूप से अतर्क्य दोनो विकल्पो मे से किसी एक को चुनना होगा। या तो हमें

---

१ अन्यथा कल्पनात्मक अवकाश और काल, जैसाकि हम देख चुके हैं, अक शृखला के अवकलज होते हैं और हम पहले ही जान चुके हैं कि अक शृंखला हमे अन्तहीन शृखला का योग करने की समस्या की ओर ले जाती है और इसीलिए वह चरम सत्ता या वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करने का कोई पर्याप्त तरीका नहीं होती। (खंड २, अध्याय ४, १०) इसी कठिनाई का दूसरा रूप यह होगा कि कल्पनात्मक देश और काल आंकिक शृखला के विनियोजन हैं—लेकिन किसके साथ उनका विनियोजन ? ऐसी वस्तु के साथ जो स्वयं आकाशीय और कालीय है। ये सब पहेलियाँ काल और आकाश की सारभूत सापेक्षता को व्यक्त करने के अनेक तरीके भर हैं। किन्तु देखिए काण्ट विरोधी मत उदाहरणतः कातुरत लिखित—L' Infini Mathematique. Pt.2।

अपरिमित या अनन्त प्रतिगामिता को उस विन्दु के बाद तक, जहाँ कि उसकी कठिनाइयाँ प्रकट होने लगती हैं, जारी रखने से स्वेच्छरूपेण इनकार उसी तरह करना होगा जैसाकि इस दावे द्वारा कि काल और आकाश परिमित सीमायुक्त अथवा अविभाज्य भाग है, किया जाता है, या फिर हमे यह मान लेना होगा कि निरपेक्ष अनुभूति, अनन्त शृखला के योगत्व को प्रस्तुत कर सकती है। काल और आकाश की प्रपचात्मक मान्यता, जो व्यावहारिक आवश्यकताओ द्वारा हम पर थोपी गयी सरचना विषयक प्रक्रिया का परिणाम है, पर जो व्यष्ट अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप के पर्याप्त अनुरूप नही है, यह कठिनाई दूर हो जाती है। अर्थ-विप्रतिषेध के दोनो ही पक्ष सापेक्षतया सही इस माने मे हो जाते है कि अपने व्यावहारिक प्रयोजनार्थ हम कभी एक को और कभी दूसरे को अगीकार करके सन्तुष्ट हो सकें। दोनो ही अन्ततोगत्वा इस माने मे असत्य हो जाते है कि चूंकि आकाश और काल हमारी अपनी रचनाएं है इसलिए वे न तो परिमित और न अपरिमित शृखलाएँ है अपितु अपनी रचना का जिस प्रयोजन के लिए हम उपयोग करते है तद्नुसार ही उनमे से कोई सी भी एक या दूसरी बन जाती है।

९—यदि अन्ततोगत्वा आकाशीय तथा कालीय अवस्थिति और दिनिर्देश का ऐसा आभास ही होना आवश्यक हो, जो किसी अपेक्षाकृत अधिक व्यष्ट वास्तविकता की प्रपची हो, तो हमे पूछना पडेगा कि वे किस वस्तु की आभास है ? इतना ही कहना पर्याप्त नही कि 'अन्तिमेत्य या चरम वास्तविकता या सत की' अथवा 'निरपेक्ष की।' नि सदेह, जैसा अन्य सब वस्तुओ के बारे में वैसा ही आकाश और काल के बारे मे भी यह सही है। लेकिन हम और भी जानना चाहते है कि क्या वे, निरपेक्ष के सरचक, लघुतर व्यष्टो के आभ्यन्तरिक भौतिक जीवन के किन्ही विशिष्ट लक्षणो की निकटस्थतया आभासी तो नही ? देशकालिक सम्बन्ध की रचनाविहीन अमूर्त सामान्यता और देश-कालातीत निरपेक्ष व्यष्ट की पूर्ण व्यष्ट सरचना के बीच मध्यस्थता करने के लिए स्वभावत हमें किसी ऐसे तृतीय पद या कडी की खोज हुआ करती है जो परिमित व्यष्टता स्वरूप हो। वास्तव मे अपनी अनुभूति के अंगीभूत आकाशीय तथा कालीय रूप को हम एक व्यष्ट परिमित जीव की हैसियत से, अपने स्वभाव के किसी मूलभूत पहलू के साथ सयुक्त करना चाहा करते है।

इस तरह के सवध की स्थापना करना कुछ विशेष कठिन भी नही। जब हमे याद आता है कि हमारे प्रेक्षण और गति का वास्तविक निरूपण करते समय देश और काल, वे ही देश और काल होते है जो अव्यवहृत भावना के एक अनन्य, अत्र और अधुना से वहिर्विकिरित होते है, तब यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी अनुभूति का आकाशीय तथा कालीय पहलू, जैसाकि पहले सुझाया जा चुका है, हमारी उन

ध्यानात्मक अभिरुचियो की मर्यादा का, जो हमारी परिमिति का कारण है, परिणाम है। यह मेरी अभिरुचियो या मेरे हितो की, कम से कम उनकी जो इतने अधिक स्पष्ट हैं कि वे चेतना के 'फोकस' मे उत्छूत हो आएँ, सकीर्णता ही है जो मेरे चारो ओर मौजूद सारे 'तत्रो' से मेरे 'अत्र' के विभेद मे प्रतिबिम्बित होती है। प्रपचात्मक' भौतिक व्यवस्था की जिसे मैं अपने शरीर की दशा या स्थिति कहता हूँ, की घटनाओ के साथ अपने हितों की पूर्ति के खास तौर पर गहरे सम्बन्ध के कारण ही मेरा अत्र वहाँ ही होता है जहाँ मेरा शरीर होता है अगर मेरे इतने विशाल या विस्तृतर हो जाँय कि विश्व की सारी योजना उनमे समा सके तब फिर विश्व की अन्तर्वस्तुओ को आकाश में विकीर्ण मैं न देखूँगा क्योंकि तब मेरा ऐसा कोई विशिष्ट स्थिति विन्दु, मेरा 'अत्र' शेष न रहेगा जिसके लिए अन्य अस्तित्व 'तत्र' हो सके।

अतः मेरे आकाशस्थ विशिष्ट स्थिति विन्दु को जीवन विषयक मेरे विशिष्ट और खास अपने हितो का द्योतक कहा जा सकता है, ऐसा विशिष्ट और तर्कानुसारी स्थिति विन्दु जहाँ से मेरी अनुभूति निरपेक्ष की चरम रचना को प्रतिविम्बित करती है। और इस तरह, सामान्यतया, यद्यपि आकाशीय आभास की प्रत्येक विवृति के सबध मे इस परिणाम पर विभिन्न कारणोवश ज्यादा जोर नही दिया जा सकता, तो भी बुद्धिमान प्रयोजन-पर जीवो का आकाशीय समूहीकरण उनकी हित और प्रयोजन विषयक आन्तर वन्धुता का द्योतक होता है ऐसे जीवो के आकाशस्थ और निकटतया या परस्पर सह-ग्रथित समूह, सामान्यतया अपने खास हितो के,अपने विशिष्ट प्रयोजनो के और विश्व के प्रति अपनी लाक्षणिक अभिवृत्ति के वारे मे भी वे सह-सग्रठित ही हुआ करते है। समूह के अवयवो या सदस्यो की स्थानीय सह-वर्तिता उनकी 'आभ्यन्तर और आध्यात्मिक' सामाजिक आकांक्षाओ की समता का 'वाह्य और दृश्यचिह्न' है। निश्चय ही यह बात सन्निकटतया ही सही है। अपने प्रयोजनो की सिद्धि के लिए मानव जाति की कोई भी टुकडी भौतिक जगत् का सक्रिय नियत्रण करने मे जितनी ही कम सीमा तक सफल होती है, उतनी ही अधिक सीमा तक यह सच होगा कि आकाशीय दूरत्व और सामाजिक प्रयोजन की आन्तर असमता सपाती होती है। उसी अनुपात मे, जिसमे कि मानव की, उसके अमानवीय पर्यावरण पर विजय पूर्ण होती जाती है,वह आकाशीय वियुक्ति के वावजूद भी सामाजिक उद्देश्यो की आन्तरीय एकता को अपने हाथ मे किए रहने की तरकीबे किया करता है। लेकिन इससे एक बार फिर इतना ही सिद्ध होता है कि आकाशीय क्रम-व्यवस्था ऐसा अपूर्ण आभास मात्र है जो अपने से परेवाली उच्चतर सत्ता या वास्तविकता के स्वरूप की झाँकी भर है। अत हम कह सकते है कि विज्ञान और सभ्यता ने 'दूरी का अन्त' करने मे जो सफलता प्राप्त की है वह ऐसा लगता है मानो, आकाश की तुलनात्मक अवास्तविकता विषयक हमारे तत्वमीमासीय सिद्धान्त

का एक जोरदार और क्रियात्मक समर्थन मात्र है।

काल के विषय में भी ऐसा ही है यद्यपि कालीय शृखला को, एक माने में, आकाशीय शृखला की अपेक्षा, कुछ कम अवास्तविक कहा जा सकता है क्योकि यह सिद्ध करना सभव नही जान पडता कि आकाशीय आभास परिमित अनुभूति का एक अनिवार्य रूप है। हम कम से कम ऐसी परिमित अनुभूति की कल्पना कर सकते हैं जो ध्वनियों, गन्धो तथा तदनुगत भावना, तानों जैसे द्वितीयक गुणो की आनुक्रमिक सज्जा द्वारा सघटित हुई हो यद्यपि हमारे पास कोई दृढ आधार इस प्रकार की अनुभूति के अस्तित्व की पुष्टि करने के लिए नही है। किन्तु कालीय रूप परिमित बुद्धि से अवियोज्य प्रतीत होता है। क्योकि मेरे अस्तित्व का काल के एक निर्धारित भाग तक ही सीमाबद्ध होना स्पष्टत. इस तथ्य का अमूर्त और बाह्य पक्ष मात्र है कि मेरे हित और प्रयोजन उस सीमा तक ही जहाँ तक कि मैं अपने जीवन के सही माने जान सकता हूँ, सामाजिक जीवन के उस वृहत्तर समग्र के, मेरा अपना जीवन भी जिसका एक अग है, तर्कानुगत विकास मे यही एक विशिष्ट स्थान ग्रहण कर सकते है। अत. किसी सप्रयोज कृत्य की कृत्यो की उस कालीय शृखला मे जिसे मैं अपने जीवन का इतिहास कहता हूँ, स्थिति मेरे जीवन के भीतरी पक्ष के निरूपक हितों की सह-सम्वद्ध योजना में इस विशिष्ट कृत्य द्वारा आपूरित तर्कसगत स्थान की ऊपरी परिचायिका ही होगी। पारमित्य नामधेय पूर्ण-आन्तर एकतानता-साहित्य का यह एक अनिवार्य परिणाम है कि परिमित व्यक्ति के लक्ष्य और हित सब एक साथ और एक ही समय उसके ग्रहणार्थ एक सी ही मात्रा मे प्रस्तुत नही हो सकते। स्वय अपने आभ्यन्तरीय प्रयोजन अथवा आशय से भिन्न होने के लिए, चूंकि वह परिमित है और इसी लिए अन्तिमरूपेण एक पूर्णत.—एक तान व्यवस्थित समग्र नही होता, इसलिए उस प्रयोजन से वह उसके आशिकत. आपूरित रूप मे ही भिन्न हो पाता है। और अपने प्रयोजनो के इस अशत पूर्ण अर्थ मे हम उस कालीय अनुभूति का आधार पाते हैं जिसके साथ उसका विकल्पी पूर्णताविषयक 'अभी' और असन्तुष्ट आकाक्षा विषयक 'अब नही' और 'अभी नही' भी हमे प्राप्त होते हैं।

इस कारण से ही, असन्तोष, न पूरी हुई लालसा, तथा कालीय अनुभूति सब सह-सम्वद्ध प्रतीत होते है और काल, परिमित या सान्त व्यष्ट की स्वय अपने उस प्रयोजन की जो परमिति या सान्तरूप मे सदा के लिए उसकी पहुँच के बाहर रहता है, व्यवस्थित सिद्धयर्थक लालसा की अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र प्रतीत होता है। यदि यह सही हो तो केवल ऐसा निरपेक्ष और अनन्त व्यष्ट ही जिसकी अनुभूति लगातार आशय की पूर्णत एकतान व्यवस्थित पूर्ति विषयक हो, कालीय-क्रिया-बाह्य हो सकता है। उसके लिए 'लुप्त और उपस्थित' दोनो ही एक समान होते है क्योकि उसका

समग्र स्वरूप ही एक साथ और एक ही बार अस्तित्व की विवृत्ति द्वारा पूर्णतः अभि-व्यक्त हो चुका है। किन्तु परिमित को अपने परिमिति-परक स्वरूप के कारण अपनी पहुँच के बाहर के पूर्णत्व का आकांक्षी रहते हुए अपनी अनुभूति को, इच्छा और निष्पादन के तथा 'अधुना' और अधुनैव के पारस्परिक विशिष्ट्य से विभूषित करना पड़ता है। सकल परिमिति अनुभूति के इस कालीय लक्षण में संभव है बाद को हमें नैतिकता का वैसा चरम आधार भी दिखाई पड़ सके। जैसाकि व्यवहारिक साक्ष्य हम परिमित के अपने परिमत्व से पार पाने हेतु किये जाने वाले अथक संघर्ष में इस बात को पहले ही पा चुके हैं कि काल ऐसा रूप नहीं जो वास्तविकता या सत्ता के स्वरूप को पर्याप्ततया व्यक्त करे और इसीलिये जिसका अपूर्ण आभास होना आवश्यक है।[1]

अत. अब लगता है कि अन्त में हम इस निष्कर्ष पर आ पहुँचते हैं कि आकाश और काल के एक दूसरे के साथ सामाजिकतया सम्बद्ध परिमित व्यष्टों के प्रयोजनों के तार्किक सम्बन्धों की प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति हैं: चूँकि अपनी बारी में इन व्यष्टों में से प्रत्येक का आन्तर सप्रयोजन जीवन स्वयं भी. जैसाकि हम इससे पूर्व देख चुके हैं एक विशिष्ट तार्किक 'दृष्टि बिन्दु' के अनुसार चरम अनन्त या अपरिमित व्यष्ट की संरचना तथा जीवन की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वयं अनन्त व्यष्ट के लिये परिमित या सान्त व्यष्टों के प्रयोजनों और हितों के समग्र का रूप एक एकल एकतान व्यवस्था का रूप होना आवश्यक है। यह व्यवस्था स्वयं आकाशीय अथवा कालीय रूप की नहीं हो सकती, अतः किसी न किसी तरह काल और आकाश का आकाशात्मक तथा कालात्मक अस्तित्व समाप्त होना, निरपेक्ष अनुभूति हेतु आवश्यक है। उस अनुभूति के अन्तर्गत उनका इस तरह निग्रहीत होना पुनः सज्जित किया जाना, और अतिक्रमण किया जाना आवश्यक होगा कि जिससे अन्य सम्बन्धों के बीच सम्बन्धों की एक अन्तहीन शृंखला का उनका स्वरूप नष्ट हो जाय।

सही तौर पर यह कैसे किया जाता है, यह बात हम अपने परिमिति स्थिति बिन्दु से बता सकने की जुर्रत नहीं कर सकते। प्रत्यक्षण विषयक 'असत्व प्रस्तुति' अथवा 'भ्रान्तिमय वर्तमान' से उदाहरण ग्रहण करना इस मामले में स्वाभाविक है क्योंकि इस प्रत्यक्षण में हमें ऐसे अनुक्रम की प्राप्ति होती है जो स्वयं भी सम्पाती होता

---

१. तुलना कीजिये प्रोफेसर रॉयस की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकंड सीरीज के लेक्चर संख्या ३ में उल्लिखित टिप्पणी 'दि टेम्पोरल एण्ड दि इटर्नल', पृष्ठ १३४ से। अगर उस टिप्पणी का अनुशीलन करने का अवसर पाने से पहले ही यह अध्याय यदि न लिख लिया होता तो मुझे निश्चय ही प्रोफेसर रॉयस के विचार विमर्श के प्रति बहुत अधिक अनुग्रहीत होना स्वीकार करना पड़ता।

है। इसके अतिरिक्त विज्ञान अपने 'प्रकृति विषयक नियमों' को जो कालहीन और विशुद्ध तार्किक जामा पहनाना चाहता है उससे भी इस बात को सिद्ध करने के लिए उदाहरण ढूँढ निकाले जा सकते हैं। किन्तु 'असत्य प्रस्तुति' में हमे एक ही पक्ष अर्थात् अनुक्रम अथवा संपातित्व पर ही ध्यान देना पड़ता है अन्य का हम परिहार कर देते है। सभवत. दोनो पक्षो को एक साथ और बराबरी से निर्धारित करने मे हम कभी सफल नही होते अतः इससे समस्या का हल प्रस्तुत होने के बजाय समस्या ही हमारे सामने पेश हुआ करती है और फिर विधि या नियम विषयक अपने अर्थ विमर्श के बाद हम दावा नही कर सकते कि निरपेक्ष अनुभूति हेतु प्रकृति सामान्य नियमो की व्यवस्था है। इसलिये यही अच्छा मालूम देता है कि हम इन उदाहरणो का मूल्य जिस कीमत के वे हैं उससे अधिक न लगाये और उनके आधार पर काल के प्रपचात्मक मात्र स्वरूप का अन्दाजा न लगाये। पुराने पंडित्यात्मक ब्रह्म विज्ञान की तरह तत्वमीमासा को भी कभी यह याद दिलाने की जरूरत हुआ करती है कि ईश्वर के विचार हमारे जैसे नहीं और यह कि उसकी लीलाएँ बिलकुल ही सही मानों मे दर्शनशास्त्र की जी तोड कोशिशो के बाद भी अब तक अविज्ञेय और अपरितर्क्य ही बनी हुई है।[1]

विशेष अनुशीलनार्थ देखिए :—एफ० एच० ब्रेडले, 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ४ (स्पेस एण्ड टाइम्), १८ (टेम्पोरल एण्ड स्पेशियल अपीयरेन्स), एल० कावुरत कृत L' Infini Mathematique, Pt. 3, bk. iv, chap. 4. (कान्टियन अर्थ विप्रतिपेधो के विरुद्ध), एच० पोइन्कारे, LaScience et L' Hypothese, PP. 68-109, एच० लोत्से कृत, 'मेटाफिजिक', खड २, अध्याय १–३, डब्ल्यू० ओस्टवाल्ड कृत Vorlesugen uber Natur philosophie, Lects. 5,8, जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड द इण्डिविजुअल', सेकण्ड सीरीज, लेक्चर ३; बी० रसेल कृत 'फाउण्डेशन्स आफ ज्योमेट्री', इज पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम एबसोल्यूट और रिलेटिव (माइन्ड, जुलाई १९०१), प्रिंसिपल्स आफ मैथेमेटिक्स, भाग ६, वाल्यूम १, एच० स्पेन्सर कृत, 'फर्स्ट प्रिंसिपल', भाग २, अध्याय ३।

१. समग्र भौतिक व्यवस्था को निरपेक्ष अनुभूति की 'असत्य प्रस्तुति' मात्र मानकर किए गए इस समस्या के हल करने के प्रयत्न के विरुद्ध हम निवेदन कर सकते हैं कि 'असत्य प्रस्तुति' स्वयं भी हमारे लिए कोई ऐसी विवृति-बहुल है कि हम उसे सम्पाती रूप में ही ग्रहण कर पाते हैं किन्तु एक संगत व्यवस्था की प्रतिमूर्तिरूपिणी उसकी आन्तर एकता के भीतर तक हमारी पैठ नहीं होती। अतः निरपेक्ष अनुभूति की स्वयं अपनी संरचना सम्बन्धी आभ्यन्तरिक आशय के भीतर पैठनेवाली प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि के अस्तित्व विषयक विवृति के प्रति सपातिनी भिन्नता मात्र रूप के विषय मे पर्याप्ततया सोचा भी नहीं जा सकता। जब तक किसी अनुरूप का निग्रह केवल संपातरूपेण ही होता रहेगा तब तक उसका आशय समझा न जा सकेगा।

अध्याय ५

क्रम-विकास विषयक कुछ प्रतिबन्ध

१—क्रमविकास की कल्पना व्यष्ट वृद्धि रूपेण प्राकृतिक प्रक्रियाओ के व्याख्यान्तर का एक प्रयत्न। २—क्रम विकास का अर्थ है ऐसा परिवर्तन जो किसी ऐसे अन्त मे परिणत हो जो उस प्रक्रिया का परिणाम हो और गुणात्मकतया नवीन हो। इस दृष्टि से यह कल्पना वैचारिक है। ३—क्रम विकास साध्यपरक होने के कारण मूलत या तो प्रगति होता है अथवा अपकर्षण। यदि वह भ्रान्ति से अधिक और कुछ हो तो भौतिक व्यवस्था मे वास्तविक उद्देश्य जरूर होगे। और उद्देश्य तभी वास्तविक हो सकते हैं जबकि वे इन्द्रियज्ञानशील जीवो के ऐसे व्यक्तिनिष्ठ हित हो जो परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा वास्तविकी कृत हो सकें। ४—अत सभी क्रम-विकास का किसी व्यष्ट व्यक्ति के भीतर घटित होना आवश्यक है। ५—इसके अतिरिक्त क्रम विकास का विषय किसी परिमित व्यष्ट को ही होना आवश्यक है, क्रम विकास को समग्र सत्ता या वास्तविकता का गुण धर्म बताने के सारे प्रयत्न अपरिमित या अनन्त प्रतिगामिता की ओर ले जाते हैं। ६—प्रगतिशील क्रम विकास और अपकर्षण के बीच के विभेद का 'लक्ष्यात्मक' आधार व्यष्टता की उच्चतर और निम्नतर मामलो के बीच के तत्त्वमीमासीय विभेद मे मौजूद है। ७—क्रम-विकासीय प्रक्रिया मे पुराने व्यष्ट लुप्त हो जाते हैं और सद्य व्यष्ट उद्भूत होने लगते है। अत. क्रम विकास का मेल इस अभिमत के साथ नही बैठता जिसके अनुसार वास्तविकता या सत्ता अन्तिमेत्यत' स्वतन्त्र, सान्त या परिमित व्यष्टो के बाहुल्य से बनी मानी जाती है।

१—इस पुस्तक के प्रथम अध्याय मे हमने देखा था कि यह क्रम विकास अथवा क्रमानुसारीवर्धन अनुभवाश्रित विविध विज्ञानो द्वारा ग्रहीत रूप भौतिक क्रम-व्यवस्था की निर्मात्री प्रक्रियाओ का एक मूलभूत लक्षण है। यान्त्रिकी अथवा यन्त्रशास्त्रीय भौतिकी के प्रयोजनार्थ हमे प्रकृति के विकास का दर्श्य मानना आवश्यक नही। इन विज्ञानो के लिये इतना ही पर्याप्त है कि प्रकृति की कल्पना ऊर्जा के ऐसे सरूपणात्मक तथा रूपान्तरणात्मक परिवर्तनो की जो अनुक्रमात्मक नियमबद्ध एकरूपताओ द्वारा सयुक्त रहते हैं; एक विशाल भूलभुलैया के रूप मे की जाय। लेकिन ज्यो ही हम प्रकृति को उन विज्ञानो के स्थिति बिन्दु से देखना प्रारम्भ करते है जो अपने

अनुसन्धान की लक्ष्य-वस्तुओ के स्थिति और मात्रा विषयक तथा गुणात्मक विभेदो को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं तब प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक यह सकीर्णतया यान्त्रिकतापरक कल्पना अपर्याप्त हो जाती है। गुणात्मक परिवर्तन कर देने वाले रूप मे प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक विचार के साथ ही हम भौतिक क्रम व्यवस्था को अनिवार्यत ऐसी एक दुनिया निकालते है जिसमें गुणात्मकतया नवीन विचलन की नियत रेखाओ और निर्धारित प्रतिबन्धो के अन्तर्गत ही किसी पूर्व परिचित से उत्पन्न होता अथवा उसी पूर्व परिचित मे से विकसित हुआ करती है।

यह एक स्वाभाविक वात है कि भौतिक परिवर्तन को विकास के रूप मे देखने का विचार सबसे पहले प्राणिशास्त्र अथवा जैव विज्ञान के क्षेत्र में ही, जहाँ जैव-वृद्धि की भूमिका पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त किए हुए है जन्मा। ईसा के बहुत पहले चौथी शताब्दी के लगभग अरस्तू ने वृद्धि विषयक कल्पना अथवा विकास को कल्पना लोक के सारे इतिहास की तब तक की तत्त्वमीमासीय सरचनाओ मे सबसे अधिक प्रभावशाली तत्त्व-मीमासीय योजना के आधार रूप मे पेश किया था। किन्तु अरस्तू के अभिमत मे विकास-प्रक्रिया व्यष्ट जीवन की सीमा रेखाओ तक ही प्रतिबद्ध मानी गयी थी। तद्नुसार व्यष्ट जैव शरीर का अस्तित्व एक अविकासित जीवाणु अथवा विभव के रूप मे प्रारम्भ होकर शनैः शनै वृद्धि की ऐसी आनुक्रमिक स्थितियो द्वारा अपने आपको इतना विकसित करता चला जाता है कि पूर्ण परिपाक की स्थिति पर ही उस प्रक्रिया की परिसमाप्ति होती है। किन्तु वह व्यष्ट जीवाणु स्वय एक ऐसा उत्पाद अथवा सुख है जो उसी प्रकार के पहले से मौजूद, पूरी तरह परिपक्व व्यष्ट से जिस प्रकार के व्यष्ट मे उस जीवाणु को अन्ततोगत्वा परिणत होना है, प्राप्त होता है। वृद्धि की विभिन्न उपलक्षक प्रक्रियाओ की सख्या इसी लिये सख्ती से निर्धारित रहती है और इस प्रकार की प्रत्येक प्रक्रिया मे उसके पहले पूर्ण हुये परिणाम का अस्तित्व निहित पाया जाता है। दूसरे शब्दो में स्पीशीज अथवा जातियो की सीमाएं निर्धारित या स्थिर और अन्तिम होती है। किसी स्पीशीज या जाति के वर्तमानता काल मे किसी अन्य नयी स्पीशीज का प्रारम्भ नही हो सकता और इसी लिये दूसरी शैली की स्पीशीज से विकसित होकर नयी स्पीशीज जन्म नही ले सकती। जैसी कि अरस्तू की सूक्ति है। 'मनुष्य मनुष्य से ही पैदा हुआ करता है।'

अरस्तू के सिद्धान्त मे कमजोरी की एक और बात है वृद्धि की प्रक्रिया को कार्य रूप मे परिणत करनेवाली मशीन के निश्चित विवरण का न होना। हमें यह जरूर पता लग जाता है कि जैव जीवाणु की किसी स्पष्ट श्रेणी विभागानुसार विकसित होने की उनमे अन्तर्हित क्षमता पर्यावरण मे व्याप्त प्रभावो द्वारा उत्तेजित होने पर क्रियना मे परिणत हो जाया करती है। किन्तु इन उत्तेजन प्रक्रिया के सही स्वरूप

के वर्णन को अरस्तू ने इसलिये अन्धेरे मे डाल रखा क्योंकि प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओ के सूक्ष्म लक्षणो का पूरा पूरा ज्ञान उसको न था।

आधुनिक जैव शास्त्र के विकासपरक सिद्धान्तो की एकान्त ध्यान-कर्षिका-समस्यायें नयी स्पीशीज़ को जन्माने तथा जन्माने की इस प्रक्रिया का निर्धारण करने वाले पर्यावरण और स्पीशीज के पारस्परिक सम्बन्धो के विशिष्ट स्वरूप की समस्याये ही हैं। जैविक समस्याओ को हल करने मे विकासवादी प्राक्कल्पनाओ की लगातार बढती जाने वाली सफलता के साथ साथ विकास की सामान्य कल्पना का उसके जन्म के क्षेत्र से बाहर बहुत दूर तक उपयोग करने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। हमारे पास अब न केवल हमारे रासायनिक तत्वो के विकास-जात उत्पादनो की न्यूनाधिकतया प्रमाणीकृत प्राक्कल्पनाएँ ही जमा हो गयी हैं अपितु ऐसी महत्वाकाक्षापूर्ण दार्शनिक सरचनाएँ भी हमारे पास हैं जो विकासवादी कल्पना को ही अस्तित्व की सब समस्याओ की एक-मात्र कुजी समझती हैं। विकास सम्बन्धी विचारो के ऐसे दूरगामी विनियोजनो के सामने होने पर हमारे लिये और भी ज्यादा जरूरी हो जाता है कि हम वैकासिक कल्पना की अर्हता आँकते समय ध्यान रखें कि उसकी विनियोज्यता क्षेत्र का विस्तार होने पर भी उसका तार्किक स्वरूप अपरिवर्तित ही रहता है। वह छोटे मोटे रूपान्तरणो के बावजूद भी मूलत सामान्य भौतिक प्रक्रियाओ की व्यष्ट वृद्धि विषयक शब्दो मे व्याख्या करने का एक प्रयत्न अब भी बनी हुई है।

मौजूदा अध्याय मे नि सदेह जैव विकास या अन्य किसी प्रकार के विकास की प्रगति के निर्धारक विशिष्ट प्रतिबन्धो से सम्बद्ध किसी खास सिद्धान्त से हमारा कोई सरोकार नही है। किसी खास मामले मे वे प्रतिबन्ध क्या हैं यह प्रश्न सबसे पहले अनुभवाश्रित विज्ञानो की उस विशिष्ट शाखा के सामने आता है जो भौतिक जगद्विषयक अनुसन्धानान्तर्गत प्रक्रियाओ के किसी विशेष पक्ष के वर्णन से सरोकार रखती है। और यद्यपि इस बात की पृच्छा कि किसी सुप्रतिष्ठित वैज्ञानिक सिद्धान्त की विवृतियो की ऐसी व्याख्या कैसे की जाय कि वे भौतिक जगत् सम्बन्धी सामान्य तत्वमीमासीय निगूढार्थों के साथ मेल खा जॉय। प्रकृति-परक किसी भी पूर्ण दर्शनशास्त्र के लिये एक उपयुक्त पृच्छा होगी। किन्तु विकासीय प्रक्रियाओ से सम्बद्ध विवृतियो के बारे मे हमारे वास्तविक ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे, अनेक कारणवश इस प्रकार का प्रश्न उठाना समय-पूर्व होगा। अभी तो इतना ही किया जा सकता है कि हम पूछें कि किसी प्रक्रिया को विकास समझने के तर्कपूर्ण निगूढार्थ आमतौर पर क्या होते हैं और वे निगूढार्थ भौतिक जगत् की सामान्य व्याख्या से किस प्रकार से सम्बद्ध होते हैं।

२—ऊपरी तौर से देखने पर ही विकास में, पहले ही अच्छी तरह समालोचित दोनो कल्पनाएँ अन्तर्ग्रस्त दिखाई देती हैं यानी परिवर्तन विषयक कल्पना और परिवर्तन

क्रम तथा उसके दिनिर्देश का निर्धारित प्रतिबन्धो पर निर्भरता की कल्पना, दोनो ही। उदाहरण के लिए सरूपण तथा ऊर्ज्जा-विनिमयन विषयक परिवर्तनो को ही ले लीजिए। ये परिवर्तन तब होते हैं जब किसी ऐसी भौतिक व्यवस्था से काम किया जाता है जिसे ऐसे गतिमान् द्रव्य मानो द्वारा बना कल्पित किया गया हो जिनमे द्वितीयक गुण का लेश-मात्र भी न हो। ऐसे परिवर्तन सही मानो मे विकास की प्रक्रिया नही कहे जा सकते। वे न उत्क्रान्ति ही है न विकास क्योकि जब तक हम प्राकृतिक प्रक्रियाओ के प्रति गत्यात्मक दृष्टि अपनाए रखने पर दृढ रहते हैं और इन प्रक्रियाओ को द्रव्य-कणो की व्यवस्थाओ का सरूप परिवर्तन मात्र करनेवाली मानते रहते है तब तक प्रक्रिया का अन्त उसके प्रारम्भ से गुणात्मकतया अविभेद्य ही रहता है। क्योकि उसके परिणामस्वरूप गुणात्मक नवीन कुछ भी उपलब्ध नही होता। अधिक सही तौर पर कहा जाय तो कह सकते है कि प्रक्रिया का कोई अन्त नही है न उसकी कोई अपनी एकता है। अपने विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ हितो के कारण अपनी दृष्टि को एकदम मनमाने तौर पर सीमित करके ही हम द्रव्य कणो के इतने से ही सग्रह को, इसी तरह के उन कणो जिनसे यह गत्यात्मक स्थिति-बिन्दु-दृष्ट भौतिक जगत् निर्मित है, के वृहत्तर समुच्चय से पृथक् करके, एक व्यवस्था के नाम से पुकारते है। और फिर ऐसी ही मनमानी करके हम उस काल-बिन्दु का निर्धारण कर डालते है जिसके परे काल व्यवस्था के सरूपणात्मक परिवर्तनों का अनुसरण करने मे हम असमर्थ हो जायगे। अनुवर्ती सरूपणो की अनन्तरूपेण प्रलम्बी-कृत शृखला मे ऐसी कोई स्थिति नही होती जिसे सही तौर पर अन्तिम काल कहा जा सके। अत. बल गतिशास्त्र और शुद्धगतिशास्त्र—विषयक विशुद्ध यान्त्रिक दृष्टिबिन्दु के अनुसार विश्व मे न तो कोई उत्क्रान्तियाँ ही होती है न विकास होते है अपितु लगातार परिवर्तन ही उसका एकमात्र नियम है।

तब विकास अथवा उत्क्रान्ति का अर्थ निश्चय ही परिवर्तन प्रक्रिया का, ऐसी वस्तुस्थिति की स्थापना मे परिणत होना है जो अपेक्षतया नवीन हो। इसके अतिरिक्त उसका अर्थ यह भी है कि इस अपेक्षतया नवीन स्थिति को, सचमुच, इस विशिष्ट परिवर्तन -प्रक्रिया का अन्त अथवा उसकी पूर्ति समझा जाय। इस प्रकारण उत्क्रान्ति विषयक अथवा विकास विषयक सभी विचारो की मौलिक विचित्रता यही है कि वे सारूपेण साध्यपरक होते है। जो परिवर्तन उत्क्रान्तिमय अथवा विकास विषयक होते है वे ऐसे परिवर्तन होते है जिन्हे लगातार किसी उद्देश्य अथवा परिणाम का सापेक्षी समझा जाता है। परिवर्तन की प्रक्रिया को इस माने के सिवाय कि वह उपर्युक्त प्रकार से उस अन्त या परिणाम की सापेक्ष होती है जिसमे परिणत होना है, विकास के माने पिरोना कोई माने नही रखता। यह बात हम उस तरीके पर ध्यान देकर भी देख सकते है, जिस तरीके से कि भौतिकी के विभिन्न खडो मे उत्क्रान्ति और विकास की कल्पनाओ का

उपयोग किया जाता है। कभी कभी किसी रासायनिक प्रक्रिया को हम ऊष्मा की 'उत्क्रान्ति' से चिह्नित कहा करते हैं, इसी तरह हम यह भी कहा करते है कि अगर ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम यदि पूरी तरह और सार्वत्रिक रूप से सही हो तो इस भौतिक विश्व को उत्क्रान्ति या, विकास प्रक्रिया की एक ऐसी स्थिति के उन्मुख होना चाहिए जहाँ इसकी रत्ती भर ऊर्ज्जा तक हमे काम के लिए उपलब्ध न हो सकेगी। लेकिन इस तरह की वात का कोई मतलव हमारे लिए तव तक नहीं हो सकता जव तक कि हम सामान्य-बुद्धिगम्य वह दृष्टिकोण अपनाए चले जाते हैं जिसके अनुसार अमूर्त्त यान्त्रिकी द्वारा समतुल्य वताए जाने वाले 'ऊर्ज्जा' के रूपो मे भी वास्तविक गुणात्मक विभेद पा जाते हैं।

ऊष्मा की उत्क्रान्ति अथवा विकास की वात हम इसलिए कह पाते है चूँकि जाने या अनजाने हम ऊष्मा को ठीक वैसा ही समझते है जैसी कि वह हमारी इन्द्रियो को प्रतीत होती है, यानी ऐसी कोई चीज जो गुणात्मकतया नयी और ऊर्ज्जा के उन अन्य रूपो से भिन्न, जो रूप कि रासायनिक प्रक्रिया द्वारा ऊष्मा मे परिवर्तित हो जाते है। इस तरह हम ऊर्ज्जा के एक रूप के दूसरे रूप मे क्रमिक सपरिवर्तन को तभी तक बुद्धिगम्यतया विकास कह सकते हैं जव तक कि हम ऊर्ज्जा के विविध रूपो को गुणात्मकतया विभिन्न मानते है और इसीलिए एक के दूसरे मे पूर्ण रूपान्तरण को ऐसी प्रक्रिया का, जो अपनी पूर्ण स्थापना के साथ ही इसी कारण समाप्त हो जाती है, गुणात्मकतया नया परिणाम समझते रहने के हम अधिकारी भी है। गुणात्मकतया नवीन की ही स्थापना लक्ष्य अथवा परिणाम का वास्तविक निरूपण कर सकती है और उसके ऐसा करने से ही भौतिक जगत् के परिवर्तनो को विकास की स्पष्ट और विशिष्ट प्रक्रियाएँ मान लेने का तर्कसगत आधार हमे प्राप्त होता है।

३—विकास के सारभूत इस साध्यपरक स्वरूप पर जोर देने के लिए जैव विज्ञान निरन्तर प्रगति और अपकर्षण नामक सकल्पनाओ का उपयोग किया करते हैं। जैवशास्त्रानुसार विकास या उत्क्रान्ति की प्रक्रिया आवश्यकरूपेण या तो प्रगति दिशा गामिनी होती है अथवा अपगत्युन्मुख। प्रत्येक उत्क्रान्ति या तो विकास की उच्चतर स्थिति की ओर वढती है अथवा उसके निम्नतर स्तर पर आ गिरती है। अव ये प्रगति और अवनतियाँ तभी सभव होती है जव परिवर्तन की प्रक्रिया को आदि से अन्त तक उस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त उद्देश्य का सापेक्ष माना जाय। प्रगति को अपकर्षण से पृथक् करने के मानक का काम हमारे लिए करनेवाले इस उद्देश्य की कल्पना हम सही तौर पर कैसे किया करते है यह प्रश्न एक गौण प्रश्न है। मौलिक महत्व की वात तो यह है, कि इस लक्ष्य के सदर्भ के सिवाय, प्रगत्यात्मक और अवगत्यात्मक परिवर्तन मे किसी प्रकार का कोई विभेद विलकुल हो ही नही सकता। अत., भौतिक जगत् मे वस्तुत ऐसे

उद्देश्य या लक्ष्य यदि नही है जो परिवर्तन की उन प्रक्रियाओ का निर्धारण करते हैं जिनकी परिणति उन उद्देश्यों की स्थापना मे होती है, तो प्रगत्यात्मक और अवगत्यात्मक परिवर्तन मे कोई भेद नही हो सकता। यदि वे उद्देश्य जिनकी स्थापना से हम विकास की प्रगति का अनुमान लगाया करते है, हमारे ऐसे मनमाने मानक मात्र ही हों बाह्य वास्तविकता मे जिनका कोई समरूप मिलता ही न हो तो उस हालत मे भौतिक जगत् को जरूर ही ऐसे परिवर्तन का अनुक्रम मात्र होना चाहिए जो सही मानो मे विकास न होगे, और प्रकृतिविषयक विकासांकित सारी कल्पना तब एक भ्रान्तिमात्र ही होगी। और इसके विपरीत यदि विकास विषयक समस्त महान् वैज्ञानिक कल्पनाओं मे जरा सी भी सचाई है तो भौतिक जगत् मे वास्तविक उद्देश्यो या तथ्यो का मौजूद होना जरूरी है।

अब केवल एक ही बोधगम्य तरीका बाकी रह गया है जिसके अनुसार हम परिवर्तन की किसी प्रक्रिया को किसी लक्ष्य का वस्तुत. अपेक्षी सोच सकते है। जिस परिणामी स्थिति को हम किसी प्रक्रिया का लक्ष्य कहते है वह उस विशिष्ट प्रक्रिया के पूर्ण होने की अन्तिम स्थिति होने के कारण उसके बाद वाली सब बातों पर विकास की नयी प्रक्रिया से सम्बद्ध होने का चिह्न लगा देने का सामर्थ्य हमे दे देती है। अत. इस स्थिति को अन्ततोगत्वा उस प्रक्रिया का अन्त या लक्ष्य इस माने में जरूर ही होना चाहिए कि वह सारी प्रक्रिया मे अन्तर्निहित हित या प्रयोजन की सज्ञानात्मक पूर्ति है। कोई वस्तु-स्थिति जिस हद तक किसी ज्ञानवान जीव के लिए, उसकी अनुभूति की किसी पूर्ववर्तिनी स्थिति में पहले ही से व्यक्त आत्मनिष्ठ हित की प्राप्ति रूप होती है उस हद तक ही वह वस्तु-स्थिति उस प्रक्रिया की वास्तविक परिणति हुआ करती है जिसे अन्य प्रक्रियाओ से पृथक् किया जा सकता है। उस पर स्वय अपनी व्यष्टता की छाप इस कारण अलग ही दिखायी पडती है क्योकि वह सही तौर पर इसी परिणाम मे परिवर्तित हो जाती है। अन्त, लक्ष्य अथवा परिणाम की कल्पनाएँ तथा आत्मनिष्ठ हित की कल्पनाएँ तार्किकतया एक दूसरे से पृथक् नही होती। अतः हमे मजबूर होकर नतीजा सा निकालना पडता है कि चूँकि विकास तब तक एक बेमानी शब्द रहता है जब तक कि भौतिक प्रकृति की प्रक्रियाओ मे अन्तर्हित, वास्ता असली न कि मनमानी तौर पर थोपे गए लक्ष्य वहाँ न हो। भौतिक व्यवस्था के लाक्षणिक रूप मे विकास की कल्पना मे उस व्यवस्था सम्बन्धी तत्वमीमासीय व्याख्या अन्तर्ग्रथित रहती है, यानी तत्त्वमीमासानुसारी यह मत उसमे शामिल रहता है कि भौतिक व्यवस्था ज्ञानवान् जीवो के उद्देश्य-परक कृत्य विशेषो से निर्मित होती है। इस व्याख्या को हम सामान्यतर आधारो पर पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। अन्त शब्द के दोनों ही अर्थों, अन्तिम स्थिति और 'लक्ष्य की प्राप्ति' मे विभेद करके उपर्युक्त परिणाम से बच निकलने की कोशिश करना बेकार होगा। क्योकि उपर्युक्त तर्कना का सारा ही आधार यह था कि पहले अर्थों मे कुछ भी 'अन्त' शब्द वाच्य तब तक नही हो

सकता जब तक कि वह दूसरी अभिधा वाच्य अन्त भी न हो। जब तक कि प्रक्रियाओ के ऐसे अन्त नही होते जो उनकी आत्मनिष्ठ पूर्ति नही है तब तत् हम अपनी स्वेच्छ प्रथा द्वारा उनमे ऐसे अन्तो का आरोपण करते रहते हैं जो उनकी अन्तिम स्थितियाँ होते हैं। और अगर भौतिक प्रक्रियाओ के अन्त एतदर्थीय होना एक मनमानी परिपाटी है तो विकास या सत्क्रान्ति स्वय भी ठीक इसी तरह की परिपाटी मात्र है इससे अधिक और कुछ भी नही।[1]

४—सिद्धान्तत इसी तर्कना को दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है और दोनो ही रूपो की समतुल्यता स्वय तत्त्वमीमासीय दृष्टि विन्दु से वडी सुझावपूर्ण है। सब तरह के परिवर्तन की तरह ही उत्क्रान्ति या विकास मे भी उसकी किसी प्रक्रिया की सभी आनुक्रमिक स्थितियो मे किसी ऐसी वस्तु की उपस्थिति शामिल रहती है जो स्थायी और अपरिवर्ती हो। लेकिन उसमे उससे भी अधिक निश्चयात्मक और कुछ भी शामिल रहता है जो कुछ भी विकसित हुआ करता है उसका अपना स्वरूप इसी लिये ऐसा स्थायी और व्यष्ट होना आवश्यक होता कि जिसकी विकास प्रक्रियागत अनुवर्तिनी स्थितियाँ, उसका श्रेणिक अनावरण होती हैं। जब तक कि परिवर्तन की सम्बद्ध शृंखला की

---

१. ऐतराज हो सकता है कि उदाहरणतः जीवन की अन्तिम स्थिति रूप मे मृत्यु जीवन का अन्त है लेकिन वह उन हितों की सम्प्राप्ति हुए बिना ही उसका अन्त है, जो हित उसके आन्तरजीवन के निर्मायक थे। लेकिन यह उदाहरण तर्क के सामने ठहर न सकेगा। जैव रचनान्तर्गत परिवर्तन की प्रक्रियायें सम्बन्द्ध अथवा परस्पर संयुक्त परिवर्तन के रूप मे देखी जाँय तो मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं होती। तथ्यतः उनका अन्त नहीं होता अथवा उनकी अन्तिम स्थिति नहीं आती। किसी व्यक्ति को मरा कहने से उसके अन्त का अर्थ इतना ही होता है कि जिन प्रयोजनो की खातिर हम उस व्यक्ति के चरित्र के अध्ययन मे रुचि रख रहे हैं वे तब पूरे होंगे जब हम उस चरित्र का उसके जन्म से कब्र तक अनुसरण कर चुकेंगे। उससे हमारा सरोकार उसकी मौत के साथ खत्म हो जाता है क्योकि हमारा काम उसकी बाबत खत्म हो चुकता है। केवल उद्देश्यपरक प्रक्रियाओ की ही अन्तिम स्थिति हो सकती है। विकासार्थिक सार्थकतार्थ अन्त शब्द की कल्पना के परिणाम के विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ प्रकृति की प्रक्रियाओ की शुद्ध यान्त्रिकीपरक व्याख्या हमे उन प्रक्रियाओं को सतत शृंखला रूप समझने की ओर से ले जाती है वहाँ अनुवर्ती जैव अथवा सामाजिक शैली की शृंखला साररूपेण सातत्यहीन होती है। यह तथ्य प्रोफेसर रॉयस ने बहुत स्पष्टतापूर्वक अपने ग्रन्थ 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल', सेकड सीरीज, ले० ५,७ मे प्रकट किया है।

पूर्वतर और पश्चातर स्थितियाँ आसपड़ोस के प्रभावो के अन्तर्गत किसी एकल व्यष्ट प्रकृति के, श्रेणिक अनावरण की ही स्थितियाँ ही इसी तरह पर न हों तब तक उन्हे विकासीय प्रक्रिया की स्थितियाँ कहने के कोई मानें नही होते। अगर हम अपने शब्दों को सही अर्थ दे सकते हो तो कहना होगा कि केवल व्यष्ट ही विकसित हो सकता है। हम किसी समाज के अथवा किसी स्पीशीज या जाति के विकास की बात करते है लेकिन हमारे शब्दो को अगर थोथा ही नही रहना है तो ऐसा कहने का हमारा मतलब जरूर ही दो बातो मे से एक का होना चाहिए। या तो हमारा मतलब यह होना चाहिए कि विकसित होने वाली स्पीशीज या समाज स्वयं उच्च कोटि के ऐसे व्यष्ट हैं जो उन स्पीशीज या समाजो के निर्माणक अगो से किसी तरह भी कम वास्तविक नही हैं अथवा हमारे शब्द यह कहने की एक विधि हैं कि किसी भी सामाजिक या जैव शास्त्रीय समुदाय के प्रत्येक सदस्य या अग का जीवन विकास का द्योतक होता है।

अपनी वेलगाम बातचीत के दौरान आप पड़ने वाले उन शब्दो का जो हम अमुक शारीरिक अथवा सामाजिक गुण-वैचित्रय को 'वशानुगतिक' रूप मे प्राप्त करने के विषय में प्रयुक्त करते है क्या मतलब निकलता है इस बात पर जब हम विचार करेंगे तो पता चलेगा कि उपर्युक्त विकल्पो मे से पहला विकल्प विचार की सामान्य विधि से कही कमतर दूर है यद्यपि पहले पहल देखने से शायद ऐसा नही लगता। यदि हमारे 'वंशानुगमन' विपयक प्रचलित रूपक के अनुरूप किसी प्रकार की कोई वास्तविकता हो भी तो यह 'वशानुगमन' जिस किसी समूह मे भी होगा वह अवश्य ही अन्योन्य-व्यपवर्जक व्यष्टों का झुंड मात्र से बात अधिक कुछ होगा। ऐसे समूह के जिसके अन्तर्गत गुणो का इस प्रकार का वशानुगमन हो सकता है, समग्र रूप का अपना एक विशिष्ट स्वभाव होना आवश्यक है। किन्तु हम पहले ही देख चुके है सकल व्यष्टता अन्ततोगत्वा साध्यपरक होती है। प्रक्रियाओ का कोई समूह व्यष्ट जीवन का निर्माण उसी मात्रा तक कर सकता है जहाँ तक वह प्रक्रिया समूह किसी अनन्य और सगत हित अथवा लक्ष्य का द्योतक हो, इससे अधिक वह कुछ नही कर सकता। अत एक बार फिर कह सकते है कि उसका ही विकास और उसकी ही उत्क्रान्ति हुआ करती है जो सही तौर पर व्यष्ट होता है। और तुरन्त ही हमे मालूम हो जाता है कि ठीक जहाँ तक प्रक्रियाओ का कोई कुलक व्यष्ट हित का द्योतक होता हैं वहाँ तक उस कुलक की अगली और पिछली प्रक्रियाओ से पृथक्ता के सीमाकन की सार्थकता प्रयात्मक सार्थकता से अधिक हुआ करती है। अत. उन प्रक्रियाओ के ही वे व्यष्ट हितो की व्यजक होती है, 'अन्त' अथवा 'अन्तिम स्थितियाँ' हुआ करती हैं और इस प्रकार हमारी तर्कना के दोनो रूप सिद्धान्त एक से ही हैं। तब एक बार फिर दोहरा दें कि विकासात्मक विचारो की सार्थकता यदि उन विचारो को ऐसी शुद्ध रस्मी या प्रथात्मक योजना से अधिक और कुछ बनना है, जिसका जोड़ तोड़ ही

[illegible] प्रयोजनों को आगे बढ़ाने के लिए बैठाया और यदि उन्हें श्रेणी-[illegible] नहीं [illegible] है तो, यह [illegible] उस अभिमत से जुड़ी [illegible] कि भौतिक जगत् की घटनाएँ अनुभूति के [illegible] विषयों के आत्मनिष्ठ [illegible] होती है।[1]

१—[illegible] एक अन्य [illegible] बिन्दु की ओर बढ़ें। विकास [illegible] प्रक्रिया के विषय में स्पष्टता की अनुपस्थिति ही है

---

१. मुझे पाठकों को इस बारे में याद दिलाने की जरूरत शायद ही पड़े कि उपर्युक्त अभिमत तथा 'प्रकृति विषयक अन्तों' सम्बन्धी उस अभिमत का विभेद जैसाकि यह पुरानी तरह की 'अभिकल्प तर्कना' में प्रकट होता है, क्या है। पुराने ढर्रे के उद्देश्यवाद में यह मान लिया जाता था कि (१) विकासविषयक प्रक्रिया में व्यक्त होने वाले 'आत्मनिष्ठ हित' मूलरूप से मानवीय हित होते हैं। उसके मतानुसार हम उन हितों को पहचान सकते हैं और यह कि उन दिनों हितों का निचोड़ अथवा अधिकांशत: योग हमारी अपनी मानवीय सुविधा को आगे बढ़ाने के 'अभिकल्प' में निहित होता है। (२) यह कि ये हित प्रकृति के नियामक के अवतारी स्वरूप के वैचारिक अभिकल्प रूप में वर्तमान रहते हैं। हमारा मत इन दोनों ही पूर्वानुमानों से संगति नहीं खाता। भौतिक जगत् हमारी सकल व्याख्या से यही परिणाम निकलता है कि हमारे अपने शरीरों तथा हमारे सजातीयों के शरीरों द्वारा निर्मित हित के अतिरिक्त परिमित व्यष्टों का इस तरह का व्यक्तिनिष्ठ हित और क्या है जो भौतिक जगत् के किसी भाग द्वारा सिद्ध होता है, यह बात न हो तो हम जानते हो हैं न जान सकते हैं इसलिए हमें कोई अधिकार नहीं कि हम विकास के परिणामी अन्त की मनमानी कल्पना कर बैठें। फिर भी यह भी जरूरी नहीं कि व्यक्तिनिष्ठाहित निश्चित रूप से पूर्वकल्पित अभिकल्प के रूप में ही मौजूद रहे, स्वयं हमारे ही बहुत से हित अविचारित लालसाओं और आवेगों के रूप में रहा करते हैं। मेरा विश्वास है कि तत्त्वमीमांसा के पास ऐसा कोई साधन नहीं कि जिसके द्वारा यह तय कर सके कि विकास-विषयक प्रक्रिया का क्या ऐसा कोई भाग है जो अतिमानव बुद्धि के विमृष्ट और वैचारिक अभिकल्प का परिणाम हो। इस प्रश्न का उत्तर देना उन्हीं अनुभवाश्रित विधियों का काम होगा जिनका उपयोग हम मानवीय कला के उत्पादों में अभिकल्पों की उपस्थिति को पहचानने के लिए किया करते हैं। हर हालत में वैचारिक अभिकल्पकालीय प्रक्रिया के साथ नत्थी है और इसी लिए उसका संबंध अपरिमित व्यष्ट के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

अपितु उसका मतलव परिमित व्यप्टता का स्वामी होना भी है अपरिमित व्यष्ट मे विकास अथवा उत्क्रान्ति का अध्याहार वदतो-व्याघात दोष विना संभव नही। अत अस्तित्व के उस अनन्त या अपरिमित व्यष्ट समग्र को निरपेक्ष, विश्व अथवा जो कुछ भी अन्य नाम देना हम पसन्द करे, वह न तो विकसित हो सकता है, न प्रगति कर सकता, न अपकृष्ट ही हो सकता है। निष्कर्ष पर तो इस एक ही प्रतिवन्ध पर विचार करने मे तुरन्त ही पहुँचा जा सकता था, वह यह कि सभी उत्क्रान्ति मे कालीय अनुवर्तन शामिल रहता है, भले ही वह उत्क्रान्ति प्रगत्यात्मक हो अथवा अवगत्यात्मक, क्योकि जैसाकि हम देख चुके है कालीय अनुवर्तन परिमित व्यप्टता का अपरिवियोज्य परिणाम होता है। किन्तु एक दूसरे तरीके से अपने इस परिणाम पर पहुँचना भी उतना ही उचित होगा अर्थात् विकास विषयक विचार की उन अन्य विवक्षाओ पर विचार करके, जो केवल परिमित व्यष्टता के ही मामले मे स्पष्टरूपेण पायी जाती है।

विकास या उत्क्रान्ति की प्रत्येक प्रक्रिया मे अन्योन्य सम्वद्ध कारको का युग्म अन्तर्ग्रस्त रहता है उनमे से एक है विकसित होने वाली व्यष्ट प्रकृति और दूसरा है वह पर्यावरण जिसमे वे परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत और वे उत्तेजक जिनके अनुकूल वह प्रकृति विकसित होती है, दोनो ही मौजूद रहते है। अविकसित अकुर तव तक एक संभावना मात्र ही रहता है ऐसी चीज जो आगे चल कर उन गुणो को प्रदर्शित करेगी जो उसमे तव तक मौजूद नही होते। उस अविकसित दशा मे, उसमे जो कुछ मौजूद रहता है वह उसकी आगामिनी स्थितियो के लाक्षणिक गुण नही होते अपितु उन गुणों को व्यक्त करने की ऐसी 'प्रवृत्तियाँ' अथवा 'मनोभावनाएँ' ही होती हैं जो उसी दशा मे काम करती हैं जव पर्यावरण उपयुक्त उत्तेजक प्रस्तुत करे। अत. विकास के अन्योन्य-सम्वद्ध दोनो ही कारको मे से कोई भी एक कारक, व्यप्ट अथवा पर्यावरण मौजूद न हो तो उत्क्रान्ति न हो सकेगी। अस्तित्व के व्यष्ट समग्र के वाहर ऐसा कोई पर्यावरण नही होता जो विकास की स्थितियाँ प्रस्तुत करे और परिवर्तनार्थ प्रोत्साहन। अथवा यह जो कि वही वात है, चूँकि 'सभव' का अर्थ है वह जो आगे होगा यदि कुछ निश्चित शर्ते पूरी हो जायँ। अनन्त या अपरिमित समग्र के सप्राप्त अस्तित्व के वाहर असप्राप्त सभाव्यता का कोई क्षेत्र नहीं होता। अत अपरिमित समग्र मे कोई विकास नहीं होता। क्रमिक रूप मे वह अपने आपको अस्तित्व की नयी स्थितियो के अनुकूल नही वना सकता। वह जैसा 'विचार' रूप मे होता है वैसा ही उसे तुरन्त वास्तविक रूप मे या सद्रूप में भी वन जाना होता है। अत अपरिमित समग्र न तो आगे की ओर ही उत्क्रान्त होता है न पीछे की ओर। उसका न तो अग्रगामी विकास होता है न अवगामी।

सत् या वास्तविकता के समग्र को विकास गुणोपेत कह सकने की असभाव्यता

उस गतिरोध पर जो तब हमारे सामने आ जाता है जब हम व्यवहार काल मे सारे ही विश्व को विकास या उत्क्रान्ति प्रक्रियान्तर्गत समझने की कोशिश करते है, विचार करने से और भी अधिक स्पष्टरूपेण उदाहृत हो जाती है। विकासान्तर्गत अथवा विकास की विषयवस्तु और उसके पर्यावरण का विभेद की प्रस्तुति के सम्मुख जब तक आप रहते हैं तब तक तर्क आपको मजबूर करता है कि, अगर आप प्रत्येक वस्तु को विकास द्वारा उत्पन्न मानते है, तो प्रत्येक विकासवादी सिद्धान्त के सम्पूरणार्थ विकास विषयक नयी समस्याएँ खडी किया करे। किसी विशिष्ट विकास विषय के कारणीकरणार्थ (उदाहरणार्थ कशेरुक दण्डिकाओ के विकास के) आपको ऐसे पर्यावरण का अस्तित्व मान लेना होता है जिसके अपने निर्धारित गुण होते है और जो विचाराधीन उत्क्रान्ति या विकास को इन गुणो के परिणाम स्वरूप किसी निर्धारित तरीके पर प्रभावित करे। किन्तु अगर सभी चीजे उत्क्रान्त हुई होती या विकसित हुई होती तो आपको फिर सवाल करना पडता कि उपर्युक्त पर्यावरण जैसा इस समय है वैसा विकास की किस प्रक्रिया द्वारा बना। और इस समस्या को हल करने के लिए एक बार फिर आपको एक अन्य 'पर्यावरण' अभिकल्पित करना पडता जो पहले वाले पर्यावरण के गतिक्रम का अन्योन्य कार्य द्वारा निर्धारण करता। और इस प्रकार आपको अनन्त प्रतिगामिता का ही आसरा लेना पडता।

जब तक कि आप साहसपूर्वक यह दावा करने को तैयार न हो कि चूँकि सारे ही विशेषित गुण धर्मविकास के उत्पाद होते हैं इसलिए यह विश्व समग्ररूपेण शून्य से विकसित हुआ है। (इस भूलभुलैया से आपका छुटकारा तब भी न हो सकेगा अगर आप 'विकासीय चक्र' अथवा 'कालिक ताल' के उस अतिप्राचीन विचार की सहायता ले जिसके कारण अपनी बारी पर किसी विकासीय प्रक्रिया का उत्पाद स्वय अपनी पूर्ववर्तिनी स्थितियों के पुनरावर्तन के पर्यवरण का काम देता है, तब अ विकास द्वारा ब मे परिवर्तित होगा और ब फिर पलट कर अ बन जाया करेगा। क्योकि तब कम से कम इतना तो आपको मानना ही पडेगा कि यह कालीय ताल विषयक प्रवृत्ति स्वय सारे ही अस्तित्व का चरम गुणधर्म है और यह कि वह किसी अन्य वस्तु के विकास का परिणाम नही हैं)। विकासीय कल्पना को समग्र सत् अथवा वास्तविकता के विषय मे विनियोग करने के प्रयत्न से उत्पन्न हुई यह पहेली इतना तो सिद्ध कर देने के लिए पर्याप्त है कि विकास, समग्ररूपेण विकसित न होने वाली व्यवस्था की अन्तर्वर्तिनी प्रक्रियाओ के लक्षण के रूप में ही विचार्य हो सकता है।

इसी तर्कना को निम्नलिखित रूप मे भी दुहराया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के विकास का मतलब होता है किसी अन्त अथवा लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। लेकिन वही जो अपने अन्त अथवा लक्ष्य का पूरी तरह स्वामी नही है उस अन्त की प्राप्ति के

लिए अग्रसर हुआ करता है। उसके लिए, जो उतना सब कुछ पहले ही से है जितना कि वह अपने स्वभावानुसार ज्यादा से ज्यादा हो सकता है किसी प्रकार की अग्रेसरता होती ही नही अतः उसमे कोई प्रगामी विकास भी नही होता। न इस तरह का पूर्ण व्यष्ट अपकर्पित ही हो सकता है। क्योकि अपकर्षण मे भी, जो वस्तु अपकर्षित होती है वह शनैः शनै. स्वय अपने स्वभाव के किसी ऐसे कारक या लक्षण को जो पहले केवल एक अप्राप्त या असिद्ध सभावना मात्र था प्राप्त कर रही होती है। इस प्रकार अपकर्पण में भी किसी लक्ष्य अन्त अथवा हित की ससिद्धि अन्तर्हित रहती है और वह भी एक प्रकार की प्रगति ही होती है। जैसा कि जीवशास्त्रज्ञो का कहना है कि किसी अग का अपक्षय, जिसे हम अपकर्पण नाम से पुकारते है, शरीर तंत्र द्वारा जीवन की नयी परि-स्थितियो के प्रति अपने आपको धीरे धीरे अनुकूल बनाने का एक पग मात्र ही है और जैसाकि नीतिज्ञ हमे स्मरण दिलाना चाहते है नैतिक क्षेत्र मे 'पतन' अपने तौर पर ऊँचे की ओर वाला कदम होता है। अतः जो कुछ अस्तित्व की सीढी पर ऊँचा नही चढ पाता वह नीचे की ओर भी गिर नही सकता।

६—अत' उत्क्रान्ति परिमित व्यष्टो के जीवन का एक अवियोज्य लक्षण है और वह केवल परिमित व्यष्टो के जीवन का ही लक्षण है। और इस विचार द्वारा हमे, विकास की प्रगामी और अवगामी दिशाओ के विभेद की उस तत्वमीमासीय व्याख्या की कुजी मिल जाती है जो विकास विपयक सिद्धान्त के लिए विशेप महत्वपूर्ण है। बडी हद तक, निश्चय ही, यह एक रस्मी सी बात है कि किसे हम प्रगति समझे और किसे अवगति। जहाँ तक किसी लक्ष्य अथवा परिणामी निष्कर्प की प्राप्ति मे हमारी विशेप रुचि रहती है वहाँ तक हम उस परिणाम या निष्कर्प तक पहुँचा देने वाली विकास रेखा को प्रगामिनी कहा करते हैं और जो रेखा उस परिणाम के अनुवर्ती विनाश की ओर ले जाती है उसे अपकर्पण नाम से पुकारते है। इस प्रकार एक ही विकास को अध्येय हितो के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार प्रगति या अवगति रूप मे देखा जा सकता है। जैसे उदाहरण के लिए कशेरु की सरचना के उन आनुक्रमिक रूपान्तरणो को जो मानवीय अस्थि-पजर की उत्पत्ति मे परिणत हुए है, स्वभावत. ही प्रगामी इसलिए समझा जा सकता है क्योकि मानव के बुद्धिपरक जीवन और चरित्रविपयक हमारी अभिरुचि विकास के प्रवाहान्तर्गत पूर्ववर्ती उसके रूपो की अपेक्षा हम मानवीय रूप को श्रेष्ठतर समझा करते हैं। साथ ही साथ उपर्युक्त रूपान्तरणो मे से बहुतेरे रूपान्तर पूर्वाविकसित लक्षणो के क्रमिक विलोप द्वारा प्रस्तुत हुए होते हैं और इसी लिए शरीरशास्त्र के विद्यार्थी के दृष्टि-कोण से वे अपकर्पात्मक होते हैं क्योंकि उस विद्यार्थी को तो रचनात्मक दृष्टि से उत्तरोत्तर वर्धमान जाटिल्ययुक्त अगो की उत्पत्ति मे ही आनन्द आता है और इसी लिए वह अपकर्प से विकास को पृथक् करने के लिए उन सरचनाओ के जाटिल्य को ही अपना मानक

कल्पित कर लेता है।

किन्तु यह पार्थक्य विशुद्धत. प्रथात्मक या रूढयात्मक नही होता। जैसाकि हम देख चुके हैं कि व्यष्टता की मात्राएँ ही वास्तविकता की भी मात्राएँ होती हैं। जो कुछ पूर्णतर रूपेण व्यष्ट होता है वह अपरिमित व्यष्ट समग्र की चरम सरचना का भी पूर्णतर प्रतिनिधि होता है और इसीलिए पूर्णतररूपेण वास्तविक भी। इसलिए हम कह सकते हैं कि व्यष्टता विषयक अग्रेसरत्व वस्तुत. न कि प्रथात्मक अर्थ मात्र मे, विकास विषयक प्रगति है और व्यष्टत्व-हानि ही वस्तुत. अपकर्षण है। इस प्रकार हमें विकासात्मक प्रगामिता की दिशाओ के मध्यगत विभेद के सच्चे 'लक्ष्यात्मक' आधार की संभावना तो कम से कम प्राप्त हो ही जाती है। लेकिन हमें याद रखना होगा कि हम अनुभवशील जीवो के वास्तविक हितों के विषय में कुछ जान सकने में समर्थ जहाँ हो सकते हैं वहाँ ही हमे सुरक्षित आधार यह जाँचने के प्राप्त होते हैं कि विकास द्वारा उत्पादित रचना तथा अभ्यास विषयक परिवर्तनो के कारण उन हितो को अधिक मूर्तता प्राप्त होती है या नही। इसी लिए जहाँ अपने और अपने जीवधारी सजातीयो के आन्तर जीवन विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि हमे सिद्धान्तत. अधिकार देती है कि हम मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न विकासो को वस्तुत. प्रगामी अथवा प्रतिगामी घोषित करें और साथ ही यह भी कि जैव उपलक्षको की उस शृंखला को जो हमें मानव तक पहुँचा देती है, सत्य 'आरोहण' कह सकें, वहाँ उन व्यष्टीय अनुभूतियो के, जिनकी प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति यह सारा ही भौतिक विश्व है विशिष्ट स्वरूप के बारे मे हमारी अनभिज्ञता हमारे लिए यह निर्धारित कर सकना असभव कर देती है कि इन सीमाओ के बाहर हुआ 'विकास' वस्तुत. प्रगामी है या नही। 'ब्रह्माण्डीय विकास' को सामान्यत: हमे जैव विकास की उस विशिष्ट पक्ति ने जो हमे मानव तक ला पहुँचाती है, बाहर ही मानना पड़ेगा और अपने स्वेच्छ दृष्टि-बिन्दु के अनुसार उसे उपेक्षतया 'प्रगति' अथवा 'अपकर्षण' इसलिए नही समझना होगा क्योकि 'लक्ष्यात्मकतया' वह न तो निश्चितरूपेण 'प्रगति' ही है न 'अपकर्षण' अपितु इसलिए कि हमारी अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी नही है जिससे वह जान सके कि इनमें से वह कौन है।

७—एक और विचार बिन्दु इसलिए ध्यान पात्र है क्योकि वह परिमित व्यष्टता के स्वरूप से सम्बद्ध कुछ तत्त्वमीमासीय समस्याओ को देखते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण है। यदि उत्क्रान्ति या विकास माया, भ्रम अथवा भ्रान्ति से कुछ अधिक वस्तु है तो यह मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके गतिक्रम में परिमित लुप्त हो सकते हैं और नये परिमित व्यष्ट जन्म ले सकते हैं। यह विचार तत्त्वमीमासीय दृष्टि से महत्वपूर्ण इसलिए है कि इसका अर्थ यह है कि विकासीय तथ्य प्राचीन तथा अर्वाचीन काल के किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त से जो सत् अथवा वास्तविकता

को अन्तिमेत्यतया स्वतंत्र परिमित व्यष्टों अथवा 'व्यक्तित्वों' के बाहुल्य द्वारा निर्मित मानते हैं, अनुकूलनीय नहीं है।[1] अगर ये दार्शनिक अभिमत सही हैं तो विश्व इतिहास का गतिक्रम ऐसे परिमित व्यष्टों के आनुक्रमिक रूपान्तरणों से बना होना चाहिए जिनका स्वरूप किसी भी तरह उन विविध वेषान्तरणों द्वारा जो वे ग्रहण करते रहते हैं अप्रभावित और अपरिवर्तित ही बना रहता है। इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के व्यष्ट, वस्तुत. इन परिवर्तनों द्वारा उतने ही कम परिवर्तित होंगे जितने कि रंगमंचस्थ पात्र विभिन्न प्रकार की वेषभूषा के परिवर्तन से अथवा पुनर्जन्मात्मक प्राक्कल्पना विषयक आत्माएँ उन शरीरों द्वारा जिनमें अनुक्रमानसार उन्हें प्रविष्ट होना पड़ता है, परिवर्तित होती है। और इस तरह विकास परिमित व्यष्टों के जीवन का अपेक्षतया यथार्थ लक्षण न रह पायेगा। वह तब एक भ्रान्ति अथवा ऐसा मायाजाल मात्र ही होगा जैसे होना अस्तित्व की विषयवस्तु विवृत्ति के साथ हमारे परिचय की मौजूदा हालत में नि.सन्देह अनिवार्य ही है। किन्तु आन्तर अनुभूति के किसी भी वस्तु तथ्य के साथ उसका साम्य न होगा।

दूसरी ओर यदि विकास विशुद्ध भ्रान्ति न हो तो तत्त्वमीमांसा की यह सब रचनाएँ वैध न हो सकेंगी। क्योंकि आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त का सारा ही निचोड इस एक नियम में निहित हो गया है कि प्रकारीय मूल विभेद व्यष्टीय संरचनाओं के अनुवर्ती रूपान्तरणों के जमा होते रहने से उत्पन्न होते हैं और जब एक बार उनकी स्थापना हो जाती है तब वे विभेद जातीय विभेद के रूप में उनका शाश्वतीकरण लगातार चलता रहता है। इस तरह के प्रकारीय या जातीय विभेदों की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या इस तरह पर ही हो सकती है कि वे ऐसे मौलिक विभेद हैं जो इस भौतिक जगत् के अंगभूत अनुभवकर्ता जीवों के हितों लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि यह सही तौर पर इन प्रभावी तथा अद्वितीय हितों का स्वरूप ही है जिससे

---

१ उदाहरणार्थ तुलना कीजिए, प्लेटो के 'फैडो' नामक ग्रन्थ के पृ० ७० एफएफ पर दी हुई अमरत्व विषयक तर्कनाओं से पहली तर्कना के तथा 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ की उस टिप्पणी के साथ जिसमें तर्कना का हवाला यों दिया गया है कि आत्माओं की संख्या सदा एक सी हो रहती है। (६११ ए)। प्लेटो के ग्रन्थानुसार इस सिद्धान्त का जन्म बाकसीय मार्ग से हुआ है। अन्य लोगों में से हेराक्लीटस के जीवन-मरण के एकान्तरण चक्र से एम्पीडोक्लीज के (आर्फिक) जन्म-चक्र से, तथा स्टोइकों अथवा निराशावादियों के सिद्धान्त के साथ भी तुलना कीजिए और आधुनिक जगत् के उदाहरणों में से नमूने के तौर पर लिए गये केवल एक ही सिद्धान्त, नीत्शे के सतत प्रत्यावृत्ति सिद्धान्त से भी मिलान कीजिए।

व्यष्ट का व्यष्टत्व निरूपित हुआ करता है । इस प्रकार विकास प्रक्रिया विषयक तत्त्वमीमासीय टीका अनिवार्य रूप से उस प्रक्रिया का निर्णय नवीन व्यष्ट हितो के विकास और पुराने व्यष्ट हितो के लोप की प्रक्रिया को वह एक अनन्त या अपरिमित समग्र व्यष्ट के अन्तर्गत परिमित व्यष्टो के जन्म और लोप की प्रक्रिया मानती है ।

इसी प्रकार के निष्कर्ष का सुझाव हमे स्वय अपने वैयक्तिक अथवा व्यष्ट विकास के उन तथ्यो पर विचार करने से भी प्राप्त हो सकेगा जिनसे विस्तृततर विकासवादी सिद्धान्तों ने अन्ततोगत्वा अपने विचार और अपनी शब्दावली उधार ली है । व्यष्ट मानव जीव की मानसीय वृद्धि मूलत' वस्तु-विषयक अभिरुचि के निरूपण की प्रक्रिया ही होती है । हमारी औपचारिक शिक्षा तथा अनौपचारक बौद्धिक और नैतिक दीक्षा दोनो ही सामाजिक परम्पराओ तथा पारस्परिक समागम द्वारा प्रभावित होती है और दोनो ही ऐसे प्रक्रियाएँ है जिनमे छोटे मोटे रूपान्तरणो का जमाव पाया जाता है और जो अन्ततोगत्वा अस्तित्व के विभिन्न पक्षो के न्यूनाधिक अनन्य वैयक्तिक हितो की स्थापना मे परिणत हो जाती है और चूँकि यह प्रक्रिया कभी समाप्त नही होती इसलिए हमारे पूर्वाधिगत हितो के लिए इस प्रकार रूपान्तरित हो सकना सम्भव हो जाता है कि जिससे वे लुप्त-प्रयोगी हो जाँय । वह उन हितो की जगह नये हितो को प्रतिस्थापित कर देती है । जहाँ तक ऐसा हुआ करता है वहाँ तक हम सही ही कहा करते हैं कि हम 'पुराने हम' नही रहे । एक नया 'मैं' या 'आत्म' अथवा अनन्य व्यष्ट हितो का केन्द्र तब पहले वाले आत्म या 'हम' के भीतर विकसित हो चुका होता है ।

आमतौर पर यह प्रक्रिया इस बिन्दु से पहले ही रुक जाती है जहाँ सारी इन्द्रिय-गम्य सततता विलम्बित हुई सी प्रतीत होती है लेकिन विशिष्ट परिस्थितियो मे इस बिन्दु तक पहुँचा जा सकता है । यह 'बात बहुविध व्यक्तित्व' के अधिक रोग विज्ञानात्मक प्रपच की तो बात ही क्या रूप-परिवर्तन जैसे तथ्यो द्वारा ही आवश्यकता से अधिक सिद्ध हो जाती है, इसी प्रपच द्वारा यह तथ्य भी उदाहृत होता है कि एक नया व्यक्तित्व जब एक बार विकसित हो जाता है तब उन पुराने व्यष्ट हितो के साथ जिनको उसने स्थान भ्रष्ट किया है उसके सम्बन्ध विविध प्रकार के हो जाते है । या तो वह उन हितो को स्थायी तौर पर स्थान-च्युत कर देता है अथवा जैसाकि 'रूप-परिवर्तन' विषयक बहुत से मामलो मे हुआ करता है वह अस्थायी भी सिद्ध हो सकता है और एक बार फिर पुराने व्यक्तित्व मे लौट आ सकता है अथवा दोनो ही समय समय पर एकान्तरित भी होते रह सकते है ।[1] जिस एक बडी बात पर यह सब मामले एकमत है वह

---

१. पहले हो से वर्तमान व्यष्टता की सीमाओ के भीतर दूसरी व्यष्टता के निरूपित होने का यही प्रपच अथवा दृष्य 'उच्चतर' और 'निम्नतर' आत्म के बीच चलते रहनेवाले

विकास-क्रमान्तर्गत पहलेवाली व्यष्टता के भीतर एक नयी व्यष्टता के उत्पादन की सीधी सादी सामान्य बात है। शायद यह सुझाया जा सकता है कि व्यष्ट वृद्धि के इन लक्षणों में हमें उस प्रक्रिया के जिसे हम विकास द्वारा नयी स्पीशीज़ या जातियों का उद्भव कहते है, लक्षणो का संकेत मिलता है ।[1]

संक्षिप्तावृत्यर्थ कह सकते हैं कि उत्क्रान्ति या विकास का अभिप्रेतार्थ होता है ऐसा परिवर्तन जिसका निर्धारण किसी अन्त के सन्दर्भ द्वारा होता हो और इस प्रकार वह विकास एक व्यष्ट प्रक्रियान्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार के 'अन्तो' का इसके सिवा और कोई मतलब ही नही होता कि जहाँ तक हो परिवर्तन की प्रक्रियाओं को व्यष्ट हितों की प्रगामिनी संप्राप्ति के रूप मे ही देखा जाय। अतः विकास की संभावना ही वहाँ हो सकती है जहाँ परिमित व्यष्टता वर्तमान हो। यही है वह दार्शनिक न्याय्यता हमारे इस पहले वाले दावे की कि जहाँ कही भी रचनात्मक विकास का साक्ष्य उपलब्ध हो सकता है वहाँ वह साक्ष्य इस पूर्वानुमान का कारण प्रस्तुत करता है कि जो कुछ हमे एक वस्तु रूप दिखायी पड़ता है वह वास्तव मे किसी मात्रा तक सच्चा व्यष्ट होता है न कि स्वच्छतया हमारे द्वारा किया हुआ ऐसी स्थितियो का समूहीकरण जिसमें कोई आन्तर एकत्व नही होता। इसके अतिरिक्त उत्क्रान्ति अथवा विकास वह प्रक्रिया है जिसमे नये व्यष्ट उद्भूत होते और पुराने लुप्त होते रहते हैं। तत्वमीमांसा के लिये उसकी सार्थकता यही है कि वह उन सब सिद्धान्तो को व्यपदिष्ट कर देती है जो वास्तविकता को अपरिवर्तनशील परिमित व्यष्टों का बाहुल्य मात्र ही बतलाती है। वह एक ओर दृष्टि-बिन्दु से भी महत्वपूर्ण है। तत्त्वमीमासा के लिये विकास विषयक इस विशुद्ध यान्त्रिकीय दृष्टिकोण की अपेक्षा जिसके अनुसार प्रकृति परस्पर नयुक्त परिवर्तनो का अनुक्रम मात्र है—प्रकृति की विकासीय प्रक्रियाओं का साम्राज्य होने की कल्पना जिसका अभिप्राय भौतिक जगत् मे अनुभूति के विषयभूत व्यष्टो की स्पष्टरूपेण अभिव्यक्त प्रस्तुति है, सम्पूर्ण सत्य के अपरिमिततया निकटतर है।

अधिक ज्ञानार्थ अनुशीलन कीजिये :—एफ०एच० ब्रेडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड

नैतिक संघर्ष के परिचित तथ्यों द्वारा भी उदाहृत होती है।

१. तुलना कीजिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकॅड सीरीज, पृ० ३०५ एफएफ पर उल्लिखित और विशुद्ध रूप से व्याख्यात इसी प्रकार के अभिमत से। दुर्भाग्यवश प्रोफेसर रॉयस के उपर्युक्त ग्रन्थ का द्वितीय भाग इतनी देर में मेरे हाथ लगा कि मैं उसका यथेष्ट उपयोग कर ही न सका। यही बात श्री अण्डरहिल महोदय द्वारा लिखित 'पर्सनल आइडियलिज्म' ग्रन्थ के 'दि लिमिट्स ऑफ इवोल्यूशन' नामक निबन्ध के विषय मे भी हुई।

रीयालिटी', अध्याय २७, २८ (पृ० ४९७, ४९९, ५०८ ईडी १ प्रगतिविपयक कल्पना की आलोचनार्थ); एच० लोत्से कृत 'मेटाफिजिक', पुस्तक २, अध्याय ८ ('फोर्स ऑफ दि कोर्स ऑफ नेचर', अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ १०९, १६२), जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डविजुअल', सेकेण्ड सीरीज, लेक्चर ५, एच० सिजविक कृत 'फिलासफी इट्स स्कोप एण्ड रिलेशन्स' का लेक्चर स० ६ व ७ (तत्त्वमीमासा पर विकास की आभारीयता विपयक कुछ सामान्य विचारो के अध्ययनार्थ); जी० ई० अण्डरहिल का 'दि लिमिट्स ऑफ इवोल्यूशन' नामक लेख उसकी पुस्तक ('पर्सनल आइडियलिज्म' मे); 'जे० वार्ड कृत नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', खण्ड १, लेक्चर ७–९ (स्पेन्सर का विकासवादीय दर्शन की आलोचनार्थ), १० (ऑन बायोलॉजिकल इवोल्यूशन) ।

अध्याय ६

वर्णनात्मक विज्ञान का तर्कशास्त्रीय स्वरूप

१—वैज्ञानिक वर्णन की दर्शनशास्त्रीय अथवा साध्यवादीय व्याख्या से प्रतीपता किन्तु यह प्रतीपता एकदम निरपेक्ष नहीं। २—सकल वैज्ञानिक वर्णन का प्रथम उद्देश्य सहयोगार्थ अन्त. सचार है। अत ऐसा सब वर्णन आवश्यकरूपेण उन वस्तुओं अथवा लक्ष्यों तक ही सीमित रहता है जिनका अनुभव व्यष्ट बाहुल्य अथवा बहुत से व्यष्ट एक ही प्रकार से कर सकते हो। ३—वैज्ञानिक वर्णन का एक दूसरा उद्देश्य पर्यावरण विषयक उपलक्षकीय परिस्थितियो से काम लेने के सामान्य नियमो की सृष्टि करके बौद्धिक श्रम की बचत करना भी है। विकासीय गतिक्रम मे यह उद्देश्य पहलेवाले उद्देश्य से अशत. स्वतंत्र हो जाया करता है। ४—सामान्य नियमो के निरूपण की अभिरुचि मे भौतिक विज्ञान सम्बन्धी तीन मौलिक अभिधारणाएँ उठ खडी होती हैं अर्थात् एकरूपता, यान्त्रिक नियम तथा कारणीय निर्धारण विषयक अभिधारणाएँ। ५—इन तीनो अभिधारणाओ द्वारा निर्धारित भौतिक प्रकृति विषयक यान्त्रिकीय अभिमत केवल यान्त्रिकी सम्बन्धी अमूर्त विज्ञान में ही व्यवस्थित रूप से काम मे लाया जाता है। अत वर्णनात्मक प्रक्रिया के तर्कानुगत समापन का अर्थ होगा समग्र वर्णनात्मक विज्ञान का यन्त्रशास्त्र मे विघटन। यह बात कि रसायन शास्त्र, जीव शास्त्र और मनोविज्ञान मे ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जिन्हें यांत्रिकीय विषयक शब्दावली मे विघटित करना इस कारण सभव नही होता है चूंकि उनका उपलक्षण सौन्दर्य बोधात्मक और इतिहासात्मक और साथ ही साथ मूलतः 'वैज्ञानिक' हितो द्वारा प्रेरित हुआ करता है। ६—यान्त्रिकीय भौतिकी की सन्मात्रा अविनाशिता तथा उर्ज्जा-सरक्षण जैसी प्रमुख कल्पनाओं के विश्लेषण से सिद्ध होता है कि उनकी वैधता केवल सापेक्ष ही है।

१—भौतिक जगत् की सार्थकता के सम्बन्ध मे हमारी विवेचना का सामान्य बाह्य अभिरूप अब पूरा हो चुका है। हमे यह मत निर्धारित कर लेने का समुचित कारण मिला है कि उन भौतिक व्यवस्था में हमारी मानव ज्ञानेन्द्रियो को एक महती व्यवस्था का अथवा व्यवस्थाओ के एक बडे जाटिल्य का आभास मिलता है जो ऐसे सन्नयोजन ज्ञानवान् जीवो से बनी है जिसके हित हमारे हितो से इतने दूर है कि उनमे कोई प्रत्यक्ष समागम हो ही नही सकता फिर भी वे हित ऐतिहासिकतया हमारे नाना व्यष्ट हित के नये रूपो के विकास की उन कभी न रुकनेवाली प्रक्रिया द्वारा सयुक्त रहते हैं जिसे हम

अनुभव के आधार पर अपने इस लोक के जीवन और बुद्धि का विकास समझते हैं। अपने पिछले चारों अध्यायों में हमने लगातार विशद रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भौतिक व्यवस्था की सार्थकता विषयक इस सामान्य व्याख्या और हमारे अनुभवाधारित विविध विज्ञानों की कार्यर्थिक पूर्व मान्यताओ के बीच कोई वास्तविक असगति नही है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो चुका है कि विवृतिमय विवरण प्रस्तुत करने तथा प्रपचात्मक घटनाक्रम की गणना करने का अपना निर्धारित कार्य करने मे जहाँ अनुभवाधारित विज्ञान इस प्रकार की तत्वमीमासीय व्याख्या का त्याग नही करते, वहाँ वे उस पर ध्यान नही देते; और जितनी ही अधिक अन्तर्भाविनात्मकतया वे नौसिखुओ की तत्वमीमासा के वाह्य परिकल्पना क्षेत्र की सैर का वहिष्कार अपने पुरोगम से करते रहते है। उतना ही अधिक सही तौर पर ही उनके वर्णन तथा गणितीय सगणन के काम का निरूपण भी होता रहता है। अत. यह उचित प्रतीत होता है कि विश्व विज्ञान के नियमों और सिद्धान्तो के विषय अपने इस सक्षिप्त विवरण को हम अनुभवाधारित विज्ञान के उन वन्धनो के, जो उस विज्ञान के उद्देश्यो के विशिष्ट रूप के कारण उस पर आयत्त हो जाते हैं। स्वरूप का और उस तरीके का जिसके अनुसार इन वन्धनो का अस्तित्व स्वय अनुभवाश्रित विज्ञानो की सामान्यतम परिकल्पनाओ द्वारा उद्घटित होता है, थोडा सा दिग्दर्शन करा कर समाप्त कर दें।

सबसे पहले तो उस अर्थ का स्पष्ट हो जाना ही जरूरी है जिस माने मे कि हम अनुभवाश्रित विज्ञानो के काम को वर्णन कहते हैं और साथ ही उस वैषम्य के अर्थ का भी स्पष्ट होना आवश्यक है जो इस प्रकार के वर्णन तथा अस्तित्व विषयक दार्शनिक अर्थ-निर्णय के बीच पाया जाता है। इस सवध मे दो बाते ऐसी है जिन पर विशेष और वार वार जोर देने की जरूरत मालूम देती है। (१) अर्थ-निर्णय और वर्णन के बीच का वैषम्य निरपेक्ष वैषम्य नही है। पूर्ण वर्णन स्वयं ही वर्णन मात्र से कही ज्यादा कुछ होगा ही और दार्शनिक अर्थ-निर्णय मे सक्रान्त हो जायगा। इस प्रकार किसी सार्थक सप्रयोजन गति की दिशा, वेग, गतिमात्रा, और अवधि आदि बे देने से ही उसका वर्णन पूरा नही हो जाता। इस प्रकार की गति का पूरी तरह से वर्णन करने के लिए उस गति के विधायक जीवार्थ उसके आशय की, किसी लालसा अथवा अभिकल्प की पूर्ति विषयक पग के रूप मे मान्यता आवश्यक होगी और वह तव दार्शनिक अर्थ निर्णय नामधेय वस्तु में मग्न हो जायगी। अत॰ सामान्यत. यदि सकल अस्तित्व अन्ततोगत्वा अनुभूति हो और सकल अनुभूति साररूपत. उद्देश्यपरक हो तो ऐसा वर्णन जिसे अर्थ निर्णय से पृथक् किया जा सके। तर्क के स्थिति बिन्दु से देखे जाने पर सदा ही अपूर्ण होगा भले ही वह कुछ विशिष्ट प्रयोजनो की पूर्त्यर्थ पर्याप्त क्यो न हो।

(२) विज्ञान के वर्णनो की ऐसे वर्णनो से सावधानीपूर्वक अलग पहचान

रखनी होगी जैसे वर्णन कि अविश्लेषित ज्ञेय विवृत्ति के बहुलीकरण द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। याद रखने की बात है कि, वैज्ञानिक वर्णन तो एक ऐसा वर्णन होता है जिसके करने का जिम्मा तब लिया जाता है जब किसी घटनाक्रम का प्राक्कथन अथवा संघटन अभिप्रेत हो। इसका मतलब है कि उसे सामान्य शब्दात्मक वर्णन ही होना चाहिए और जहाँ भी सम्भव हो, उसका गणितशास्त्रीय सहायताओ द्वारा प्रस्तुत होना भी आवश्यक है। प्राकृतिक प्रक्रिया परायण अनुभवाश्रित विज्ञान उन प्राकृतिक प्रक्रियाओ का वर्णन, तत्प्रक्रिया सम्बन्धी निश्चित व्यष्ट विवृत्ति के साथ नही किया करते वे केवल उस सीमा तक ही उन विवृत्तियो का जिक्र करते है जहाँ तक वे प्रक्रियाएँ कुछ ऐसे एकरूप पहलू प्रदर्शित किया करती हैं जिन्हे गणनार्थ उपयुक्त सूत्रो में विघटित किया जा सके। इस प्रकार के वर्णन को बहुधा व्याख्या कहा जाता है और इस विभेद के कारण ही नामाकन करते समय ज्ञेय विवृतियो के समूहन मात्र से उसे पृथक् माना जाता है। किन्तु उपर्युक्त वैभिन्य के कारण ही हमे सारी ही वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं के सारभूत वर्णनात्मक स्वरूप को आँख ओझल कर देना आवश्यक नही। कभी-कभी जोर देकर कहा जाता है कि वैज्ञानिक व्याख्या के तार्किक स्वरूप का वर्णन से भिन्न होना जरूरी है क्योकि 'पदार्थ', 'अभिकरण' और 'माध्यम' आदि जिन शब्दो द्वारा यह व्याख्या ग्रथित होती है वे ज्यादातर इस प्रकार के होते हैं कि ऐंद्रीय-प्रेक्षण की पहुँच वहाँ तक नही हो पाती। किन्तु इतना जरूर याद रखना होगा कि इस प्रकार की अप्रेक्ष्य वस्तुओं विषयक प्राक्कल्पनाएँ वहाँ तक ही मूल्यवती होती है जहाँ तक कि वे ऐसी जोड़नेवाली कड़ियो का काम दें जिनके आधार पर हम सवेद्य दत्तो से सवेद्य घटनाओ की गणना कर सकें। अनुभवाश्रित विज्ञान जिन किन्ही भी माध्य कड़ियो को उपयोगी समझ कर मान्यता दे किन्तु अनिवार्य रूप से वह प्रपंचात्मक भौतिक व्यवस्था की ज्ञेय घटनाओ को ही अपना प्रारभ-विन्दु मानकर चलता है और उन्हे ही अपने निष्कर्षों का लक्ष्य भी मानता है।[1] इस प्रकार उसकी सारी प्राक्कल्पनात्मक संरचनाएँ ज्ञेय घटनाओं के गतिक्रम के सही वर्णन के मुख्य हित की वशवद होती है। उसके तार्किक

---

१. और एक बार फिर इस माध्य कवियों को भले ही वे चाहे जितने अलक्ष्य क्यों न हो, स्वय ही सदा उन गुणो से युक्त माना जायगा जो अपने प्रकार की दृष्टि से, प्रत्यक्ष प्रस्तुतिगत वस्तुओं के गुणो के समरूप हों। जैसा कि मिल का कथन था, वह प्राक्कल्पना जो एक साथ ही किसी अपरिचित 'अभिकर्ता' और तत्समान ही अपरिचित विधि या क्रिया विषयक नियम का पूर्वग्रहण कर के ले निरर्थक होगी। अतः वैज्ञानिक परिकल्पनाओं विषयक अलक्ष्य अथवा अप्रेक्ष्य अवश्य ही भौतिक जगत् की ही वस्तु है।

स्वरूप के सन्दर्भ में वर्णन के मुकाबले पर जिस एक ही किस्म की 'व्याख्या' को खडा किया जा सकता है वह उद्देश्यपरक व्याख्या वहाँ भी, जैसाकि हम देख चुके है प्रातीप्य अन्तिम नही होता।

२—तब सवाल उठता है कि वैज्ञानिक वर्णनो की लक्ष्य वस्तु है कौन सी ? वे किस प्रयोजन की सिद्धि करना चाहते हैं और किस प्रकार इस प्रयोजन का सारात्मक स्वरूप वर्णनात्मक प्रक्रियाओ के तर्कानुमोदित स्वरूप का निर्धारण करता है ? अब इतना तो तुरन्त ही स्पष्ट दिखायी पडने लगता है कि सभी वर्णनो के तात्कालिक अथवा अव्यवहृत लक्ष्य उन व्यावहारिक उद्देश्यो मे से एक या दूसरा होता है जो उनसे इतने निकटतया सम्बन्ध होते है कि अन्ततोगत्वा वे उनके सपापी ही बन जाते है। ऐतिहासिकतया यह बात सन्देह से परे है कि भौतिक घटनाओं के सकल वर्णन का मौलिक उद्देश्य सामाजिक सहयोगार्थ अन्त सचार करना था। वर्णन के इस कृतित्व का हवाला मै पहले ही कारणीय वर्णनो के वैज्ञानिक उपयोगो के विशेष संदर्भ मे दे चुका हूँ पर यहाँ भी उसी बात पर अधिक पूर्णता के साथ और अधिक सामान्य रूप से फिर सुविधापूर्वक विचार किया जा सकता है।

अन्त: सम्बद्ध लक्ष्यो और उद्देश्यो वाले परिमित व्यष्टो के समाज मे प्रत्येक व्यष्ट अपने व्यक्तिनिष्ठ हितो की पूर्ति, दूसरो के साथ मिलकर किये गये कार्य की कुछ मात्रा द्वारा ही कर सकता है। और सभूत कार्य तभी संभव होता है जब सहकारी व्यष्ट अपने सर्वसामान्य बाह्य पर्यावरण विषयक विभिन्न विचारो को ऐसे सामान्य शब्दो मे विघटित कर सके जो समान रूप से सबकी समझ मे आ सकें तथा जब वे समान रूप से इस सर्वसामान्य कर्तव्य कर्म की पूर्त्यर्थ अपने अपने अशदान का भी सकेत दे सकें। सामने आनेवाली कठिनाई से सबका अवगत होना और उसका सामना करने के लिए उनमे से हर एक को क्या क्या करना होगा इससे भी आगाह रहना आवश्यक है। अतः समग्र प्रभावी और व्यावहारिक सहकार के लिए व्यष्टो के बीच अन्त सचरण का होना एक अनिवार्य शर्त है।

किन्तु फिर, अन्त.सचरण तभी हो सकता है जब वर्णन सर्व-सामान्य पदन्बद्ध हो। कोई व्यक्ति उसी सीमा तक अपनी अनुभूति के अन्तर्विषय को दूसरे तक पहुँचा सकता है जहाँ तक कि विविध व्यक्तियो की अनुभूतियो के तत्व एक दूसरे के अनुरूप हो। अव्यवहृत अथवा तात्कालिक भावना, अपने अनन्य वैयक्तिक अथवा व्यष्ट स्वरूप के कारण ही मूलत. असचार्य होती है। अत. अपने शरीर के विषय मे दूसरे तक सूचना-सचार करते समय मुझे ऐसे पदो का आवश्यकतावश प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पडता है जो न शरीर-विषयक मेरी तात्कालिक ऐंद्रीय अनुभूति से सम्बद्ध नही होते अपितु मुझे उन ऐंद्रीय प्रेक्षणो के जाटिल्य से सम्बद्ध शब्दो का प्रयोग करना पडता

है, जो प्रेक्षणा में और वह दूसरा व्यक्ति दोनों ही विशिष्ट प्रेक्षणपरक अपने अंगों द्वारा समान रूप से किया करते है। और इस प्रकार यह सारा भौतिक जगत् उस सीमा तक ही व्यष्टों अथवा व्यक्तियों के वीच सहकार्य के आधार का काम दे सकता है। जहाँ तक कि अन्ततोगत्वा वह, समस्त व्यष्टो के अवलोकनार्थ समान रूप से अधिगम्य ऐन्द्रिय-प्रस्तुति जाटिल्य के रूप मे वर्ण्य होता है। प्रकृति विषयक ऐसी किसी तरह की भी अनुभूति जो अनन्यरूपेण मद्विशिष्ट है और इसी लिए किसी प्रकार भी दूसरे को सौपने योग्य ऐसी परिस्थितियो मे उसे नही लाया जा सकता कि जिससे उसी तरह के प्रेक्षणागों से युक्त दूसरा कोई व्यक्ति उसका ग्रहण कर सके तो वह अनुभूति आवश्यकत असंचार्य है और सभूय-समुत्थान कार्य के आधारार्थ निरर्थक है। अत. स्वयं अपने प्रयोजन के कारण ही विज्ञान भौतिक जगत् का इस प्रकार से वर्णन नही कर सकता कि जिससे उसके ये वर्णन व्यावहारिक कला वस्तुओं के रूप मे उस जगत् के उस प्रपचात्मक पक्ष का चित्रण किया जा सके जिसमे वह सम्बद्ध प्रस्तुतियो के अथवा प्रस्तुति-संभाव्यताओ से जाटिल्य मात्र रूप मे दिखायी दे। समग्र वैज्ञानिक वर्णनो का, प्रपंचात्मक व्यवस्था की ऐसी घटनाओं से जिनका अनुभव कोई भी व्यक्ति प्रेक्षण की निर्धारित शर्तो के पालन सेप्राप्त कर सकता है—प्रारभ होना तथा उन्ही के साथ समाप्त होना कोई आकस्मिक घटना नही है अपितु अन्त. सचरण की शर्तो का तर्कसंगत परिणाम है। इस प्रकार हम देखते है कि भौतिक जगत् का अनन्यतया केवल उन्ही वस्तुओ से निर्मित होना जो सिद्धान्ततः एक से अधिक व्यक्तियो द्वारा प्रेक्ष्य हो, उस जगत् का वह ज्ञान-मीमांसीय लक्षण हैं जिसका अनुसधान विज्ञान ने भी कर लिया है। यदि व्यक्तियो की स्वयं अपनी प्रकृति मे ऐसी विषय वस्तुएँ मौजूद हो जिनकी अनुभूति एक से अधिक व्यक्तियो को न हो सकती हो, जैसे कि मेरा अपना आन्तर जीवन, तो वे विषय-वस्तुएँ विज्ञान विषयक भौतिक व्यवस्था की वस्तु नही हो सकती।[१]

२—वर्णन का एक दूसरा प्रयोजन भी है जो पहले प्रयोजन से उस समय उद्भूत हुआ करता है जब मानव अनुभूतियाँ अधिक विमर्शात्मक हो उठती हैं। वर्णन मुझे न केवल तत्क्षणीय विशिष्ट स्थिति को दूसरो तक पहुँचा सकने की और उनके साथ मिलकर उस स्थिति का सामना करने के साधन जुटाने की ही सामर्थ्य प्रदान करता है अपितु वह मुझे इसी प्रकार की पुनरावर्तक स्थितियो मे मेरे व्यवहार योग्य सामान्य नियमो के पहले से ही निर्धारण करने योग्य भी बनाता है। इस प्रकार के सामान्य विचार रखने की

---

१. प्रोफेसर मस्टरवर्ग ने इस लक्षण को ही 'भौतिक' अथवा 'अतिमानव' और 'मानसिक' अथवा 'वैयक्तिक' वस्तुओ विषयक अपने विभेद का आधार बनाया है। देखिए Gaunelzuge der psychologic, 1, 15-77

आवश्यकता तब ही पैदा हो जाती है जबकि वर्णन सामाजिक सहकार की सहायता करने के अपने मूलभूत कर्तव्यकर्म में ही फँसा होता है। भौतिक विज्ञानो की मूलस्रोत औद्योगिक कलाओ विषयक व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो अनिश्चितरूपेण बहुसख्यक उपलक्षणात्मक स्थितिमयी घटनाओ से काम लेने के सम्बन्ध मे एक सामान्य नियम का निरूपण कर सकना घटना के घटित होने पर ही प्रत्येक घटना से अलग अलग जूझने की अपेक्षा कही बहुत बडे पैमाने के आर्थिक लाभ की वस्तु है।

इस प्रकार के सामान्य नियमो के लाभ सत्वर ही समाज के उस उपविभाग द्वारा उपभुक्त शक्ति और महत्व की अभिवृद्धि से प्रकट होते हैं, जिसे इस प्रकार के लाभ प्राप्त हुए होते है। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे हमे यह समझने मे सहायता मिल सकती है कि सभ्यता के आदिम युगो मे इस प्रकार के नियमो की गहरे सहकार के वशानुगतिक रहस्यो के रूप मे गहरी हिफाजत क्यो की जाया करती हो।[1] इस प्रकार भौतिक जगत् की वस्तुओ के व्यावहारिक प्रयोग के सामान्य नियमो के सूत्रीकरण मे सहायता करना वैज्ञानिक वर्णन का विशिष्ट उद्देश्य ही बन गया है। और विचार विमर्श की प्रगति के साथ साथ वर्णनात्मक प्रक्रिया का यह गौण उद्देश्य बहुत बड़ी मात्रा मे उसके मौलिक उद्देश्य, अन्तः सचरण से पृथक् होकर एक स्वतंत्र उद्देश्य बन जाता है। जहाँ मुझे अपने साथियो के साथ अन्त. सचार और सहकार की न कोई इच्छा ही होती है न जरूरत। वहाँ भी भौतिक 'व्यवस्था की उपलक्षक स्थितियो के सामान्यीकृत वर्णनो की खोज, उन वर्णनो को उक्त व्यवस्था मे स्वय स्वेच्छा पूर्वकृत हस्तक्षेप के व्यावहारिक नियमो का आधार बनाने के लिए, मेरी अभिरुचि का विषय बन जाती है।

४—प्रकृति के विधान मे व्यावहारिक हस्तक्षेप करने के सामान्य नियमो के सूत्रीकरण विषयक अभिरुचि आवश्यकरूपेण उस प्रारूप का आदेश जिसका ग्रहण हमारे वैज्ञानिक वर्णनो को करना होगा, कर दिया करती है और इस दृष्टि से यह अनुभवाधारित विज्ञान की उन व्यावहारिक अभिधारणाओ का स्रोत है जिनसे हमारा थोडा सा परिचय पहले ही हो चुका है।

हमारे वर्णनो की सफलता की अनिवार्य शर्तों के रूप मे पहले से ही यह स्वीकार करने के लिए वह हमे बाध्य करती है कि भौतिक व्यवस्था मे ऐसी स्थितियाँ मौजूद है जिनका

---

१. देखिए—मॉश कृत 'सायंस ऑफ मेकेनिक्स', पृ० ४ किन्तु, मेरा ख्याल है मॉश गलती से अन्तःसंचरण को विशेषीकृत औद्योगिक श्रेणियों के उद्भव का गौण परिणाम कहता है।

एक रूतपया पुनरावृत्त होना, हमारे व्यावहारिक प्रयोजनार्थ पर्याप्त विशुद्धतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी बात हमें यह मान लेनी पड़ती है कि जब तक हम घटनाक्रम मे जानबूझ कर हस्तक्षेप करने से बाज आते रहते है तब तक वे घटनाएँ एक नियमित क्रमानुसार एक दूसरे का अनुवर्तन करती रहती है अथवा दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि प्रकृति अपने स्थिर नियम से इस प्रकार कभी विचलित नहीं होती कि जिससे हमारी गणना मे कोई व्यवधान आ पड़े, तीसरी बात यह कि भौतिक जगत् की प्रत्येक घटना का निर्धारण, हमारे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों का सफल जोड तोड़ लगाने के लिये आवश्यक सीमाओं के भीतर रहते हुए, पूर्ववर्तीनी घटनाओ द्वारा हुआ करता है। अतः अनुभवाधारित भौतिक विज्ञान की मूलभूत तीनो अभिधारणाओ, अर्थात् एकरूपता, सर्वव्यापिनी नियमानुवर्तिता तथा पूर्ववर्तिनी घटना द्वारा अनुवर्तिनी घटना की कारणानुसारी निर्धार्यता नामक तीनो निर्धारणाओ का मूल स्रोत भौतिक जगत् के मामलात मे साभिप्राय द्वारा प्रभावोत्पादनार्थ सामान्य नियम प्राप्त करने की हमारी अभिरुचि ही है।

अतः इन तीनो भौतिक अभिधारणाओं पर भौतिक विज्ञान की निर्भरता से उनकी अन्तिमेत्थ सत्यता सिद्ध नही होती जैसाकि हमने विषद् रूप से पिछले अध्यायो मे सिद्ध किया है : उससे तो केवल यही सिद्ध होता है जहाँ उन्हे संनिकटतया सत्य भी नही माना जा सकता वहाँ जिन सीमाओ तक उनकी असत्यता ज्ञेय परीक्षण द्वारा जाँची जा सकती है, उन सीमाओ के भीतर रहते हुए घटनाओ के संचालन के लिये नियम निर्धारित करने की हमारी विशिष्ट अभिलाषा पूरी नही की जा सकती। इसके विपरीत, जहाँ कहीं भी वह अभिलाषा सहीतौर पर पूरी हो सकती है वहाँ सभी व्यावहारिक प्रयोजनो के लिये ये अभिधारणायें सत्य की समतुल्य जरूर होगी। अतः अगर हमे याद हो कि सारे ही भौतिक विज्ञान का चरम उद्देश्य कार्य सिद्धचर्थ उपर्युक्त प्रकार के व्यावहारिक नियमो का सफल सूत्रीकरण ही है, तो हम देख सकेंगे कि भौतिक विज्ञानों की भौतिक व्यवस्था के बारे मे एक सख्त यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाना हमारी उन अभिरुचियो अथवा अभिलाषाओ के स्वरूप का एक तर्कसगत परिणाम है, जो हमारे वैज्ञानिक वर्णनो पर छायी रहा करती है। जिस अनुपात मे भौतिक विज्ञान की कोई शाखा विवाद रूप से भौतिक जगत् की इस कल्पना को कि वह अनुक्रम के नियमो द्वारा कठोरतापूर्वक निर्धार्य अनुक्रमों का एक अन्त. सम्वद्ध यत्र-समुच्चय है, सफलतापूर्वक सिद्ध कर सकती है, ठीक उसी अनुपात मे ही वह भौतिक विज्ञान की स्थापना के प्रयोजन को सिद्ध करने मे भी समर्थ होगी। अतः भौतिक जगत् विषयक यान्त्रिक कल्पना को हम भौतिक विज्ञान की अधिकतम सामान्य अभिधारणा कह सकते हैं। पर एक बार फिर हमे याद रखने की सावधानी बरतनी होगी कि भौतिक विज्ञान की किसी अभिधारणा का किसी भी हालत

मे चरम सत्य होना जरूरी नही है। इस तरह की अभिधारण अन्ततोगत्वा भौतिक विज्ञान द्वारा पूर्यमाण हित अथवा अभिलाषा के स्वरूप कथन के एक तरीके से वढ कर अन्य कुछ नही होती। और जैसाकि हम पर्याप्त रूप मे देख चुके है, वह अभिलाषा या हित सगत विचार करने का विशुद्ध तर्कसगत हित नही होता अपितु वह अभिलाषा या हित प्रकृति के कार्य मे सफल हस्तक्षेप करने की अभिलाषा या हित ही होता है।

५—लेकिन इसका यह मतलव विलकुल नही कि वे सब विज्ञान जो भौतिक जगत् की घटनाओ से किसी तरह का कोई काम लेते है; तथ्यरूपेण अपने उद्देश्यो के इस यान्त्रिक दृष्टिकोण का इतनी ही सफलतापूर्वक उपयोग कर सकते है। यह तो केवल गुणवाची यान्त्रिकी की विविध शाखाओ की ही वात है कि जहाँ भौतिक प्रकृति विषयक यान्त्रिकीय सिद्धात की पूर्वोलिखित अभिधारणाओ के प्रति पूर्ण और व्यवस्थित ससक्ति जैसी कुछ वस्तु हमे देखने को मिलती है। जैसा आदर्श हमे इस वात मे देखने को मिलता है कि वैद्युत्य और रासायनिक तथा शारीर शाखा विषयक प्रक्रियाओ के सव तथ्यो को अन्ततोगत्वा नियमित एकरूपताओ मे इस प्रकार विघटनीय वना लिया जा सके कि उनके आधार पर हम घटनाक्रम की विश्वासपूर्वक गणना कर सकते हैं। और उसके वारे मे पहले से ही सही भविष्यवाणी कर सकते हैं। वैसा आदर्श भौतिक, रासायनिक तथा विशेषत जीव-शास्त्रीय विज्ञानो के विषय मे अव तक अप्राप्त ही वना हुआ है। वह कभी पूर्णत प्राप्त हो भी सके ऐसा कहने का हमे कोई अधिकार भी नही है।

इस प्रकार रसायनशास्त्र तक मे विशुद्ध यान्त्रिकीय दृष्टिकोण का सफल उरीकरण इस तथ्य द्वारा प्रतिवद्ध कर दिया गया है कि रासायनिक सयोजन यौगिक मे ऐसे नये गुण लगातार पैदा करता रहता है जिनका पूर्वोल्लेख, यौगिक के कारको के गुण धर्म-विषयक ज्ञान द्वारा नही किया जा सकता अपितु उन गुणो का निश्चय तो वास्तविक-परीक्षण के वाद ही किया जा सकता है नि सन्देह यह सही है कि ज्यो-ज्यो हमारा रसायन शास्त्रीय ज्ञान वढता जाता है त्यो त्यो हम सामान्यत यह कह सकने मे अधिकाधिक समर्थ होते जाते है कि दिये हुए तत्वो के सयोजन से किन किन गुण धर्मो की परिणति की आशा की जा सकती है किन्तु यह मान लेने का कोई तर्कसगत आधार नही है कि हम इस समय तक अपरीक्षित किसी यौगिक के सव गुण धर्मो की पेशीनगोई कर सकने मे कभी भी समर्थ हो सकेगे। हर हालत मे इस प्रकार का ज्ञान सामान्य उपयोग योग्य ही होगा। अमुक तत्वो को अमुक अनुपात से सयुक्त करने पर क्या परिणाम निकलेगा इसके वारे मे हमारा पूर्व ज्ञान चाहे कितना भी ज्यादा क्यो न हो फिर भी किसी विशिष्ट मूर्त मामले मे किसी सयोजन के सही परिणाम की एकान्त निश्चयपूर्वक पूर्व घोपणा कर सकना असभव होगा।

इससे भी अधिक असभव होगा जीवशास्त्र को प्रायोगिक यान्त्रिकी मे विघटित करने के आदर्श की पूर्ती कर सकना। बात केवल इतनी ही नही कि कोई विसपर्कित शरीर क्रिया विषयक प्रक्रिया नियमपूर्वक रसायन शास्त्रीय अथवा विद्युत शास्त्रीय ऐसे गुणात्मक पहलू प्रस्तुत करे जिन्हे मात्रात्मक परिवर्तन मात्र में विघटित करने का हमे कोई अधिकार नही है। जैसाकि हमारी विकासवादीय प्राक्कल्पना की शब्दावली से ही अच्छी तरह प्रकट है, उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त जैव शास्त्रीय विकास के तथ्यो का और कुछ वर्णन कर सकता 'लैंगिक चयन' जैसे नामो के अन्तर्गत, वैयक्तिक पहलू का लगातार हवाला बीच मे लाये बिना असभव है। इस पहलू के रूप ज्ञानवान् जीवो की पसन्दगी या, नापसदगी आदते और लालसायें आदि होते है। यह चयनात्मक पहलू चूँकि स्वभाव से ही तत्सदृश रूप मे अनेक अनभूतियो की प्रत्यक्ष प्रस्तुत्यर्थ पेश किये जाने के लिये अयोग्य होता है इसलिये भौतिक क्रम का अग मात्र तक वह नही होता।[1] मनोविज्ञान शास्त्र के मामले पर हम अगले खड से सम्बध विशिष्ट विमर्श के सिलसिले मे और अच्छी तरह विचार कर सकेगे। (विशेप रूप से देखिये खड ९, अध्याय १)।

उपर्युक्त प्रकार के विचारों के कारण वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के तर्कसगत स्वरूप के बारे मे निम्नलिखित सामान्य दृष्टि अपनाना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा एक मात्र विज्ञान जिसकी वर्णनात्मक अभिधारणाओ के तर्कसगत निष्कर्प तक पहुँचाया जा सकता है, विभिन्न शाखा सम्पन्न (स्थैतिकी, गतिकी आदि,) अमूर्त यान्त्रिकी ही है। इन अभिधारणाओ का अन्त तक अनुसरण कर सकने की यान्त्रिकीय विज्ञान की इस शक्ति का स्रोत उसका अमूर्त स्वरूप है। ठीक इस कारण कि चूँकि यान्त्रिकी वास्तविक भौतिक व्यवस्था के उन्ही पहलुओ का ख्याल रखती है जो सामान्य सूत्रो द्वारा वर्णनीयता की मौलिक अभिधारणा के अनुकूल हैं इसी लिये वह एक विशुद्ध अमूर्त और प्राक्कल्पनात्मक विज्ञान बने रहने के लिये बाध्य है। चूँकि प्रत्येक वास्तविक प्रक्रिया में गुणात्मकतया नवीन का प्राकट्य अन्तर्ग्रस्त रहता है और चूँकि सभी मूर्त गुण तत्वत. अनन्य होते हैं इसलिये कोई भी वास्तविक प्रक्रिया केवल यान्त्रिक नही हो सकती।

इस प्रकार-भौतिक जगत् विपयक कल्पना करने का एक मात्र तरीका जो वर्णनात्मक विज्ञान की दृढ अभिधारणाओ से तर्कानुकूल रूप मे सगत है यही है। सारे ही प्राकृतिक परिवर्तनो को समीकरणो मे विघटन योग्य मानता है और इस विचार का व्यवस्थागत अनुगमन करनेवाला विज्ञान यदि कोई हो तो वह अमूर्त यान्त्रिकीय विज्ञान है।[1] परिणामत. केवल उस सीमा तक ही जहाँ तक कि सारे भौतिक विज्ञान

---

१. अर्थात प्रकृति विपयक यांत्रिक दृष्टिकोण को यदि पूर्णतः आत्मसगत बने रहना है तो उसका विशुद्ध यांत्रिकतापरक होना आवश्यक है।

को अमूर्त यान्त्रिक विज्ञान मे विघटित किया जा सकता है, हम सर्व-सामान्य सूत्रो द्वारा घटना-क्रम विषयक प्रागुक्ति तथा गणना कर सकने के अपनी वैज्ञानिक सरचनाओ के चरम प्रयोजन की सिद्धि कर सकते हैं। वैज्ञानिक वर्णन के तार्किक स्वरूप पर विचार करने से सर्वप्रथम प्राप्त यह निष्कर्ष, हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्तों के परिणामो की क्रियात्मक अनुभूतियो द्वारा पूरी तरह प्रमाणित हो चुका है। ठीक इसी कारण चूँकि हम सारी रासायनिक तथा जैव-विज्ञानात्मक प्रक्रियाओ को अन्तिमेत्यतया, किसी एक रूप-गुण-संपन्न पदार्थ के केवल मात्रात्मक परिवर्तनो मे विघटित नही कर सकते इसी लिए हम पूर्ण विश्वास के साथ किसी मूर्त रासायनिक परीक्षण के सही नतीजे के बारे मे ही पेशीनगोई अथवा प्रागुक्ति नही कर सकते। तो किसी जीवित जैवरचना के सही व्यवहार के विषय मे तो और भी ऐसा कर सकना हमारे लिए असभव है।

अत इससे दो महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। (१) एक तो यह कि हमे रासायनिक और जीव-विज्ञान विषयक घटना-प्रपचों को ऐसा समझ लेने का कि मानो वे यान्त्रिकी के हमारे परिचित सबधो के अधिक उलझे उदाहरण मात्र हों, वस्तुत व्यावहारिक औचित्य प्राप्त हो जाता है। क्योंकि यद्यपि वे विशुद्धत. यान्त्रिक वास्तव मे नही होते तो भी सिद्धान्त रूप से गण्य इस सीमा तक अवश्य होते है कि हम बिना कोई ज्यादा गलती किये उनका सही माप कर सकते हैं।

(२) साथ ही साथ रसायन विज्ञान तथा जीव-विज्ञान में गुणात्मक और उद्देश्य वादात्मक पदार्थों के उपयोग का पर्याप्त औचित्य-निर्धारण भी हो जाता है। क्योकि वे हित रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय ज्ञान जिनका साधक है, प्राकृतिक गति क्रम सम्बन्धी हमारे हस्तक्षेप के व्यावहारिक नियमो तक ही सीमित नही है। इस मूलभूत वैज्ञानिक हित के अतिरिक्त, जिसे उसकी विषय वस्तु के यान्त्रिक उपयोग द्वारा ही सन्तुष्ट किया जा सकता है सौन्दर्यानुभूति नामक दूसरा हित है गुणात्मक सजातीयतानुसार प्रक्रियाओ के श्रृंखल समूहीकरण विषयक और तीसरा इतिहासात्मक हित जिसके वश होकर हम मानव के सामाजिक अस्तित्व को अपेक्षाकृत स्थायी रूप की स्थापना तक पहुँचा देने वाले आनुक्रमिक रूपान्तरणो की खोज किया करते हैं। रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानो के लिए जिस सीमा तक ऐसे गुणात्मक पृथक्करण अथवा विशेषण की तथा तत्परिणामी पदार्थिक उपयोग की आवश्यकता हुआ करती है, जो दोनो अयान्त्रिक होते हैं, उस सीमा तक ये सौन्दर्यानुभूतिक और इतिहास-विषयक हितो का ही न कि प्राकृतिक दृश्य-प्रपच नियत्रण विषयक प्रारम्भिक वैज्ञानिक हितों का उन दोनो की विशद् विस्तृति द्वारा साधन होता है।

अत. प्रायोगिक यान्त्रिकी की शाखाओ में परिगणित होने की अपनी सभावनाओं के अतिरिक्त भी, रसायन तथा प्राणिशास्त्र जहाँ तत्वतः वर्णनात्मक विज्ञान हैं वहाँ

उस सीमा तक जहाँ तक कि वे गुणात्मक तथा उद्देश्यवादात्मक पदार्थों का उपयोग करते हैं, उनके द्वारा सिद्ध होने वाला कार्य सौन्दर्यानुभूतिक तथा इतिहासात्मक वर्णन का काम होता है न कि सही तौर पर वैज्ञानिक वर्णन का। और चूंकि सौन्दर्यानुभूतिक तथा इतिहासपरक वर्णना के उद्देश्य वैज्ञानिक वर्णना के उद्देश्य से भिन्न होते हैं अत वैज्ञानिक वर्णना के लक्ष्य हित-साधन के विशिष्ट स्वरूप द्वारा उस पर आरोपित, अभिधारणाओ के प्रतिपालन की आवश्यकता उन दोनो प्रकार की वर्णनाओं के लिए भी आवश्यक नही होती। इस प्रकार हम देख सकते है कि बराकी प्रायोगिक यान्त्रिकी से अधिक और कुछ माने जाने के रसायन विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान के अधिकार को क्योंकर काण्ट के गहरी तौर पर सत्य इस दावे के अनुकूल बनाया जा सकता है, कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा में विज्ञान की ठीक उतनी ही मात्रा रहती है जितनी कि गणित की। आगामी खड की विशिष्ट समस्याओ के सबध मे जब हम विशद् विवेचन करने लगेंगे तब उस अध्ययन के सिलसिले मे उस विधि के और भी अधिक ध्यानाकर्षक उदाहरण देखने को मिलेगे जिसके अनुसार सकीर्णतया 'वैज्ञानिक' हित ज्ञान की उस शाखा की क्रिया-विधि के निर्धारण मे, जिसे उस शाखा के व्यवस्थित रूप के कारण, 'विज्ञान' शब्द के विस्तृततर स्वीकृतार्थों मे विज्ञान कहना ही आवश्यक है, विशिष्टरूपेण गौण भूमिका शायद अदा कर सके।[1]

६—यत. पूर्ण और सर्वांगीण ज्ञान ही अन्ततोगत्वा एक पूर्णतया आत्म-निर्भर

---

१. सक्षेप मे रसायनशास्त्र और प्राणिशास्त्र के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि जहाँ रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय तथ्य कभी भी यान्त्रिकीय मात्र नहीं होते वहाँ रसायन शास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानों का उस सीमा तक जहाँ तक कि वे गणना और सामान्य नियमों के सूत्रीकरण जैसे एकदम वैज्ञानिक हितों का साधन करते हैं, सदा यान्त्रिकीय ही होना आवश्यक है। तथ्य स्वयं केवल इस विशिष्ट प्रयोजनार्थ उसी सीमा तक प्रयोज्य होते हैं जहाँ तक कि, ज्ञेय अशुद्धि के बिना उन्हे ऐसा समझा जा सके मानों वे सार्वभौम यान्त्रिकता की अभिधारणाओं के अनुपालक हो। मनोवैज्ञानिक तथ्यो के अधिक कठिन और विशिष्ट मामले पर अलग से विचार करने की बात मैं अगले खंड के लिए सुरक्षित रखता हूँ। (आगामी खड ४, अध्याय १)

यान्त्रिकी विषयक अभिधारणा की तार्किक अर्हता सबंधी इस अभिमत के लिए, जो सिद्धान्ततः मेरे मन से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, मैं अपने पाठको को श्री डब्लू० आर० बी० गिब्सन लिखित 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक पुस्तक के पृ० १४४ पर छपी रोचक तर्कना का हवाला देता हूँ।

और आत्म-व्याख्येय व्यवस्था हो सकता है इसलिए हमे यह जान लेने की आशा रखना आवश्यक है कि भौतिक जगत् की यान्त्रिकीय व्याख्यार्थ प्रयोग मे आने वाली कल्पनाएँ हमे उसी क्षण व्याघात दोष की ओर ले जा सकती है ज्योही कि हम उन कल्पनाओ को समग्रसत् अथवा वास्तविकता के मूर्त स्वरूप के पूर्ण विवरण रूप मे ग्रहण करने का प्रयास प्रारभ करते है। यह बात दो प्रकार से विशेषत प्रकट होती है। एक ओर तो यान्त्रिकी-विषयक पदार्थों का समस्त वास्तविकता मे विनियोग हमे अनिवार्यत अनिश्चित प्रतिगामिता की ओर ले जाता है। दूसरी ओर अस्तित्व के न्यूनतर भाग मे उनका वैध विनियोग होने पर वे सब प्रामाण्यतया आपेक्षिक पायी जाती है, अर्थात् वे सदा ही किसी ऐसे अनेक पक्षीय तथ्य का एक पहलू प्रतीत होती है, जो इन अन्य पहलुओ के विना निरर्थक होगा। इन दोनो विन्दुओ पर विवरणात्मक विचार करना हमारे लिए उचित होगा।

भौतिक व्यवस्था के मामले मे यान्त्रिकीय अभिमत का सफल विनियोग करने के लिए हमे उस व्यवस्था को गुणात्मकतया एकरूप तथा सम्बद्ध भागो के समग्र के परिवर्तनशील सरूपणो से बना हुआ मानना पडेगा। इस दृष्टि विन्दु से किसी प्रकार के भी विचलन के माने होगे ऐसे विभेदों की मान्यता जिन्हे केवल मात्रात्मक ही नही माना जा सकता अर्थात् गणना और प्रागुक्ति के विषय मात्र, और इस प्रकार हमे अपनी विश्व-विषयक व्याख्या मे अयान्त्रिकीय कारक का अध्याहार करने के लिए वाध्य हो जाना पड़ेगा। यान्त्रिकीय अभिमत के पूर्ण क्रियान्वयन मे, इस प्रकार, विश्व की ऐसी सकल्पना अभिग्रस्त हो जाती है, जो एक अवकाश विस्तरित और कालाक्रान्त व्यवस्था रूप है और आकाशीय तथा कालीय परिवर्तन योग्य होते हुए भी अपने परिवर्तनो मे आमूलान्त मात्रात्मक अभिज्ञान व्यक्त करती रहती है। भौतिक विज्ञान की क्रियात्मक सरचनाओ मे इस मात्रात्मक अभिज्ञान का प्रतिनिधित्व मुख्यत सन्मात्रीय अविनाशिता तथा ऊर्ज्जा अविनाशिता के सिद्धान्त किया करते है। अपने सामान्य रूपो मे ये दोनो ही अवर सिद्धान्त इस प्रकार न तो ज्ञानात्मक स्वय सिद्ध ही है न सत्याप्य अनुभवाधारित तथ्य अपितु वे यान्त्रिकी विषयक सामान्य अभिधारणा के अश मात्र ही है। ऐसा कोई भी अन्तमेत्य तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त नही है जिसके आधार पर उन विशिष्ट मात्राओ को जिन्हे हम सन्मात्रा और ऊर्ज्जा कहते है वृद्धि अथवा ह्रास के अयोग्य मानने के लिए वाध्य हो, ना ही हमारे पास ऐसे कोई परीक्षणात्मक साधन ही हैं जिनके द्वारा हम सिद्ध कर सकें कि वे मात्राएँ सन्निकट अचर से भी कही और अधिक अचर हैं।[1]

---

१. तुलना कीजिए ब्रेडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी', अध्याय २३, नोट, २, पृष्ठ ३३। (प्रथम संस्करण), लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक्स', खंड २, अध्याय ७,

किन्तु घटनाओ की क्रम-गणना करने में सफलता प्राप्त करने की एक आवश्यक शर्त यह है कि मात्रात्मक अभिज्ञान ऐसा जरूर न होना चाहिए जो भौतिक परिवर्तन की विविध प्रक्रियाओ के बीच अप्रभावित बना रहे और मौजूदा हालात मे यान्त्रिकीय सरचना विषयक इस प्रागनुभवात्मक अभिधारणा की निश्चित अभिव्यक्ति हम मुख्यतः अचरता के दो सन्मात्रा और ऊर्ज्जा जैसे दो मात्रात्मक विशिष्ट रूपो द्वारा कर सकने में ही समर्थ प्रतीत होते है।

अब आइये हम अवकाशीय तथा कालीय दिग्निर्देश और स्थिति को ले। इनके बारे मे हम पहले ही देख चुके है कि वे दोनो ही सदा सापेक्षी होते है क्योकि स्थिति और दिशा का परिलक्षण सदर्भीय मानक रूप मे स्वेच्छतया चयित अन्य दिग्निर्देशों और स्थितियों के अनुसार ही किया जा सकता है और यदि उन्हे चरम सत् अथवा वास्तविकता मान लिया जाता है तब उनमे अनिश्चित प्रतिगामिता अन्तर्ग्रस्त हो जाती है। अब इतना ही सिद्ध करना शेष रह जाता है कि यान्त्रिक योजना की सन्मात्रा और ऊर्ज्जा जैसी, अन्य मौलिक कल्पनाओं के विषय मे भी यह बात सही है। दोनो को पृथक् पृथक् लेकर आइए पहले हम सन्मात्रा विषयक अभिमत पर विचार करें। किसी द्रव्यात्मक व्यवस्था की सन्मात्रा को चालू शब्दो मे उस व्यवस्था के 'द्रव्य की मात्रा' कहा जाता है। किन्तु तर्कशास्त्रीय विश्लेषणार्थ उसके लिए इससे अधिक विशुद्ध परिभाषा आवश्यक है। और इस तरह की परिभाषा निम्नलिखित तरीके से की जा सकती है। किसी पिण्ड की अचरता का क्या मतलब है यह समझाने के लिए कम से कम तीन विभिन्न 'पिण्डो' के, जिन्हे हम अ ब स की संज्ञा दे सकते हैं। पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार करना आवश्यक होता है। यह देखा गया कि एक दिए हुए फासले पर 'अ' की उपस्थिति, 'स' को 'म' मात्रिक त्वरण प्राप्त होता है और 'ब' की उपस्थिति मे 'न' मात्रिक दूसरा त्वरण उसे प्राप्त होता है ऐसी दशा मे 'अ' की सन्मात्रा का 'ब' की सन्मात्रा के साथ अनुपात 'म'/'न' का रहता है और यही उन त्वरणो का अनुपात है जो वे दोनो 'स' मे उत्पन्न करते है। यह अनुपात अचर होगा भले ही 'स' के लिए कोई भी पिण्ड क्यो न हम चुन ले। अतः यदि स्वेच्छतया हम 'ब' को ही सन्मात्रा के मापार्थ इकाई के रूप मे मान ले तो उपर्युक्त परीक्षण द्वारा निर्धारित 'अ' की सन्मात्रा सख्या 'म' द्वारा प्रकट होगी। सन्मात्रा के अविनाशित्व सिद्धान्त का अभिप्राय इस अभिमत मे निहित है कि उपर्युक्त अनुपात

पृ० २०१, २१० (अंग्रेजी अनुवाद खं० २, पृ० ८९ एफएफ; वार्ड लिखित 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, पृ० ८४-९१ (कंजर्वेशन ऑफ मॉश), १७०-१८१। (कंजर्वेशन आफ एनर्जी)।

म/न कालात्यय के कारण वदलता नही ।[1] अर्थात् किसी भी पिण्ड-द्वय द्वारा किसी तीसरे पिण्ड मे उत्पादित त्वरणो के साध्य का अनुपात अचर होता है और स्वयं इस तृतीय पिण्ड से स्वतंत्र भी । इस साध्य अथवा तर्कवाक्य का किसी विशिष्ट पिण्ड-द्वितय के सवंध मे सन्निकटतया सत्यापन प्रत्यक्ष परीक्षण द्वारा किया जा सकता है किन्तु जव सार्वभौमरूपेण उसे सत्य वताया जाने लगता है तव वह यान्त्रिकी की सामान्य अभिवारणा का ही अग वन जाता है ।

सन्मात्रा अर्थ की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि (१) सन्मात्रा एक सापेक्ष संख्या है । वह किसी ऐसे अचर अनुपात का द्योतक होती है जिसके पूर्ण परिलक्षणार्थ तीन पृथक् पदो की आवश्यकता होती है, अत. समग्र भौतिक व्यवस्था अथवा 'विश्व' मे सन्मात्रा के अध्याहरण के कोई माने न होगे । विश्व समग्रत. तभी सन्मात्रात्मक हो सकता था जव कोई पिण्ड ऐसा उसके वाहर मौजूद होता जो उसके साथ ऐसी अन्त·-क्रिया कर सकने मे समर्थ होता जिससे हम उक्त पिण्ड की समुपस्थिति मे समग्र 'भौतिक विश्व' तथा स्वेच्छतया चयित सन्मात्रात्मक इकाई के आपेक्षिक त्वरणों की तुलना कर सकते । किन्तु हमारी कल्पना के 'विश्व' मे सारा ही भौतिक अस्तित्व समाया रहता है अतः उससे वाह्य अन्य उपर्युक्त प्रकार का कोई पिण्ड नही है । और इसी लिए विना वदतो-व्याघात दोप के हम यह नही कह सकते कि समग्र अस्तित्व मे सन्मात्रात्मक गुण वर्तमान होता है न किसी पुष्टतर आवार पर यह ही कह सकते हैं कि उसकी सन्मात्रा अचर होती है । सन्मात्रा की अविनाशिता का सिद्धान्त विश्व के छोटे मोटे भागो पर ही वुद्धिगम्यतया आयत्त हो सकता है ।

(२) यह वात भी स्पष्ट है कि किसी पिण्ड की सन्मात्रा, हमारी यान्त्रिकीय संरचनाओ मे अविगणित वहुतेरे पहलुओं से मुक्त विश्व का केवल एक पहलू होती है । ऐसे पिण्डो के जिनके त्वरणो मे इस प्रकार अचर अनुपात वस्तुत. प्रदर्शित हुआ करता है, इस अचर अनुपात से अतिरिक्त अन्य वहुत से गुण धर्म और भी हुआ करते हैं । वस्तु-

---

१. सन्मात्रा नामक पद के अर्थ का स्थिरीकरण मात्र ही हमें अभीष्ट हो औरउसे हम अचर सन्मात्रा की कल्पना के विना ही स्थिर करना चाहते हों तो केवल अव दो पिण्डों को ही लेकर विचार कर सकते हैं

$$\frac{\text{ब की संमात्रा}}{\text{तव अ की समात्रा}} = \frac{\text{ब की उपस्थिति मे अ का त्वरण}}{\text{अ की उपस्थिति मे ब का त्वरण}}$$

देखिए—मॉश कृत 'सायंस ऑफ मेकेनिक्स', पृष्ठ २१६ एफएफ; तथा पीयर्सन लिखित 'ग्रामर ऑफ सायंस', पृष्ठ ३०२ (द्वितीय संस्करण) जिस पर उपर्युक्त विवरण आधारित है ।

तथ्यत. उनमे परस्पर तथा अन्य वस्तुओं से भी ऐसी गुणात्मक विभिन्नताएँ होती है जिनका हम अपने यान्त्रिकीय उपयोग मे कोई ख्याल इसलिए नही रखा करते क्योकि उनसे उस विशिष्ट गुणलक्षण मे जिसमें गणना हेतु हमारी विशेष अभिरुचि हुआ करती है, कोई अन्तर नही पडता। यान्त्रिकीय क्रियाकलाप मे एकदम खुले और स्पष्टतम अपाकर्षणो द्वारा ही हम पिंडो का इस प्रकार उपयोग किया करते हैं मानों वे सन्मात्रा मात्र हो अन्य कुछ नही। अत प्रकृति की यान्त्रिकीपरक व्याख्या जिन तथ्यो को अपने लेखे-जोखे मे शामिल करती है जहाँ तक कि उसके द्वारा क्रियमाण पिण्डों के सन्मात्राओ मे विघटन का प्रश्न है वहाँ तक, वे तथ्य ऐसी पूर्णतर वास्तविकता का एक पहलू मात्र होते हैं जिसे हम समग्र का समकक्ष केवल व्याहारिकतावश ही इसलिए मानते हैं कि उसका लक्ष्य उसे अनुभव के आधार पर समकक्ष मानने से ही सिद्ध होता पाया जाता है।

ठीक यही बात ऊर्ज्जा विषयक पूरक धारणा के विषय मे भी सही है। प्रतिरोध के विरुद्ध किसी पिण्ड की क्षमता अथवा उसकी स्थितिज ऊर्ज्जा को परीक्षण द्वारा प्राप्त माप उसके वेग के वर्गार्ध को उसकी सन्मात्रा द्वारा गुणा करने से प्राप्त होता है। परीक्षण से यह भी पता लगता है कि जहाँ तक हम माप सकते है वहाँ तक ही किसी ऐसी पादार्थिक व्यवस्था की, जिसपर कोई वाहरी प्रभाव नही है ऊर्ज्जा अचर रहा करती है। यह अचरता निरपेक्ष है यह बात एक वार फिर प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित प्रामाण्य की अपेक्षा नही करती अपितु वह इस अभिधारणा का ही अश सिद्ध होती है कि भौतिक व्यवस्था यान्त्रिकीय दृष्टिकोण से व्याख्येय हैं। सन्मात्रा विषयक धारणा के वारे मे पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे अब इतना तो हमे तुरन्त ही मालूम हो सकता है कि भौतिक जगत् अथवा 'विश्व' को समग्रतः स्थितिज ऊर्ज्जामय चाहे वह ऊर्ज्जा अचर हो अथवा अन्य प्रकार की, कहना वुद्धिमानी न होगी। जिसे सन्मात्रावान् नही कहा जा सकता उसमे सन्मात्रात्मक शब्दावली द्वारा व्याख्येय गुण धर्म भी नही हो सकता। निश्चय ही यही निष्कर्ष सीधे ऊर्ज्जा की इस परिभाषा से ही निकाल सकते थे कि प्रतिरोध की पराभूति के लिए किए जाने वाले कार्य की क्षमता ही ऊर्ज्जा कहलाती है। चूंकि 'विश्व' से वाह्य कोई चीज है ही नही इसलिए उसके द्वारा पराभूत होने योग्य सभाव्य प्रतिरोध का कोई स्रोत भी नही हो सकता और इसीलिए यह भी नही सोचा जा सकता कि विश्व 'काम' करता है अत. पुनः एक वार कह सकते है कि भाग अथवा अगरूप मे ही ग्रहीत भौतिक जगत् के अशो मे ही ऊर्ज्जा का आरोप किया जा सकता है।

(२) एक वार फिर यह वात कि हम किसी विशुद्धत यान्त्रिकीय सरचना द्वारा अधिकृत अन्यतम पक्ष-समग्र में से अपाकर्पण द्वारा एकाकीकृत उसके केवल एक ही पक्ष पर विचार कर रहे हैं सन्मात्रा के मामले की अपेक्षा ऊर्ज्जा के विपय मे और भी अधिक

स्पष्ट दीखती है। क्योंकि (अ) किसी वास्तविक पिण्ड की कार्यक्षमता सदा वास्तविक गति के 'गतिज' रूप मे नही रहती। गतिज ऊर्ज्जा के विविध रूप हुआ करते हैं जैसे किसी उपरिष्ठ पिण्ड की 'स्थान' विषयक ऊर्ज्जा तथा अपने आसपास के तापमाप की अपेक्षा अधिक तापमापवान् पिण्ड का ताप जिन्हे यान्त्रिकीय विज्ञान गतिज ऊर्ज्जा का समकक्ष इसलिए मानता है क्योंकि सैद्धातिकतया उन्हे 'गतिज' ऊर्ज्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है। और अगतिज प्रकार की ऊर्ज्जाओ के ये रूप वास्तविक गति सबन्धिनी ऊर्ज्जा से तथा पारस्परिक ऊर्ज्जा दोनो ही से गुणात्मकतया पृथक् होते हैं। यह तो अपाकर्षण ही है जिसके आधार पर हम उन्हे तादात्म्यरूप मानते है क्योंकि किन्ही विशिष्ट प्रयोजनो के लिए वे समकक्ष हुआ करती है। हो सकता है कि इन गुणात्मक पार्थक्यो के कारण हमारे अपने विशिष्ट प्रयोजन में कोई अन्तर न आये किन्तु फिर भी वे वहाँ मौजूद तो रहती ही है।

इसके अतिरिक्त यान्त्रिकीय योजना स्वय भी हमे यह समझा सकने के लिए एकदम अपर्याप्त है कि ऊर्ज्जा के विभिन्न रूप एक दूसरे की स्थानापत्ति कैसे किया करते है। जैसाकि प्रोफेसर वार्ड ने बडी अच्छी तरह कहा है कि ऊर्ज्जा-अविनाशित्व विषयक अभिमत इससे अधिक और कोई दावा नही करता कि ऊर्ज्जा के सभी विनिमयो मे कुछ न कुछ मात्रात्मक अभिज्ञान बना ही रहता है। किन्तु ये विनियम कब और किस दिशा में होगे यह बात कह सकने की क्षमता उपयुक्त सिद्धान्त हमे नही देता। उदाहरणत: यदि मुझे किसी ऐसे शिलाखण्ड की सन्मात्रा ज्ञात हो जो किसी छत पर रखा हो और साथ ही यदि मुझे धरातल से छत तक की ऊँचाई तथा उस विशिष्ट स्थान पर गुरुत्व द्वारा उत्पादित त्वरणो का भी ज्ञान मुझे हो तो मैं उस शिलाखण्ड की 'स्थितिज ऊर्ज्जा' का निर्धारण कर सकता हूँ। लेकिन इन उपर्युक्त दत्तो के आधार पर मुझे यह कुछ भी ज्ञात नही हो पाता कि यह स्थितिज ऊर्ज्जा सदा ही क्या अपने विभवीय रूप मे ही रहेगी अथवा यह पत्थर कभी हट सकेगा और उसकी ऊर्ज्जा गतिज रूप में भी परिवर्तित हो सकेगी? और यदि ऐसा हो सकेगा तो कब। इस प्रकार प्रकृति की यान्त्रिकीय व्याख्याविषयक सिद्धान्त शिलाखण्ड के पतन जैसे सीधे सादे मामले मे मूर्त घटना क्रम का वर्णन करने जैसे सीधे सादे मामलो तक के लिए पर्याप्त सिद्ध नही होते। यदि शिलाखण्ड गिरता है तो यान्त्रिकीय अभिधारणा की सहायता से मैं उस प्रक्रिया के एक पक्ष का वर्णन कर सकता हूँ, जो नामत उत्क्रान्त होने वाली गतिज ऊर्ज्जा की मात्रा कहलाती है। इसके अतिरिक्त अगर कुछ पहले वाली शर्ते पूरी हो सकी, जैसे कि अगर वह आधार जिसपर पत्थर रखा है टूट जाता है और पत्थर का पतन पहले से रोका नही जाता तो यान्त्रिकीय अभिधारणा के बल पर मैं निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि पत्थर गतिज ऊर्ज्जा की ठीक इतनी मात्रा से गिरेगा और जमीन तक पहुँचेगा। लेकिन जब तक मैं

यान्त्रिकीय योजना की सीमाओं के भीतर रहूँगा तब तक उन वस्तुओं को जिनका पूर्ण निर्धारण स्वय यान्त्रिकीय योजना के वस की वात नही, दिये गये दत्तों को प्राक्कल्पना मान कर चलने से मैं वच नही सकता ।

इन सब वातो से पता चलता है कि स्वयं यान्त्रिकीय योजना के स्वरूप मात्र से ही हमारा पहलेवाला यह निष्कर्ष कि प्रकृति के गतिक्रम में हस्तक्षेप कर सकने के सफल नियम निर्धारणार्थ पर्याप्त यथार्थतापूर्वक गणना कर सकने की हमारी व्यावहारिक आवश्यकता के कारण उद्भूत अभिधारण ही की वह एक विवृत्तिमय व्याख्या मात्र है किन्तु विना किसी व्याघात के तार्किकरूपेण वह किसी मूर्त प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक वास्तविक सत्य के रूप मे मान्य होने के अयोग्य है । वैज्ञानिक यान्त्रिकता की मौलिक धारणाओ की परीक्षा से प्राप्त आन्तरिक साक्ष्य से अन्य आवारो पर उरीकृत इस अभिमत की कि यह समग्र भौतिक जगत् किसी इस तरह की चरमतर सत्ता या वास्तविकता का आभास मात्र है जो हमारे अपने ज्ञानवान् और सप्रयोजन जीवन की ही सदृश है। पुष्टि करता है । साथ ही यान्त्रिकता की हमारी इस परीक्षा से सत्ता या वास्तविकता तथा आभास के वीच की प्राय: भ्रान्तिपूर्ण प्रतिस्थापना पर भी कुछ उपयोगी प्रकाश पड सकता है। यान्त्रिक विज्ञान की दृष्टि से हम भौतिक जगत् को 'आभास' इसलिए नही कहते कि हम उसे तद्रूपेण भ्रान्ति अथवा माया मानते है, ना ही इसलिए कि वह किसी सत्य सत्ता या वास्तविकता की अभिव्यक्ति नही है अपितु इसलिए कि वह वास्तविकता या सत्ता के उन्हीं विशिष्ट पक्षो पर ध्यान देता है जो किन्ही विशिष्ट प्रयोजनो के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होते है। हमे जो कुछ भौतिक जगद्रूप भासता है, नि सन्देह वह एक सत्य सत्ता है और वह तथ्यरूपेण, तद्रूपेण वर्तमान एकमात्र सत्ता का ही एक पूर्ण सांख्यिक भाग है, किन्तु वह हमारे सामने इस विशिष्ट रूप मे और इन विशिष्ट प्रतिवन्धो के भीतर इसलिए प्रतिभासित होता है क्योंकि हमने वर्णनात्मक विज्ञान की अपनी प्रारभिक अभिधारणाओ के मनमाने चुनाव द्वारा मूर्ततथ्यो विषयक प्रत्येक अन्य पहलू को अपने विचार-क्षेत्र के बाहर ही रहने दिया है। अपनी इस दुनिया के विषय मे अपने भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत हम जो खास-खास सवाल पूछा करते है उनकी शक्ल सूरत ही वताती है कि हमने उन प्रत्याशित उत्तरो की सामान्य रूपरेखा पहले ही से निर्धारित किये वैठे है ।

उदाहरण के लिए, दृढतया वैज्ञानिक अनुसन्धान ने सारी दुनिया मे सर्वत्र यान्त्रिकीय निर्धारण ही देखने को मिलता है, प्रयोजनात्मक स्वत. प्रवृत्ति के दर्शन नही होते । ऐसा इसी लिए होता है चूंकि वह अनुसन्धान पहले ही से यह निश्चय किये वैठा होता है कि वह केवल 'यान्त्रिकीय व्याख्या' को अपने प्रश्नों के उत्तर मे ही स्वीकार करेगा और किसी को नहीं । अपने यान्त्रिकीय विज्ञान मे शुरू से आखीर तक इस प्रकार के

स्वत' आरोपित तार्किक प्रतिबन्धो की मौजूदगी को जहाँ तक हम न भुलायेगे वहाँ तक उनका अस्तित्व हमे न तो किसी मायाजाल की ओर ले जा सकेगा न किसी धोखे मे फँसा पायेगा। हमारी यान्त्रिकीय अभिधारणाओं की सफलता सिद्ध करती है कि उनकी तर्कशास्त्रीय विनियोजनीयता की परिधि के भीतर विश्व का गतिक्रम उन अभिधारणाओ का वास्तव मे ही अनुपालन करता है और इस विनियोजन से हुए प्राप्त परिणाम, जहाँ तक बूता है, वहाँ तक, असली सत्य होते है, यान्त्रिकीय विज्ञान के सत्य तब ही विपर्यस्त होकर यान्त्रिकीय दर्शनशास्त्र की भ्रान्तियो और असत्यताओ का रूप धारण कर लेते हैं जब हम यान्त्रिकीय अभिधारणाओ के तर्कशास्त्रीय विनियोजन के लिए निर्धारित उन मर्यादाओं को जो उन अभिधारणाओ द्वारा साध्य हितो के विशिष्ट स्वरूप के कारण उन पर आयत्त होती है, भूल जाते है और उन्हे समग्र अस्तित्व तथा सकल ज्ञान की तर्कानुसार अपरिहार्य शर्ते मान कर चलने लगते हैं।

अधिक परामर्शार्थ देखिए —एफ० एच० ब्रेडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी', अध्याय २ (फिनोमिनलिज्म), २२ (नेचर), एच० लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक', पुस्तक २, अध्याय ७,८, ई० मॉश लिखित 'सायस आफ मेकेनिक्स', अध्याय २, सेक० ५, पृ० २१६ एफ़एफ; के० पीयर्सन लिखित 'ग्रामर आफ सायस', अध्याय ७, ८, एच० पोयकारे की पुस्तक 'ला सायस एट् ला 'होयपोथीज' के पार्ट्स ३ व ४, अध्याय ६–१०; जे० बी० स्टैलो लिखित 'कासेप्ट्स एण्ड थियरीज आफ मार्डन फिजिक्स', अध्याय २–६, १०–१२, जे० वार्ड कृत 'नेचरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म,' खड १, लेक्चर २–६।

चतुर्थ खण्ड

तर्कना-परक मनोविज्ञान : जीवनविषयक अर्थ-निर्णय

अध्याय १

मनःशास्त्रीय विज्ञान का तर्कनापरक स्वरूप

१—वे सब विविध विज्ञान मानवजीवन के अर्थ निर्णय का काम करते है। मनोविज्ञान के मौलिक पदार्थो का उपयोग किया करते है। इसलिए हमारा पूछना आवश्यक है कि मनोविज्ञान की कल्पनाएँ वास्तविक अनुभूति से किस प्रकार सम्बद्ध होती है। २—मनोविज्ञान अमूर्त वर्णनात्मक सूत्रों का एक समूह है। वह वास्तविक जीवन की व्यष्ट प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नही है। वह भौतिक जगत् की पहले वाली सरचना के अस्तित्व को पहले से ही मान कर चलता है। ३—'मानसिक स्थितियो के अनुवर्तन' अथवा 'प्रतिमूर्तियो के अनुवर्तन' के रूप मे चैतन्य जीवन की मनोवैज्ञानिक परिकल्पना वास्तविक अनुभूति का ऐसा रूपान्तरण है जिसका जोड तोड़ अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियो का लेखा बैठाने के लिए लगाया गया है और जिसे विस्तृत करके मेरी अपनी अनुभूति में रूपान्तरित कर दिया गया है। यह रूपान्तरण 'अन्तर्निवेश' विपयक प्राक्कल्पना द्वारा किया जाता है। ४, ५—तथ्यों के मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण का तार्किक औचित्य दो प्रकार का है। मनोवैज्ञानिक योजना मनोवैज्ञानिक यान्त्रिकता विपयक हमारे सिद्धान्तो की खाली जगहो को थोडा बहुत भरने का काम करती है और साथ ही वह मनोविज्ञान के साध्यपरक पदार्थ के सवध मे मानव चरित्र के क्रम का इस रूप में वर्णन करने के काम करती है कि वह नीतिशास्त्र तथा इतिहास की शंसा प्राप्त कर सके। मनोविज्ञान यान्त्रिक तथा साध्यपरक दोनों ही प्रकार के पदार्थों का वैध उपयोग कर सकता है। ६—(अ) मनोविज्ञानिक, (ब) साध्यवादीय वर्णनों की सभाव्यता के विरुद्ध कभी कभी उठाये जाने वाले आक्षेप ग्राह्य नही हैं।

१—विश्व-सम्बन्धी कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण धारणाओ की जो सक्षिप्त समीक्षा हमने की उससे हमे परिणामस्वरूप यह विश्वास हो गया कि हमारे प्रथम दो खडों मे सिद्धान्तत अस्तित्व विपयक जो 'आदर्शवादी' अथवा 'अध्यात्मवाद परक' व्याख्या की, गयी थी वह सही थी। वे पाठक जिनकी हमारे साथ सहमति यहाँ तक चली आयी है, यह मानने के लिए पूरी तरह तैयार होंगे कि विश्व को यदि हम एकदम अथवा खडग. यान्त्रिकरूपेण अन्योन्य-क्रिया परायण तथा परस्पर निर्भर तत्वो से बना हुआ मानने की अपेक्षा ऐसे सवेदी (ज्ञानवान्) और सप्रयोजन अनुभूति-पात्रो से जो सिद्धान्तत मानव समाज के सदस्यो से मिलते जुलते हों, बना हुआ माने तो हम कम से कम,

सत्य के निकटतर तो अवश्य ही पहुँच चुकेंगे। किन्तु विश्व की आदर्शवादपरक व्याख्या फिर भी हमे गहनतम दार्शनिक महत्व की अनेको समस्याओ का सामना करने के लिए छोड देती है। हमें फिर भी पूछना पडता है कि हम ऐसे व्यवस्थित एकत्व की सच्चाई के साथ विशिष्ट कल्पना क्योंकर कर सकते हैं जो आभासत न्यूनाधिक स्वतन्त्र अनुभूति-पात्रों के समग्र बाहुल्य द्वारा निरूपित हो, तथा यह भी कि उक्त व्यवस्था के अग रूप मे जहाँ तक हमारी समझ मे आ सके वहाँ तक, स्थायित्व तथा व्यष्टता की कितनी मात्रा हमारे हिस्से मे पडती है और यह भी कि हमारी नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूति विषयक आकाक्षाएँ और आदर्श इस समग्र व्यवस्था के मूर्त स्वरूप तथा उसमे हमारे अपने स्थान के विषय पर कितना प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त, इससे पहले कि हम इन महत्वपूर्ण समस्याओं की युक्तियुक्त सफलता की आशा लेकर आलोचना प्रारभ कर सकें हमे यह जानने की जरूरत होगी कि मानसजीवन का विवेचन करनेवाले विविध-विज्ञानो द्वारा प्रयुक्त पदार्थों मे से कौन से पदार्थ मौलिक महत्व के हैं तथा यह कि अव्यवहृत अथवा तात्कालिक अनुभूतिविषयक मूर्त वास्तविकताओ और भौतिक विज्ञानो के अर्थागमो के साथ उन विज्ञानो का तर्कसगत सम्बन्ध क्या है। मनोविज्ञान, समाज विज्ञान अथवा नीतिशास्त्र के शब्दो मे, समग्र अस्तित्व का अर्थ निर्णय कहाँ तक वैध है। इसका निर्णय हम विविध मानस विज्ञानों द्वारा साध्य प्रयोजनों विषयक तर्कपरक सिद्धान्त तथा तदनुरूप पदार्थों के उपयोग पर उन प्रयोजनो के द्वारा आयत्त हो सकने वाले प्रतिबन्धो के आधार पर ही कर सकते है।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त अनुच्छेद मे सकेतित पुरोगम के पूर्ण क्रियान्वयन के लिए मानवजीवन की सार्थकताविषयक व्यवस्थित दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता होगी और उस व्याख्या के लिए सामाजिक तत्वमीमासा अथवा 'इतिहासीय' तत्वमीमासा जैसा कोई नाम उसकी पारपरिक अभिधा 'तर्कपरक मनोविज्ञान' की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु अपने कर्तव्य कर्म के इस उपविभाग के लिए, मैंने पुराना ही नाम इसलिए खासतौर पर कायम रखा क्योंकि स्वय हमारा प्रारभिक विवाद मूलत उन बेहद सीधी-सादी और सर्वसामान्य मनोवैज्ञानिक धारणाओ से सबद्ध होगा जिनका उपयोग समाजशास्त्रीय तथा इतिहासशास्त्रीय जैसे अधिक ठोस विज्ञान उसी प्रकार किया करते है जिस प्रकार कि सन्मात्रा, ऊर्ज्जा और वेग आदि यान्त्रिक कल्पनाओं का स्थिर उपयोग रसायनादि भौतिक विज्ञान करते है। मनोविज्ञान के एक पक्ष तथा विविध सामाजिक और ऐतिहासिक विज्ञानो के द्वितीय पक्ष के बीच के सम्बन्ध की विशुद्ध मात्रा के विषय मे चाहे जैसी दृष्टि क्यो न अपनायें लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा इतिहासादि अन्य सब मे ही आत्म, इच्छा, विचार, स्वतन्त्रता आदि जैसे मनोवैज्ञानिक पदार्थों का लगातार उपयोग सन्निविष्ट रहता है और

यह कि, इस प्रकार इतिहास तथा समाज की किसी भी तत्वमीमांसात्मक गम्भीर व्याख्या का प्रारंभ उन कल्पनाओ को सम्बद्ध विज्ञान के तर्कपरक स्वरूप के अनुसधान से ही ठीक उसी तरह होना आवश्यक है जिस तरह कि प्रकृति का गम्भीर तत्वमीमासक यान्त्रिक विज्ञान-सबधी अभिधारणाओं की परीक्षा को लेकर अपना अनुसंधान प्रारभ करने के लिए वाध्य था। मैं अनुमान करता हूँ कि अपने पाठको को यह फिर से याद दिलाने के खातिर एकाध चलाऊ शब्द कह देने के अतिरिक्त और अधिक कुछ कहने की यहाँ जरूरत नही कि इस प्रकार के अनुसधान मे विशुद्धत. अनुभवाश्रित मनोविज्ञान की पहले ही से हुई सृष्टि का पूर्वग्रहण करके ही कार्यारभ करना होता है। मनोविज्ञान के प्रति तत्त्वमीमासा का सरोकार प्रारभ ही यह आदेश दे चलने का नही है कि वह विश्वविषयक अपना अभिमत किस प्रकार का वनाने के लिए वाध्य है अपितु उसका काम है परिपूरित संरचना के तर्कपरक स्वरूप का पता लगाना तथा मानवज्ञान की सामान्य व्यवस्था के साथ उसके सम्वन्ध की जाँच करना।

२—विज्ञानों के वीच मनोविज्ञान का स्थल.—तत्त्वमीमासक के दृष्टिकोण मे स्पष्टतः और निरन्तर इस वात को पहचान रखना वेहद जरूरी है कि मनोविज्ञान अन्य विज्ञानो के समान वास्तविक पात्रों का या व्यक्तियो की ही क्रियात्मक अनुभूतियो से निरन्तर काम न ले अपितु वह उन दत्तों का ही उपयोग किया करे जो क्रियात्मक अथवा वास्तविक अनुभूतियों के कृत्रिम जोड़-तोड और रूपान्तरणो द्वारा, किन्ही विशिष्ट हितों और प्रयोजनो के आदेशानुसार निर्धारित रूप मे प्राप्त हुए हों। यह एक ऐसी वात है जिस पर कोई भी आदर्शपरक तत्त्वमीमासक विशेषतः अपने भरोसे छोड दिए जाने पर, गलत रास्ते जा सकता है। क्योकि वह तो इसी विश्वास को लेकर चलता है कि अस्तित्व के इस समग्र के स्वरूप की कुंजी हमे अपने ही सवेदी और सप्रयोजन जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति में ही मिलती है। अत. यदि उसने मनोविज्ञानशास्त्र के रीति-विधान पर विशेष रूप से ध्यान न दिया हो तो, उसका झुकाव पहले ही से इस वात के निर्धारित मान लेने की ओर होता है कि मनोविज्ञानशास्त्री की कल्पनाएँ और अभिधारणाएँ इन अनुभूतियो का मूर्त और प्रत्यक्ष विवरण प्रस्तुत करती है और इसलिए उन्हे नि शक होकर स्वय निरपेक्ष तथा अनन्त व्यष्ट की अन्तरतम सरचनाविषयक निश्चित ज्ञान का उपयोगी स्रोत माना जा सकता है। इस वात को प्रयोगात्मक प्रदर्शनों द्वारा वार वार सिद्ध करने का प्रयत्न भी, कि मनोविज्ञानशास्त्र के प्रचलित पदार्थों से कोई सा भी पदार्थ विना किसी महान् व्याघात के, वास्तविकता अथवा सत्ता के निरपेक्ष समग्र का विधेय नही वनाया जा सकता, प्रायः वहाँ विश्वास पैदा नही कर पाता जहाँ मनोवैज्ञानिक के दत्तों की कृत्रिमता तथा मूर्त वास्तविकता से उनके दूरत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण उसके साथ नही होता। अत, इस प्रकार के प्रश्नो

पर बहस करना कि क्या अपरिमित व्यष्टि को सहीतौर पर 'आत्म' माना जा सकता है अथवा 'नैतिक व्यक्ति' या 'नैतिक व्यक्तियों का समाज' और यह कि क्या परिमित 'आत्म' विश्व व्यवस्था के 'सर्वकालीन' कारक होते हैं अथवा अस्थायी कारक, निरर्थक से भी बढ़ कर होगा जब तक कि पहले उन तरीकों के बारे में जिनके अनुसार ये मनोवैज्ञानिक कल्पनाएँ अनुभूति की मूर्त वास्तविकताओं से व्युत्पादित होती हैं तथा उन विशिष्ट हितों के बारे में जिनके कारण उनका निरूपण होता है और इन हितों द्वारा उनके वैध विनियोजन के क्षेत्र पर लगाये गये प्रतिबन्धों के बारे में किसी प्रकार का निश्चित अभिमत पहले से ही निर्धारित न कर लिया जाये।

यह बात कि अन्य वर्णनात्मक विज्ञानों के ही समान मनोविज्ञान शास्त्र भी आमूलान्त ऐसे तथ्यों पर ही विचार करता है जो मूर्त आनुभूतिक वास्तविकताएँ नहीं होते बल्कि अपाकर्षण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के कृत्रिम उत्पाद हैं, इससे ही पर्याप्त स्पष्ट होना चाहिए कि अन्य विज्ञानों की तरह मनोविज्ञान भी उपलक्षणात्मक स्थितियों के सामान्य विवरणों का निकाय है। जानने अथवा काम करने की कोई भी वास्तविक प्रक्रिया, प्रत्येक वास्तविक घटना के समान ही, सदा व्यष्ट ही हुआ करती है और चूँकि वह व्यष्ट होती है इसी लिए उसका पर्याप्त वर्णन कर सकना असंभव होता है। उसका वर्णन अगर किया भी जा सके तो उतनी ही सीमा तक किया जा सकता है जहाँ तक कि उसके कुछ पहलुओं और गुणों को उसकी समग्र सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में चुनकर उनके सामान्यीकरण की गुंजाइश स्थिति में मौजूद हो. इतिहास तथा जीवन चरित तक का अस्तित्व जिनमें किसी ऐसी घटना-शृंखला की जो तदन्तर्गत प्रयोजन की एकान्विकता के कारण भीतरी तौर पर संयुक्त रहती है, साध्यपरकव्याख्या अनुरूप विषयक यांत्रिक नियमों के अनुसार व्याख्या के आदर्श के रूप में, बाह्य सम्बन्ध का स्थान ले लेती है, इसी शर्त पर संभव हुआ करता है कि जीवन की ठोस वास्तविकताओं का वैसा रूपान्तरण जो अपाकर्षण और पुनर्गठन की उस मात्रा में अन्तर्हित रहता है। इतिहास लेखक तथा जीवनी लेखक के विशिष्ट हितों की हानि किए बिना किया जा सके। और मनोविज्ञान तो इतिहास की तुलना में अवास्तविक तथा अमूर्त है ही। वह हमें ऐसे सामान्य सूत्र प्रदान करता है जो इसलिए मूल्यवान हैं अथवा होने चाहिये क्योंकि उनसे इच्छा करने और जानने की प्रक्रियाओं के कुछ सार्वत्रिक लक्षणों का वर्णन करने का साधन हमें प्राप्त होता है। लेकिन जिस तरह यांत्रिकी 'बाह्य' प्रकृति की किसी वास्तविक घटना प्रक्रिया के गतिक्रम का अनुसरण नहीं कर सकती इसी तरह मनोविज्ञान भी जानने और काम करने की किसी वास्तविक प्रक्रिया के क्रियात्मक गतिक्रम का यथावत् अनुसरण करने में असमर्थ है। इस तरह पर वैज्ञानिक मनोविज्ञान की कल्पनायें और सूत्र व्यष्ट और वास्तविक विषयक अपने संबंधों के मामले में वैज्ञानिक भौतिकी की कल्पनाओं और

सूत्रो की विलकुल सही समकक्ष है। उनकी वैधता और सत्यता के सीधे सादे माने यही है कि अगर ठोस वास्तविकताओं की जगह उन्हे हम ला विठाये तो हमे ऐसे कुछ प्रश्नो का उत्तर हस्तगत हो जाय जिनका हल करना हमे अभीष्ट है, उनका अर्थ यह नही कि वे वास्तविकताओ की ही अपरिवर्तित प्रतिलिपि है।

सम्भवत यही बात और भी खूबी के साथ यह कह कर सिद्ध की जा सकती है कि विज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप मे मनोविज्ञान की वर्तमानता द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूतियो की एकता के, भौतिक व्यवस्थात्मक तथा तद्वाह्य अभौतिक परिमण्डलात्मक उस विभाजन की पूर्व स्वीकृति मिल गयी है जिसके उद्गम का अनुसधान हम पहले कर चुके हैं। मनोविज्ञान को तव तक कोई विषय वस्तु अपने लिये उपलब्ध नही होती जब तक कि हम पिछले अनुच्छेदो मे विमृष्ट व्यावहारिक कारणों के आधार पर, पहले उन सब अनुभूति-विषयवस्तुओ का जो निर्दिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत अनेको व्यक्तियो के प्रेक्षणार्थ समान रूप से प्राप्य है, भौतिक व्यवस्था मे समावेश करके उसकी रचना नही कर डालते और ऐसा करने के वाद जो भी अनुभूति-विषयवस्तुएँ उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित व्यवस्था के वाहर वाकी रह जाँय इन्हे 'मनस्तत्वीय' अथवा 'मानसिक' अस्तित्व के परिमण्डल मे रखने का अगला कदम नही उठा लेते। और भौतिक तथा मनस्तत्वीय अथवा मानसिक विषयवस्तु के इस समग्र पृथक्करण के लिए कोई स्थान वास्तविक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति मे नही रहता। वास्तविक जीवन मे न तो तव तक कोई द्रव्यात्मक 'पिण्ड' ही होते है न 'अद्रव्यात्मक मन' नही 'उनमे' अथवा उनको 'सजीव वनाने वाली चेतनाएँ' होती है जब तक कि वर्णन और गणना करने के हेतु हम उस जीवन की वैचारिक पुनर्रचना नही करते। उसमे केवल सवेदी अथवा ज्ञानशील और सप्रयोजन जीव और उन वस्तुओ का जिनके साथ, अपने प्रयोजन के क्रियान्वयनार्थ उन्हे अपना अभ्यनुकूलन करना आवश्यक होता है—पर्यावरण मौजूद रहता है। अस्तित्व विषयक यह स्वभावत यार्थार्थिक दृष्टिकोण क्यों और कैसे अपनी जगह, भौतिक जगत् की द्वित्वात्मक कल्पना तथा उससे सम्बन्धित जीवो के वाहुल्य के लिए छोड वैठता है, यह वात भौतिक विज्ञानो के रीति विधान सम्वन्धी अपने अध्ययन मे पहले ही देख चुके है। अव तो हमे द्वित्वात्मक विचार पक्ति का अनुसरण और आगे तव तक करना है जव तक कि हमे सही तौर पर यह न दिखायी पड़ने लगे कि मनोविज्ञान शास्त्र के अस्तित्व द्वारा पूर्वानुमित वास्तविक अनुभूति के तर्कपरक पुनर्गठन का लक्षण क्या है।

२—जैसा कि हम पहले ही जान चुके है कि अनन्य तथा अमचार्य भावना-प्रवण हमारे अपने और हमारे साथी मानवो के जीवन की वास्तविकता के विषयक हमारी मान्यता ने हमे ऐसे वहुत कुछ के जो अपनीअमचार्य प्रकृति के कारण भौतिक वास्तविकता

के क्षेत्र के बाहर पड़ता है, अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था। अब हमें देखना है कि मनोविज्ञान, इस अभौतिक अस्तित्व को अपनी विषय-वस्तु मान कर उसके अस्तित्व की विधि तथा भौतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में कैसी कल्पना करता है। हाल के वर्षों में प्रश्नान्तर्गत रीति-विधानात्मक समस्याओं पर एवेनारियस तथा उसके अनुयायियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनके विवरणों पर ही एतद्विषयक हमारे लेख का सारांश अधिकतर अवलम्बित है। एवेनारियस ने सबसे पहले जिस बात को स्पष्ट किया है वह यह है कि हमारी अनुभूति विषयक मनोवैज्ञानिक व्याख्या आमूलान्त उस अनुभूति के भीतर प्रविष्ट ऐसे सिद्धान्त पर आधारित है जिसका मूल आयोजन हमारे सहभागी मानवों के अस्तित्व के प्रति झुकाव के कारण हुआ था।

हम पहले ही व्यक्तिवादीय विरोधाभास के प्रकरण में देख चुके हैं कि यह कठिनाई क्या है। जब तक मैं अपनी ही अनुभूति के विश्लेषण में उलझा रहता हूँ तब तक कोई बात ऐसी नहीं होती जो अस्तित्व के भौतिक पक्ष तथा मनस्तत्वीय पक्ष के बीच किसी प्रकार के विभेद को सामने रखे। उस समय तो जो कुछ मुझे चाहिए अथवा जो कुछ मुझे सब चाहना चाहिए जब अपनी अनुभूति का विश्लेषण करने में अन्तःसंचार की आवश्यकता के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई हित निहित हो वह है विश्व की एक वस्तु रूप मेरे अपने तथा मेरे पर्यावरण रूप अन्य वस्तु के बीच का विभेद। किन्तु मामला तब पलट जाता है जब भौतिक जगत् की कल्पना की सृष्टि के बाद, मैं अपने साथी मानवों की अनुभूति का विश्लेषण प्रारंभ करता हूँ। मेरे साथी मानव एक ओर भौतिक जगत् की वस्तु होते हैं और उस जगत् की वस्तु की हैसियत से वे मुझे मेरी इन्द्रियों द्वारा वेत्तव्य वस्तु रूप ही ज्ञात होते हैं। दूसरी ओर उनके साथ समग्र व्यावहारिक व्यवहार में उन्हें उसी प्रकार की संवेद्यता तथा भावना से जिस प्रकार की संवेद्यता और भावना प्रत्यक्षत. मैं अपने में मौजूद पाता हूँ, युक्त मानना आवश्यक होता है। इस प्रकार की इन्द्रिय-वेदिता और भावना. निश्चय ही. मेरी अपनी इन्द्रियों के प्रेक्षण के लिए अनधिगम्य होती हैं, मैं अपने साथी की आँख तो देखा पाता हूँ और उसकी आवाज भी मुझे सुन पड़ती है लेकिन मैं यह नहीं देख पाता कि वह देखता है न सुन पाता हूँ कि वह सुनता है। इस प्रकार मेरे साथी को दो अस्तित्व वाला मानना पड़ जाता है। अपने उस पहलू के अतिरिक्त जिसमें वह दृश्य वस्तुओं में से एक वस्तु मात्र होता है सिद्धान्ततः वह मेरी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य अथवा प्रेक्ष्य वस्तु भी होता है उसका एक अन्य पक्ष भी होता है जो प्रत्यक्षतः तो प्रेक्ष्य नहीं होता किन्तु उसके साथ के सभी सामाजिक संबंध के विषय में उस पक्ष का पूर्वानुमित होना आवश्यक होता है। अपने शरीर की ओर से तो वह एकदम भौतिक जगत् की वस्तु होता है किन्तु उसके

शारीरिक अस्तित्व के साथ उसका एक-अन्य पक्ष जुडा रहता है जिसे मैं उसका मानस अथवा मनस्तत्वीय पक्ष कहता हूँ। जब वह 'मानस पक्ष' एक बार मेरे साथी के अस्तित्व के भौतिक पक्ष से इस तरह पर कृत्रिम रूप से पृथक् कर दिया जाता है तब उसके गठित होने के प्रकार के बारे मे क्या अनुमान लगाया जाय ? यहाँ तक आने पर ही एवेनारियस द्वारा आविष्कृत 'अन्तर्निवेश' का सिद्धान्त हमारी सहायता के लिये सामने आता है :

जब मैं, प्रेक्षण विषयक प्रक्रिया के बारे मे किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक अधिधारणाओ की भूलभुलैया मे अपने आपको फँसाये बिना ही, एकदम प्रत्यक्ष रूप से किसी वस्तु को देखता हूँ तो जो बात मेरे ध्यान मे आती है वह एक ओर से तो पर्यावरण का अग होती है और दूसरी ओर से गतियों का अथवा मुझमे गति उत्पन्न करनेवाले आवेगो का ऐसा वैविध्य होती है जिस पर सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट भावना की विशिष्ट छाया अकित होती है और जिसका निर्धारण मेरे विविध हितो के साथ उस वस्तु के सबध पर निर्भर होता है। किन्तु जब मैं अपने आपको समझाने चलता हूँ कि मेरे साथी के इस दावे का कि उसे भी वही वस्तु दीखती है क्या अर्थ है, तब एक ऐसी कठिनाई सामने आती प्रतीत होती है जिसके कारण यह सीधा सादा विश्लेषण अपर्याप्त हो जाता है। तब प्रेक्षित वस्तु उदाहरण के लिये सूर्य को ही ले लीजिये, इन्द्रियगम्य वस्तुओ के मेरे इस निश्चय की ही वस्तु प्रतीत होती है क्योकि मैं भी सूर्य को देखता हूँ। लेकिन मेरे साथी मानव का सूर्य प्रेक्षण इस विश्व का नही क्योकि मैं उसे सूर्य को देखता हुआ नही देख पाता अर्थात् मेरे लिये यह समझ पाना कठिन है कि मेरी दुनिया की चीज, सूर्य, उसके प्रेक्षण अथवा प्रत्यक्षण का, जो मेरे इन्द्रियगम्य विश्व की वस्तु नही है लक्ष्य क्योकर हो सकता है। इससे मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि जहाँ मैं वास्तविक सूर्य को देखता हूँ वहाँ मेरे साथी मानव के प्रेक्षण की विषय वस्तु सूर्य की 'प्रतिमा' अथवा ख्याली सूर्य मात्र है।

निष्कर्षण की इसी प्रक्रिया को यदि बढाते चले जांय तो मुझे अपने साथी मानव के अस्तित्व का अभौतिक पक्ष समग्ररूपेण, उसकी सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट भावनाओ की लाक्षणिक छायाओ से अकित अनुवर्ती विचारो अथवा प्रतिभाओ का एक विशाल जाटिल्य ही मुझे दिखायी पडने लगेगा। अब चूँकि 'मानसिक दशाओ' अथवा 'विचारो' की इस शृखला को उस सवेद्य भौतिक वास्तविकता के साथ जिसे मैं अपने साथी मानव का शरीर कहता हूँ, किसी तरह, सम्बद्ध प्रतिदर्शित करना है इसलिये मैं उसे उसकी त्वचा के 'भीतर' कही चालू कल्पित कर लेता हूँ और इस तरह पर अपने साथी के बारे में कल्पना कर लेता हूँ कि वह मेरी इन्द्रियो द्वारा सवेद्य भौतिक कारक उसके शरीर अथवा इन्द्रियो के लिये अगम्य 'मानस प्रतिमाओ' के प्रवाह से निर्मित उसके मन नामक

अभौतिक कारक का द्वैतात्मक मिश्रण है। तब एक और अगला कदम उठाना बाकी रह जाता है अन्तर्निवेशन का कार्य पूरा करने के लिये। और वह कदम है अपने साथी के मामले के लिये जिस वैशिष्ट्य की स्थापना करने को मैं प्रेरित हुआ था उसके पदानुसार स्वय अपनी अनुभूति का कृत्रिम पुनर्निर्वचन करने का। मैं स्वय अपने चैतन्य प्रारम्भ कर जीवन के विषय मे शरीर और मन को दो अलग वस्तु मानकर तद्नुरूप ही विचार देता हूँ और उस वस्तु का विश्लेषण करने लगता हूँ जो मूलत. अनुभूत रूप मे ऐकिक स्वात्म की उन वस्तुओ पर जो 'मन स्थितियो' अथवा शरीरानुवर्तनी प्रतिमाओ के अनुक्रम मे पर्यावरण रूप रहती है प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया रूप थी। इन मन स्थितियो और शरीर का सबध भी एक वैज्ञानिक समस्या बन जायगा।

अब तब ही जबकि अन्तर्निवेश की यह प्रक्रिया अपने अन्तिम वाद-पद पर पहुँच चुकी हो और हमारे पर्यावरण की अन्य वास्तविक वस्तुओ के साथ सवेदी सप्रयोजन समागम के वास्तविक जीवन का स्थान, हमारे विचार क्षेत्र मे 'प्रतिमाओ' के मानसिक अनुवर्तन अथवा 'चेतनता की विषय वस्तुओ' की ऐसी कल्पना ने ग्रहण कर लिया हो जिसका सन्दर्भ उन वस्तुओ के साथ बैठाया गया हो,जो स्वय 'चेतना बाह्य' है और जब अनुभूति का भावित एकत्व मानव अस्तित्व के जबर्दस्त विभाजन के बाद भौतिक तथा मनस्तत्वीय पहलुओ को अपना स्थान दे चुका हो हम उस दृष्टि बिन्दु पर पहुँच पाते है जहाँ से मनोविज्ञान अपना अभियान प्रारम्भ करता है। अपनी प्रकृति के मनस्ततवीय पहलू से सम्बद्ध विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के लिये सामग्री हमे तब ही उपलब्ध हो पाती है जब अनुभूति की वास्तविकताओ को अन्तर्निवेश की अभिधारणा द्वारा वास्तविकताओ की 'प्रतिमाओ' अथवा 'मानसिक दशाओ' या 'मन स्थितियो' मे कृत्रिमतया रूपान्तरित कर दिया जाय और इस प्रक्रिया द्वारा उन्हे निश्चित रूप से एक अभौतिक व्यवस्था बना दिया जाय। दरअसल मनोविज्ञान मनस्तत्वीय स्थितियो को पहले ही से अपने अध्ययन का विषय मान बैठता है किन्तु 'मनस्तत्वीय दशाएँ' तात्कालिक अनुभूति विषयक दत्त नही होती बल्कि वे ऐसी प्रतीक होती है जिनकी प्राप्ति रूपान्तरण की बेहद बनावटी विधि द्वारा अनुभूति के वास्तविक दत्तो से होती है और जिन्हे उन दत्तो का स्थानापन्न बना दिया जाता है। अत यदि हम यह बहस पेश करें कि चूँकि अनुभूति की विषय-वस्तुएँ ही वास्तविक वस्तुएँ होती है इसलिये मनोविज्ञान की अभिधारणाएँ भी विश्व विषयक अन्तिम तत्वमीमासीय सत्य अवश्य ही होगी तो हमारा यह कथन तर्कशास्त्रानुसार एक भयकर विरोधाभास माना जायगा।

जब हम अन्तर्निवेशन प्रक्रिया की तर्कशास्त्रीय वैधता की तथा अन्तर्निवेशीय आधार पर खडे किये गये मनोविज्ञान के वैज्ञानिक निर्माण की समालोचना करने का प्रयत्न करने लगते है तो उस निर्माण को प्रभावित करनेवाले तथा ऊपर से ही दीखने

वाले तर्क-भजक महादोष हमारी नजर मे आये विना नही रह सकते। सबसे पहले तो यह मौलिक पूर्वानुमान ही कि मेरे साथी का 'मानस-जीवन' मेरी अनुभूति की असली वस्तुओ की 'प्रतिमाओ' से वना होता है, स्पष्टत. सहयोगार्थ निर्मित भौतिक जगद्विपयक इस सिद्धान्त से पृथक् हो जाता है कि वह जगत् व्यक्ति वाहुल्य के प्रत्यक्षणार्थ ममान रूप से अधिगम्य वस्तुओ द्वारा निर्मित है। यह गडवडी एक वार फिर तव दूर हो जाती है जव मेरे अपने मानस जीवन के प्रतिमाओ अथवा चेतना की स्थितियो के अनुवर्तन मे विघटित हो जाने के कारण अन्तर्निवेश की प्रक्रिया पूरी हो जाती है लेकिन उसे यह भूल जाना पडता है कि 'अन्तर्निवेश' का मूलभूत प्रेरक मेरे अपने पर्यावरण को भौतिक वस्तुओ के साथ मेरे साथी के सम्वन्ध मे और स्वय मेरे सवंध के वीच का माना हुआ असादृश्य ही है।

४—अत. यह कोई विचित्र वात नही कि एवेनारियस ने 'सीधे-सादे आदर्गवादात्मक' स्थिति विन्दु के समग्र अन्तर्निवेशवादीय रूपान्तरण को सारत विरोवाभासपूर्ण पाया और अपने एतद्विपयक विमर्श को इस साध्य के साथ समाप्त कर दिया कि 'विश्व के प्राकृतिक दृश्य' को परिवर्तित करने के सारे प्रयत्न अपेक्षाविकथ्यताओ अथवा व्याघातो के जनक होते है।[1] किन्तु उसके इस प्रतिकूल निर्णय का अनुगमन करना आवश्यक नही प्रतीत होता। दरअसल अगर विचार करे कि अन्तर्निवेश के सारे ही परिणामो को इस प्रकार एकदम खारिज करते चले जाने का नतीजा यह होगा कि हमे सारे मनोविज्ञान का, जिसका औचित्य हाल के जमाने मे उसकी सफल वृद्धि के कारण उतना ही न्याय्य माना जाना चाहिये जितना कि अन्य अधिकाश भौतिक विज्ञानो का, प्रत्याख्यान करना पड जायगा और तव हमारा झुकाव सम्भवत. इस वात को स्वीकार कर लेने की ओर हो जायगा कि जिस प्रक्रिया के परिणाम इतने सफल होते है उसका तार्किक औचित्य अवश्य ही होगा भले ही उसके आधारभूत पूर्वानुमान कितने भी कृत्रिम क्यों न हो।

तव अनुभूति का उस विशद रूप मे, जो मनोविज्ञान शास्त्र का ग्राह्य पूर्वानुमान रूप है, रूपान्तरित करने की आवश्यकता का औचित्य क्या है? सिद्धान्तरूप मे इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नही है। मनोविज्ञान की 'विचार', 'मनोदशाएँ' आदि वस्तुएँ ऐसी वे प्रतीक है जिनकी प्रतिस्थापना हम कुछ मूर्त वास्तविकताओं की जगह किया करते हैं तथा अन्य सभी प्रतीकों की तरह ये प्रतीक भी उन वस्तुओ से जिनके वे प्रतीक हैं आंशिक

---

१. देखिये एवेनारियस लिखित—Der Menschliche Weltbegriff, पृ० 115 ad fin।

मारे अपने सप्रयोजन हस्तक्षेप से स्वतंत्र रहता है वे अभिधारणाएँ उस घटनाक्रम की णना करने मे सहायक होती है और इस प्रकार के हस्तक्षेप के मार्गदर्शनार्थ प्राज्ञात्मक नेयम निरूपित करने में भी इसलिये उनसे सहायता मिलती है। मनोविज्ञान के उन भागों ा जिनकी विषयवस्तु आवृत्ति द्वारा स्थिरीभूत स्वभावों और सपर्कों का निरूपण स्वेच्छाकृत अवधान का अस्वेच्छाकृत अवधान मे क्रमिक सचरण आदि मानसिक जीवन के अपेक्षाकृत अधिक यात्रिक पक्ष हुआ करती है। यही एक मुख्य उपाय है। हम आदतो और सपर्कों के नियमों के अध्ययन मे ठीक उसी तरह जिस तरह की भौतिक प्रकृति के यात्रिक नियमो के निरूपण मे, इसीलिये रत रहा करते है क्योकि अपने साथियो के जीवन मे हम जब कभी शिक्षाविषयक, दण्डात्मक अथवा सामान्य सामाजिक प्रयोजनार्थ प्रत्यक्ष और साभिप्राय हस्तक्षेप करते है तब इस प्रकार के ज्ञान द्वारा हम अपना मार्गदर्शन स्वय करना चाहते है। जब तक कि हम उस विधि का पूर्ण निर्णय नहीं कर लेते कि जिसके अनुसार हमारा साथी तब तक कार्य करता चला जायगा जब तक कि उसके व्यवहार मे सद्य सप्रयोजन-अभिक्रम में परिवर्तन नही होता, तब तक हम यह निर्णय नही कर पाते कि उसके जीवन मे एक निश्चित प्रकार का अथवा दत्त प्रकार का वाछित प्रभाव कैसे पैदा करे। इसी तरह पर हमारे अपने भविष्य का एक निर्धारित दिशा मे प्रत्यक्ष रूप से ढाला जाना इस ज्ञान के बिना असंभव होगा कि वह भविष्य साभिप्राय निर्देश के बिना किस प्रकार का होगा।

निश्चय ही यह कहना अन्याय न होगा कि जिस सीमा तक मनोविज्ञान हमें नेमी एकरूपताएँ भेंट करता जाता है वहाँ तक वह हमारे शरीरयत्र विषयक तथा शरीर क्रिया विज्ञानात्मक ज्ञान के दोषों को दूर करने का एक अनुपूरक उपाय मात्र रहता है। कही हमारा शरीरक्रिया विज्ञान आदि पर्याप्त रूप से विस्तृत और सूक्ष्म होता तो हमें सायुक्तिकरूपेण आशा हो सकती थी कि जहाँ तक सारे मानवीय कार्य का गतिक्रम यात्रिक नियमों का अनुगामी बना रहता है। और विशुद्धत. शरीर-क्रिया-विज्ञानात्मक पदानुकूल रूप मे नेमी एकरूपताएँ प्रदर्शित करता चला जाता है वहाँ तक हम इस मानवीय कार्यों के समग्र गतिक्रम का वर्णन कर सकने योग्य हो सकते थे। तब विचारों के 'साहचर्य' की बात करने अथवा किसी 'आदत' को पैदा करने की बाबत कहने-सुनने के बजाय हम इस लायक होते कि हम शरीर क्रिया विज्ञान की शब्दावली मे उन परिवर्तनों का वर्णन कर सकते जो दो तात्रिका केन्द्रों को एक सत्य उत्तेजित करने से प्रमस्तिष्कीय क्षेत्र मे पैदा किये जा सकते हैं और उस प्रक्रिया का पूरा इतिहास लिख सकते जिस प्रक्रिया के अनुसार उत्तेजना के पुनरावर्तन द्वारा एक स्थायी सवहन पथ की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान की अभिधारणाओं की जगह शरीर-क्रिया-विज्ञान की अभिधारणाओ को इस प्रकार पक्की तौर पर ला बिठाना पर्याप्त प्रकाश्य रूप से आधुनिक 'परीक्षणात्मक

मनोविज्ञान का निर्धारित लक्ष्य-सा बन गया है और वह अपने को विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहा है कि उसने यह लक्ष्य अपने विषय के कम से कम कुछ अंगो के संबंध मे सिद्ध भी कर लिया है।

इस प्रकार का सन्देह करने का कोई कारण नही शेष रह जाता है कि चूँकि मानसिक अनुक्रम की नेमी एकरूपता के शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक प्रतिरूप का स्वयं भी स्पष्टतः एक नेमी एकरूपता होना जरूरी है इसलिये एक-रूप यांत्रिक अनुक्रम के सभी मनोवैज्ञानिक नियमो के स्थान पर उनके शरीर क्रिया विज्ञानीय समकक्षो को अन्तिमत शायद तभी प्रतिष्ठित किया जा सके जब तंत्रिका-प्रणाली की संरचना और कार्य के बारे में हमारा ज्ञान पर्याप्त आगे प्रगति कर चुका हो। अत. प्रोफेसर मन्स्टरबर्ग की इस स्थिति बिन्दु पर आधारित तर्कना पूर्णतः आत्मसंगत है, कि मनोवैज्ञानिक विज्ञान का एकमात्र कार्य है हमारे लिये अनुक्रम विषयक ऐसी यांत्रिक एकरूपताएँ जुटाना जिनकी सहायता से हम अपने साथियो के भावी व्यवहार की गणना वहाँ तक कर सकें जहाँ तक कि नये सप्रयोजन अतिक्रम द्वारा उसमे सुधार नही होता तथा उस गणना द्वारा इस परिणाम पर पहुँच सके। अतः उसका इस निष्कर्ष पर पहुँचना भी आत्मसंगत है कि समग्र मनोविज्ञान एक ऐसा अस्थायी कामचलाऊ उपाय है जिसके द्वारा हम शरीर क्रिया विज्ञान की वृद्धि करते हैं। लेकिन वह उपाय आज नहीं तो कल जरूर बेकार हो जायगा और शरीर क्रिया विज्ञान की उन्नति के साथ तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।[1]

अगर हम इस मामले के उपर्युक्त दृष्टिकोण को बिना शर्त स्वीकार कर लें तो भी निःसन्देह यह कहना कठिन होगा कि हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे मनोविज्ञान शरीर-क्रिया-विज्ञान-शास्त्र का एक पिछलगुआ ही है। यतः जबकि तांत्रिका प्रणाली विषयक हमारा शरीर-क्रिया-विज्ञानात्मक ज्ञान अभी इतना टूटा फूटा और अस्पष्ट है कि हम उसका व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक उपयोग अपने साथियो के व्यवहार संबन्धी सीधे से सीधे घटनाक्रमो तक के पूर्व-कथनार्थ नही कर पाते वहाँ मनोविज्ञान शास्त्र कम से कम अस्थायी तौर पर तो अवश्य ही बहुत सी बातो में उससे बहुत बड़ी-बड़ी स्थिति में है। अतः किसी मनुष्य के व्यवहार को किसी विशिष्ट उत्तेजक द्वारा प्रेरित करने पर उस उत्तेजक का सम्भाव्य प्रभाव क्या होगा इस बात का निर्णय कर सकने योग्य बनने से पहले यदि तंत्रिका-प्रणाली की उन मनोवैज्ञानिक घटनाओ के संबंध मे जो उत्तेजना की प्रथम संप्राप्ति तथा शारीरिक प्रतिक्रिया की प्रथम उत्पत्ति के बीच घटित होती है एक कार्यकारक अभिधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाय तो भी हमे निरुपाय होकर अपने सामाजिक जीवन पर स्वयं अपने ही कार्यों के संभावित प्रभाव के विषय मे सदा से

---

१. देखिये—Grundzuge der Psychologie, vol ii, pp 415-436.

सादा सर्वसामान्य निर्णय ले सकने के साधनों का इन्तजार करते रहना पड़ेगा। ऐसा इसलिये होता है चूँकि उत्तेजना की प्राप्ति और प्रतिक्रिया के प्रारम्भ के बीच के तंत्रिकागत परिवर्तन प्रेक्षण के लिये उन उपायो द्वारा ही अधिगम्य बनाये जा सकते हैं जो अपने आविष्कारार्थ भौतिक विज्ञान की सीमान्तिक उन्नत दशा की प्राक्कल्पना सामान्यतः और शरीर-क्रिया-विज्ञान की ऐसी ही दशा की प्राक्कल्पना विशेषत. किये रहते है। हमारे द्वारा अनुभूत क्रियाओं को शारीर-क्रिया-विज्ञानपरक असन्देहास्पद प्रतीकवाद की भाषा में अनूदित करने की अथवा इसके विपरीत किसी शरीर-क्रिया-विज्ञान विषयक अभिधारणा की जाँच, उसे किसी प्रत्यक्ष जीवित अनुभूति के तथ्यों मे पुनरनुवाद द्वारा कर सकने की कोई विधि हमारे पास नही है। दूसरी ओर जब हम उत्तेजना के घटित होने के संबंध मे पूर्वानुमित स्थितियाँ सामने रख चुकते है तो वास्तविक जीवन मे उन स्थितियो के बाद क्या होता है यह देख सकना तुलनात्मकतया सरल होता है साथ ही जो कुछ घटित होता है उसे अन्तर्निवेशात्मक मनोविज्ञान की भाषा में अनूदित करना अथवा तद्विपरीत उस मनोविज्ञान के शब्दो मे ग्रथित किसी सिद्धान्त की, अनुभूति विषयक वास्तविकताओं के साथ तुलना कर उनकी जाँच करना भी इसी प्रकार आसान होता है।

इसी कारण, ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे, मनोवैज्ञानिक अभिधारणाएँ वास्तविक अनुभूति तथा शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक सिद्धान्तो को जोड़नेवाली एक अनिवार्य कड़ी हैं और यदि कभी भी मानव चरित्र का विशुद्ध शारीर क्रिया विज्ञानात्मक विवरण उनका स्थान अन्तिम रूप मे ले सका तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि शरीर क्रिया विज्ञानपरक विजयी सिद्धान्तो को स्वय भी इससे पहले मनोवैज्ञानिक सूत्रो की स्थापना-प्रक्रिया के सामने मात खाने के बाद अपने शरीर क्रिया विज्ञानात्मक समरूपो की खोज करनी पडी होगी। यह बात हमारे जमाने के विज्ञान के वास्तविक इतिहास मे प्रमस्तिष्कीय शरीर-क्रिया-विज्ञानियो की उस सीमा तक की निर्भरता से भली भाँति उदाहृत हो जाती है कि जिस सीमा तक उन्हे तंत्रिक प्रणाली रचना विषयक अपनी कल्पना के लिये विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के पूर्वगामी परिणामो का आसरा लेना पडता है। यह कह कर कि शरीर क्रिया विज्ञान के अनुभूति विषय और मस्तिष्क को जोडनेवाली कडी मनोविज्ञान विषयक 'मन' अथवा 'चेतना' है हम मूर्त अनुभूति मनोविज्ञान तथा तंत्रिकापरक शरीर क्रिया विज्ञान के पारस्परिक संबंधो को एक सूचित के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

५—प्रोफेसर मस्टरबर्ग के अभिमत जैसा दृष्टिकोण उन हितो के प्रति, जिनके कारण हम मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद की रचना मे प्रवृत्त होते है, पूर्ण न्याय करता है या नहीं यह सन्देहास्पद है। उनके सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान शारूप मे नैमी अथवा यान्त्रिकीय अनुक्रमायिक एकरूपताओं का विज्ञान ठीक उसी तरह

पर है जिस प्रकार कि यान्त्रिकीय भौतिकी की विविध शाखाएँ विज्ञान कहलाती हैं। उनके कथनानुसार साध्यवाद अथवा उद्देश्यवाद को गलहत्था लगा कर वैज्ञानिक मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकाल बाहर करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे प्रत्यक्ष अनुभूति की सभी वास्तविक प्रक्रियाओ मे हित अथवा प्रयोजनपरक साध्यवादीय एकत्व यद्यपि व्याप्त रहता है तो भी वास्तविकताओ के स्थान पर अपने मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को बैठाकर हम उनके साध्यपरक स्वरूप के प्रत्येक चिह्न तक का अपहरण कर लेते हैं। प्रोफेसर मस्टरबर्ग की यह माँग कि मनोविज्ञान अनुभूति को, अप्रयोजनात्मक नेमी अनुक्रमों की श्रृंखला द्वारा व्यक्त किया करें किसी प्रकार से भी कोई स्वच्छन्द माँग नही है। यदि मनोविज्ञान का एकमात्र कार्य घटनाओं के गतिक्रम को, जहाँ तक कि वह सप्रयोजन हस्तक्षेप द्वारा नियन्त्रित नही होता गणना तथा पूर्वोक्ति को सुगम बनाना मात्र हो तो उसे नि सन्देह अपने वर्णनो के लिये दृढ यान्त्रिकीय दिशाओ का ही अनुसरण करना आवश्यक होगा अन्यथा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकेगा। लेकिन मेरा सुझाव है कि पूर्ण रूप से निष्पादित शरीर क्रिया विज्ञान के स्थानापन्न के रूप मे मनोविज्ञान के गणना और पूर्वकथनहेतुक सौकर्य-निष्पादन के वर्तमान कार्य के अतिरिक्त एक अन्य एकदम भिन्न कार्य भी ऐसा है जिसके लिये शरीर क्रिया विज्ञान अथवा उसकी किसी शाखा द्वारा मनोविज्ञान की स्थानापन्नता प्राप्त कर सकना असभव होगा। वह कार्य है गुणवाची सामान्य वाक्पदो द्वारा वास्तविक जीवन की साध्य-परक प्रक्रियाओ के वर्णन के लिये उपयुक्त प्रतीको का कुलक प्रस्तुत करना और इस प्रकार नीतिशास्त्र तथा इतिहास तथा तत्सम्बद्ध अन्य विषयों के लिये उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत करना। स्पष्ट ही दीख रहा है कि न तो किसी आदर्श मानक के साथ तुलना करने के बाद किया गया मानव चरित्र विषयक गुण ग्रहण, न तद्व्याप्त इतिहासपरक वह अर्थनिर्णय ही जो मानव चरित्र को उसकी वैयक्तिता प्रदान करता है, तब तक संभाव्य नही हो सकता जब तक कि हम सबसे पहले उन घटनाओ का वर्णन नही कर लेते जिनके द्वारा साध्यवादीय शब्दावली मे नीतिशास्त्र और इतिहास कल्पित होते हैं। उन घटनाओ मे किसी आदर्श की प्राप्ति के लिये किये जा रहे न्यूनाधिक चेतन प्रयत्न की आमूलान्त उपस्थिति के अतिरिक्त नीतिशास्त्री के लिये शस्य अथवा दोष्य तथा इतिहासवेत्ता के लिये अर्थ-निर्णय अन्य कुछ भी नही होता। अत-नीति शास्त्र और इतिहास के लिये कोई भी विषयवस्तु यदि वाछनीय है तो वह है इस प्रकार के किसी विज्ञान का आवश्यक अस्तित्व जो मानव जीवन और चरित्र की प्रक्रियाओ का वर्णन लक्ष्यपरक साध्यवादीय संबंध विषयक वाक्पदो द्वारा करता हो। अब इस प्रकार के वर्णनार्थ हम किस विज्ञान की शरण ले सकते हैं? पिछले पष्ठो मे की गई, भौतिक विज्ञान की अभिधारणाओ की परीक्षा से यह बात जाहिर है कि इस काम के लिये आवश्यक सामग्री भौतिक विज्ञान की किसी शाखा से हमें नही मिल

सकती क्योकि वह विज्ञान कठोरतापूर्वक अपनी ही अभिधारणाओ से सश्लिष्ट रहना चाहता है। जिन हितों के आवाहन पर भौतिक जग द्विपयक धारणा का निर्माण किया गया था उनकी प्रकृति के कारण जैसाकि हम देख चुके है भौतिक व्यवस्था की विचार्यता तथा वर्ण्यता का कठोर यात्रिकता विपयक वाक्पदानुसारिणी होना आवश्यक है अतः ऐसा कोई भी विज्ञान जो मानव जीवन की प्रक्रियाओ का वर्णन विशुद्ध भौतिक वाक्-पदावली द्वारा करता है उनके सप्रयोजन तथा उद्देश्यपरक स्वरूप का निदर्शन अपने वर्णनो में नही कर सकता। यदि मानव चरित्र या व्यवहार का सप्रयोजन स्वरूप हमारे वर्णनो मे जरा सी भी मान्यता प्राप्त कर लेता है तव सैद्धान्तिक रूप से भौतिक व्यवस्था द्वारा अपवर्जित मानव अनुभूति विषयक पक्ष का वर्णन करनेवाले विज्ञान मे भी उसे मान्यता प्राप्त होना आवश्यक हो जाता है दूसरे शब्दो मे नीतिशास्त्र तथा इतिहास जैसे अधिक मूर्त प्रकार के विज्ञानों के हेतु आवश्यक साध्यवादीय एकत्व की इस प्रकार की सामान्य गुणवाचिनी परिकल्पना के लिये हमे मनोविज्ञान की ही शरण लेना पडेगी।

मनोविज्ञान का यह क्रियाकलाप नि सन्देह नीतिशास्त्रीय तथा इतिहासीय विज्ञानो के विद्यार्थी का चिरपरिचित विषय है । नीतिशास्त्र मे जैसा कि प्रोफेसर सिजविक का कथन है कि नीतिशास्त्र के कुछ विशिष्ट मूल्यवान विशेपणो को छोड़ कर मानवीय चरित्र के लक्षणों का वर्णन करने के लिये काम मे लायी जाने वाली सारी ही शब्दावली एकदम मनोविज्ञान की शब्दावली ही है। वह सब सामग्री जिसे नीतिशास्त्र 'अच्छा', 'बुरा', 'उचित', 'अनुचित', 'कार्य', 'भावनाएँ', 'मिजाज', 'इच्छा' आदि नामों से पुकारता है सदेह मनोविज्ञान शास्त्र से ली गयी है। इसी तरह इतिहास के पास भी गुण ग्राह्य कुछ न रह जाय अगर घटनाओ के उस विवरण की जगह जिसका हर मोड 'वाञ्छा', 'प्रयोजन', 'अभिप्राय' और 'लुभाव' आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों से गसा रहता है केवल शारीरिक अथवा भौतिक सचलनों का एक व्योरा मात्र को बैठा दिया जाय। सार्वजनिक रूप से हम यों कह सकते है कि मानवीय विचार के सारे साध्यवादी पदार्थ परीक्षा के बाद या तो निश्चित रूप से विज्ञान की संपद सिद्ध होते हैं या जैसाकि प्राणिशास्त्रीय विकासवादिता के मामले मे हुआ वे बहुत कम वदली हुई पोशाक मे छिपे मनोविज्ञानिक के उधारी पदार्थ सिद्ध होते है।

अगर ये बाते सही हैं तो हमारा ये कुछ निष्कर्ष निकाल लेना उचित ही ठहरता है। (१) नतीजा यह होगा कि जो दो तरह के काम मनोविज्ञात आजकल करता है उनमे से एक तो साधिकार उसका अपना ही ऐसा कर्त्तव्य कर्म है जिसे किसी दूसरे को सौंपा नही जा सकता। दूसरा काम वह प्रमस्तिष्कीय शरीर क्रिया विज्ञान की नावा-लिगी खत्म होने तक के लिये आरजी तौर पर अथवा अस्थायी रूप से किया करता है। जबकि जैसा हम देख चुके हैं मनोविज्ञानी सिद्धान्त के उन अगों की जगह तो मानव

चरित्र के अधिक यान्त्रिकीय पहलुओ के साथ सम्बद्ध रहते है अन्ततोगत्वा शरीर-क्रिया विज्ञान को दी जा सकती है वहाँ वे अश जिनका सरोकार प्रयोजनात्मक समजनो का प्रवर्तन हुआ करता है यानी भावनात्मक तथा अवधानात्मक मनोविज्ञान जैसे विषयों का प्रवर्तन वे अश सिद्धान्तत शरीर-क्रिया-विज्ञान मे विघटनीय नही होते और उनका एक स्थायी मूल्य तव तक स्थिर रहा चला जाता है जव तक कि मानव जाति मानव जीवन की नैतिक तथा ऐतिहासिक शसना मे रुचि लेती रहती है।[1]

(२) इससे यह भी पता चलता है कि अभी तथा आगे भी बहुत दिनों तक प्रोफेसर मस्टरवर्ग के कथनानुसार मनोविज्ञान साध्यपरक और यान्त्रिकीय दोनो प्रकार की अभिधारणाओ और पदार्थो का उपयोग करने के लिये वाध्य रहेगा। दो विभिन्न तर्कशास्त्रीय स्थिति विन्दुओं का यह घालमेल नि सन्देह किसी ऐसे विज्ञान के लिये असह्य होगा जो हमारी प्रकृति के एकत्र हित की पूर्ति करने की आवश्यकता के कारण ही अस्तित्व मे आया हो क्योंकि जिस प्रकार के हित की साधना यान्त्रिकीय अभिधारणा करती है वही साध्यवादीय विचार सारणियों के प्रवर्तन के कारण अवरुद्ध हो जाता है। इसके

---

१. इस बात का स्वयं प्रोफेसर मंस्टरबर्ग की क्रिया विधि द्वारा ही आकर्षक रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने इस नियम का पालन करते हुए कि साध्यवादीय विचारों को वर्णनात्मक विज्ञान के क्षेत्र के बाहर ही रखा जाय, अवधान विषयक अपने मनोवैज्ञानिक विवरण से चयनात्मक अभिरुचि को बहिष्कृत कर दिया और जब उनके सामने यह समस्या आयी कि वह कौन है जो वस्तुतः निर्णय करता है कि किन प्रस्तुतियों को अवधान का विषय बनाया जाय किनको नहीं, तव उन्होंने चयन को मस्तिष्क के अर्ध प्रान्तस्थ प्रेरक केन्द्रों का कर्तव्य कर्मनिर्धारित किया और इस प्रकार प्राणिशास्त्र में पहले से अप्रवेश्य घोषित साध्यवादीय पदार्थो को उन्होने पुनः प्रविष्ट करा दिया। (देखिये—Grundzuge der Psychologie, vol I, chap 15, pp 525-562) ऐसे पाठकों के लाभार्थ जो रीति-विधान शास्त्र मे रुचि लेते हैं मैं फिर एक बार कह देना चाहता हूँ कि जबकि यान्त्रिकीय विज्ञानों की प्रतिमाएँ मूलतः एकत्र होती हैं वहाँ जैसाकि प्रोफेसर रॉयस का आग्रह है नीति शास्त्रीय तथा इतिहासीय विज्ञान द्वारा कल्पित परिमित जीवन की साध्यवादीय प्रक्रियायें असतत श्रृंखला विषयक प्रक्रियायें सी प्रतीत होती है अर्थात् ऐसे वाक्यपदों द्वारा निर्मित जिनके बीच मध्यवर्ती कड़ियाँ प्रविष्ट नही की जा सकती। प्रोफेसर रॉयस के इस मत को कि चरम सत्ता स्वयं एक असतत श्रृंखला है मै क्यो नहीं स्वीकार कर सकता यह बात शायद इस पुस्तक के अध्याय ३ से तथा आगामी अध्यायों से स्पष्ट हो जायगी फिर भी इस अध्याय के अन्त में दिया पूरक नोट भी देखें।

विपर्यास से भी ऐसा ही होता है किन्तु हमारे मतानुसार जिस हित के कारण मनोविज्ञान की सृष्टि हुई है वह इकहरा नही दोहरा है। भावी मानवीय क्रिया-कलाप के यान्त्रिकीय पूर्वकथन का हित भी हमारे सामने रहता है और उसकी नैतिक तथा इतिहासपरक व्याख्या मे भी हमारी रुचि परिलक्षित होती है अत. मनोविज्ञान आज जिस रूप मे ढला हुआ दिखलायी देता है उसी रूप मे उसे इन दोनों ही परस्पर विरोधी हितों का एक साथ साधन करना पडता है। यही कारण है कि उसे न तो विशुद्ध यान्त्रिकीय न शुद्ध साध्य-वादीय पदार्थो तक सीमित रखा जा सकता है। अगर हमारा शरीर-क्रिया-विज्ञान आदर्श पूर्णता के सीमा विन्दु तक दरअसल कही इस तरह जा पहुँचा होता कि मनोविज्ञानिक वाक्पदावली द्वारा 'विचार साहचर्य' अथवा 'आदतों' की स्थापना के रूप मे आजकल अभिधेय प्रत्येक नेमी एकरूपता को उसके शरीर क्रिया विज्ञानी सह-सबधी के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता तो घटनाओ के गतिक्रम की गणना कर सकने के सहायक साधनो के रूप मे हमे मनोवैज्ञानिक अभिधारणाओ की बिलकुल जरूरत न पडती और तब हम नीतिशास्त्र तथा इतिहास को उनकी विषयवस्तुओ के वर्णन के लिये आवश्यक साध्यवादीय पदार्थो को प्रस्तुत करने के एकमात्र कार्य तक मनोविज्ञान को मर्यादित करके उसे उसकी तर्कपरकएकता फिर से वापस कर सकते। किन्तु शरीर-क्रिया-विज्ञान विषयक हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे विधि विषयक इस प्रकार का सुधार अत्यधिक समय पूर्वात्मक होगा।[1]

---

१. निःसदेह मनोविज्ञान ही ऐसा एकमात्र विज्ञान नही है जो अपनी मौजूदा हालत में दोनो प्रकार के पदार्थों का उपयोग करता हो। प्राणिशास्त्र के विकासात्मक सिद्धान्तों में समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के 'अस्तित्वार्थीय सघर्ष', 'योग्यतम की अतिजीविता', 'लैंगिक चयन' आदि विचार साध्यपरक विचारों के काम मे लाये जाते हैं। जैसाकि हम अभी हाल मे देख चुके हैं कि विशुद्धतावादी लोग जो मनोविज्ञान में उच्चतर और निम्नतर पदार्थों के इस घालमेल पर आपत्ति करते हैं। अपने आपको ऐसी गड़बड़ स्थिति मे पाते हैं कि जिससे छुटकारा उन्हे तभी मिल पाता है जब उस गडबड़ के शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा प्राणिशास्त्र मे उपयोग पर वे जोर देने लगते हैं। जहाँ वे गलती करते हैं वह है जाँच के किसी निकाय को समर्प्य तर्क विषयक एकत्व की मात्रा की अतिशय्यता। ऐसा अतिशय्य तब सामने आता है जब तक एक ही से व्यक्ति एक ही से साधनो की सहायता द्वारा उस एकत्व का अनुसरण करते हैं और उस निकाय को एक सामान्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसी बात को थोड़ा और बढ़ा-चढ़ा-कर कहना होगा अगर हम बहस करना चाहे कि चूंकि ज्ञान की सभी शाखाएँ भी ज्ञान ही होती हैं इसलिये उनमे से प्रत्येक शाखा

६—कठिनाई दो वातो मे सामने आती है और हमारी बहस इन दोनो वातो पर विचार अब तक न कर सकी। लेकिन उन पर ध्यान दिए बिना रहा भी नही जा सकता। हमने यह मान लिया है कि (अ) वर्णन साध्यवादी वाक्पदो द्वारा भी हो सकता है और (ब) मनोविज्ञान पदावली द्वारा भी। किन्तु ये दोनों ही पूर्वग्रहण सन्देहास्पद समझे गये है और यह स्पष्ट है कि पहला पूर्वग्रहण ठीक नही तो मनोविज्ञान नाम का कोई विज्ञान नही हो सकता और यदि दूसरा सही नही तो मनोविज्ञान साध्यवादीय कल्पनाओ का उपयोग नही कर सकता अत इन दोनो ही प्रश्नो के बारे मे अपनी स्थिति का औचित्य निर्धारण हमारे लिये एकदम आवश्यक है।

(अ) के विषय मे यह बहस पेश की जा चुकी है कि यत. केवल वह ही जो व्यक्तियो के किसी बाहुल्य के प्रेक्षण हेतु एक सामान्य शर्तो पर प्राप्य हो सकता है उनमे से किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के प्रति वर्णनीय हो सकता है और चूंकि भौतिक क्रम विषयक हमारी संरचना मे व्यक्तियो के बाहुल्य के प्रेक्षणार्थ उपर्युक्त प्रकार से गम्य सारे ही पदार्थ अथवा लक्ष्य शामिल कर लिये गये हैं इसलिये वर्णन केवल भौतिक वस्तुओ का ही हो सकता है। सिद्धान्तत. 'मनोदशा', को वर्णन के लिये अशक्य इसलिये अवश्य होना चाहिये चूंकि उसकी अनुभूति केवल एक ही व्यक्ति को हो सकती है।

अब यदि मनोविज्ञान अनुभूत अनुभूति का तद्रूप प्रत्यक्ष वर्णन होने का दावा करे तो उसका यह दावा स्वय उसके अस्तित्व के लिये ही घातक सिद्ध होगा। लेकिन जैसाकि हमने देखा मनोविज्ञान इस तरह का कोई दावा नही करता। उसके दत्त स्वय ही तात्कालिक अथवा अव्यहत अनुभूति की तथ्यवस्तु नही होते बल्कि वे रूपान्तरण की किसी प्रक्रिया द्वारा उन तथ्यवस्तुओ से समाहृत प्रतीक होते हैं। और यद्यपि जिन वस्तुओ का मनोविज्ञान अपने 'तथ्य' कहता है उन्हे भौतिक तथ्यो के समान व्यक्तियो के बाहुल्य के प्रेक्षणार्थ प्रत्यक्षत. प्रदर्शित नही किया जा सकता तो भी 'मनोदशा' की भौतिक स्थितियो और उसके सहवर्तियों मे ऐसे समनुद्देश्य चिह्न हमे मिलते है जिनके द्वारा हम उसे तब भी पहचान सकते हैं जब वह दशा हमारे अपने वास्तविक जीवन मे घटित होती है यानी वह वास्तविक अनुभूति मनोविज्ञान की 'मनोदशा' जिसकी प्रतीक होती है। अत मनोविज्ञानानुसार जिसे मैं लाल रग की अनुभूति कहता हूँ प्रेक्षण हेतु उसका एक नमूना मैं प्रत्यक्षत' भले ही

का या तो एकान्त यांत्रिकीय होना जरूरी होता है या एकान्त साध्यवादीय। वस्तुओं मे स्वभावतः कोई कारण ऐसा नहीं होता जिसकी वजह से ज्ञान की उन्नति की किसी विशिष्ट अवधि के समय मनोविज्ञान की जाँच का क्षेत्र इतना विस्तृत न हो सके और उसमें उद्देश्य तथा विधि का इतना आन्तरिक वैविध्य न हो सकता हो जितना गणित शास्त्र मे।

न पैदा कर सकूँ किन्तु उस इन्द्रिय बोध से मिलती जुलती तरग-दीर्घताओं की ऊपरी और निचली सीमाओं के समनुदेशन द्वारा परोक्ष रूप से मैं हर एक को समझा तो सकता ही हूँ कि जब उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग करता हूँ तो उससे मेरा क्या मतलब होता है।

(ब) दूसरी कठिनाई हमे ज्यादा देर तक उलझाये नही रह सकेगी। यह विचार कि सब प्रकार के वर्णन का एकान्त रूप से यात्रिकीय होना आवश्यक है इस पूर्व-ग्रहण पर आधारित है कि अन्य किसी भी तरह का वर्णन उस प्रयोजन की पूर्ति नही कर सकेगा जिसके आधार पर हम वस्तुओ का वर्णन करने चलते है। जिस हद तक यह वर्णन करने का काम घटनाओ के गतिक्रम मे हस्तक्षेप करने के व्यावहारिक नियम निर्धारित करने के इरादे से शुरू किया जाता है वहाँ तक तो यह पूर्वग्रहण पूर्णत. न्याय्य लगता है। लेकिन घटना क्रम मे हस्तक्षेप करने के सामान्य नियम यदि हमे निर्धारित करना हो तो नि सदेह हमे मान लेना पडेगा कि वह घटना क्रम हमारे हस्तक्षेप के बिना भी नैत्यिक नियमपूर्वक चालू रहता है। और हम पहले ही देख चुके हैं कि इसी कारण प्रकृति विषयक यात्रिकीय अर्थ निर्णय भौतिक विज्ञान का एक मौलिक प्राक्कल्पना तब तक बना रहता है जब तक कि वह अपने आपको प्राकृतिक नियम निर्धारण के ही कार्य तक कठोरता-पूर्वक सीमित बनाए रखता है और ऐतिहासिक शंसा का काम अपने हाथ में लेने का प्रयत्न नहीं करता। लेकिन हम यह भी देख चुके हैं कि किसी अन्तर्हित योजना अथवा प्रयोजन के प्रगामी क्रियान्वयन द्वारा विशेपित किसी घटना श्रृखला का इतिहास-परक शसा तभी सभव हुआ करती है जब कि स्वय उन घटनाओ का वर्णन लक्ष्य सापेक्ष प्रक्रिया रूप मे मूलत. साध्यवादी वाक्पदो द्वारा कर दिया जा चुका हो।[१]

यदि घटनाओ की इतिहासपरक शंसा एक वैध माननीय हित है तो घटनाओं के लक्ष्य और प्रयोजनात्मक वाक्पदो द्वारा वर्णन को भी वैध वर्णन मानना होगा। तथ्य रूप से तो स्वय भौतिक विज्ञान तक भी जब उन्हे जैव जीवन के तथ्यो से काम लेना पड़ता है सामान्य नियमो के निर्धारण के प्रारम्भिक विज्ञान शास्त्रीय आदर्श को छोड़ बैठते हैं और उनकी जगह वैयक्तिक विकास की रेखाओ के अभिव्यक्तिकरण के इतिहासीय

१. और उनका ऐसा वर्णन मनोविज्ञान प्रत्ययो के सन्निवेश के बिना असभव होगा। उदाहरणतः सभ्यता के इतिहास के विभिन्न कालो से चले आ रहे औजारो की श्रृखला के ऐसे श्रेणी विभाजन के लिये कि जिससे किसी विशिष्ट प्रकार के औजार या मशीन के विकास पर प्रकाश पड़ सके विभाजन के मूल स्वरूप हमे किसी ऐसी पर्याप्तता को चुनना होगा, जिसके अनुसार विभिन्न प्रकार के औजार जिस प्रकार के काम के लिये उनका अभिकल्पन हुआ है उसे किया करते हैं और इस प्रक्रिया द्वारा वे तुरंत मनोविज्ञान की प्रयोजन तथा पूर्ति की कल्पना द्वारा आवद्ध हो जाते हैं।

आदर्श को अपना लेते है और अगर हमारे पहले वाले निष्कर्ष सही है तो कहना होगा कि हम पहले वाले प्रयोजन की अपेक्षा वाद वाले प्रयोजन मे कही अधिक अनुरक्त होने के कारण ही मनोविज्ञान की रचना मे प्रवृत्त होते है। आदमी मनोविज्ञान को खासतौर पर इसलिये इतना नही चाहता कि उससे दूसरे आदमियो के व्यवहार का अन्दाजा पहले से लगा सकने मे उसे मदद मिले बल्कि वह इसलिये उसके निर्माण मे रत होता है कि उससे उसे यह समझ सकने में मदद मिल सके कि सर्वत्र व्याप्त स्थायी हितों और प्रयोजनो की उपस्थिति द्वारा उसके अपने वैयक्तिक विकास की तथा उसके 'सामाजिक पर्यावरण' के विकास की आनुक्रमिक स्थितियाँ कैसे एक सूत्र मे पिरोई गयी।

उपर्युक्त विचारणा सम्भवत कुछ रूखा-सूखा और उबा देने वाला-सा लग सकता है किन्तु अस्तित्व सबधी मनोवैज्ञानिक सन्मण्डल की मान्यता द्वारा सकेतिक तत्वमीमासीय समस्याओं की आगे चलकर हमारे द्वारा की जाने वाली परीक्षा मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाओं और आनुभूतिक वास्तविकताओं के पारस्परिक सबध विषयक एक निश्चित मत पर आधारित हो इसके लिये ऐसा होना अनिवार्य था और अपनी बारी में इस प्रकार के अभिमत द्वारा उन हितो के जिनका साधन मनोवैज्ञानिक सरचना किया करती है, एक वास्तविक सिद्धान्त का तथा इस सबकी साधिका तर्कशास्त्रीय विधि का पूर्वानुमान पहले ही से लगा लिया जाता है। हमारे अनुसधान के सर्वसामान्य निष्कर्ष ने नकारात्मकतया सिद्ध कर दिया है कि मनोविज्ञान वास्तविक अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नही है अपितु एक ऐसी बौद्धिक पुनर्रचना है जिसमे अनुभूति से व्यवस्थित अपाकर्षण की तथा उसी के रूपान्तरण की प्रक्रियाए अन्तर्ग्रस्त होती है। सकारात्मकतया उसने सिद्ध किया है कि पुनर्रचना की वैधता विशिष्ट प्रयोजनो के लिये उसकी उपयोगिता पर निर्भर होती है। आशिक रूप से घटनाओं की व्यावहारिक प्राग्ज्ञान प्राप्ति के लिये किन्तु मुख्य रूप से उन घटनाओ के ऐतिहासिक तथा नीतिशास्त्रीय गुण विवेचनार्थ उन निष्कर्षो की सार्थकता आगे के दो अध्यायो मे और भी अधिक निखर उठेगी।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए : आर० एवेनारियस कृत DER Menschliche Weltbegrif; एफ० एच० ब्रैडले का लेख 'ए डिफेन्स आफ फिनोमिनलिज्म इन सायकोलोजी' (माइण्ड, जनवरी १९००); एच० मस्टरबर्ग कृत Grundzuge der Psychologie, Vol 1, Chap 2, (the Epistemological basis of Psychology) II, (Connection through the body); जे० वार्ड कृत 'सायकोलोजी' शीर्षक लेख एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका एड इनइट ('दि स्टैण्डपोइन्ट आफ सायकोलोजी'), नैचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म, खड २, लेक्चर १६।

अध्याय १ का पूरक नोट

नीतिशास्त्र तथा इतिहास की साध्यपरक शृंखलाओं के असातत्य के संबंध में

हम पहले देख चुके है कि प्रत्येक सतत शृखला अनन्तश विभाज्य हुआ करती है और यह भी कि इसके परिणामस्वरूप उस शृखला के कोई से भी दो पद अव्यवहततया सह-सलग्न नही होते। दूसरी ओर ऐसी भी कोई शृखला जो ऐसे पदो से बनी हो जो अव्यवहततया सह-सलग्न हो और जिनके बीच उसी शृखला के मध्यवर्ती पद अन्तर्विष्ट न किये जा सकते हों, अनन्तश. विभाज्य नही होती और परिमाणतः सतत भी नही। इस नियम को मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं पर लागू करके हम देख सकते है कि जहाँ अनुक्रम यान्त्रिकीय नेमी तरह का होता है वहाँ वह सतत होता है क्योंकि उसे छोटे-छोटे खडो मे अनन्तशः विभक्त किया जा सकता है और उन छोटे खडों मे से हर एक टुकडे मे भी वही अनुक्रम जैसाकि पूरे मे था दिखाई देता है। (सही बात इतनी और कहनी होगी कि सातत्य की दूसरी शर्त भी पूरी होती है क्योंकि जोन सा समय-बिन्दु क्यों न विभक्त करे अनुक्रम शृखला के भीतर ही पडता है) किन्तु जहाँ नये साध्यपरक समजन मौजूद होते है वहाँ इस सातत्य का व्यक्त हल भी मौजूद मिलता है। नया प्रयोजन अनुक्रम के एक निश्चित बिन्दु पर बाहर आता है इससे पहले जो गुजर जाता है वह किसी विभिन्न हित अथवा प्रयोजन सिद्धि-हेतुक होता है और जो कुछ उस समय बिन्दु के बाद आता है वह होता है सद्य उद्गत नवीन-हित-साधन-हेतुक। दोनो मे से प्रत्येक अपने भीतर एक सतत प्रक्रिया का निरूपण कर सकता है किन्तु एक का दूसरे में सक्रमण सतत नही होता। और यहाँ ही पुरानी सप्रयोजन शृखला का अन्त हो जाता है और नयी का प्रारम्भ और यह ऐसे पदों की अव्यवहृत सह-सलग्नता का मामला है कि जिनके बीच मध्यवर्ती पद सनिविष्ट नही किये जा सकते।

दूसरे सबध के बारे मे मेरा ख्याल है यह सिद्ध करना आसान होगा कि किस तरह पर यह शर्त खुद ही काल विषयक वास्तविकता के लिये घातक होती है। मेरा तो उद्देश्य यहाँ पर यही सिद्ध करने का है कि जिन तथ्यो का हवाला मैंने अभी दिया है उनके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि 'चरम सत्ता' अथवा 'वह निरपेक्ष' स्वयं ही एक असतत शृखला है। इस अभिमत पर मुझे यह आपत्ति है कि 'नये चयनात्मक हित का आविर्भाव' स्वय ही सारतः परिमित अनुभूति का ही एक लक्षण है और परिमित होने के कारण ही उसका रूप कालीय होता है। नये और स्वभावजन्य भेद के कोई माने ऐसी पूरित और अपरिमित अनुभूति के लिये नही हुआ करते जिसकी गोद मे पूर्णतया एक रूप यह समग्र अस्तित्व समाया हुआ होता है। दूसरी जगह अगर कहा जाय तो सज्जा के श्रृंखल रूप की ऐसी अनुभूति के अतिरिक्त कोई सार्थकता नहीं होती कि जिसे आंशिक

अन्तर्दृष्टि तथा अर्थग्रहण की एक स्थिति से दूसरी तक प्रक्रमशः आगे बढना है। यह बात 'तार्किक' क्रम अथवा नैतिक अर्हतापरक मूल्यांकन विषयक 'नीतिशास्त्रीय' व्यवस्था के बारे मे उतनी ही सत्य है जितनी कि केवल आंकिक व्यवस्था के विषय में। वास्तव मे खंड २, अध्याय ४, सेक० १० मे हमने कहा था कि श्रृंखल संज्ञा ज्ञानार्जन की उस सावधिक विधि की सबसे सीधी और अधिक से अधिक सामान्य अभिव्यक्ति है जिसे हमने एक साथ ही परिमित ज्ञान के लिये अनिवार्य तथा वास्तविकता अथवा सत्ता की अभिव्यक्ति हेतु अपर्याप्त तय किया था और इस आधार पर ही वर्तमान समस्या को जहाँ तक मैं समझ सका हूँ वहाँ तक कहना पड रहा है कि चरम सत्ता न सतत और न असतत शृंखला है क्योंकि आत्मरूपेण वह शृंखला ही नही

अध्याय २

आत्मा और शरीर की समस्या

१—मनोभौतिकीय सहयोजन की समस्या का काम वैज्ञानिक आकर्षणों के सह-सबधों के साथ रहता है न कि अनुभूति के दत्त तथ्यों के साथ । २—अतः मनोवैज्ञानिक 'चेतना' अनुभूति की परिमित व्यष्ट विषयवस्तु नही होती और वास्तविक सत्ता को मनोवैज्ञानिक अर्थों मे 'मनो' द्वारा निर्मित नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त हमे पहले ही से यह न मान लेना चाहिये कि मनोभौतिकीय सहयोजन की कार्यकर प्राक्कल्पना केवल एक ही हो सकती है। ३—संभाव्य प्राक्कल्पनाओं की सख्या घटा कर तीन तक लायी जा सकती है। उपतत्ववाद, समान्तरवाद तथा मिथ क्रिया। ४—शारीर क्रिया विज्ञान के रीति वैधानिक नियम के रूप मे उपतत्ववाद वैध है किन्तु मनोविज्ञान के आधार रूप मे वह अग्राह्य है क्योकि उसके माने हो जाँयगे मनस्तत्वीय तथ्यों का यात्रिकीय नियमो मे विघटन । ५—सामान्तरवाद। समान्तरवाद के लिये दी जाने वाली यह दलील कि चूँकि वह यात्रिकीय भौतिकी की अभिधारणाओं का सर्वांग सम है इसलिये मनोभौतिकी के लिये अवश्य ही उसे वैध होना चाहिए, विरोधाभासी दलील है। हम पहले से यह नही मान ले सकते कि मनोविज्ञान की इन अभिधारणाओ का अनुपालन जरूर करेगा । ६—कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप मे समान्तरवाद विविध प्रयोजनों के लिये उपलभ्य है किन्तु वह तब असफल हो जाता है जब सद्य प्रयोजन प्रतिक्रियाओं के प्रारम्भणार्थ उसका विनियोग करने का प्रयत्न करते हैं। कोई साध्यवादीय तथा यात्रिकीय श्रृखला अन्तिमेत्थतया 'समान्तर' नही हो सकती। ७—अत. हमे इसलिये मिथ.-क्रियात्मक प्राक्कल्पना का सहारा इसलिये लेना पडता है कि उसी से हमे शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के सह-सबध की एक सगत योजना प्राप्त होती है। लेकिन फिर भी हमे यह याद रखना होगा कि यह प्राक्कल्पना जिन्हे सह-सम्बद्ध करती है वे प्रतीक ही होते है वास्तविक तथ्य नही। दोनो ही प्रतीको द्वारा प्रतिनिर्दशित तथ्यवस्तु एक ही होती है यद्यपि मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद शरीर क्रिया विज्ञानीय प्रतीकवाद की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत और पर्याप्त प्रतिनिध्य प्रस्तुत करता है।

१—आत्मा अथवा मन और शरीर के पारस्परिक सबध के बहुत कम ऐसे प्रश्न है जिन्होने दार्शनिकों का और विशेषतः उन दार्शनिको का, जो पश्चिमी दुनिया के धर्ममत

के रूप मे ईसाइयत की स्थापना के बाद से अब तक हुए हैं, ध्यान अधिकतर लगातार आकर्षित किया है। और न शायद इस प्रश्न के अतिरिक्त और किसी दूसरे प्रश्न के बारे में विवादग्रस्त समस्या के सत्य तर्कशास्त्रीय स्वरूप विषयक सही समझदारी की कमी के कारण, इससे ज्यादा गलतफहमी अथवा दुष्कल्पना ही उठी है। साधारण व्यक्तियो की अर्धवैज्ञानिक अटकलबाजियो और तत्त्वमीमासको तथा मनोविज्ञानियो के अधिक व्यवस्थित सिद्धान्तों दोनों ही मे इस विषय का प्रारम्भ इस एकदम भ्रान्त पूर्वकल्पना के साथ किया गया कि मानव जीवन का शारीरिक तथा मानसिक भागो अथवा पहलुओं में द्विधा पृथक्करण अव्यवहृत अनुभूति का ऐसा दत्त है जिसका सत्यापन प्रत्यक्षत हम अपने भीतर कर सकते हैं और यह कि दर्शनशास्त्र का कर्त्तव्य कर्म केवल यही है कि वह विदग्ध किन्तु असत्याप्य प्राक्कल्पनाओं द्वारा दी हुई वास्तविकताओ के बीच की खाईं का अतिक्रमण करता रहे। विगत अध्याय मे दिये गये हमारे स्थिति बिन्दु से देखने पर यह आसानी से समझ मे आ जाता है कि उपर्युक्त अभिमत दर्शनशास्त्र की वास्तविक समस्या को गलत रूप मे प्रस्तुत करता है ।

हमारा सरोकार जब तक मानव अस्तित्व के उस रूप के साथ रहता है जिस रूप मे हम उसे अपनी तात्कालिक अनुभूति के अन्तर्गत पाते है अथवा जिस रूप मे हम अपने तथा साथियो के पारस्परिक व्यवहार के सामाजिक सबधों मे उसे उपकल्पित किया करते हैं तब तक शरीर और मन के बीच किसी सबध का कोई प्रश्न नही उठ सकता क्योंकि सबध विषयक पदों मे से कोई भी पद हमारे सामने नही होता। अपनी तात्कालिक अनुभूति की खातिर न तो मैं कोई शरीर हूँ न कोई आत्मा न ही दोनो का कोई सयोग बल्कि मै तो अनुभूति का एक ऐसा व्यष्ट विषय हूँ जिसका प्रत्यक्ष अन्त सचार अन्य व्यष्टी के साथ है। चेतन अथवा अचेतन रूप से बद्धमूल द्वैतवादी विचारो के प्रभाव के कारण बहुधा हम इस तरह से बात किया करते है मानो यह एक प्रत्यक्षत अनुभूत तथ्य हो कि हम अपने साथियों के साथ शरीर नामक एक विजातीय 'द्रव्य पदार्थ' के माध्यम से अप्रत्यक्षरूपेण सचार स्थापित कर सकते है और कभी कभी हम इस कल्पित प्रतिबन्ध का प्रतिदर्शन अस्तित्व विषयक एक ऐसी उच्चतर कल्पित स्थिति के साथ करने लगते हैं जिसके अन्तर्गत 'अशरीरी-आत्माएँ' अनुमान्यत एक दूसरे के साथ प्रत्यक्ष समागम कर सकती हो। लेकिन सत्य बात यह है कि यह प्रत्यक्ष समागम और एक बुद्धिमान और सप्रयोजन व्यक्ति का दूसरे को प्रभावित कर सकना ऐसा कोई विशेषाधिकार नहीं है जो यहाँ से अच्छी किसी दूसरी दुनिया मे हमारे लिये सुरक्षित कर दिया गया हो अगर हम केवल अपने द्वित्ववादी पूर्वाग्रहो को भूल सके तो हमारे वास्तविक जीवन विषयक यही सत्य बात है जैसाकि हम देख सकते है। वास्तविक जीवन मे मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहों द्वारा जीवन के अपने आनन्द को कलुषित करने से पहले, हमे अपने तथा हमारे सामाजिक

पर्यावरण के सदस्यों के बीच किसी निष्क्रिय 'भौतिक' संगठन में घुस पैठने के बारे मे हमे कुछ भी पता नही होता। अनुभूति की मौलिक एकता का भौतिक तथा मानसिक पक्षो में विभाजन एकदम हमारी अपनी अपाकर्षक बुद्धि की ही उपज है। 'शरीर' और आत्मा अनुभूति की दत्त तथ्य वस्तुएँ नही अपितु वे हमारी अपनी कृत्रिम रचनाएँ हैं जिनका समाहरण हमने स्वयं उन विपद प्रक्रियाओ द्वारा जिनका अध्ययन अभी अभी कर रहे थे जीवन के वास्तविक 'तथ्यों' से किया है।

जैसाकि यान्त्रिकीय भौतिक क्रम-व्यवस्था विपयक धारणा की रचना करते समय हमने देखा था हम अपनी समग्र प्रत्यक्ष अनुभूति से मे कुछ तत्वों को अपाकृष्ट करके अपने 'पिण्डो' अथवा 'शरीरो' का नाम देकर ऐसा समझने लगते है मानों उनका एक अलग अस्तित्व हो और तब 'अन्तर्निवेश' विपयक प्राक्कल्पना की सहायता से प्रत्यक्ष आत्मा-नुभूति के उन तत्वो को जो भौतिक जगत् के बाहर छूट गये थे, इस तरह पुनः प्रस्तुत करने लगते हैं मानो उनकी एक दूसरी ही पृथक्-व्यवस्था अथवा दूसरा पृथक् समग्र आत्मा नामक हो। जब हम इस विन्दु तक आ पहुँचते हैं तब नि संदेह मजबूर हो जाते हैं यह सावल खडा करने के लिये कि शरीर और मानस नामक इन दोनों व्यवस्थाओ को एक दूसरे से सम्बद्ध कैसे माना जा सकना आवश्यक है। किन्तु याद रखने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि दोनो ही व्यवस्थाएँ आनुभूतिक तथ्य नही है वल्कि अपादकर्षण की उत्पाद है। उनके सबंध पर बहस करते समय हमारा काम यह है कि दिये हुए द्वैत का हम अतिक्रमण न करें अपितु उस एक से छुटकारा पाये जिसे किन्हीं विशिष्ट वैज्ञानिक समस्याओ के हितार्थ अनुभूति का जोड़ तोड़ वैठाने की इच्छा से हमने स्वय अपने लिये बनाया था। अतः जैसाकि मस्टरबर्ग ने सहीतौर पर लिखा है कि शरीर और आत्मा के बीच जो सबंध वास्तविक तथ्य रूप मे मौजूद है उसे हमे खोजना नहीं है वल्कि हमें ऐसे सबंध का आविष्कार करना है जो कृत्रिम भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओ का सामान्य योजना का साथ दे सके।[1]

---

१. एवेनारियस के ग्रन्थ Menschliche Weltbegrif, p, 75 के निम्नलिखित दो अनुच्छेदों के साथ तुलना कीजिये। मान लीजिये 'म' प्रेक्षित वस्तुओं (धड़, बाहों, हाथों, टांगों, पावो, वाक्शक्ति, गति आदि) का तथा 'प्रस्तुत विचारों' का एक निश्चित समग्र, 'मैं' रूप है। तब जब 'म' कहता है 'मेरा एक मस्तिष्क' है तब उसका अर्थ होता है वह मस्तिष्क प्रेक्षित वस्तुओं के उक्त समग्र की ही वस्तु उसके भाग रूप में है और साथ ही वह 'मैं' अभिधेय प्रस्तुत विचारों का भी अंग है। और जब 'म' कहता है मैं विचारवान् हूँ तो उसका मतलव होता है कि विचार स्वयं प्रेक्षित वस्तुओं के समग्र के भागरूप है तथा वे मैं नामक प्रस्तुत विचार समग्र के भी

२—जहाँ तक तत्त्वमीमांसा के हितो का सबध है यह मान्यता कि आत्मा और शरीर की समस्या का सरोकार केवल वैज्ञानिक अपाकर्षण के अत्यधिक कृत्रिम उत्पादों से ही है न कि किसी ऐसी वस्तु से जिसे 'दी हुई' वास्तविकता अथवा 'दत्त तथ्यवस्तु' कहा जा सके, इस विषय के विवेचन से प्राप्त होनेवाला एक उच्चतम महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। उससे दो बड़े सार्थक निष्कर्ष एक साथ ही प्राप्त किये जा सकते हैं। (१) हमें अनुभूति के उन परिमित विषयों को जिनके सबध में हमें सकारण मानना पड चुका है कि उन्ही से अनन्यतया चरम सत्ता की रचना हुई है। मनोवैज्ञानिक अर्थो मे 'मन' और 'आत्माएँ' नही कहना चाहिये।[1] उनको इन नामो से पुकारने का अनिवार्य आशय यही होगा भौतिक व्यवस्था से 'पिण्डों' या 'शरीरों' का ऐसा अपवर्जन जिसके बिना 'आत्मा' अथाव 'मन' नामक मनोवैज्ञानिक परिकल्पना की कोई सार्थकता नही होती। दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो ऐसा करने से वे उसके तद्रूप न हो सकेंगे जो कुछ कि वे अपनी

अंशरूप है किन्तु यद्यपि मैं नामधेय वस्तु के यथार्थ विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मस्तिष्क और विचार दोनों ही हमारे हैं तो भी उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विचार मस्तिष्क के हैं। नि.सदेह विचार 'मेरे अह' का विचार है 'मेरे मस्तिष्क' का ठीक उसी तरह नहीं जिस तरह मेरा मस्तिष्क 'मेरे विचारों' का मस्तिष्क नहीं होता। अर्थात् मस्तिष्क विचार का न तो आवास ही होता है न विष्टर, न जनक, न साधक औजार, न इन्द्रिय, न सहाय, न अधःस्तर। विचार मस्तिष्क का न अन्तेवासी है, न नायक, न अपरार्ध, न अपर पार्श्व, न ही उत्पाद और वस्तुतः शरीर क्रियात्मक क्रिया तक नहीं, न मस्तिष्क की कोई स्थिति ही।

१. इसी पुस्तक में अन्यत्र मनोविज्ञानी द्वारा अधीयमान वस्तु के लिये कल्पित रूप से मिथः परिवर्ती आत्मा और मन नामक संज्ञाओं का मैं उपयोग कर रहा हूँ। इन संज्ञाओं का जिन प्रचलित अर्थों में उपयोग अंग्रेज लेखक किया करते हैं उन अर्थों के बीच जहाँ तक भेद का सवाल है वहाँ तक आत्मा के साथ मन की अपेक्षा कहीं अधिक सारवृत्त और स्वातंत्र्य सपृक्त माने जाते हैं। आत्मा शब्द यदि अनुभूति के उस परिमित कर्ता के लिये जैसा कि वह वास्तविक सामाजिक जीवन में स्वय है तथा मन शब्द उस संरचना के लिये जो मनोविज्ञान के प्रयोजनार्थ इस अनुभवकर्त्ता का प्रतीक होता है निर्धारित कर दिये जाँय तो शायद कोई गलती न होगी। किन्तु आत्मा और शरीर शब्दो के विषय मे सार्वजनिक प्रति कल्पनाएँ इतनी बद्धमूल हो चुकी हैं कि हमारे इस सुझाव को कोई स्वीकार न करेगा। इस पुस्तक के प्रारम्भिक भागो मे उदाहरणतः खड २, अध्याय २, सेक० ६ मे मैंने स्पिरिट शब्द का उपयोग उन्हीं अर्थों मे किया है जिन अर्थों मे यहाँ आत्मा शब्द का।

प्रत्यक्ष अनुभूत्यर्थ स्वयं हैं बल्कि वे तद्रूप हो सकेंगे इसके जो कुछकि वे 'अन्तर्निवेश' के प्रभावान्तर्गत एक दूसरे के सैद्धान्तिक विचारार्थ बन जाते हैं। जैसाकि हमने देखा कि विज्ञान के विशिष्ट प्रयोजनों के लिये हमें स्वयं अपने आपको तथा अन्य व्यक्तियों को ऐसा समझ लेना वैध तथा आवश्यक हो जाता है मानो हम मानसिक दशाओं की इस प्रकार की शृंखला हैं किन्तु यह भूलना कभी वैध नहीं होता कि जब हम ऐसा करते हैं तो प्रत्यक्षतः अनुभूत की जगह हम अत्यधिक अवास्तविक प्रतीकात्मकता को बैठा रहे होते हैं।

प्रतीकात्मकता और तथ्य के बीच यों गड़बड़ करने का एक परिणाम चलते चलाते नोट कर लिया जाय। जब वास्तविक चेतन जीवन के भावित एकत्व की जगह जब मानसिक स्थितियों की शृंखलाओं को स्थानापन्न कर देते हैं तब हम अपने आप में प्रश्न करना शुरू कर देते हैं कि तथ्य और उसके प्रतीक जिसके—प्रतीकात्मक स्वरूप को हम भूल जाते हैं दोनों का क्या संबंध है। और इससे ही उन लाजवाब (उत्तरहीन) प्रश्नों का जन्म होता है। मूलतः अर्थहीन होने के कारण ही तो जो उत्तर देने योग्य नहीं होते और जो उन तरीके के बारे में होते हैं जिसके द्वारा 'स्वात्म' स्थितियों के अनुवर्तन का स्वामी होता है अथवा स्थितियों का अनुवर्तन 'स्वात्म' का होता है। जब हम यह नहीं देख पाते कि स्थितियों का अनुवर्तन स्वयं एक ऐंद्रिक विषय नहीं है जैसाकि 'अन्तर्निवेश' की प्राक्कल्पना के दृष्टिकोण में प्रकट होता है तब हम अपने सामने दो पर्याय खड़े पाते हैं यानी या तो हम अपने मनोविज्ञान पर मनोदशाओं के परिवर्तनहीन 'अवस्तर' का वह निरर्थक और अविचार्य कल्पितार्थ लाद दें जिसे काण्ट के पहले के मनोविज्ञानी आत्मतत्त्व कहते थे या वास्तविक जीवन को असतत 'मानसिक प्रतिमूर्तियों' के अनुवर्तन में विघटित कर डालें। यह मान लेने पर कि मनोविज्ञान का अनुभूत वास्तविकता के साथ कभी सीधा सरोकार नहीं होता बल्कि इसका सरोकार सदा ऐसे अपाकर्षण के प्राक्कल्पनात्मक उपायों में ही रहता है जिनका औचित्य निर्णय केवल मनोविज्ञानी के विशेष प्रयोजनार्थ इनकी उपयोगिता द्वारा ही होता है। यह सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

होगा। इस प्रकार शारीर-क्रिया-विज्ञानी, यदि उसका काम उससे चलता हो, तो वैधरूप से एक ऐसी कार्यकर प्राक्कल्पना अपना सकता है जिसे मनोविज्ञानी अग्राह्य मानता हो इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक समस्या के विभिन्न प्रकार भी वैध रूप से विभिन्न कार्यकर प्राक्कल्पनाएँ प्रकल्पित कर सकते है ।[1] साथ ही अगले अनुच्छेदो मे यह सिद्ध करने का उद्देश्य सामने रखूँगा कि मनोविज्ञान की एक प्राक्कल्पना जरूर ऐसी है जो अपनी अन्य प्रतिद्वन्द्विनियों की अपेक्षा कही अधिक अच्छी तरह शारीर-क्रिया-विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनो ही के सामान्य प्रयोजनों के लिये उपयोगी है। किन्तु जैसे जैसे हम आगे बढेंगे वैसे वैसे हम देखेंगे कि जिन प्रक्कल्पनाओं का हम त्याग करते जाते हैं महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने के लिये वे भी वैध है। तत्वमीमासा के अध्येता के रूप में तो वस्तुत हमारा मुख्य लक्ष्य मनोभौतिकी-विषयक सबध पर आगे बहस करते समय, उन तत्त्वमीमासीय युक्तियों का विरोधाभास दोष दिखाना होगा जो किसी एक प्राक्कल्पना को विशिष्टत. और आवश्यक रूप के सत्य सिद्ध करने के लिये साधारणत. प्रस्तुत की जाती है।

३—अब जब हम उन मुख्य प्रकारो की प्राक्कल्पनाओ पर विचार करने चलते है जिन्हे पहले भी अब भी, वस्तुत तत्त्वमीमासक तथा मनोविज्ञानी प्रस्तुत करते रहे हैं और किया करते है। उन प्राक्कल्पनाओं का समूहीकरण निम्नलिखित पाँच कुलको मे कर देना ठीक होगा। अर्थात १—पूर्व स्थापित एकरूपता, २—प्रसगवादिता, ३—उपतत्व-

---

१. अतः ज्योतिषशास्त्रीय समस्याओ पर विचार करते समय हम कोपर्निकस की अथवा टालमी की योजना मे से जो भी हमारे विशिष्ट प्रयोजनों के लिये सुविधाजनक हो उसे अपना सकते हैं। कोपर्निकस की व्यवस्था की श्रेष्ठतर सत्यता का मूल्य इससे अधिक अन्य कुछ नहीं होता कि उसकी उपयोगिता का क्षेत्र दूसरी के क्षेत्र से बड़ा है। यहाँ मै बता दूँ कि मैने उपयोगिता शब्द का प्रयोग यहाँ उन दार्शनिकों के सकीर्णतया व्यावहारिक अर्थो मे नहीं किया है जो उदाहरणतः निरपेक्ष विषयक सारी अटकलबाजियो को अनुपयोगिता के आधार पर हेय ठहराते हैं। जो कुछ भी किसी भी मानवीय आकांक्षा को परितुष्ट करता है वह मेरे लिये उस हद तक 'उपयोगी' है। परिणामतः मेरे लिये 'निरर्थक ज्ञान' नामक कोई वस्तु 'फलानुमेय प्रामाण्यवाद' जिसकी खिल्ली उड़ाता है है, इस दुनिया मे नही है। अतः यदि किसी व्यक्ति की मानसिक शान्ति 'निरपेक्ष' अमूर्त्त विषयक अटकलबाजी पर निर्भर हो—परियो अथवा देवदूतों की आदतो के बारे में या आपकी मर्जी के किसी भी विषय के बारे मे (और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे मे ही आदमी को अन्ततोगत्वा स्वयं ही निश्चय करना चाहिये) तो फल-क्रिया प्रामाण्यवाद का इस तरह की अटकलबाजी पर रोक लगाना स्वयं अपने सिद्धान्त के प्रति झूठ बनना होगा।

वादिता, ४—मनोभौतिकी या समान्तरवादिता ५—मिथ क्रिया। इस अध्याय के प्रयोजनार्थ उपर्युक्त पाँच विकल्पो मे से पहले दो विकल्पों को भी छोडा जा सकता है। न तो लीब्निट्ज की पूर्व स्थापित एकरूपता को ही, न ज्युलिनेक्स और मालेब्रान्श के तथा एक-पक्षीय रूप मे बर्कले के भी प्रसगवाद को आधुनिक दर्शनशास्त्र का अधिक समर्थन प्राप्त हो सकता है। दोनो ही अभिमत इसके अतिरिक्त—लीबनिट्ज का खुले तौर पर और प्रसगवादियों का अर्थगर्भिता के आधार पर—विशिष्ट मनोभौतिकीय प्राक्कल्पना से कही और बढी चढी कोई वस्तु है। सिद्धान्तत वे सकल ज्ञानातीत कारणता से छुटकारा पा जाने के प्रयत्न हैं और उनके सामान्य आधारों पर हम अपने कारणीय अभिधारणा विषयक अध्याय मे विचार कर चुके है वहाँ हमने इस बात की अपनी दिलजमई कर ली थी कि मनोविज्ञान की तरह जो विज्ञान परिमित वस्तुओ को मान्यता प्रदान करता है उसे ज्ञानातीत कारणता के सिद्धान्त को कम से कम कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप मे तो स्वीकार करना ही होगा।

शेष तीन प्रकारों मे से प्रत्येक प्रकार के अभिमत के समर्थक विज्ञान और दर्शन शास्त्र के सम-सामयिक विद्यार्थियो में मौजूद है। उपतत्ववादीय सिद्धान्त अधिकतर भौतिक विज्ञान पर काम करनेवालो का प्रिय सिद्धान्त है। यद्यपि मनोविज्ञानी और तत्त्व-मीमासको का वह अधिक प्रिय नही है पर डॉ० शैड्वर्थ हॉगसन का स्पष्ट समर्थन उसे प्राप्त है। समान्तरवादी सिद्धान्त के कुछ कथन विशेषत मस्टरबर्ग का कथन उससे बहुत कुछ मिलते-जुलते है। आजकल शायद समान्तरवादी प्राक्कल्पना मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञो मे विशेषत जनप्रिय हो रही है और उसके पृष्ठपोषको मे उच्चकोटि के अनेक लेखक है जैसे वुन्ट, मस्टरबर्ग, एबिंगहॉस, हार्फ्डिंग और स्टाउट। और अन्त मे मिथ-क्रिया के शक्तिशाली पृष्ठपोषको मे है ब्रैडले, वार्ड और जेम्स, फिर जब उसे मैक-डुगाल जैसे गहरे शरीर-क्रिया-विज्ञानी तक ने अपना रखा है तो कहना ही क्या है। दोनो ही अवर सिद्धान्तों के विगतकालीन महान दार्शनिक तत्रो के साथ ऐतिहासिक सबध चले आते है। समान्तरवाद का सबध स्पिनोजा के साथ है और मिथ क्रियावाद का, अन्य नामों की गणना न करने पर भी देकार्ते और लॉक के साथ। प्राचीन जगत् के दर्शन शास्त्र मे मनोभौतिकी विषयक प्रश्न सुनिश्चित रूप धारण कर चुका था ऐसा नही कहा जा सकता किन्तु शायद इतना कहा जा सकता है कि अफलातून या प्लेटो का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अवश्य ही मिथ क्रियापरक है जबकि अरस्तू का सिद्धान्त यद्यपि इतना उलझा हुआ है कि उसका सही रूप निर्धारण नही हो पाता फिर भी वह समान्तरवाद की ओर झुका हुआ है।

४—उपतत्ववाद विचार के लिये जो तीन प्राक्कल्पनाएँ बच रही है उनमे से उपतत्ववाद के सिद्धान्त मे ऐसा कुछ बहुत कम है जिसके बल पर उसकी निःसारता की

जा सके। वह अपने दोषो के कारण गहरे आक्षेपो का लक्ष्य है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार सारे ही कारणीय सयोजन एकान्ततया भौतिक दशाओं के बीच ही हो सकते हैं। शारीरिक परिवर्तन एक दूसरे के बाद अनुक्रम विषयक एकरूप नियमो के अनुसार ही हुआ करते हैं और उन नियमो की खोज करना शारीर-क्रिया-विज्ञानी का ही काम होता है। शरीर सबधी प्रत्येक परिवर्तन शारीरिक पूर्ववर्तियो द्वारा पूर्णतया निर्धारित हुआ करता है। कुछ शारीरिक दशाएँ तदनुरूप 'चेतनता की दशाओं' द्वारा ही अनुगत होती है किन्तु दशाओं का कोई कारणीय सबध अनुवर्तिनी शारीरिक दशाओ के साथ नही होता न उनमे परस्पर ही ऐसा सबध होता है। इस प्रकार वे परिणाम रूप अथवा प्रभाव रूप ही होती हैं कारण रूप कभी नहीं होती। भौतिक परिवर्तनो की सारी ही शृखला जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के परिवर्तन, जिनसे मानव शरीर के सारे इतिहास की रचना होती है ठीक उसी प्रकार घटित होती चली जाती है जिस प्रकार वह तब होती चली जाती जब 'चेतना' का उसमे एकान्त अभाव होता। यही वह बात है जो इस दावे मे कही गयी है कि सारी ही मनोदशाएँ उपतत्व होती है अर्थात् ऐसे अनपेक्षित उपकरण जो शारीरिक परिवर्तनो की संयुक्त शृखला के सिलसिले मे उठ खडे होते है लेकिन जिनका कोई भी निर्धारित प्रभाव उस पर नहीं होता। चित्रात्मकतया इस सिद्धान्त को यो दिखाया जा सकता है —
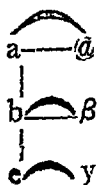
इस चित्र मे जहाँ अंग्रेजी इटालिक अक्षर भौतिक दशाओ के तथा ग्रीकाक्षर मानसिक दशाओ के प्रतीक है वहाँ खडी लकीरें कारणीय अनुक्रम की द्योतक है।

अगर मनोभौतिक प्राक्कल्पना अनुभूति के वस्तुतथ्यो पर विनियोजित हो सकती होती तो निश्चय ही उपतत्ववाद को अन्तर्हिततया अर्थहीन कहकर निरस्त कर देते। क्योकि इससे बढ़कर और कुछ भी इतना निश्चित नही कि, प्रत्यक्ष अनुभूति विषयक वास्तविक जीवन मे हमारा ज्ञान और हमारे हित ही हमारे कार्यो का गतिक्रम निर्धारित करते है। हमारा विश्वास और हमारी इच्छा ही इस ससार मे हमारे व्यवहार मे परिवर्तनो का कारण है, यह बात उन प्रारम्भिक सत्यो मे से एक है जिस पर जमे हमारे विश्वास को युक्तियो द्वारा उखाडने मे कोई भी विज्ञान समर्थ नही हो सकता। इसलिये जब उपतत्ववाद के समर्थक अपने अभिमतो के आधार पर व्यवहारिक, नैतिक और विध्यात्मक

या कानूनी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करने लगते हैं तब अगर हम अनुभूति के बहुत ही सीधे सादे तथ्यों के ऐसे बेतुके स्वांग से कोई सरोकार रखने से इन्कार कर दें तो यह कोई हमारी अनधिकार चेष्टा न होगी। किन्तु जब तक कि इस प्राक्कल्पना को हमारे शारीर-क्रिया-विषयक तथा मनोविज्ञानात्मक सिद्धान्तों को सह-सम्बद्ध करने की केवल कार्यकर प्राक्कल्पनाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है वहाँ तक मामला और ही रहता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त रूप से उनकी वैधता का अन्दाजा उस मात्रा द्वारा ही लगाना होगा जिस मात्रा में कि वह इस सह-सम्बन्ध को शक्य बनाती है और जिस मात्रा में कि उन व्यर्थ अर्गलनाओं से जो इस अभिमत को वास्तविक जीवन की परिभाषा मान लेने की गलती के कारण पैदा होती है कोई हानि नहीं होती।

अब अगर हम इस दृष्टिकोण से इस प्राक्कल्पना को देखें तो हमें तुरन्त दिखायी पड़ जायगा कि वह कुछ प्रयोजनों के लिये वस्तुत वैध है। शारीर-क्रिया-विज्ञान के प्रयोजनों के लिये यह एक हमारे मतलब की बात होगी कि किसी शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक प्रक्रिया की पूर्ववर्ती स्थितियों से उसकी पश्चात्वर्ती स्थितियों का अनुमान हम लगा सकें। शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक परिवर्तनों को अगर हम शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक पूर्ववर्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी द्वारा अप्रभावित हुए बिना उच्चारित कर सकें तो ऐसा कर सकने में हमारा हित है। और एकल्पना की अथवा प्रमस्तिष्कीय शारीर-क्रिया-विज्ञान के नियम की स्थापना कर सकने की प्रत्येक वास्तविक सफलता इस बात का प्रमाण है कि यह पूर्वानुमान कि विवादग्रस्त प्रक्रिया की निर्धारिका गत्य परिस्थितियाँ शारीर क्रियात्मक मात्र ही होती हैं। सत्य का सन्निकट है। यदि कोई शारीर-क्रिया-विज्ञानी किसी मस्तिष्कीय स्वरूप को उपतत्त्ववादीय इसलिये ही मानता है कि एक शारीर क्रिया विज्ञानी की हैसियत से वह उन्हीं प्रक्रियाओं से काम लेगा जिन्हें इस पूर्वानुमान पर उनमें केवल शारीर-क्रिया-वैज्ञानिक पद ही अन्तर्ग्रस्त हैं एक रूप अनुक्रमों में सफलतापूर्वक विघटित किया जा सके तो वास्तव में वह उचित काम ही करता है। यद्यपि इस बात का निर्णय कि क्या तन्त्रिका तन्त्र की किन्हीं भी प्रक्रियाओं को सफलतापूर्वक विशुद्ध शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक अनुक्रम माना जा सकता है या नहीं शारीर क्रिया विज्ञानी की अपनी प्रारम्भिक अभिधारणाओं द्वारा परिणामों की वास्तविक सफल प्राप्ति के आधार पर ही किया जा सकता है अन्य किसी भी प्रकार से नहीं।

किन्तु यदि शारीर-क्रिया-विज्ञानी यह दावा करता ही चला जाय जैसाकि वह कभी कभी किया करता है कि न केवल तन्त्रिका-विषयक कुछ प्रक्रियाएँ ही ऐसी मानी जा सकती हैं कि मानो उनके समकालीन संगियों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु यह कि वे प्रक्रियाएँ वस्तुतः वैसी ही हैं जैसी कि वे इन संगियों के साथ यदि न होतीं तो अथवा इतना भी कि तन्त्रिका विषयक सकल प्रक्रिया वही है जो वह चेतना के बिना

भी होती, तो वह विरोधाभास का दोषी ठहरेगा । इस तरह की बहस करना कि कुछ परिस्थितियों की उपस्थिति से उस विशिष्ट परिणाम में जो किसी दिए हुए पूर्ववर्ती का अनुगामी परिणाम होता है, कोई अन्तर नहीं पड़ता और वही परिणाम उन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में भी अवश्य प्राप्त होगा, तर्क शास्त्रानुसार एक भयकर भूल है क्योंकि हो सकता है कि उन परिस्थितियों को दूर कर देने पर हमारे इष्ट पूर्ववर्ती भी लुप्त हो जांय। यह निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतन्त्र नहीं कि चूँकि कुछ शारीर-क्रियात्मक प्रक्रियाओं के गतिक्रम की गणना उनके मानसिक सह-सबधियों को लेखे में लिये बिना भी की जा सकती है इसलिये वे प्रक्रियाएँ उन सह-सबधियो के बिना भी घटित हो सकती है।

यह मान लेने पर कि सारी ही मानसिक प्रक्रियाएँ निरपवादत उपतत्वीय समझी जा सकती हैं अर्थात् सारा ही मानवीय कार्यकलाप यदि हमारा शारीर-क्रिया-विज्ञान पर्याप्त उन्नत होता तो विशुद्ध शारीर-क्रिया-विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता, परिणाम बड़ी और भयावह हो जाते हैं । इस प्रकार के पूर्वानुमान से निम्नलिखित भूलभुलैया तुरन्त उठ खड़ी होती है या तो हमारे शारीर-क्रिया-विज्ञान को यान्त्रिकीय-विज्ञान की अभिधारणाओं का पक्का भक्त बने रहना होगा या बिल्कुल ही नहीं। अगर वह उन अभिधारणाओं का सच्चा अनुयायी रहता है तो उसके मानवीय क्रियाकलाप के वर्णनों में प्रकल्पित तथा वाछित लक्ष्यों के सदर्भों वाले साध्यवादी निर्धारणों का कोई हवाला नहीं आना चाहिये अर्थात् मानवीय व्यवहार को हमें ऐसा समझना होगा मानो इन्सानी पसन्द और इरादे किसी सभाव्य प्रभाव के बिना, भाग्य द्वारा ही वह हमारे लिये निर्धारित कर दिया गया हो और इस तरह ऐतिहासिक तथा नीतिशास्त्रीय शास्त्र के उस सारे ही कार्य को जिसे हम पहले ही मनोविज्ञान के वैज्ञानिक रूप के अस्तित्व का एक मुख्य कारण जान चुके हैं अनर्गल प्रलाप मात्र सिद्ध करना होगा। इसलिये हमें वस्तुत. जीवन के ऐसे सिद्धान्त की ओर वापस आना होगा जो हर बात में प्राय अथवा मुसलमान के भाग्यवाद से, उस नाम को छोड कर जिससे वह अपनी 'असिट तकदीर' को पुकारता है एकदम मिलता जुलता है। अथवा अगर ऐसा करने को तैयार न हो तो हमें शारीर-क्रिया-विज्ञान को इच्छा, चयन और पसन्दगी या रुचि आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों को उपयोग करने या रुचि आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों का उपयोग करने की छूट देनी होगी और इस तरह गुप्त रूप से यह मान लेना होगा कि मानवीय क्रिया-कलाप का वर्णन भौतिक व्यवस्था मे असम्मिलित कारको का शामिल किये बिना सम्भव नहीं है। नि सदेह ऐसी बात इसलिये है कि चूँकि उन्हे इस भूलभुलैया का पता होता है कि सारे ही मनोविज्ञानी लगभग सामान्यत. ही उपतत्ववादीय प्राक्कल्पना का त्याग करने पर सहमत है जबकि शारीर-क्रिया-विज्ञानियो मे उसकी लोकप्रियता यों कहकर

भी होती, तो वह विरोधाभास का दोषी ठहरेगा । इस तरह की बहस करना कि कुछ परिस्थितियो की उपस्थिति से उस विशिष्ट परिणाम मे जो किसी दिए हुए पूर्ववर्ती का अनुगामी परिणाम होता है, कोई अन्तर नही पडता और वही परिणाम उन परिस्थितियों की अनुपस्थिति मे भी अवश्य प्राप्त होगा, तर्क शास्त्रानुसार एक भयकर भूल है क्योकि हो सकता है कि उन परिस्थितियो को दूर कर देने पर हमारे इष्ट पूर्ववर्ती भी लुप्त हो जाँय। यह निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतत्र नही कि चुँकि कुछ शारीर-क्रियात्मक प्रक्रियाओ के गतिक्रम की गणना उनके मानसिक सह-सवधियो को लेखे मे लिये विना भी की जा सकती है इसलिये वे प्रक्रियाएँ उन सह-सवधियो के विना भी घटित हो सकती हैं।

यह मान लेने पर कि सारी ही मानसिक प्रक्रियाएँ निरपवादत उपतत्वीय समझी जा सकती हैं अर्थात् सारा ही मानवीय कार्यकलाप यदि हमारा शारीर-क्रिया-विज्ञान पर्याप्त उन्नत होता तो विशुद्ध शारीर-क्रिया-विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता, परिणाम कही और भयावह हो जाते है । इस प्रकार के पूर्वानुमान से निम्नलिखित भूलभुलैया तुरन्त उठ खडी होती है या तो हमारे शारीर-क्रिया-विज्ञान को यान्त्रिकीय-विज्ञान की अभिधारणाओ का पक्का भक्त बने रहना होगा या विल्कुल ही नही। अगर वह उन अभिधारणाओ का सच्चा अनुयायी रहता है तो उसके मानवीय क्रियाकलाप के वर्णनो मे प्रकल्पित तथा वाछित लक्ष्यो के सदर्भो वाले साध्यवादी निर्धारणों का कोई हवाला नही आना चाहिये अर्थात् मानवीय व्यवहार को हमे ऐसा समझना होगा मानो इन्सानी पसन्द और इरादे किसी सभाव्य प्रभाव के विना, भाग्य द्वारा ही वह हमारे लिये निर्धारित कर दिया गया हो और इस तरह ऐतिहासिक तथा नीतिशास्त्रीय सत्ता के उस सारे ही कार्य को जिसे हम पहले ही मनोविज्ञान के वैज्ञानिक रूप के अस्तित्व का एक मुख्य कारण जान चुके है अनर्गल प्रलाप मात्र सिद्ध करना होगा। इसलिये हमे वस्तुत जीवन के ऐसे सिद्धान्त की ओर वापस आना होगा जो हर बात मे त्रात अथवा मुसलमान के भाग्यवाद से, उस नाम को छोड कर जिसमे वह अपनी 'अनिद्र तकदीर' को पुकारता है एकदम मिलता जुलता है। अथवा अगर ऐसा करने को तैयार न हो तो हमे शारीर-क्रिया-विज्ञान को इच्छा, चयन और पसन्दगी या रुचि आदि मनो-वैज्ञानिक पदार्थों को उपयोग करने या रुचि आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों का उपयोग करने की छूट देनी होगी और इस तरह गुप्त रूप से यह मान लेना होगा कि मानवीय क्रिया-कलाप का वर्णन भौतिक व्यवस्था मे असम्मिलित कारको का शामिल किये बिना सम्भव नही है। नि सदेह ऐसी वात इसलिये है कि चूंकि उन्हे इस भूलभुलैया का पता होना है कि सारे ही मनोविज्ञानी लगभग सामान्यत ही उपतत्ववादीय प्राक्कल्पना [illegible] करने पर सहमत है जबकि शारीर-क्रिया-विज्ञानियो मे उसकी लोकप्रियता [illegible]

समझायी जा सकती है कि शारीर-क्रिया-विषयक एकरूपताएँ स्पष्टतः केवल उन्हीं प्रक्रियाओ के लिये सफलतापूर्वक स्थापित की जा सकती है जिन्हे ऐसा माना जा सकता हो मानो वे केवल शरीर-क्रियापरक रूप मे ही निरूपित है।

५—समान्तरवाद' उपर्युक्त अपरिष्कृत विचारणाके कुछ विशिष्ट लक्षणो की रक्षा करते हुए समान्तरवाद की अभिधारणा अपने असन्तोषजनक परिणामो को बरकाने का प्रयत्न करती है। उपतत्ववाद से इस अभिमत के बारे मे सहमत होते हुए भी कि शारीर-क्रिया-विषयक परिवर्तनो को केवल शारीर-क्रियापरक पूर्ववर्तियो द्वारा ही निर्धारित माना जाय, समान्तरवाद इस बात से इन्कार करता है कि मनस्तत्वीय शृखला की घटनाएँ अपने शारीर-क्रिया-विषयक सह-सबधियो की गौण अथवा 'द्वितीयक' प्रभाव मात्र होती है। उसके मतानुसार भौतिक या शारीरिक तथा मानसिक घटनाओ की शृखलाये कठोरतया'समानन्तर'होती है किन्तु कारणीयतया सम्बद्ध नही होती इनमे से किसी भी शृखला की प्रत्येक घटना का एकदम सही अनुदर्शी दूसरी शृखला मे मौजूद रहता है लेकिन भौतिक घटनाएं मनस्तत्वीय घटनाओ का कारण नही बनती न इसके विपरीत मनस्तत्वीय घटनाएँ ही भौतिक घटनाओ का कारण बनती हैं। भौतिक शृखला के अनुवर्ती अग एक सयुक्त कारणीय अनुक्रम का निर्माण करते हैं जो अपने मनस्तत्वीय सहवर्तियो से स्वतत्र होता है जबकि ये मनस्तत्वीय सहवर्ती भी जैसाकि आम तौर पर माना जा चुका है।[1] कारणता द्वारा सयुक्त मानसिक स्थितियो की एक शृखला का निरूपण करते है अत. तत्रिकागत प्रत्येक परिवर्तन का निर्धारण केवल पूर्वगामी तत्रिकीय परिवर्तनो द्वारा ही होता है और तदनुदर्शी मानसिक परिवर्तन अपने अनुदर्शी पूर्ववर्ती मानस परिवर्तनो द्वारा। चित्ररूपेण हमारी इस प्राक्कल्पना की शक्ल यो बनती है :—
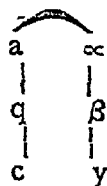
१. किन्तु इस प्रकार का पूर्वानुमान सदा ही नहीं किया जाता। प्रोफेसर मस्टरवर्ग जो अपने आप को समान्तरवाद के पक्षपोषको की श्रेणी का मानते हैं तत्वमीमांसीय आधार पर कहते हैं कि सब तरह का करणीय सयोजन भौतिक दशाओ के ही बीच होना आवश्यक है अतः वह इनकार करते है कि मानसिक स्थितियो को एक

सामान्यतः इतना और जोड़ दिया जाता है कि पारस्परिक निर्भरताविहीन समानन्तर-वाद की अंतिम तत्वमीमांसीय व्याख्या स्पिनोजीय तद्रूपता सिद्धान्त मे, अर्थात् इस सिद्धान्त मे कि भौतिक और मनस्तत्वीय शृखलाएँ एकत्र वास्तविकता के दो 'पार्श्व' अथवा 'पहलू' है ही ढूंढ़ना पड़ेगी। समानन्तरवाद के कुछ समर्थक (उदाहरण के लिये एर्विगहॉस) इस एकल वास्तविकता की कल्पना तृतीयक किंचित के रूप मे करते है जिसे वे दोनो ही शृखलाओ द्वारा समानरूपेण पर्याप्ततया अभिव्यक्त हुआ मानते है। अन्य (जैसाकि स्टाउट) दार्शनिक कहते हैं कि उसका वास्तविक स्वरूप और भी भौतिक शृखला की अपेक्षा मानस शृखला मे और भी अच्छी तरह प्रकट होता है।

श्रेष्ठतम सन्तोषप्रद मनोभौतकीय सिद्धान्त के रूप मे समानन्तरवाद की पुष्टि करने के लिये सामान्यतः प्रस्तुत किये जाने वाले आधार दो प्रकार के है। निश्चयात्मक युक्ति के रूप मे यह कहा जाता है कि प्रमस्तिष्कीय शारीर रचना द्वारा भौतकीय तथा मनोवैज्ञानिक परिमित प्रक्रियाओ के बीच की अनुरूपता के सिद्धान्त की किसी हद तक पुष्टि उसके विविध प्रान्तस्था केन्द्रीकरण द्वारा पहले ही हो चुकी है और उससे यह भी आशा की जाती है कि वह भविष्य मे भी इस प्रकार का स्थानीकरण कर दिखायेगी। मनोविज्ञान के धारण-क्षमता, साहचर्य, आदत आदि विषयक नियमो तथा मस्तिष्क मे 'सहवन पथो' के सरूपण विषयक शारीर क्रिया वैज्ञानिक सिद्धान्तो के बीच की औपचारिक अनुरूपता पर भी जोर दिया जाता है। ये निश्चयात्मक तर्क हमे कुछ ज्यादा दूर नही ले जाते। जिस सीमा तक के परीक्षण द्वारा उनका निश्चय कर लिया गया है और जहाँ तक वे स्वय समान्तरवादीय सिद्धान्त के निगमन नही है वहाँ तक उनका आधारभूत आनुरूप्य मिथः क्रियात्मक सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक ही होगा अथवा वह किसी भी एक शृखला की दूसरी पर एकपक्षीय निर्भरता का आनुरूप्य होगा। समान्तरवादीय विषय की वास्तविक शक्ति कुछ उन नकारात्मक पूर्वानुमानो पर निर्भर

दूसरे के साथ कारणता द्वारा सयुक्त किया जा सकता है, हाँ अप्रत्यक्ष रूप से उनके भौतिक सह-सबधियो के कारणीय सबधों द्वारा ऐसा होना सम्भव है। शाब्दिक विभेद के अतिरिक्त उनके अभिमत तथा उपतत्ववाद मे मुश्किल से ही कोई अन्तर होगा। यद्यपि वे भौतिक तथा मानसिक दोनो ही शृखलाओ के शुद्ध कृत्रिम 'स्वरूप' पर जोर देकर व्यवहारिक भाग्यवाद के परिणामो से बच निकलते हैं। (मनस्तत्वीय स्थितियो के बीच कारणीय सबध मानने से इकार करने का उनका कारण केवल यही है कि कारणीय संबध केवल सार्वत्रो के ही बीच स्थापित हो सकता है जबकि प्रत्येक मानस दशा अनन्य होती है। क्या इस युक्ति का निहितार्थ वास्तविक अनुभूति और उसके मनोवैज्ञानिक प्रतीक के बीच की गड़बड़ी नहीं?)

होती है जिनके बारे मे आमतौर पर लोगो का ख्याल है कि वे एक शृंखला की दूसरी शृखला पर कारणीय निर्भरताविषयक प्राक्कल्पना का बहिष्कार करते हैं ये निषेधात्मक पूर्वानुमान मुख्यत तीन, प्रतीत होते है।

(१) कहा जाता है कि, जहाँ बिना किसी कठिनाई के यह कल्पना की जा सकती है कि किसी सतत भौतिक अथवा मानसिक प्रक्रिया की बाद की स्थितिया किस प्रकार कारणीय नियम द्वारा उसकी पहली वाली स्थितियो के साथ सयुक्त की जा सकती है वहाँ इस बात की कल्पना कर सकना एकदम असभव होता है कि मनस्तत्वीय घटनाएँ भौतिक पूर्ववर्तियो से कैसे जन्म ले सकती है तथा तद्विपरीत भौतिक घटनाओ का उद्भव मनस्तत्वीय पूर्ववर्तियो से क्योकर हो सकता है क्योकि भौतिक और मनस्तत्वीय तत्व एक दूसरे से एकदम पृथक् होते है। कहा जाता है कि भौतिक प्रक्रिया सतत होती है और दूसरी ओर इसी प्रकार की मनस्तत्वीय प्रक्रिया भी सतत ही होती है किन्तु जब हम प्रमस्तिष्कीय परिवर्तन द्वारा मानसिक परिवर्तन घटित किए जाने की बात सोचने लगते है अथवा तद्विपरीत घटना घटित होने की बात सोचने का प्रयत्न करते है तो हमे उस सातत्य का पूरा पूरा हाल मिल जाता है जिसकी विधि हम कारणीय सूत्र द्वारा नही बैठा पाते।

(२) ऊर्ज्जा सरक्षण सिद्धान्त को कभी कभी मनस्तत्वीय दशाओ को भौतिक दशाओ के पूर्ववर्तियो अथवा परिवर्तियो की गणना मे शामिल कर लेने की बात के साथ मेल खाता नही माना जाता। कहा जाता है कि यदि मनस्तत्वीय स्थितियाँ तन्त्रिकागत परिवर्तन क्रम को प्रभावित कर सकती होती तो शारीर तत्र की ऊर्ज्जा क्षति हुए बिना ही 'कार्य' होना सम्भव होता। और तन्त्रिकापरक परिवर्तन का समग्र प्रभाव यदि एकदम भौतिक नही है तो शारीर तत्र द्वारा कार्य हुए बिना ही ऊर्ज्जा क्षति होना आवश्यक होगा और इन दोनो ही मामलो में ऊर्ज्जा सरक्षण नियम का उल्लघन होगा।

(३) अन्तिमत. यह कहा जाता है कि भौतिक विज्ञान की यह एक मौलिक अभिधारणा है कि जैव शारीर तत्र जैसे पूर्व-ग्रहीत पदार्थिक तत्र में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन एकान्तिकतया भौतिक पूर्ववर्तियो के कारण होता है, और इस अभिधारण का मनोभौतिकी मे अवश्य ही आदर होना चाहिये। यही हैं वे प्रमुख युक्तियाँ जिन्हे समान्तरवाद के समर्थक मनोविज्ञानियो के ग्रन्थो से ढूंढ निकाला है और जिन पर उनका मामला आधारित है।

स्पष्ट ही है कि यदि यह सब अथवा इनमे से कोई सा भी तर्क वैध हो तो इसका मतलब होगा कि समान्तरवाद को भौतिक तथा मनस्तत्वीय विज्ञानो के समन्वयनार्थ न केवल एक अपितु एकमात्र वैध प्राक्कल्पना माना जाय। किन्तु मेरा विश्वास है कि उनमें से प्रत्येक तर्क विरोधाभासपूर्ण हैं और इस विश्वास के आधार निम्नलिखित हैं —

(१) भौतिक और मनस्तत्वीय के बीच कारणीय सबध की अकल्पनीयता विषयक तर्कना सम्भवत भौतिक तथा मनस्तत्वीय के बीच मिथ क्रिया के अस्तित्व से इन्कार करने के तथाकथित आधारो मे सबसे प्रभावशाली आधार है किन्तु उसकी शक्ति उतनी अधिक नही जितनी कि वह दिखाई पडती है। यह अस्वीकृत नही है कि सीधे सादे मामलो में हम उन परिस्थितियो को निर्दिष्ट कर सकते है जिनके अन्तर्गत कोई मानसिक स्थिति किसी भौतिक स्थिति का अनुगमन किया करती है। (उदाहरणार्थ हम किसी दिये हुए सवेदन के अविर्भाव की भौतिक परिस्थितियो का निर्देशन कर सकते है)। किन्तु हमारा तर्क है कि हम यह नही सिद्ध कर सकते कि उन परिस्थितियो का (उदाहरणत दृष्टि पटल का और अप्रत्यक्षत मस्तिष्क के प्रकाशीय केन्द्रो का निर्दिष्ट तरग दैर्घ्यवाले प्रकाश द्वारा हुआ उद्रेक) अनुगमन अमुक निर्दिष्ट सवेदन द्वारा होना क्यो आवश्यक है (उदाहरणतः हरा रग ही क्यो, अन्य रग क्यो नही ?) इसका मतलब तो यही होता है कि जिस प्रकार हम किसी विशुद्ध भौतिक प्रक्रिया की पहले की स्थितियो को बाद की स्थितियो से सयुक्त कर सकते है। सवेदन के स्वरूप को उद्रेक के स्वरूप से उसी प्रकार सयुक्त करने विषयक गणितीय समीकरण की रचना हम नही कर सकते। यह बात पर्याप्तत स्पष्ट है किसी प्रक्रिया के गतिक्रम मे नये गुणो की आविर्भाव से पूर्ण उपाकर्षण करके तथा उसे विशुद्ध रेखागणितीय और मात्रात्मक रूपान्तरण मात्र मानकर ही हम उसे अपने समीकरणो के लिये उपयोज्य बना सकते है।

जैसाकि अपनी कारणताविषयक विचारणा मे हम देख चुके है कि गणितीय भौतिकी अपनी सरचनाओ मे इसी शर्त पर सफल हो पाती है कि वह अपने विचारक्षेत्र से सारे ही मात्रात्मक परिवर्तन को व्यक्तिनिष्ठ मानकर निकाल बाहर करे। किन्तु हमने वहा यह भी देखा था कि गुणात्मकतया नवीन का प्रारम्भण कारणता विपयक विचारणा का अनिवार्य भाग है और यह भी कि भौतिक जगत् के सकल परिवर्तन को मात्रात्मक रूपान्तरण मे विघटित करके गणितीय भौतिकी वस्तुत कारणीय कल्पना को ही निरस्त कर देती है। जब हम शारीरिक परिवर्तनो को सवेदन का कारक बताते हैं तब हमारी स्थिति ठीक वैसी ही होती है जब हम किसी रासायनीय यौगिक के अनुपातो के मात्रात्मक परिवर्तन को उसके गुण परिवर्तन का कारण बताते है। यह आपत्ति कि किसी मनस्तत्वीय प्रभाव को उसके तथाकथित कारण के साथ किसी समीकरण द्वारा सयोजित नही किया जा सकता। गुणात्मकतया नवीन के उत्पादन के प्रत्येक मामले मे अर्थात् हर एक ऐसे मामले मे जहाँ कारणता विपयक पदार्थ का जरा सा भी उपयोग करते है, समान रूप से लागू होगी और इसी कारण से मनोभौतिक कारणता के विरुद्ध विशेपतया आपत्ति रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तब उसमे कोई जोर नही रहता।

(२) ऊर्ज्जा-सरक्षणात्मक तर्कना को और भी सक्षेप मे निरस्त किया जा सकता

है क्योंकि उसके विरोधाभासी स्वरूप को समान्तरवादी विचारधारा के आधुनिक योग्यतम व्याख्याताओं तक ने जैसे कि डा० स्टाउट और प्रोफेसर मस्टरबर्ग, पूरी तरह मान लिया है। जैसाकि डा० स्टाउट ने निर्देशित किया है इस तर्कना मे प्रामाण्य प्रमाणीकरणदोष अन्तर्गस्त है ऊर्ज्जा सरक्षण के सिद्धान्त की स्थापना तकनीकी तौर पर सरक्षी पादर्थिक व्यवस्था नाम से ज्ञात वस्तुओ के लिये की गयी है और इस बात से कोई निरपेक्ष प्रमाण न तो दिया ही गया है न उसके दिये जाने की कोई सभावना ही है कि मानवीय जैवतन्त्र इस प्रकार का सरक्षी सघ है। इस पर भी जैसाकि अनेको आलोचको का कहना है खासतौर पर प्रोफेसर वार्ड का, कि सरक्षण के सिद्धान्त को स्वत ही यदि लिया जाय तो वह आदान-प्रदानो का ही नियम है। उसका दावा है कि किसी सरक्षी सघ की ऊर्ज्जा की मात्रा उन सभी रूपान्तरणो मे जिनके बीच होकर उन्हे गुजरना पडता है स्थिर रहती है। किन्तु यान्त्रिकीय विज्ञान का शेष अभिधारणाओ से पृथक् वह हमे कोई भी साधन ऐसे नही देती जिनके द्वारा हम यह निर्णय कर सके कि ऊर्ज्जा के कौन से रूपान्तरण घटित होगे और कब घटित होगे। इसलिये अगर हम यह मान ले कि मनस्तत्वीय स्थितियो द्वारा उस क्षण का निर्धारण हो सकता है जिस क्षण पर जैवतत्र मे वर्तमान ऊर्ज्जा का रूपान्तरण उदाहरणत गतिज ऊर्ज्जा का स्थितिज ऊर्ज्जा मे उसकी मात्रा को प्रभावित किये बिना हुआ करता है तो हमारी ऐसी मान्यता ऊर्ज्जा-सरक्षण के विशिष्ट सिद्धान्त का भजन न होगी।

(२) यह सही है कि अनैतिक परिस्थितियो द्वारा भौतिक घटना क्रम का निर्धारण हो सकने की बात मान लेना यान्त्रिकीय भौतिकी की अभिधारणाओं से उनके समग्र रूप को देखते हुए मेल नही खाता। इस प्रकार के निर्धारण को स्वीकार कर लेने के माने होगे यान्त्रिकीय विज्ञानो की सारी ही क्रिया विधि को मूर्खतापूर्ण सिद्ध कर देना। क्योकि जैसा कि हम अपने तृतीय खड मे देख चुके है, यान्त्रिकीय भौतिकी का प्रारम्भिक लक्ष्य है घटनाओ के गतिक्रम का एकरूप अनुक्रम के कठोर नियमो मे विघटित कर देना और इस तरकीब के जरिये उस गतिक्रम मे हमारे हस्तक्षेप के लिये व्यावहारिक नियमो के निरूपण को आसान बनाना। इसलिये यान्त्रिकीय भौतिकी की यह एक वैध अभिधारणा ही है कि उसके विशिष्ट लक्ष्य के रूप मे वाछा और इच्छा को हम घटना निर्धारक परिस्थितियो की अपनी परिकल्पना को बाहर रखे और प्रकृति के सारे ही गतिक्रम को केवल भौतिक पूर्ववर्तियो द्वारा निर्धारितवत् ही माने। अनुभूत वास्तविकता का यदि कोई ऐसा प्रखड हो जिसका काम इन अभिधारणाओ द्वारा न चल सकता हो तो एक रूप अनुक्रम के कठोर नियमो या इस प्रखड के लिये निरूपण सिद्धान्तत असभव है और उसे यान्त्रिकीय विज्ञान के अनुसधान के 'जगत्' से बाहर ही रखना आवश्यक है।

लेकिन यह तथ्य कि यान्त्रिकीय विज्ञान अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर पाता है

जब सारी ही भौतिक घटनाओ को अभौतिक परिस्थितियो से स्वतत्र मान कर चले, इस पूर्वानुमान के लिये जरा सा भी गु जाइश नही रखता कि उन भौतिक घटनाओ के साथ अनुसधान की प्रत्येक शाखा भी सभी प्रयोजनो के हेतु ऐसा ही व्यवहार करे। मनोविज्ञान के लिये विशेष रूप से तर्कशास्त्रीय आवश्यकता के रूप मे यान्त्रिकीय अभिधारणाओ का पालन जरूरी है या नही यह बात हमारे इस प्रश्न विषयक अभिमत पर निर्भर होगी कि क्या मनोविज्ञान द्वारा साध्य लक्ष्य वही है जो यान्त्रिकीय विज्ञान का है अथवा उससे भिन्न। यदि मनोविज्ञान अनुसधान विषयक हमारा प्रयोजन यान्त्रिकीय प्रयोजनो के अनुरूप नही है तो हमारी माँग निरर्थक है कि मनोविज्ञानी की हैसियत से अपने अनुसधान की क्रिया-विधि के मार्ग मे रोडे अटकाने के लिये हम यान्त्रिकीय विज्ञान के इष्ट हितो के विशेष स्वरूप पर आधारित अभिधारणाओ का अनुसरण न किया करे।

इस बात पर हम पहले ही तर्कना कर चुके है कि मनोविज्ञान के लक्ष्य केवल आशिक तथा अस्थायी तौर पर ही यान्त्रिकीय विज्ञानो के लक्ष्यो से मिलते जुलते है अगर हमारा यह मत सही होता कि मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी सर्वसामान्य शब्दावली जुटा देना है जिसका उपयोग इतिहास और नीतिशास्त्र जीवन विषयक अपनी शसाओ के वर्णनो मे कर सकें तो तुरन्त ही यह भी सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान के लिये मानवीय क्रियाकलाप के उसी साध्यवादी पहलू की मान्यता जरूरी है जिसे मौलिक यान्त्रिकीय अभिधारणाओ ने यान्त्रिकीय भौतिकी के विशिष्ट प्रयोजनो के हेतु सहीतौर पर सिद्धान्त वहिष्कृत कर रखा है अत यह तर्कना कि समान्तरवादी अभिमत मनोविज्ञानी के उपयोग के लिये यो श्रेष्ठतम सिद्ध होगा क्योकि वह उन विज्ञानो की जो अनुभूति से एक दूसरे ही स्थिति बिन्दु के अनुसार और दूसरे ही हितो के लिये काम लिया करते है, अभिधारणाओ के अनुकूल पडता है विषय-वाह्य-सी हो जाती है।[1]

अब चूंकि हमने समान्तरवादी मत के पक्ष मे दिये जाने वाली पहले ही से सही समझ गये तर्कों की पर्याप्त आलोचना कर दी है इसलिये अब हम इस स्थिति मे आ गये है कि हम केवल उसकी वास्तविक सफलता द्वारा सिद्ध उसके गुणो के आधार पर ही एक मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप मे उसका अन्दाजा लगा सकें। किन्तु पहले हमे एक बार फिर बतला देना होगा कि सारा सवाल वास्तविकताओ का ही नही है वल्कि उस सर्व-

---

१. जिन पाठको ने हमारे तृतीय खंड मे दी गयी तर्कना को समझ लिया है उन्हें यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि विशुद्धतः यांत्रिकीय प्रक्रियाओ का ससार अभिधारणाओ पर आधारित एक ऐसी संरचना है जिसका निर्माण हम उनकी सुविधार्थ किया करते हैं। वह किन्हीं मानो मे भी वास्तविक अनुभूति के जगत् का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नहीं होती।

श्रेष्ठ सन्तोषप्रद तरीके का है जिसके अनुसार आकर्षणों के दो ऐसे कुलकों एक दूसरे के सम्पर्क में लाया जा सके, जिन्हें मूलत भिन्न-भिन्न प्रयोजनार्थ निरूपित किया गया था। इसके अतिरिक्त यदि इस प्राक्कल्पना को वास्तविक जगत् के सगठन विषयक तत्व-मीमासीय अन्तिम सत्य के रूप में सामने रखा जाय तो वह स्पष्टत आत्मव्याघातिनी होगी।

पहली बात यह कि अगर समान्तरवाद को एक सुविधाजनक कामचलाऊ प्राक्कल्पना से अधिक और कुछ मान लिया जाता है तो यह बात तर्कशास्त्रीय नियमों के विरुद्ध होगी क्योंकि जैसाकि मि० ब्रैडले ने भी कहा है कि इस आधार-भित्ति के बल पर कि कोई ऐसी सकल स्थिति जिसमें भौतिक तथा मनस्तत्वीय एक तर्क शामिल हो, उसी तरह की किसी दूसरी जटिल स्थिति को जन्म देती है। यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि पहली स्थिति का भौतिक पहलू ही स्वय दूसरी स्थिति के भौतिक पहलू का कारण है और न यह कि पहली स्थिति के मनस्तत्वीय पहलू ने दूसरी स्थिति के मनस्तत्वीय पक्ष को जन्म दिया है।

इस परिणाम पर पहुँचने के लिये आपको किसी ऐसे निषेधात्मक उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी जिसमें या तो भौतिक या मनस्तत्वीय दशा अपने सह-सबधी से पृथक् किन्तु पूर्ववत् परिणामी द्वारा अनुगत पायी जाती है और समान्तरवाद स्वय भी इस प्रकार के उदाहरण की सभव्यता से इनकार करता है। इस आधारभित्ति को लेकर कि a α के बाद सदा ही b β आती है वह 'प्रकृति की चीरफाड' किये बिना ही उस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है कि a स्वय ही b की आवश्यक तथा पर्याप्त शर्त अथवा स्थिति थी और α की β और नि सदेह ही यह एक विरोधाभासी कथन है। यह कह कर कि कारणीय सयोजना के बिना अविचल और यथार्थ सहवर्तिता एक तार्किक असगतता होती है इसी बात को प्रोफेसर वार्ड ने दूसरे रूप में व्यक्त किया है।

इस प्राक्कल्पना के समर्थक स्वय ही इस कठिनाई से परिचित हैं यह उनके इस एक-स्वरीय दावे से प्रकट होता है कि मनस्तत्वीय तथा भौतिक शृखलाएँ अन्ततोगत्वा एक ही वास्तविकता की ही अभिव्यक्तियाँ है। अगर ऐसा है तो वे यह नहीं समझ पाते कि तब यह दोनों ही शृखलाएँ प्रपचात्मकतया अथवा प्रकट रूप में क्योंकर एक दूसरे से इतनी एकदम भिन्न होती है कि एक का दूसरी पर प्रभाव पडना एकदम असम्भव होता है। यह कठिनाई तब अनुलघ्य हो जाती है जब हम विचार करते है कि समान्तरवाद के अनुसार भौतिक शृखला का कठोरतया यान्त्रिक होना आवश्यक है क्योंकि अन्यथा उन यान्त्रिक अनिवारणाओं के साथ हमारा सबध टूट जायगा जिनके लिये भौतिक घटनाओं की निर्धारक परिस्थितियों अथवा शर्तों में मनस्तत्वीय स्थितियों का शामिल होना घातक समझा जाता है इस प्रकार यदि हमारी वैज्ञानिक सरचनाओं में साध्यवाद

को कहीं मान्यता मिल सकती है तो वह हमारी मनस्तत्वीय शृंखलात्मक कल्पना में ही मिल सकती है। सब कुछ होते हुए भी समान्तरवाद के समर्थक अपने मनोवैज्ञानिक कार्यों में साध्यवादी पदार्थों को अच्छी तरह उपयोग करके उपर्युक्त कथन की सत्यता ही सिद्ध करते हैं। किन्तु अब तक हमारे लिये यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि अनुरूपी वास्तविकता का स्वरूप समानत- पर्याप्त रूप से न तो साध्यवादी शृंखला द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकता है न उस शृंखला द्वारा जो अपनी संरचना विषयक सिद्धान्त के कारण विशुद्धत यान्त्रिक है। यहाँ भी फिर एक बार समान्तरवादी हमारे साथ वस्तुत सहमत हो जाते हैं क्योंकि वे अन्ततोगत्वा प्राय. अपने आपको 'आदर्श-वादी' कहने लगते हैं और दावा करते हैं कि भौतिक शृंखला की अपेक्षा मानस शृंखला वास्तविकता अथवा सत्ता की कहीं अधिक यथार्थ अनुकृति होती है किन्तु यदि दोनो ही शृंखलाएँ सत्ता के सानिध्य के अपने अपने मामले में एक ही स्तर पर नहीं है तो यह समझ पाना कठिन है कि दोनो में यथार्थ अनुरूपता कैसे हो सकती है । और इसी बात पर विचार करने के लिये हमें तुरन्त लौटना पड़ रहा है ।[१]

६—किन्तु जब हम पूछते हैं कि चरम दर्शन शास्त्र के इन प्रश्नो के अतिरिक्त भी समान्तरवाद क्या मनोविज्ञान की कार्यकर अभिधारणा के रूप में वैध होगा तो इस बात का जवाब यही होगा कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान कि किन्ही विभागो में वह अवश्य ही वैध है। समान्तर किन्तु स्वतंत्र शृंखला के सिद्धान्त व्यावहारिकतया अधिकांशत शारीर-क्रिया-विज्ञानी तथा मनोविज्ञानी के मध्य श्रम विभाजन करने के एक रीति वैधानिक उपाय से कुछ थोड़े ही से बढे-चढे है। तद्नुसार शारीर-क्रिया-विज्ञानी अपने आपको ऐसी एकरूपताओ के निरूपण तक ही सीमित रखता है जिन्हे तात्त्विकागत उन प्रक्रियाओ के मध्य स्थापित किया जा सकता है जिन्हे समझा जा सकता है कि मानो वे बाहरी प्रभावो से अप्रभावित है। मनोविज्ञानी भी अपने मनस्तत्वीय सहवर्तियो के साथ ही ऐसा करते हैं। समान्तरवाद रीति-वैधानिक-क्रिया-विधि के एक वसूल अथवा नियम के रूप में मनोविज्ञान के उन भागो में जो मानसिक जीवन के निष्क्रियतर अतएव ऐसी प्रकार के पहलुओ को लेकर चलते हैं, उपयोगी है और इसीलिये उनकी वह एक वैध कामचलाऊ प्राक्कल्पना है ।

---

१. कट्टर समान्तरवादी सिद्धान्त तर्कानुसार हमें जिस तटस्थ एकत्ववाद की ओर ले जाता है वह एक कामचलाऊ अभिधारणा से बढ़े-चढ़े रूप में प्रस्तुत होने पर ऐसी आशा की जा सकती है कि कम से कम इंगलैंड में तो अवश्य ही प्रोफेसर वार्ड की पुस्तक 'नेचुरलिज्म एण्ड ऐग्नॉस्टिज्म' के दूसरे भाग में उल्लिखित अपनी अतार्किक-ताओ की आलोचना के बाद जीवित न रह सकेगा ।

जिस प्रश्नानुसार उसके सर्वश्रेष्ठ प्राक्कल्पना होने का दावा निर्णीत होना है मेरी समझ में वह है जैवतत्र के पर्यावरण में होनेवाले परिवर्तनों के प्रति नवीन सप्रयोजन अभ्यनुकूलनो के सद्यः प्रारम्भण के मामले मे उसकी विनियोजनीयता का प्रश्न।[१] क्योकि मनोविज्ञान को यदि वह प्रयोजन जो हमने उसे सौंपा है सिद्ध करना है तो ऐसे ही मामलो मे काम करते समय अधिकतम स्पष्टतया उसे यान्त्रिकीय पदार्थों को त्यागकर साध्यवादी पदार्थों का ग्रहण करना आवश्यक होता है। अत यहाँ ही, अन्यत्र कही नही, यह उसूली मुश्किल जरूर ही तब उठ खडी होना आवश्यक है जब हम भौतिक तथा मनस्तत्त्वीय शृखलाओ को यथार्थत समान्तर और अनुरूप मानने की कोशिश करते हैं। यान्त्रिकीय अभिधारणा पर आधारित रूप में भौतिक विज्ञान की कल्पना से यह एक आवश्यक निष्कर्ष निकालता है कि साध्यवादी और यान्त्रिकी शृखलाये विचाराधीन प्राक्कल्पना द्वारा पूर्वानुमित तरीके के अनुसार अपनी समस्त विवृत्तियो के साथ समानान्तर रूप मे सम्भवत. नही दौड़ सकती।

यदि नीतिशास्त्र और इतिहास के लिये उनकी सत्ता की विषयवस्तु की अपूर्ति हेतु मनोविज्ञान किसी प्रकार उपयोगी होना चाहता है तो स्पष्टत. उसे पहले से ही यह मान लेना होगा कि वाछा अथवा कामना और चयन दोनो ही, मानवीय क्रियाकलाप के गतिक्रम का निर्धारण करने मे क्रियाशील रहते हैं और इसीलिये उनका—कम से कम कही न कहीं तो अवश्य ही साध्यवादी पदार्थों का स्पष्टतया उपयोग करना जरूरी है। और सम्भवत. यह पदार्थ भौतिक विज्ञान के कठोरतम असाध्यवादी प्रतीकवाद मे सम्भवतः अनूदित नही हो सकते क्योंकि सामान्य नियमो वाले प्रत्येक विज्ञान की तरह वह विज्ञान भी यान्त्रिकीय अभिधारणा पर आधारित होता है। नतीजा यह है कि सगति मे करना 'पारस्परिक अन्त.क्षेपरहित' यथार्थ समान्तरवाद का उपयोग मनोविज्ञान द्वारा साध्य प्रयोजन से सगत एक कार्यकर प्राक्कल्पना तक के रूप मे, स्वय मनोवैज्ञानिक अनुसधान के शुरू से आखिर तक कहीं नही हो सकता और जब भी भौतिक प्रक्रिया के सारे ही क्षेत्र मे उसका विनियोग करने का गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न किया जाता है तो अनिवार्यत वह हमे उस अभिमत के इस अधकचरे भाग्यवाद की ओर ले जाता है कि चयन

---

१. जैसाकि थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जायगा, इस मामले में न केवल किसी सवेदन अथवा प्रेक्षण पर हुआ नवीन प्रेरक प्रतिक्रियाओ का प्रारभण ही शामिल है अपितु शारीर-क्रियात्मक उत्तेजन से गुणात्मकतया नवीन प्रतिक्रिया के रूप में उद्भुत सवेदन का प्रारम्भण भी खुद शामिल है इस तरह पर उसमे वे दोनों ही प्रक्रियाएँ शामिल हो जाती हैं जिनके भीतर मिथःक्रियावाद के समर्थक भौतिक तथा मनस्तत्वीय का कारणीय अतः सवध होना सदा से मानते चले आये हैं।

अन्योन्य कार्य (स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र) नाम का कोई चीज भी इस दुनिया मे नही है। किन्तु व्यावहारिक रूप से समान्तरवाद के वे समर्थक जो इस अभिमत को तब दुरदुराते है जब आदर्शवाद के नामान्तर्गत विशेष रूप मे उसे प्रकट किया जाता है ऐसा करने मे इसलिए सफल हो पाते है क्योंकि समान्तरवादी अभिमत को मनोविज्ञान के क्षेत्र मे बरतने का वास्तविक आग्रह नही करते। वे मानव जीवन के ससर्जन, स्वभावाप्ति आदि जैसे स्मरण और तुलनात्मकतया निष्क्रिय पहलुओ मे काम लेते समय ही सामान्यत अपनी इस प्राक्कल्पना को प्रकाशित किया करते है किन्तु उसे वे त्यो ही आँख ओझल कर देते है ज्योही कि अवधान और चयन जैसी स्पष्टत माध्यवादी परिकल्पनाओ से उनका काम पडता है। उनकी इस क्रिया विधि का मार्ग मुँह से तो यान्त्रिकीय अभि-धारणाओ के प्रति निष्ठा व्यक्त करनेवाले किन्तु वास्तव मे विशुद्ध मनोवैज्ञानिक माध्यवादी पदार्थों का डट कर उपयोग करनेवाले विकासवादी प्राणिशास्त्रियो द्वारा उनके लिये प्रशस्त कर दिया जाता है।

अगर जगह की कमी न होती तो विशद रूप से यह सिद्ध करना आसान काम हो जाता कि यान्त्रिकीय तथा माध्यवादी शृखलाओ की सरचना मे अन्तर्हित विभिन्न सिद्धान्तो की प्रत्येक शृखला के व्यष्ट पदो मे ऐसे लक्षणो की उपस्थिति कैसे अन्तर्ग्रस्त रहती है जिनके अनुरूप लक्षण दूसरे पदो मे एकदम नही होते। अत डा० वार्ड के साथ ही हम भी पूछ सकते है कि मनस्तत्वीय तथा शारीर-क्रिया-योजनाओ के विविध रासायनिक सघटको मे से, मनस्तत्वीय योजना की कौन सी वस्तु शारीर-क्रिया-विज्ञान की इकाइयो की किस सरचना के अनुरूप है और फिर उनमे से भी किन प्रारम्भिकतर मूलभूत अणुओ मे से किस अणु के साथ उनका सादृश्य है।[1] किन्तु इस समस्या का बहुली-

---

१. मुझे यह लिखते हुए बडी खुशी होती है कि 'अर्थ' के मनोवैज्ञानिक महत्व की मान्यता के साथ समान्तरवाद का मेल बैठाने की असभाव्यता विषयक मेरे अपने विचार मि० गिब्सन के विचारो के अनुरूप है। (देखिए—'पर्सनल आइडियलिज्म' के पृष्ठ १५० एफएफ पर 'दि प्राब्लम ऑफ फ्रीडम' नामक निबन्ध) प्रोफेसर मस्टर-बर्ग की यह घोषणा कि मनोविज्ञान द्वारा अनुसधानित चेतना अपने ज्ञान द्वारा कुछ नही जानती न अपने इच्छा करने द्वारा कुछ भी इच्छा करती है 'मुझे आधारीय मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप मे समान्तरवाद के दिवालियेपन का इकरार ही लगती है और उससे भी बढ़कर उनका यह विशद और चमत्कारी निदर्शन कि वह 'मस्तिष्क' मेरा मन जिसके 'समान्तर' माना जा सकता है वही 'मस्तिष्क' नहीं होता जिसका अध्ययन और चित्रण शरीर रचना विज्ञानी किया करता है अर्थात् भौतिक वस्तु रूप मस्तिष्क। देखिये—'साइकोलोजी', १, ४१५–४२८.

भवन अपेक्षाधिक हो जाता है यदि पाठक एक वार हमारे इस नियम को हृदयंगम कर लेता है कि यथार्थ अनुरूपता उन्ही शृखलाओं के मध्य सभव होती है जो दोनों या तो यान्त्रिक होती है—अथवा दोनो एक ही मात्रा में, साध्यपरक। किसी यथार्थत. साध्यपरक और किसी नैष्ठिकत. यान्त्रिक शृखला के बीच इस प्रकार की अनुरूपता का होना तर्कशास्त्रानुसार इसलिये असभव होता है क्योकि उनकी रचना शैलियाँ ही मूलत. भिन्न हुआ करती है।

७—अभी हाल ही मे प्रस्तुत किये गये कारणों से मैं यह दावा करना आवश्यक मानता हूँ कि मिथ -क्रिया की अभिधारणा, शरीर और मन के पारस्परिक सबध विषयक अभिधारणाओ मे सबसे पुरानी और सबसे सीधी-सादी है। इस मत के अनुसार दोनो ही शृखलाओ को यथार्थ आनुरूप्य प्रस्तुत करनेवाली नही समझा जा सकता, उन्हे तो विभिन्न विन्दुओ पर एक दूसरे को ठीक उसी तरह कारणीयतया प्रभावित करनेवाली जिस तरह कि भौतिक घटनाओं के कोई से भी दो कुलक एक दूसरे को प्रभावित किया करते हें—माना जा सकता है। यदि हम इस मत को ग्रहण कर लेते है तो हमे सवेदन मे एक ऐसी मनस्तत्वीय स्थिति को स्वीकार करना होगा जिसके अव्यवहृत पूर्ववर्तियों मे भौतिक प्रक्रियाएँ शामिल होती है और जिसकी प्रेरक प्रतिक्रिया मे उसी प्रकार कोई भौतिक प्रक्रिया मनस्तत्वीय पूर्ववर्तियोसहित शामिल होती है। इससे इनकार करना कठिन है कि मन और शरीर विषयक यह कल्पना कि वे ऐसी दो वस्तुएँ हैं जिनमे परस्पर कारणीय सम्वन्ध है, एक ऐसी प्राक्कल्पना है जो बहुत ही स्वाभाविक रूप मे हमारे सामने तव आ खडी होती है जव हम अव्यवहृत अनुभूति के एकत्व को कृत्रिम प्रकारेण एक वार भग्न कर के भौतिक तथा मनस्तत्वीय पक्षो मे विभक्त कर देते है और इस प्रकार मनोभौतिक सयोजन की समस्या पैदा कर देते हैं। यह सव इतने स्वाभाविक ढग से होता है कि वे मनोविज्ञानी तक जो अन्य प्राक्कल्पनाओं मे से किसी एक को स्वीकार कर चुके होते है, लगातार स्वेच्छा गति के विषय में ऐसे शब्दो का प्रयोग करते हुए पाये जाते है। यदि उन शब्दों का कोई अर्थ लगाया जा सकता हो जिनका यही मतलब निकलता है कि मानसिक प्रक्रियाओ का कारणीय निर्धारण शारीरिक प्रक्रिया द्वारा होता है जवकि किसी भी सप्रदाय का मनोविज्ञानी आज तक मिथ -क्रियापरक शब्दावली के अतिरिक्त अन्य किसी शब्दो मे सवेदन और उत्तेजक के सवध को व्यक्त करने मे सफल नही हो सका। सम्भवत. इस प्राक्कल्पना को विरोधी आलोचना कभी न होती अगर तत्वमीमासको ने उसे अपने उन आक्षेपो का लक्ष्य न वनाया होता जिनका निरास हम यह कहकर पहले ही कर चुके है कि वे ऐसे विरोधाभासी आक्षेप ह जिनका आधार यह धारणा है कि मिथ -क्रिया-विरोधी यान्त्रिकीय अभिधारणाएँ उस वास्तविक सत्ता की वास्तविक सरचना विषयक निर्धारित सत्य है।

तात्कालिक अथवा अव्यवहृत अनुभूति में जिसके साथ हमारा सम्पर्क रहा करता है।

स्पष्ट है कि साध्यसमस्या के स्वरूप के अनुसार मनोभौतिक मिथ -क्रिया के वास्तविक घटना की सिद्धि हमसे प्रत्याशित नही है। वैज्ञानिक विविक्त विचारणाओ के दो कुलको के मिथ -सम्बन्ध की कार्यकर अभिधारणा के रूप मे इस सिद्धान्त की प्रत्यक्ष स्थापना 'तथ्योदाहरण' द्वारा नही की जा सकती। उसके औचित्य-निर्धारणार्थ यह सिद्ध करना होगा कि (अ) वह सिद्धान्ततः किसी वैज्ञानिक क्रिया-विधि के मौलिक स्वय-सिद्ध मे कही नही टकराती। और (ब) हमे अपने वैज्ञानिक परिणामो को श्रेष्ठतम सुविधाजनक रूप मे उन उपयोगो के साथ समन्वय करने मे सहायता पहुँचाती है जिनमे हम उनका विनियोग करना चाहते है। यदि हमारी पहलेवाली तर्कनाएँ सही है तो मिथ -क्रिया विषयक प्राक्कल्पना इन दोनो ही शर्तों को पूरा करती है। तर्कशास्त्रीय विधि के प्राज्ञानात्मक आधार पर इस प्राक्कल्पना के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियो के विरोधाभासी स्वरूप के दर्शन हम कर ही चुके है और साथ ही यह भी देख चुके हैं कि यदि हमे उन यान्त्रिक अभिधारणाओ के प्रति वफादार बने रहना है—भौतिक विज्ञान अपनी सफलता हेतु जिन पर निर्भर रहता है और अपनी मनोवैज्ञानिक सरचनाओ मे मानवी क्रियाकलाप के उस साध्यवादी स्वरूप को जो इतिहास और नीतिशास्त्र का मूलतत्व है मान्यता देना है तो निश्चय रूप से इस प्राक्कल्पना की कितनी माँग हमारे लिये है। मिथ -क्रियात्मक प्राक्कल्पना के पक्ष मे इससे ज्यादा और कुछ नही कहा जा सकता और ज्यादा बाल की खाल निकालने से उसे अधिक बल मिल सकना सभव नही।

इतना और जोडा जा सकता है कि मिथ -क्रियात्मक कल्पना की सबसे ज्यादा सिफारिश इस बात से होती है कि वह वैकल्पिक सिद्धान्तो की आपेक्षिक उपयोगिता की पूर्ण मान्यता के साथ उसकी सगति अच्छी तरह बैठती है यद्यपि उनमे तथ्यो के उन पहलुओ के साथ पूर्ण न्याय कर सकने की सामर्थ्य नही है जिन्हे केवल मिथ -क्रियात्मक शब्दावली द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार मिथ -क्रियात्मक प्राक्कल्पना तुरन्त ही यह स्वीकार कर सकती है कि कुछ प्रयोजनो के लिये किसी सीमा तक भौतिक अथवा मनस्तत्वीय प्रक्रियाओ के साथ इस प्रकार व्यवहार किया जा सकता है मानो उनके मनस्तत्वीय सहवर्तियो की उपस्थिति से उनके घटित होने मे किसी प्रकार का कोई फर्क न पडता हो। इसका कारण यह है कि जहाँ यान्त्रिकीय प्राक्कल्पना से प्रयोजनात्मक प्रक्रिया का ज़रा सा भी बोधगम्य विवरण हमे नही मिलता वहाँ साध्यवादी प्राक्कल्पना अपने अन्तर्गत होनेवाली प्रक्रियाओ मे से कुछ प्रक्रियाओ के आभासत यान्त्रिक स्वरूप का लेखा-जोखा आसानी से हमे दे सकती है जैसाकि हमने खड ३, अध्याय ३, सेक० ६ मे देखा था कि कोई प्रयोजनात्मक प्रतिक्रिया जब एक बार स्थापित हो जाती है तो जब तक कि परिस्थिति अपरिवर्तित रहती है तब तक जिस

नियमितता के साथ उसका पुनरावर्तन होता रहता है वह एक यान्त्रिकीय एकरूपता की शकल अख्तियार कर लेती है और उस प्रक्रिया का लक्ष्य इसी लिये उसके पुनरा-वर्तन द्वारा तब भी सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार हम आसानी से देख सकते हैं कि किसी व्यष्ट व्यक्ति के जीवन की निर्मायिका प्रक्रियाओ को मनोविज्ञान की भाषा मे अनूदित करके यदि हमे सन्तोष मिल भी जाय फिर भी उनमे से बहुतेरी प्रक्रियाये नेमी एकरूपतानुसार ही चलती और जारी रहती ही दिखायी पड़ेगी और जब हम बहुत सी विषयवस्तुओ की तुलना द्वारा अधिगत औसती परिणाम को लेकर एकरूपताओ की प्राप्ति करने पर जानबूझ कर तुल जाते हैं तब हमारे नतीजे नि सदेह यान्त्रिक शक्ल के ही हमेशा होते हैं क्योंकि औसत निकालने की प्रक्रिया के समय हम स्वय ही अपने दत्तो में वैयक्तिक अथवा व्यष्ट प्रयोजन तथा अभिक्रम के तत्व को शामिल नही करते बल्कि उसे बाहर ही रखते हे अत हम समझ ही सकते हे कि मिथ क्रियात्मक प्राक्कल्पना के आधार पर वे सब मानसिक प्रक्रियाएँ जिनके मिलने से पूर्वत स्थापित प्रकार की प्रतिक्रिया का पुनरावर्तन होता है, किस प्रकार यान्त्रिक-सी लग सकती है और तदनुसार ही उपतत्ववाद तथा समान्तरवाद की उभय-निष्ठ मनस्तत्वीय प्रक्रियाओ की यान्त्रिकताविषयक कल्पना का सुझाव भी दे सकती है। इस प्रकार मिथ -क्रिया, और मिथ -क्रिया ही अकेली एक ऐसी प्राक्कल्पना है जिसका विनियोग मनोवैज्ञानिक अनुसधान के समग्र क्षेत्र में हो सकता हे।

मैं इस अध्याय का अन्त, तत्त्वमीमासा विषयक विशिष्ट समस्याओ पर हमारे निष्कर्ष द्वारा पडनेवाले दबाव की मीमासा द्वारा करना चाहूँगा। हमने स्पष्ट रूप से मिथ -क्रिया की वकालत यह कह कर की है कि वह अनुभूत तथ्य की विवृत्ति रत्ती भर नही है अपितु वह एक ऐसी कार्यकर प्राक्कल्पना है जो ऐसी दो वैज्ञानिक सरचनाओ का सह-सम्बन्ध सुविधापूर्वक जोड देती हे जिनमे से कोई भी अनुभूति की विषय-वस्तु से प्रत्यक्षत मिलती जुलती होती है। नि सदेह इसके माने यही है कि मिथ -क्रिया तत्वमीमासीय प्रयोजनो के लिये सम्भवत अन्तिम सत्य नही हो सकती न अन्तिमेत्थतया वह तथ्य ही हो सकती है कि 'मन' और शरीर' ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती हो, क्योंकि जैसाकि हमने देखा न 'मन' ही न 'शरीर' ही अनुभूति का वास्तविक दत्त होता है। प्रत्यक्ष अनुभूति तथा अपने सामाजिक सम्बन्धो के लिये उस द्वित्व का कोई अस्तित्व ही नही होता जिसकी सृष्टिवाद को भौतिक व्यवस्था की रचना द्वारा होती हे। न ही यह सधारित किया जा सकता है कि यह द्वित्व प्रत्यक्षत. एक दत्त के रूप में भले ही न दिया गया हो फिर भी एक ऐसी कल्पना है जिसका पूर्वग्रहण अनुभूति को आत्मसंगत बनाने के लिये साध्य होता हे और इसलिये वह एक सत्य ह। यत. मिथ-क्रिया विषयक कल्पना स्पष्टत भौतिक व्यवस्था को कठोरतया यान्त्रिक व्यवस्था रूप मे की गयी कल्पना पर

आधारित होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योकि हमने इन कठोर यान्त्रिकीय दिशाओं के आधार पर चूँकि वाद को हमे वास्तविक मानव जीवन के अयान्त्रिक स्वरूप को अपने विज्ञान मे मान्यता देना था तथा उसका प्रतीकीकरण करना था अत. उसके साधन स्वरूप हमे 'मन' अथवा 'आत्मा' की कल्पना करने को बाध्य थे इसलिये हमने पहले ही 'शरीर' नामक विचारवस्तु की रचना कर डाली। और चूँकि पहले ही देख चुके हैं कि जो कुछ यान्त्रिक होता है वह यान्त्रिकरूपेण कभी वास्तविक नही हो सकता इसलिये एक दूसरे के साथ कारणीय सबध द्वारा सबद्ध यान्त्रिकीय तथा अयान्त्रिकीय व्यवस्थाओ की यह सारी ही योजना उस वास्तविक सत्ता का जिसका प्रतीक उसे बनाया जाना है एक अपूर्ण स्थानापन्न मात्र ही हो सकती है। वास्तव मे तो हम यही निष्कर्ष इस तथ्य से निकाल सकते थे कि जिस मनोभौतिक प्राक्कल्पना का उरीकरण हमने किया है वह ज्ञानातीत कारणतापरक शब्दावली के द्वारा व्यक्त इसलिये हुई है चूँकि हमने पहले ही इस बात की दिलजमई कर ली है कि कारणीय अभिधारणा के सकल रूप न्यूनाधिक सदोष आभास होते है।

इस साध्य को कि 'शरीर' और 'मन' के 'सहयोजन' अथवा सबध का मनोभौतिक सिद्धान्त मानव अनुभूति की साध्यपरक वास्तविक एकता का अनुभवाश्रित विज्ञान की आवश्यकताओं द्वारा उद्भूत एक कृत्रिम रूपान्तरण है कभी कभी यह कह कर भी व्यक्त किया जाता है कि शरीर और मन वस्तुत एक ही वस्तु है। वास्तविक अनुभूति मे मनोभौतिक द्वित्व की अनुपस्थिति पर जोर देने के कारण सम्भवत उसके द्वारा सत्यता पर्याप्त यथार्थतया प्रकट नही होती। क्योकि कथन जिस रूप मे प्रस्तुत हुआ है उससे उन अत्यधिक भिन्न स्तरो का कोई सकेत नही प्राप्त होता। सत्य की मात्रा के जिन स्तरो पर ये दोनो ही कल्पनाएँ वास्तविक मानवीय अनुभूति के सप्रयोजन साध्यपरक स्वरूप का पुन सम्पादन करती हैं। इस कथन द्वारा हम शायद लक्ष्य के अधिक निकट तक पहुँच रहे होगे कि जहाँ शारीर-क्रिया विज्ञानी का लक्ष्य 'शरीर' और मनोविज्ञानी का लक्ष्य 'मन' दोनो ही ऐसे काल्पनिक प्रतीक है जिन्हे विशेष कारणोवश वास्तविक जीवन नामक एकल विषय के स्थान पर ला बैठाया गया है और इसी लिये कि दोनो को ही एक ही वस्तु का प्रतिनिधि माना जा सकता है वहाँ उनकी वास्तविक तथ्यवस्तु एक दूसरे से भिन्न होती है क्योकि शारीर-क्रिया विज्ञान की भाषा मे जिसे मै अपना शरीर कहता हूँ उसमें जीवन की केवल वे ही प्रक्रियायें शामिल होती है जो यान्त्रिक आदर्श के इतनी अधिक निकटतया अनुकूल होती है कि उन्हे एकदम सफलतया यान्त्रिक ही समझा जा सकता है और इसीलिये उन्हे सामान्य प्राकृतिक नियमों की योजना के अन्तर्गत भी लाया जा सकता है। यत जिस वस्तु को एक मनोविज्ञानी की हैसियत से मै 'मन' अथवा 'आत्मा' नाम से पुकारता हूँ, सन्निकटतया यान्त्रिक प्रकार की प्रक्रियाओं के उसमे

अन्तर्निविष्ट होने पर भी, वे प्रक्रियाएँ ऐसे पर्यावरण के विरुद्ध हुई सद्य और व्यष्ट प्रतिक्रियाओं के प्रारभण के आधीन होकर ही उसमे रहती है जिसे केवल साध्यपरक पदार्थों द्वारा ही पर्याप्ततया अभिव्यक्त किया जा सकता है । इस प्रकार यद्यपि 'मन' और 'शरीर' एक तरह पर, एक ही तथ्यवस्तु के पर्याय है तो भी उनमे से एक दूसरे की अपेक्षा अपनी प्रकृति का कही अधिक पूर्ण और स्पष्ट दिग्दर्शक है । डाक्टर स्टाउट के शब्दो मे उनका 'अन्तराशय' भले ही एक हो किन्तु उनकी 'अर्न्तवस्तु' भिन्न होती है ।[1]

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—आर० एवेनारियस कृत (Menschliche Welt begriffl); बी० बोसाक्वेट लिखित 'दि सायकोलाजी आफ दि मौरल सेल्फ,' लेक्चर १०, एफ० एच० ब्रैडले की 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी,' अध्याय २३, शड्वर्थ हागसन कृत 'मेटाफिजिक ऑफ एक्सपीरियेस,' भाग २, पृष्ठ २७६-४०३; विलियम जेम्स कृत 'प्रिंसिपल्स ऑफ सायकोलोजी,' भाग १, अध्याय ५ और ६; एच० लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक' खड ३, अध्याय १ और ५ (अंग्रेजी अनु० वाल्यूम २, पृष्ठ १६३–१९८, २८३-५१७), एच० मस्टरबर्ग कृत Grundzuge der psycholo, gie i, chaps ii, (pp 402–436),—15 (pp 525–562), जी० एफ० स्टाउट लिखित 'नैचुरिलिज्म एण्ड एग्नॉटिसिज्म', वाल्यूम २, लेक्चर ११ और १२, (आर्टीकिल 'सायोकोलोजी एन्साइक्लोपीडिया विटानिका' के पूरक अश के पृष्ठ ६६ एफएफ पर उल्लिखित) ।

---

१. देखिए उनका निबन्ध ऐरर' 'ग्रोर्फक, 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित ।

अध्याय ३

वास्तविक सत्ता में 'स्वात्म' का स्थान

१—'स्वात्म' है (१) एक साध्यपरक कल्पना, (२) जिसमें सम्मिलित है तद्विपमित 'अनात्म' (जहाँ यह वैपम्य किसी अनुभूति मे नही पाया जाता वहाँ स्वात्म की यथार्थ भावना नही होती), (३) किन्तु 'स्वात्म' और 'अनात्म' की विभाजक सीमाएँ स्थिर नही होती अपितु घटती-बढती रहती हे। अनात्म बाह्य सीमा मात्र ही नही अपितु वह ऐसे व्यष्टान्तर्गत असगत तत्वों से निर्मित होता है जो मानसिक सरचना द्वारा उससे नि स्नावित होते है। (४) स्वात्म विकास का एक उत्पाद है और उसका अस्तित्व काल-शृखला मे निहित रहता है। (५) वास्तविक अनुभूति के किसी एक क्षण मे कभी भी पूर्ण स्वात्म प्राप्त नही होता किन्तु हे वह एक आदर्श रचना। सम्भवतः स्वात्मत्व मे बौद्धिक विकास की कुछ मात्रा अर्न्तनिहित रहती है। २—निरपेक्ष अथवा अपरिमित व्यष्टि सकल आतर-असगति-दोपरहित होने के कारण अनात्मवान नही हो सकता और इसीलिये उसे स्वात्म कहना उचित नही। ३—व्यक्ति तो वह और भी नही हो सकता। ४—एकत्र स्वात्म की अपेक्षा स्वात्मो के समाज मे हमे अधिक यथार्थत' आत्म निर्धारित व्यष्ट मिल सकता है इसलिये निरपेक्ष को समाज मानना सत्य के निकटतर होगा यद्यपि निरपेक्ष के समग्र स्वरूप की पर्याप्त अभिव्यक्ति किसी भी परिमित समग द्वारा नहीं हो सकती। किन्तु हमे यह भी स्मरण रखना होगा (अ) कि निरपेक्षान्तस्थ सकल व्यष्ट सम्भवत प्रत्यक्षत सबद्ध नही होते और (ब) निरपेक्ष को समाजरूप मे विचार कर हम उसकी वास्तविक व्यष्टता से इन्कार नही करते। ५—स्वात्म स्वभावत अनश्वर नही हे। मृत्यु के उपरान्त भी उसके सतत अस्तित्व की विशिष्ट समस्या के विषय मे तत्त्वमीमासीय आधारो द्वारा किसी नतीजे पर नही पहुँचा जा सकता। न तो उसके अस्तित्व की अविच्छिन्नता-विषयक परिस्थितियो को समझ सकने की हमारी असमर्थता पर आधारित नकारात्मक पूर्वानुमान, न अनुभवाधारित साक्ष्य-राहित्य ही निश्चयात्मक होते है। दूसरी ओर ऐसा कोई पर्याप्त तत्त्वमीमासीय कारण ही है जिसके आधार पर अमरत्व का निश्चय हो सके।

१—खड २, अध्याय १, सेक० ५ मे हमने पहले ही आनुसगिकतया यह सवाल उठाया था कि जिस समग्र आध्यात्मिक व्यवस्था को विश्व की वास्तविक सत्ता मानने के आधार

हमें मिले क्या उसे सहीतौर पर 'स्वात्म' कहा जा सकता है । वहाँ हमने तय किया था कि उसे इस विशेषण द्वारा विशेषित करना कम से कम भ्रामक अवश्य होगा और ऐसा करने से गहन बौद्धिक हेत्वाभासिता के लिये रास्ता साफ हो जायगा । मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाओ के सामान्य स्वरूप के बारे मे किये गये हमारे विचारविमर्श से इस समस्या की ओर यह सकारण आशा लेकर मुडना कि अब हम उस पर ज्यादा अच्छी तरह विचार कर सकेंगे और 'स्वात्म' तत्व मे निहित सत्य की मात्रा के विषय मे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे सभव हो गया है ।

सबसे पहले तो, आइये इस कल्पना का सामान्य अर्थ ही स्थिर कर लिया जाय और उसके कुछ प्रमुखतर लक्षण ढूँढ निकाले जाय । स्पष्ट ही है कि मनोविज्ञान शास्त्र में 'स्वात्म' तत्व का जिन मानो मे प्रयुक्त हुआ है उन सब मानो के परिगणनार्थ वाछित स्थान की कही अधिक स्थान उपर्युक्त काम के लिये आवश्यक होगा और जब यह काम हो चुकेगा तब वह हमारे तत्वमीमासीय प्रयोजनो के लिये पूरी तोर पर उपयुक्त न होगा । मै यहाँ 'स्वात्म' विषयक धारणा के ऐसे कुछ पहलुओ पर ही विचार करना चाहता हूँ जो स्पष्टत ही, नीतिशास्त्रीय तथा इतिहास-विषयक शमाहेतु अनिवार्य है । साथ ही मै यह भी जानना चाहूँगा कि अस्तित्व की तत्त्वमीमासीय व्याख्यार्थ उनका मूल्य क्या है ।

(१) प्रारभत ही स्पष्ट है कि 'स्वात्म' एक साध्यवादीय कल्पना है। जीवन चरित्र तथा इतिहास द्वारा प्रकटित तथा नीति शास्त्र द्वारा निर्णीत गुण वाले 'स्वात्म' की एकमात्र विशिष्ट विषयवस्तु हमारे परिवेष्ट के विविध निर्मायकों के प्रति हमारी भावात्मक रुचियो और प्रयोजनात्मक अभिवृत्तियाँ ही है । हमारा स्वात्म इन्ही से मिलकर बना है और किसी से नही। और फिर स्वात्म एकल और व्यष्ट इस सीमा तक होता है जहा तक कि इन रुचियो और प्रयोजनो को किसी केन्द्रीय और सश्लिष्ट रुचि अथवा प्रयोजनो के अनुवर्तन विषयक विभूति की अभिव्यक्ति का निरूपक माना जा सकता है। जहां ऐसा लगता है कि इस प्रकार का कोई केन्द्रीय हित है ही नही वहाँ सप्रयोजन कार्यो के अनुवर्तन को किसी एकल स्वात्म की अभिव्यक्ति कहने का हमे कोई तर्कसगत अधिकार नही है। इस प्रकार पुलिस प्रशासन के किन्ही व्यावहारिक प्रयोजनो के लिये यद्यपि 'शारीरिक' अभिज्ञान को ही स्वात्म विषयक अभिज्ञान का साध्य मान लेना आवश्यक हो सकता है किन्तु हम सब ही मानते है कि कोई आदमी मानसिक अन्य सक्रामण ऐसी पूर्णावस्था मे जिसमे प्रयोजन का सातत्य ही लुप्त हो जाय, जो कुछ करता है वह उसके जीवनी लेखक के लिये महत्वपूर्ण नही होता सिवाय इसके कि उस बात का ज्ञान उस आदमी के होश मे वापिस आने पर उसके हितो और प्रयोजनो मे कोई रद्दोबदल कर सके। और ऐसे मामलो मे भी जहा शरीर-मात्र

द्वारा किये काम की कानूनी जिम्मेदारी लेने को हम तैयार हो वहाँ हमारी अन्तरात्मा नैतिक दोष से हमे मुक्त तब कर देती है यदि हम ईमानदारी से यह अनुभव करते हो कि हम कह सकते है कि "जब यह काम हुआ तब मैं नही था अथवा मैं आपे मे न था।'[१] 'स्वात्म' मे हम जो एकत्वविषयक साध्यवादीय स्वरूप अध्याहृत करते है वह सम्मोहन विद्या और मानसिक रोग विज्ञान के अध्ययन द्वारा कभी कभी प्रकाश मे आने वाले 'बहुल' तथा 'वैकल्पिक' व्यक्तियों द्वारा सुझायी गयी पहेलियो से और भी अधिक उदाहृत हो जाता है। आखीर में परिवर्तन विषयक उन अनेको मामलो मे जहाँ हम कहा करते है कि आदमी एक 'नया जीव' बन गया है अथवा उसने 'पुराना आपा' खो दिया है वहाँ

---

१. 'शारीरिक तादात्म्य' अथवा 'शारीरिक अनन्यता' के ही कारण नि.सदेह और भी बहुत सी कठिन समस्याएँ उठ खड़ी हो अगर उन पर विचार करने को हमारे पास काफी जगह हो। यहाँ तो पाठको के विचारार्थ कुछ थोड़ी सी बातो का सुझाव में दे सकता हूँ। (१) सकल अनन्यता अथवा तादात्म्य अन्ततोगत्वा साध्यपरक ही प्रतीत होता है और इसी लिये मनस्तत्वीय। मै इस शरीर का वही मानव शरीर होना मानता हूँ जिसे मैने पहले देखा है क्योकि मेरा विश्वास है कि इसके कार्यों से व्यक्त हित सतत होगे यतः अनुभव ने मुझे सिखा दिया है कि भौतिक अथवा शारीरिक सादृश्य का कुछ निश्चित मात्रा मनस्तत्वीय सातत्य की कामचलाऊ कसौटी है। (२) मूल पाठ मे उल्लिखित दायित्व विषयक नीतिशास्त्रीय समस्या के लिये स्पष्टतः प्रश्न कम और अधिक का ही है। दैनिक व्यवहार मे हम अपने या दूसरे के कामो के बारे मे जो फतवे दिया करते हैं वे आदतन इस विश्वास के आधार पर दिये जाते हैं कि नैतिक दायित्व की कुछ मात्राए अथवा श्रेणियाँ उस वस्तु मे भी मौजूद रहती है जिसे प्रशासन विषयक तात्कालिक आवश्यकताओ के कारण हमे अनन्य निरपेक्ष मानना पड़ता है। उदाहरण के लिये मदोन्मत्त व्यक्ति को हम मदहोशी की हालत मे किये गये उसके कामो के दायित्व से एकदम मुक्त नहीं मानते न आपे से बाहर होने की हालत मे किये गये उसके कामो के श्रेय भागित्व के अधिकार से ही उसे वंचित मानते हैं यानी ऐसी हालत मे किये गये कामों के श्रेय से जब वह उत्तेजित हालत मे अपने स्वाभाविक हितो के पगडण्डी से बहका हुआ हो। लेकिन जब हम किसी सिद्धान्त से प्रभावित नहीं होते तो हम उसके उन कर्मों के दायित्व की अपेक्षा जो उसने तब किये थे जब वह अपने आपे मे था उसे कम दोष अथवा कम श्रेय का भागी उसके कार्यानुसार जरूर मानते हैं। इन सभी विषयो पर श्री ब्रैडले का जुलाई १९०२ की 'माइन्ड' नामक पत्रिका मे प्रकाशित लेख देखें।

हम उस व्यक्ति विगत स्वात्म के साथ उसके साम्य को उतनी ही सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक कि हम, उसके 'नये जीवन' को उन हितों और प्रयोजनों की, जो उसके 'पुराने जीवन' में प्रच्छन्नतया 'प्रवृत्तियों' के रूप में पहले ही से अर्न्तहित थे—अभिव्यक्ति मान लेने में सफल होते हैं।

(२) 'स्वात्म' में अनात्म अर्न्तहित रहता है। अनात्म का स्वात्म से विलग कोई अस्तित्व नहीं हुआ करता और स्वात्म जब अनात्म के मुकाबिले में आता है अर्थात् दोनों के वैषम्य द्वारा ही 'स्वात्म' अपने स्वात्मरूप को पहचानता है। उसूली तौर पर या सैद्धान्तिकतया मुझे यह बात स्पष्ट लगती है यद्यपि चालू अटकलबाजियों में इस सिद्धान्त या उसूल के परिणाम अंशतः भ्रान्त और अंशतः उपेक्षित ही होते हैं। हमारे मतलब के लिये उनमें से सबसे महत्वपूर्ण परिणाम निम्नलिखित है :—स्वात्म की भावना निःसंदेह ही हमारी अनुभूति की अवियोज्य सहवर्तिनी नहीं है क्योंकि वह—और यहाँ केवल प्रत्यक्ष परीक्षण को ही साक्ष्य का आधार माना जा सकता है। हमारी अनात्म विषयक जागरूकता से सम्बद्ध वैषम्य प्रभाव के रूप में उपजती है फिर वह चाहे स्वात्माभिव्यक्ति को प्रतिबद्ध करे अथवा स्वात्म द्वारा रूपान्तरित हुआ करे। अतः उन अनुभूतियों में जिसमें यह वैषम्य अनुपस्थित होता है यथार्थ 'आत्म-संकोच' का कोई चिह्न नहीं पाया जाता।[1] भावना, जहाँ यह आत्मसंकोच अपने सरलतम रूप में आपको मिल सकता है, जगत् विदित एतद्विषयक उदाहरण है। यद्यपि यह बात मनोविज्ञानियों में विस्तृतरूपेण मान्य नहीं है पर मुझे पता है कि हमारे प्रेक्षण का अधिकांश मुझे उसी स्थिति में प्रतीत होता है उदाहरणार्थ सामान्यतः जब मैं किसी वस्तु की ओर देख रहा होता हूँ, मान लीजिये किसी कलई से पुती दीवार की तरफ देख रहा हूँ उस समय मुझे यह पता नहीं लगता कि मैं किन्हीं असली मानों में 'स्वात्म चेतन' हूँ। मेरी अवगति का अर्न्तवस्तु, मुझे तो कम से कम, ठीक वह दीवार मात्र ही लगती है जिसका विन्यास होता है अविश्लेषित भावनाओं के जैव तथा अन्य प्रकार के द्रव्य मान में, जिसे आप चाहें तो एक बाह्य दर्शक की हैसियत में मेरा प्रेक्षक स्वात्म कह सकते हैं लेकिन जिनसे मैं प्रेषित दीवार के विन्यास रूप में ही अभिन्न होता हूँ।

प्रेक्षण की अर्न्तवस्तु के प्रति ध्यान दे सकना जब कठिन हो जाता है (जैसे ज्ञानेन्द्रियों की थकावट, अथवा उनमें आवश्यकता से अधिक काम लेने के कारण या बेमेल प्रयोजन से टकराने पर) तब ही मैं अपने स्वात्म के प्रतिमुखी और प्रतिरोधी अनात्म के रूप में प्रेक्षित वस्तु से अभिन्न होता हूँ। मैं समझता हूँ कि यही बात हमारे चेतन और

---

१. 'आत्म-संकोच' के बुरे मानें सदा किसी विरोधी वस्तु अथवा पर्यावरण तथा स्वात्म के बीच के मेल न बैठने से ही पैदा होते हैं।

सप्रयोजन कार्यरत जीवन के अधिकांश के बारे में भी सही है। जब मैं अपना मनचाहा स्वाध्याय कर रहा होता हूँ अथवा जब अपनी बिरादरी लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा होता हूँ तब ऐसे मुझे विज्ञान के 'तथ्यों' की अथवा अन्यों के हितों और प्रयोजनों की अनात्मरूपेण अपनी अभिज्ञता का कोई पता नहीं होता उनका पता मुझे तभी लगता है जबकि या तो ये हित और प्रयोजन मेरे से टकराये या उनकी मेरे उद्देश्य से भिड़न्त बन्द हो जाय। उदाहरणतः सामान्य सामाजिक जीवन के दौरान, अनात्म के विपरीत स्वात्म की प्रबल भावना मुझमें तब मौजूद होती है जब मेरे निकटवर्ती लोगों में से ही किसी व्यक्ति की योजना मेरी योजना से टकराने लगती है अथवा जब उपर्युक्त प्रकार के अपने विरोधी को मैं अपने पक्ष में कर लेने में सफल हो जाता हूँ। इनमें से पहले वाले मामले में मेरे स्वात्म में विरोध की भावना जागृत होती है और दूसरे मामले ने विस्तार की। लेकिन, मैं नहीं समझता कि हम कह सकते हैं कि वास्तविक जीवन में स्वात्म-भावना वहाँ ही जाग्रत होती है जहाँ उसके अपसारण के बाद विरोधात्मक चेतना अस्थायी रूप से मौजूद नहीं होती। क्योंकि जहाँ दूसरे लोगों के साथ एकरूप होकर, हिलमिल कर किसी पहले से तय किए हुए एक ही उद्देश्य को लेकर काम कर रहे होते हैं वहाँ स्वात्म-चेतना और तद्विरोधी अनात्म की भावना शायद ही हमारी अनुभूति में प्रविष्ट होती मालूम दे सकती है।[1] मेरे अनुमान से यही कारण है कि जिससे व्यावहारिक सांसारिक बुद्धि ने सदा ही 'आत्म संकोच' को कमजोरी और नैतिक असफलता का स्रोत माना। जब तक हम दृढ़तापूर्वक किसी प्रयोजन की उन्नतिशील साधना में लगे रहते हैं तब हम काम में अपने आपे को खोये' से रहते हैं और काम में रुकावट आने पर ही 'आत्म चेतन' होते हैं।

(३) अगली ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वात्म और अनात्म के बीच विभाजन अथवा सीमांकन की कोई निश्चित रेखा नहीं होती। विशेष रूप से हमें यह मान लेने की गलती न करनी होगी कि स्वात्म और अनात्म के बीच के सबब की समग्र विषयवस्तु सामाजिक ही है जबकि तत्पक्षीय स्वात्म स्वयं मैं हूँ और दूसरी ओर का स्वात्म है अन्य व्यक्तियों का स्वात्म। निःसंदेह यह सही है कि इस विभेद का मूल मुख्यतः सामाजिक है क्योंकि मैं क्या चाहता हूँ और चाहनेवाला भी मैं हूँ इसका

---

१. निःसन्देह, एकमत होकर काम करने की किसी योजना के निरूपण और प्रारम्भण की प्रक्रिया में यद्यपि यह देखने को मिलता है। अन्य स्वात्म को यहाँ मेरे स्वात्म के विरोध में खडा ठीक इस वजह से खड़ा किया जाता है क्योंकि मेरे पर्यावरण और मेरे प्रयोजन के बीच की टक्कर का अपसारण बाहर से होता प्रतीत हो रहा था।

पक्का पता मुझे तभी चलता है जब मुख्यत. मेरे अभिप्रेतार्थ की साधना दूसरे व्यक्तियों द्वारा कुंठित की जाती है अथवा जब मेरे अभिप्रेतार्थ साधन के मार्ग के रोडे जिनके कारण मेरा काम पहले नहीं बन पाता था दूसरो की सहायता और सहयोग द्वारा दूर हो जाते है। लेकिन यह सिद्ध करना कि आत्म और अनात्म का विभेद किसी सामाजिक माध्यम के बिना उदित हो ही नही सकता कठिन होगा। और यह स्पष्ट ही है कि उसकी विनियोज्यता का क्षेत्र—उस समय जब उसे एक बार खडा कर दिया जाय—सामाजिक सबधो तक ही सीमित नही रखा जा सकता। एक ओर तो हमारी अनुभूति का कोई भी लक्षण ऐसा नही प्रतीत होता जिससे स्वात्मरूपेण अनुभूत वस्तु के निर्माण मे प्रविष्ट होने से रोका अथवा बहिष्कृत रखा जा सके। मेरे सामाजिक घनिष्ठ मित्र, मेरे हमपेशा साथी, मेरे नियमित कार्यकलाप या व्यवसाय यहाँ तक कि मेरे वे कपड़े आरायशी सामान जिनका मै आदी हो चुका हूँ मेरी जिन्दगी के लाक्षणिक हितो के सातत्य के हेतु इतने जरूरी हो सकते है कि उनको हटा देने से मेरा स्वरूप पहचानने लायक ही न रहे या उसके न रहने से मै पागल हो जाऊँ, मर तक जाऊँ। और चूंकि ये चीजे मेरे अतिस्त्व की साध्यपरक एकतार्थ इतनी अपरिहेय हे इसलिये ये सब 'बाह्य' वस्तुएँ 'आत्म'-सात होती होने और स्वात्मांश बन जाने योग्य प्रतीत होती है।

इसका उच्चतम उदाहरण हमे उस जगली आदमी के मामले मे मिलता है जिसे सभ्य वातावरण मे ला बिठाया जाता है और जिसके मन और शरीर दोनो ही विफल हो जाते और जो किसी अज्ञेय बीमारी से, शायद उसके पुराने आस-पड़ोस या वातावरण से सम्बद्ध हितो के लुप्त हो जाने के कारण अन्त मे मर जाता है या फिर ऐसा ही उदाहरण हमे उस स्नेहाविष्ट प्रियजनो के मामलो से मिल सकते है जो उपर्युक्त प्रकार से ही किसी प्रिय सबधी अथवा मित्र के गुजर जाने के बाद स्वय भी मुरझा जाते है। छोटे से पैमाने पर हम यही बात हमे उन स्वाभाविक परिवर्तनो मे भी देखने को मिलती हे जिन्हे सौभाग्य से साधारण बोल-चाल मे यह कहकर प्रकट किया जाता है कि 'जब से उसकी घरवाली या पत्नी नही रही तब से वह अपने आपे मे नही है।' अथवा 'जबसे उसका रुपया चला गया तब से उसका आपा भी खो गया।' सिद्धान्तत प्रचलित भाषा मे स्वात्म पर्यावरण कहलाने योग्य वस्तु का ऐसा कोई भी कारक हमे नही दीखता जो इस तरह पर स्वात्म के अन्तर्विषय का अग बन सकता हो।[1]

---

१. कहा जा सकता है कि इस प्रकार जो वस्तु स्वात्म का अंग बनती है, वह, पर्यावरण के ये लक्षण या कारक स्वय नहीं होते अपितु तद्विषयक मेरे 'विचार' ही स्वात्म की वस्तु होती है। ऊपर से देखने पर तो यह बात विश्वासप्रद मालूम देती है क्योंकि जीवन की वास्तविकताओं की जगह मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को ला बैठाने की

दूसरी ओर यह कह सकना कठिन प्रतीत होता है कि क्या ऐसी भी कोई चीज है जो सामान्यत: स्वात्म का ही भाग हो और जो किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो मे उस वस्तु का भाग न बन सकती हो जिसे हम 'अनात्म' मानते हैं। इस प्रकार हमारे शारीरिक संवेदन, भावनाएँ, हमारे विचार, वाञ्छायें और विशेषत: हमारी अच्छी-बुरी आदतें सब की सब आमतौर पर हमारे स्वात्म की ही अंग समझी जाती हैं। फिर भी हम जब किसी इच्छा अथवा आदत को ऐसा तत्व मान सकते हैं जो हमारे शेष स्वात्म से मेल नहीं खाता अथवा जिसका हमारे स्वात्म मे होना उचित प्रतीत नही होता और नैतिक प्रगति का सारा दारोमदार इसी एक रुख को अख्तियारी पर निर्भर हो तो हमे उस तत्व को अनात्म की ओर धकेल देना पड़ता है। किसी आदत या इच्छा को दूसरा रास्ता अख्तियार करने का संकल्प करना, सिद्धान्तत: पहले ही से उस साध्यपरक एकता से उसे निकाल बाहर करना है जिससे हमारा आभ्यान्तर जीवन बनता है यही बात हमारे विचारों के विषय मे भी सही है। जहाँ तक कि हम किसी निर्णय पर स्वीकृति की छाप लगाना विलम्बित कर सकते हैं और अपने विश्वासों की सामान्य व्यवस्था मे उसे प्रविष्ट करने या न करने के पक्ष या विपक्ष विषयक कारणों को तौल सकते हैं वहाँ तक स्पष्टत: ही वह निर्णय बाह्य अनात्म की वस्तु है।

फिर भी इतना तो प्रकल्प है ही कि हमारी रचना मे इतनी गहराई तक निगूढ बौद्धिक तथा नैतिक आदतें हो सकती हैं कि हम उन्हें निर्णयार्थ तथा दण्डानार्थ स्वात्म के विरुद्ध खड़ा नही कर सकते। हमे इस बात से इन्कार हो ही नही सकता कि कई मामले ऐसे हैं जिनमे हम दूसरे तरीके पर न तो सकल्प ही कर सके न सोच ही सके यहाँ तक कि दूसरे तरीके से सोचने की अथवा सकल्प करने की संभावना तक हमारे मन मे न उठ सकी क्योंकि ऐसा करने से हमारे जीवन का प्रयोजनात्मक सातत्य भंग हो जाता। फिर हमारे शारीरिक संवेदनों का हमारे स्वात्म के साथ एक विशेष प्रकार का सबध है। तो भी हम उनके प्रेक्षण की शक्ति का जहाँ तक अभिग्रहण कर सकते हैं अथवा उनकी ओर से अवधान को अपाकृष्ट करने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं वहाँ तक वे अनात्मवर्ती तत्वों की स्थिति मे विघटित हो जाते। सुख दुख तक भी असकान्त्य-रूपेण वैषम्य के स्वात्मपक्ष की वस्तु नहीं प्रतीत होते। उदाहरण के लिये एक अफलातूनी मसले को ही ले ले। यदि किसी अशोभन अथवा अश्लील वस्तु को देखकर हमे खुशी होती है और साथ ही साथ इस बात से अपने से घृणा भी कि हमे ऐसी खुशी क्योंकर हुई, तो निंदित कार्य द्वारा हुई प्रसन्नता मेरे अपने 'सच्चे' स्वात्म के

अन्तर्निवेशीय विधि के हम आदी होते हैं। तथ्य के विषय मे देखिए ब्रेडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', अध्याय ८, पृ० ८८ एफएफ (फर्स्ट एड०)।

किसी अंश के रूप मे स्वीकृत हुई प्रतीत नही होती बल्कि वह एक ऐसा बाहरी तत्व प्रतीत होती है जो मानो स्वात्म की प्रकृति के विरुद्ध उस पर अधिरूढ कर दिया गया हो। दुःख को उस अविलम्बता और साग्रहिता के कारण जिनसे उसे प्राणिशास्त्रीय महत्व प्राप्त होता है स्वात्म से निष्कासित कर पाना और भी ज्यादा कठिन होता है। किन्तु अनुभव से किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो परीक्षण करने का कष्ट उठायेगा विश्वास हो जायगा कि शारीरिक पीडाएँ जब तक बेहद तीव्र न हो (उदाहरण के लिये सह्य प्रकार की तीव्र दन्तपीडा) उनके वेदानात्मक गुण की ओर ध्यान लगा देने पर कभी-कभी अनुभवकर्त्ता स्वात्म को निश्चित रूप से बाह्य प्रतीत करा दी जा सकती है और यतित्व के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास से तथा 'मानसोपचारकों' की क्रिया-विधि से ध्वनित होता है कि बहिर्निष्कासन की यह प्रक्रिया जहाँ तक हमे सन्देह है उससे भी बहुत आगे तक ले जायी जा सकती है।

साधारण शारीरिक दशा-परक जैव अथवा 'सामान्य' सवेदन सम्भवत: उस अनुभूति के तत्व होते है जो समग्र स्वात्म से उसे विछिन्न करने के तथा उसे एक बाह्य वस्तु मानने के सारे प्रयत्नो का ढिठाई से प्रतिरोध करता है। यद्यपि कुछ मामलो में निश्चय ही हमे ऐसा लगता है कि उसके गुण का विश्लेषण करके तथा उसका 'स्थानीकरण' करके हम अनुभूत स्वात्म से जैव अथवा ऐन्द्रिय सवेदन को बहिष्कृत करने मे समर्थ हो गये हो। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि यदि अनुभूति मे ऐसे कोई तत्व हैं जिन्हें अनात्म मे सक्रान्त करना एकदम असम्भव है तो वे तत्व मुख्यत. शायद अविश्लेषित और अविश्लेष्य जैव या ऐन्द्रिय सवेदन की सहतियाँ ही हैं।[1]

इन सब विचारो द्वारा दो बाते अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है (अ) इतिहास और

---

१. मेरे एक सहकर्मी ने मुझे बताया है कि उसकी आँखों की चलन स्वात्म की चेतना से अवियोज्य प्रतीत होती है तथा उन गतियो को उपर्युक्त मानो मे अनात्म से बहिष्कृत नहीं रखा जा सकता। मुझे सन्देह नहीं है कि हम मे से प्रत्येक मे इस तरह की शारीरिक भावनाएं मौजूद रहती है जिन्हें अनात्म की ओर धकेला नहीं जा सकता और यह कि वैयक्तिक अथवा व्यष्ट मामलो को लेकर इन भावनाओ के यथार्थ स्वरूप के विषय मे यथासम्भव विस्तृत क्षेत्र ,को लेकर व्यवस्थित पूँछताछ कराना अत्यन्त लाभप्रद होगा। किन्तु मुझे ऐसा लगता है, जैसाकि मैने ऊपर कह दिया था, कि सामान्य प्रेक्षण मे शारीरिक भावनाएँ प्रेक्षित विषयवस्तु के विशेषण के रूप मे बिना स्वात्म और अनात्म के विरोध के ही निगृहीत होती है। बहरहाल समस्या सज्ञान सिद्धान्त विषयक उन मौलिक प्रश्नो की है जिन्हे प्रचलित मनोविज्ञान आसानी के साथ रौंदता निकल जाता है।

नीति शास्त्र मे जो स्वात्म हमारी रुचि का विषय हुआ करता है वह निश्चित रूप से स्थिर हुई सीमाओ वाली कोई वस्तु हो सो बात नही। उसके पूरक, अनात्म से उसे पृथक् करने वाली रेखा ऐसी रेखा है जिसे हम किन्ही यथार्थत परिशुद्ध तर्कसगत नियमो के अनुसार नही खीच सकते। इसके अतिरिक्त किसी समय जो वस्तु इस रेखा के एक ओर थी वही दूसरे समय दूसरी ओर पायी जाती है। यदि हमारी अनुभूति का कोई अश ऐसा हो जो इस विभाजक रेखा के स्वात्म पक्ष की ओर ही आवश्यक रूप से और सदा ही पाया जाता हो तो सभी तरह से यही सभव है कि वह वस्तु शरीर सवेदनो की ऐसी सहतियाँ मात्र होगी जो व्यक्तरूपेण उस वस्तु का समग्र न होगी। जिसका ध्यान किसी स्वात्म की अर्हता विषयक शसा करते समय इतिहास और नीतिशास्त्र रखा करते है।[२]

आगे हम स्वात्म द्वारा अनात्म के विरोध की प्रकृति से सम्बद्ध एक निष्कर्ष दे रहे है जैसा कि उस तत्परता से जिसके अनुसार अनुभूति के अधिकाश अर्न्तविषय प्रतिपक्ष की एक ओर से दूसरी ओर खिसक आते हैं, जाहिर है, अनात्म एक माने मे, स्वात्म मे तभी शामिल हो जाता है जब उसे उससे पृथक् किया जाता है। हमारे साथी, भौतिक जगत, विचार, आदते, भावनाएँ आदि वे सब अग है जिन्हे मिलाकर अनात्म की समय-समय पर रचना होती है, एक सर्वसामान्य लक्षण के स्वामित्व के विषय मे सहमत है। अनात्म के सदर्भ मे प्रस्तुत अनुभूति के समग्रान्तर्गत वे सब ही असगतिपरक तत्व होते है और इसी असागत्य के कारण ही हम उन्हे अपने असली स्वभाव के बाहर की वस्तु समझा करते है यानी इसलिये हम उन्हे अनात्म विषयक वस्तु मानते है। अत हम यथार्थत कह सकते है कि अनात्म को जो कुछ सौंपा जाता है वह इसलिये सौपा जाता है क्योकि उसे पहले ही असगत पाया जा चुका है और इ सीलिये उसे स्वात्म के बाहर ही रखा गया है। दूसरे शब्दो मे अनात्म वह बाह्य सीमा नही है जिसे किसी तरह हम अनुभूति के भीतर स्वात्म के साथ ही साथ पाते है अपितु वह ऐसी सीमा है जिसे आनुभूतिक-दत्तो से बहिष्कृत उन दत्तो को जिन्हे यदि स्वात्म

---

२. निश्चय ही आप किसी 'स्वात्म' की ऐसी कल्पना निरूपित कर सकते हैं जिससे यह सब शारीरिक भावनाएँ भी बहिष्कृत हो चुकी हो। और इसीलिये जो ऐसा 'सज्ञानात्मक विषय' मात्र है जिसमे कोई ठोस मनस्तत्वीय गुण नहीं होता। किन्तु इस रूप मे कोई तार्किक विषय मात्र वह स्वात्म नहीं होता जिसका ज्ञान हमें किसी विशिष्ट अनुभूति मे होता है और इससे भी अधिक निश्चयपूर्वक वह ऐसा स्वात्म नहीं होता जिसमें इ तिहास और नीतिशास्त्र जैसे विज्ञानो की रुचि हो। इसीलिये मूलपाठ मे मैने उसका जिक्र करना आवश्यक नही समझा।

मे शामिल कर लिया जाता तो वे उसकी एकरूपता को नष्ट कर देते, को मिलाकर बनाया जाता है। इस प्रकार अन्तत हम परिमित अस्तित्वो के सामने अनात्म इसलिये खडा कर दिया जाता है क्योंकि हमारी अपनी परिमित में जैसाकि पहलेवाले अध्यायो मे हम देख चुके है, हमारे भीतर सघर्ष और विस्वरता का सिद्धान्त पाया जाता है। अनात्म केवल बाह्य पर्यावरण मात्र ही नही है अपितु वह समस्त परिमित मे व्याप्त आन्तरिक रचना विपयक अपूर्णता का अपरिहार्य परिणाम है।

(४) स्वात्म आवश्यकरूपेण विकासविपयक वस्तु है अत इस रूप मे उसके अस्तित्व का कारण कालीय-प्रक्रिया ही है। और यह एक ऐसी बात है जिस पर आग्रह करना अनेक कारणो से आवश्यक है। स्वात्म कल्पना की आधारभूत अनुभूतियों के स्वरूप विपयक हमारे पहले के विमर्श से इसकी सत्यता प्रामाणित होती है। जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका है स्वात्म और अनात्म के बीच का विभेद मूलतः आन्यान्तर विस्वरता तथा प्रायोजनिक सघर्ष विपयक हमारी अनुभूति के कारण ही उत्पन्न होता है और ऐसी अनुभूति केवल उन्ही जीवो को हो सकती है जो किसी भावी उचित आदर्श का विरोध भले ही वह आदर्श कितने ही धुँधले रूप मे निग्रहीत क्यो न होता हो—मौजूदा आदर्श की खातिर कर सकते है। ऐसे जीव की जो या तो पहले ही वैसा बन चुका है जैसाकि अपनी प्रकृति के अनुसार वह बन सकता था अथवा जो किसी तरीके से भी यह बात समझ सकने के अयोग्य है कि वह उस प्रकृत्यनुसार बन सकने जैसा नही है, अनुभूति मे, स्वात्म और अनुभूतिगत बाह्य तथा विरोधी तत्वो के बीच विभेद कर सकने की कोई सामग्री ही उपलब्ध न होगी। जैसाकि हमने अपनी तृतीय खड मे देखा—काल ऐसी अनुभूति की आधारभूत प्रकृति की जिसके प्रयोजनों और आकाक्षाओ की आशिक पूर्ति ही अभी हो पायी है, अमूर्त अभिव्यक्ति होता है और इसीलिये उसमे, स्वात्म और अनात्म के विभेद की मूलभूत पूर्व एकतानता का आभ्यान्तरिक अभाव रहता है। मेरे ख्याल से इसी लिये कम से कम हमे जो आत्म विपयक इस कल्पना के मूल के बारे मे उपयुक्त विवरण को स्वीकार करते है तो यह मजूर ही करना होगा कि स्वात्म आवश्यकरूपेण कालगत होते है और इसीलिये उनका विकास के उत्पाद होना आवश्यक है।

यह निष्कर्ष उन निश्चयात्मक तथ्यो के अनुकूल प्रतीत होता है जो इतनी अच्छी तरह पर स्थापित हो चुके है कि उन पर सन्देह किया ही नही जा सकता। बहुत सम्भव है कि जिसे मैं अपना वर्तमान स्वात्म कहता हूँ उसमे एक भी तत्व ऐसा न हो जो प्रकाश्यरूपेण मेरे पुराने भौतिक (दैहिक) और मानसिक विकास का उत्पाद न हो। न ही इस बात पर वहस करना सकारण प्रतीत होता है कि यद्यपि मेरे वर्तमान स्वात्म की सामग्री विकासीय उत्पाद है तो भी उसकी आत्मता अनुत्पादित ही होनी

है। बात इतनी सी ही नहीं कि मेरा वर्तमान स्वात्म मेरे विगत स्वात्म जैसा नही होता, किन्तु इस स्वीकारोक्ति से बच नही सकते कि मेरा मानसिक जीवन विकास की ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है जिसके द्वारा वह न केवल भ्रूण से ही अपितु शुक्राणु तक से सतत सम्बद्ध रहता है और इस प्रकार लगता है कि उसके समारभ ऐसी अनुभूतियो से उद्भूत है जो सरल अनुभावना की इतनी निकटवर्तिनी होती है कि उनके कारण स्वात्म के अनात्म विरोधी सवेदन के लिये कोई अवसर ही उसे नहीं मिल पाता। अथवा यदि हम यह कहे कि इस प्रकार का वैषम्य अनुभूति के भोडे से भोडे रूपो तक से एकदम बहिष्कृत नही हो सकता तो भी हमे इस तथ्य का तो जवाब देना ही पडेगा कि मेरे वैयक्तिक इतिहास की एक स्थिति से पिछली स्थिति पर मेरा अस्तित्व एक जन्तुक मात्र का भी न था। कोई भ्रूणात्मक स्वात्म कम से कम निश्चय ही अकल्पनीय नही हो सकता किन्तु जिस समय तक लेवी अपने बाप की कमर मे ही छिपा था उस समय उसका आत्मत्व कहाँ था? अगर हम सब विचार करे कि हमारे इस कथन का क्या मतलब होता है कि हम सबके माँ बाप थे, तो मेरा ख्याल है कि यह स्वीकार करना होगा कि हमारे स्वात्म वस्तुत: विकास के गतिक्रम से जन्म लेने की बात हमे मजूर करनी ही होगी भले ही प्रक्रिया की ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकना हमे कितना ही असभव प्रतीत हो।[1]

(५) आखीर मे एक और महत्वपूर्ण विचारविन्दु पर भी ध्यान दे लेना आवश्यक है। जैसाकि अब स्पष्ट हो चुका है स्वात्म कभी भी किसी ऐसी वस्तु के सदृश अथवा तत्सम नही हो सकता जो मेरे मानसजीवन मे किसी भी एक क्षण पर पूर्णतया वर्तमान पाया जा सकता हो। एक बात और यह है कि उसे ऐसे कालीय सातत्य से युक्त माना जाता है जो किसी भी दिये हुए क्षण पर तत्काल अनुभूत हो सकने-वाली किसी भी वस्तु के परे बहुत दूर तक जानेवाला होता है। यह सातत्य 'सवेद्य वर्तमान' की सकीर्ण सीमाओ के दोनो ओर अतिक्रमण करके भूत और भविष्य दोनो मे ही प्रविष्ट होकर फैला होता है। यह कालीय सातत्य भी फिर, स्वात्म मे हमारे द्वारा अभ्याहृत लक्ष्यो और हितो के एकत्व तथा सातत्य की ही एक अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र है। मेरी अनुभूतियो के सबध मे यह समझा जाता है कि

---

१. चूँकि हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते इसलिये उसकी वास्तविकता से इनकार करना ही होगा—यह कहना निराधार होगा। हमारे ज्ञान में आभ्यन्तर एकतानता लाने के लिये आवश्यक निष्कर्ष के विरुद्ध यह युक्ति पेश करना कि ऐन्द्रिय कल्पना-सृष्टि मे उसका सामना कर सकने के साधन ही हमारे पास नहीं है—कभी भी वैध नहीं है।

वे अन्ततोगत्वा एक ही आत्म का जीवन हैं क्योंकि मैं उन अनुभूतियों को इस दृष्टि से देखता हूँ मानो वे ससार-विषयक अभिरुचि की सगत अभिवृत्ति की एकतान अभिव्यक्ति हों। और ऐसे कोई भी अनुभूतिगत तत्व जो इस प्रकार की एकतानता में हिलमिल न सके किसी न किसी उपाय द्वारा सत्य स्वात्म से बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और उन्हें कहीं बाहर से आकर घुस पड़नेवाला असम्बद्ध अतिक्रान्ता घोषित कर दिया जाता है। वास्तविक जीवन में अनुभूति की अर्न्तवस्तुओं की ऐसी पूर्ण और निरपेक्ष एकरूपता हमें कहीं भी देखने को नहीं मिलती। अगर हम ढूँढना चाहें तो, हमारी वास्तविक अनुभूति में ऐसे तत्व मोजूद रहते हैं जो परस्पर असगत होते हुए और अनुभूति पर पूरी तरह छायी रहनेवाली हित व्यवस्था से टकराया करते हैं। अत. अन्तिम उपाय के रूप में स्वात्म को एक ऐसा आदर्श मानना पडता है जिस तक वास्तविक अनुभूति पूरी तरह नहीं पहुँच पाती—यानी हितों और प्रयोजनों की ऐसी व्यवस्था वाला आदर्श जो निरपेक्षतया अपने आप में एकतान हो। और इस आदर्श के तर्कानुगत आत्म-सागत्य में कम से कम गहरा सदेह तो अवश्य ही होना चाहिये। उन सदेहों का सामना हम अभी थोडी देर में ही करेंगे।

इस समय तो जिस बात पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह है। क्या हमारे लिये यह कहना आवश्यक है कि अस्तित्व-विषयक अनुभूति सातत्य मात्र ही प्रारभिक स्वात्मत्व के लिये पर्याप्त होता है अथवा हमें यह कहना होगा कि सही स्वात्म तब तक नहीं होता जब तक कि किसी व्यक्ति का कम से कम इतना बौद्धिक विकास न हो जाय कि जिससे उसमें भूतकाल की बातें स्मरण रख सकने और भविष्य का पूर्वानुमान कर सकने की शक्ति न आ जाय? दूसरे शब्दों में, क्या हमें आत्मत्व को इतना लम्बा चौडा फैलाना होगा जितना कि ज्ञानशील जीवन होता है अथवा उसे ऐसे पर्याप्त तर्कनापरक जीवन तक ही सीमित रखना होगा कि जिसमें स्वात्म और अनात्म विषयक वैषम्य की पहचान विशिष्ट और स्पष्ट रूप में हो सके? सम्भवत. मुख्य रूप से यह प्रश्न शब्दावली विषयक ही है। अपने लिये तो मैं स्वीकार कर सकता हूँ कि मुझे तो दूसरे नम्बर वाला विकल्प अधिक सन्तोषप्रद मालूम देता है। मैं नहीं समझता कि पीडा की वेदनामात्र से अभिप्रेत साध्यपरक सातत्य की इतनी मात्रा ही यथार्थ आत्मत्व के रूप में स्वीकार्य हो सकने योग्य है और स्वात्म स्वात्मत्व शब्दों के निर्बाध उपयोग से जब उनका विनियोग केवल अनुभूयमान चेतना के द्योतनार्थ ही किया जाय, तो मेरा ख्याल है काफी गडबडी मचने की आशका है। जब हमने इन शब्दों का उपयोग एक बार इस तरह के किसी मामले में कहीं कर दिया तो अनिवार्य रूप से हमें लालच होगा कि इस प्रकार के सरल मानस जीवन के तथ्यों की अति-व्याख्या इसलिये कहीं न कर उठें कि जिससे वे तथ्य अपने जीवन के

विषय मे ज्ञात आत्मत्व के अधिक अनुकूल हो पड़े ।[1] साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि कट्टरपन मे पड़कर प्रेक्षण की हमारी विधियाँ जहाँ स्वात्म की पहचान मे अन्तर्ग्रस्त बौद्धिक प्रक्रियाओ का निग्रह न कर सकें वहाँ उन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से इनकार करने का अधिकार भी हमे नही है।

२—स्वात्मविषयक वास्तविकता की मात्रा की समस्या पर आइये अब विचार करे। हमे पूछना है कि स्वात्म की कल्पना का विनियोग उन व्यष्ट अनुभूतियों पर जिन्हे हमने अपनी इस पुस्तक की दूसरे खड मे वास्तविक अस्तित्व व्यवस्था की अन्तर्वस्तु के रूप मे पहचाना था, किस सीमा तक हो सकता है ? क्या अपरिमित व्यष्ट अनुभूति को सही मानो मे एक स्वात्म कहा जा सकता है ? और क्या प्रत्येक परिमित अनुभूति एक स्वात्म होती है ? और परिमित स्वात्मो को, यदि वे असली हो तो, हम परस्पर सबध कैसे मान सकते हैं ? अन्त मे शायद हमे इस सम्बन्ध मे इस प्रश्न का सामना करने को तैयार होना पड़े कि कोई व्यष्ट परिमित स्वात्म अस्तित्व व्यवस्था के एक अस्थायी लक्षण से अधिक और कुछ कहाँ तक हो सकता है। उपर्युक्त सब बातो के बारे मे हमारे निष्कर्ष सिद्धान्तत नि सन्देह हमारे दूसरे खड मे दिए विचारविमर्श द्वारा निर्णीत हो चुके हैं किन्तु उनमे से कुछ को उक्त स्थल की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर देना यहाँ वाञ्छनीय प्रतीत होता है।

मेरा ख्याल है कि पहले तो यह स्पष्ट ही है कि अपरिमित अनुभूति अथवा 'निरपेक्ष' को सही मानो मे स्वात्म नही कहा जा सकता । और यह बात तभी तुरन्त भासने लगती है ज्यो ही कि आत्म-सवेदन विषयक सारभूत अभिप्रेतार्थ सम्बन्धी हमारे विचार यदि स्वीकार कर लिए जाते हैं। हमने जोर देकर कहा है कि स्वात्मरूपेण स्वात्म का अधिग्रहण अथवा बोध साथ ही साथ अधिग्रहीत अनात्म के मुकाबले पर ही हो पाता है। और हम देख चुके है कि अनात्म अनुभूति के सभी असम्बद्ध तत्वो के मिलने से तब तक ही बनता है जब तक कि उनकी असगति दूर नही होती। और यही कारण था कि जिसकी वजह से हमे मानना पडा था कि स्वात्म, कालीय प्रक्रिया स्वरूप विश्वानुभूति के साथ, सूक्ष्मता के सार्वत्रिक लक्षण 'नात पर नैवाघुना' द्वारा अटूट रूप से बंधा हुआ है। परिणाम आवश्यक है कि ऐसी कोई भी अनुभूति जिसमे कोई भी असम्बद्ध तत्व अविघटित असागत्यरूपेण मौजूद न हो स्वात्मता के आधारभूत वैषम्य-प्रभाव द्वारा

---

१. मै यह सोचने का साहस कर रहा हूँ कि प्राणि जातीय तर्कनापरक विषयक निष्प्रतिफल प्राक्कल्पनाओं मे से कुछ वे प्राक्कल्पनाएँ जिन्हे प्रोफेसर रायस ने 'द वर्ल्ड एण्ड द इण्डिविजुअल' नामक ग्रन्थ के दूसरे भाग मे पेश किया है इस प्रकार की अनावश्यक अति-व्याख्यात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं ।

विशेषित नहीं होती। ऐसी अनुभूति जिसमे वास्तविकता सत्ता का समग्र एक पूर्णतः एकतान समग्र के रूप मे मौजूद रहता है, किसी भी ऐसी वस्तु का जो स्वय उसके बाहर अथवा विरुद्ध हो अधिग्रहण नहीं कर सकती और इसीलिए उसे स्वात्म-भावना नाम से हमे ज्ञान गुण से विभूषित नहीं किया जा सकता ।

इसी बात को यदि दूसरी तरह से कहा जाय तो कह सकते है कि जिस स्वात्म को हम देख चुके है वह मूलतः एक वैचारिक आदर्श है, ऐसा आदर्श जिसका तभी अधिग्रहण हो सकता है जब वह प्रस्तुत वास्तविकता के मुकाबले पर खड़ा हो। अतः केवल वे ही जीव जो अपने आपको सवेदन तथा प्रयोजनपरक जीवन मे अन्यों की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्णतया एकतान बनने की प्रक्रियान्तर्गत पाते है, अपने स्वात्म रूप से अवगत हो सकते है। स्वात्म और अपूर्णत्व दोनो ही एक दूसरे से कभी विलग नहीं हो सकते और ऐसा कोई भी जीव जिसे आदर्श और वास्तविक के बीच के विरोध का रत्ती भर भी पता नहीं है अर्थात् 'होना चाहिए' और 'है' के विभेद को जो नहीं जानता, उसे स्वात्म-भावना से भी अवश्य अनभिज्ञ होना चाहिए। तीसरे रूप मे यही बात यो कही जा सकती है कि कालगत जीवन वाले जीव ही—जो इसीलिए केवल परिमित जीव ही होते है—स्वात्म हो सकते है क्योकि कालानुभूति स्वात्मत्व की नियमिक समाकल होती है।

इस निष्कर्ष के विरुद्ध प्रस्तुत की जा सकनेवाली एक आपत्ति इतनी विदग्धतापूर्ण है कि यहाँ उसकी विशेष परीक्षा आवश्यक है। कहा जा सकता है कि अपूर्णतावबोध और प्रयोजन-कुंठा ऐसी दो शर्तें है जिनके बिना हम विशेषत स्वात्म का अधिग्रहण नहीं कर पाते किन्तु वे स्वात्मत्व की अनुभूति के अन्तरग रूप मे तब वर्तमान नहीं रहती जब एक बार उसका विकास हो चुका है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रकल्पित 'निरपेक्ष' की अनुभूति की प्राप्ति, इन शर्तों के माध्यम द्वारा प्राप्त किये बिना भी हो सकती है। सामान्य सिद्धान्तरूपेण, निसन्देह यह युक्ति प्रणाली पर्याप्त विश्वासप्रद है। यह पूर्णतया सत्य है कि वे स्थितियाँ जिनके माध्यम से किसी गुण विशेष की अनुभूति हमे हुआ करती है, बिना किसी अनुसन्धान के, उस अनुभूति की प्राप्ति के लिए सर्वत्र ही अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ, यदि यह सिद्ध भी हो जाय कि निराशावादी लोगो का यह कथन सही है कि पीड़ा अथवा दुख का पहले अनुभव हुए बिना ही सुख की अनुभूति नहीं होती, तो भी इससे यह नतीजा कभी नहीं निकलेगा कि सुख जिस रूप मे हमे अनुभव हुआ उस रूप मे वह दुख का ही एक उच्छलन मात्र है और उसका अपना कोई सकारात्मक गुण नहीं है। और फिर भी यह एक प्रश्न ही बना रहेगा कि क्या अन्य जीव पूर्ववर्ती दुख के बिना सुख का अनुभव नहीं कर सकते। किन्तु यह नियम विचाराधीन विषय पर लागू होता प्रतीत नहीं होता।

क्योकि हमारा कहना यह है कि अनुभूति के असम्बद्ध तत्व का तत्सम्बद्ध अनुभूति के शेष भाग के साथ का वैपम्य केवल एक पूर्ववर्तिनी स्थिति मात्र नही है। अपितु स्वात्म के ताथ्यिक अधिग्रहण का केन्द्रीय क्रोड है। यह बात नही कि यदि हमारा पूर्वगत विश्लेपण सही था तो हमे स्वात्म भावना की प्राप्ति उन मामलात को छोडकर जहाँ उपर्युक्त प्रकार का वैपम्य मौजूद रहता है, अन्यत्र नही हो सकती। अत हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष पर असदिग्धतया गभीर उपर्युक्त सामान्य नियम का कोई प्रभाव नही पडता।

सामान्यतया आदर्शवादी स्थिति के अनुयायी क्यो बहुधा हमारे निष्कर्ष का विरोध किया करते है, इस प्रश्न का उत्तर, मेरा ख्याल है, इस प्रचलित विश्वास मे निहित है कि अनुभूति आत्मरूपेण मूलत. स्वात्म या चेतना द्वारा विशेपित हुआ करती है। जरा सी भी किसी अनुभूति के होने के माने होते है अनात्म के पर्यावरण से सम्बद्ध रूप मे अपने स्वात्म से अवगत होना । अत इस बात से इनकार करना कि निरपेक्ष सत् या वास्तविकता एक स्वात्म है इस बात से इनकार करने के ही समान है कि वह अनुभूति किसी तरह से भी है और ऐसा कहने के माने आदर्शवादी दृष्टिकोण से होगे इस बात से इनकार करना कि वह वास्तविक है । किन्तु यदि हमारा पूर्वगत विश्लेपण सही था तो अनुभूतिरूपेण, मानव अनुभूति के विपय मे भी यह कहना सत्य नही कि उसका निरूपण सर्वत्र ही स्वात्म और अनात्म के बीच अनुभूत वैपम्य द्वारा हुआ करता है। उस विश्लेपण के अनुसार यह वैपम्य केवल वहाँ ही पाया जाता है जहाँ अनुभूति के समग्र रूप और उसके कुछ कारको के बीच कोई अनुभूत असम्बद्धता मौजूद हो। इसी आवश्यकरूपेण स्वात्म भावनाकित हमारी अनुभूति की कल्पना का हमारी उस बौद्धिक पुनर्रचना पर आधारित होना आवश्यक है, जिसका निर्माण ऊपर से ही दिखाई पडनेवाले उस कल्पितार्थ द्वारा होता है जो प्रत्येक अनुभूति मे ऐसे लक्षण आरोपित किया करता है जिन्हे विश्लेपण द्वारा केवल कुछ विशिष्ट मालमात मे ही और विशिष्ट परिस्थितियो मे ही निग्रहीत किया जा सकता है । अत हमारे लिए भलीभाति सम्भाव्य है कि हम इस दावे को कि सकल वास्तविक अस्तित्व अन्ततोगत्वा एक स्वतत्र अनुभूति-व्यवस्था का निरूपण किया करता है इस अस्वीकृति के साथ सयुक्त कर सके कि उस व्यवस्था को स्वात्म-भावना नाम से हमे ज्ञात वैपम्य प्रभाव विशेपित किया करता है। वास्तव मे वह, जिसके बाहर की ओर वैपम्य दर्शाने योग्य कुछ भी नही है विशुद्ध कल्पनात्मक ऊपर से अपने आपको किस प्रकार यो पृथक् कर सकता है ?[१]

३—यदि निरपेक्ष अतितराभावी स्वात्म नही है तो यह स्पष्ट है कि वह

१. क्या इस सुझाव का विशेष रूप से हवाला देना जरूरी है कि 'निरपेक्ष' हेतुक विवाद-

'व्यक्ति' नही हो सकता। इस बात का निर्णय कर सकना कि जब 'निरपेक्ष' के अथवा किसी और के 'व्यक्तित्व' पर जोर दिया जाता है तो सहीतौर पर कितना क्या कहने का इरादा है बडा कठिन है। किसी स्वात्म का 'व्यक्तित्व' होना आवश्यक प्रतीत नही होता क्योकि जिन दार्शनिको ने माना हुआ है कि स्वात्मो के अतिरिक्त अन्य कोई सत् या वास्तविकता नही होती वे भी जहाँ पशुओं को स्वात्म मानते हैं वहाँ उन्हे व्यक्ति नही कहते। किन्तु यह कह सकना कि स्वात्मत्व से बढकर और क्या कुछ व्यक्तित्व मे शामिल है—बडा कठिन है। अगर हम इस बात का विचार रखे कि 'व्यक्तित्व' मूलत. एक 'कानूनी' कल्पना है और यह कि आमतौर पर उसका अव्याहार केवल मानव जीवो मे ही अथवा ऐसी अतिमानव बुद्धियो मे ही किया जाता है जिन्हे मानव जीवो के साथ पारस्परिक आबन्ध की शर्तो पर मिलने-जुलने मे समर्थ माना जा चुका है। शायद हम व्यक्तित्व की निम्नलिखित परिभाषा का सुझाव दे सकते है। व्यक्ति वह जीव है जो मानव समाज के विशिष्ट स्थान से सलग्न विशिष्ट आबन्धो का विषय बन सकने मे समर्थ हो। और यह जाहिर ही है कि अगर उपर्युक्त बात नही है तो व्यक्तित्व जैसाकि श्री ब्रैडले कहता है—परिमित है और अर्थहीन भी।

मन समाज साररूपेण ऐसे समानी-स्थितिक सामाजिको द्वारा ही निर्मित हुआ करता है जिनके प्रयोजन परस्पर पूरक भले ही वे एक समान न हो—होते है तथा जिन्हे उन प्रयोजनो की सिद्धयर्थ एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता रहती है। केवल वे ही जीव मेरे लिये वैयक्तिक होते है जिनके लक्ष्य और प्रयोजन मेरे लक्ष्यो और प्रयोजनो के साथ-साथ ही किसी विस्तृततर और अधिक एकरूप व्यवस्था मे शामिल रहते है और इसी लिए जिनके साथ अन्योन्य आबन्ध की रस्सियो से मैं बँधा रहता हूँ। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह पूछना कि व्यक्तित्व की कारणीभूत जो व्यवस्था उपर्युक्त रूप मे हम व्यक्तियो के पारस्परिक अधिकारो और कर्तव्यो का आधार है वह भी क्या कोई व्यक्ति है, उपहासजनक होगा। उदाहरणार्थ इस तरह तो यह पूछने का कोई मतलब ही न होता कि हमारे भौतिक व्यक्तित्व का मूलाधार यह

ग्रस्त वैषम्य-प्रभाव स्वय उसके तथा तदगीभूत अभिव्यक्तियों अथवा आभासो के बीच हो सकता है? यह तभी हो सकेगा यदि परिमित आभास समग्र मे ऐसे किसी तरीके से अन्तर्विष्ट हो जिससे एक दूसरे से असम्बद्ध रहने की उन्हे छूट मिली रहे अर्थात् ऐसे किसी तरीके से जो निरपेक्ष के मौलिक गुण-व्यवस्थित स्वरूप से मेल न खाता हो। मुझे यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि कम से कम आम उसूल के मामले में तो मेरा मत डाक्टर मैकटागर्ट के मत से मेल खाता है। देखिए उनकी अभी हाल की कृति 'स्टडीज इन हीग्लियन कास्मोलाजी' का तीसरा निबन्ध।

मानव समाज क्या स्वय भी कोई व्यक्ति है। वास्तव मे तब यह पूछने के लिये हमारे पास कारण मौजूद होगा कि क्या समाज पर अतिचार का मुकदमा चलाया जा सकता है अथवा इनकम टैक्स ऐक्ट के शेड्यूल 'डी' के अन्तर्गत उस पर कराधान किया जा सकता है?

'निरपेक्ष' जिसमे (प्रकल्प्यतया अनन्त संख्यात्मक) परस्पर जानने पहँचानने वाले व्यक्तियों के सब के सब समूह तथा अनुभूतियों के वह सब रूप जिन्हें सहीतौर पर हम व्यक्ति की सज्ञा नही दे सकते—शामिल हैं—के विषय मे तो यह बात और भी अधिक व्यक्त रूप मे सही है। इस समग्र व्यवस्था तथा उसके अंगीभूत तत्वों के बीच अनुपूरकता तथा सपूरकता का ऐसा कोई सबध नही जो यथार्थ व्यक्तित्व का सार हो। यदि व्यवस्था को समग्ररूपेण हमारे दोषो और कमियो की पूरक और संशोधक कहा जा सके तो हमे किसी तरह पर भी उसका अनुपूरक नहीं कहा जा सकता। निरपेक्ष और मैं, निश्चय ही किन्ही सच्चे मानो मे समान स्थितिक सामाजिक नही हो सकते और हमारे बीच का सबध इसलिये वैयक्तिक सबध नहीं माना जा सकता। यह सब इतना स्पष्ट है कि, जैसा मेरा ख्याल है—'निरपेक्ष' के व्यक्तित्व अथवा 'समग्र' अस्तित्व के व्यक्तित्व का पक्षपोषण करनेवाले केवल इस अकारण पूर्वानुमान के आधार पर ही मिल सकते है कि जो कुछ भी व्यष्ट अनुभूति हो अथवा आध्यात्मिक एकत्व वह सब वैयक्तिक ही होगा। जहाँ तक मेरा ख्याल है इसके माने हैं पहले ही से मान लेना कि उपर्युक्त प्रकार के व्यष्ट का एक ऐसा वाह्य पर्यावरण होना आवश्यक है जो उसके बराबर की एकतान और व्यापक व्यष्टता वाले अनुभूति विषयों से बना हो। और इस पूर्वानुमान का—अपनी तौर पर—मुझे कोई आधार ढूँढे नहीं मिलता।[1]

४—तब यदि हम सहीतौर पर यह न कह सकें कि निरपेक्ष अथवा विश्व या

---

१. इस बात पर एतराज करना बेकार होगा कि 'समाजो' अथवा समितियों' का कानूनी और सामूहिक व्यक्तित्व होता है और इसलिये उन पर दावा किया जा सकता है और कराधान भी हो सकता है (ऊपर लिखे उदाहरणानुसार)। इस प्रकार से जिस वस्तु का व्यवहार किया जा सकता है वह निर्धारित व्यष्ट मानव जीवो का सगठन है जिनके मिलन द्वारा एक यथार्थ आध्यात्मिक एकता का निरूपण हो भी सकता है और नही भी हो सकता। उदाहरण के लिये आप आयकर आयुक्तो के विरुद्ध दावा कर सकते है लेकिन आप यह नहीं सिद्ध कर सकते कि वे कमिश्नर एक वास्तविक समाज या समिति हैं। दूसरी ओर लिबरल यूनियनिस्ट पार्टी मे संभवतः प्रयोजनात्मक सह-भागित्व की भावना कहीं अधिक मात्रा मे

उस अपरिमित व्यष्ट को जो समग्र अस्तित्व मात्र है जिस नाम से भी पुकारें वह एक स्वात्म अथवा व्यक्ति है तो क्या हम यह कह सकते है कि उस अस्तित्व के निर्मायिक परिमित व्यष्ट सब के सब ही स्वात्म है और यह कि इस कारण ही निरपेक्ष भी स्वात्मों का समाज है ? मेरा ख्याल है कि इस सवाल का हमारा जवाब निर्भर होगा दो बातों पर (अ) स्वात्म के लिये हम सातत्य की जितनी मात्रा अपेक्षित मानते है और (ब) समाज का जिस प्रकार का एकत्व हम अध्याहृत करते है।

(अ) यदि हम अनुभूत साध्यपरक सातत्य की किसी तरह की भी और सब तरह की मात्रा को स्वात्म निर्माणार्थ पर्याप्त मानते है तो स्पष्ट है कि हम यह कहने के लिये मजबूर होगे कि स्वात्म और स्वात्म ही केवल वह सामग्री है जिनके मिलन से वास्तविकता सयोजित होती है। अत. हम पहले ही मान चुके है कि सत् अथवा वास्तविकता मनस्तत्वीय तथ्य से बनती है और यह कि समस्त मनस्तत्वीय तथ्य किसी न किसी तरह के व्यक्तिनिष्ठ हित अथवा आकांक्षा की सन्तुष्टियो का ही नाम है इसलिये अस्तित्व की समग्र व्यवस्था मे सम्मिलित प्रत्येक मनस्तत्वीय का परिमित व्यष्ट व्यक्ति की अनुभूति का अश होना आवश्यक है। अत इस प्रकार का प्रत्येक व्यक्ति भले

मौजूद है इसलिये उसे एक सच्चा समाज माना जा सकता है लेकिन उसका कोई कानूनी व्यक्तित्व नहीं है इसलिये एक दल के रूप में उसके न तो कोई कानूनी अधिकार है न कानूनी कर्तव्य। इसी तरह सिमियन ट्रस्टीज नाम से ज्ञात नियम का कानूनी व्यक्तित्व है और तदनुकूल अधिकार और कर्त्तव्य भी और एस्टैब्लिश्ड चर्च के एवेञ्जलिकल दल के साथ, उक्त हैसियत से उसके घनिष्ठ सबध भी है। और यह दल निश्चय ही एक सच्चा नैतिक समाज है। लेकिन उपर्युक्त निगम एवेञ्जलिकल दल नहीं है और यह दल उन्हीं मानों में जिनमें कि वह एक सच्चा समाज है एक कानूनी व्यक्ति नहीं।

मै इतना कह दूं कि इस प्रश्न को कि क्या निरपेक्ष एक स्वात्म है या एक व्यक्ति, ईश्वर के व्यक्तित्व विषयक, प्रश्न के साथ गड़बड़ न करना होगा। चलताऊ तरीके पर हमे यह पूर्वानुमान न कर लेना होगा कि ईश्वर और निरपेक्ष एक ही हैं। धार्मिक जीवन के प्रपच की विशिष्ट परीक्षा द्वारा ही हमे निश्चय हो सकेगा कि क्या 'ईश्वर' ही आवश्यक रूप से 'समग्र सत्' है या नहीं। यदि वह ऐसा नहीं है, तो ईश्वर के व्यक्तित्व विषयक धारणा को निरपेक्ष की व्यक्तित्वहीनता के साथ सयुक्त सम्भव हो सकेगा जैसाकि श्री राशडाल ने पर्सनल आइडियलिज्म' नामक अपनी पुस्तक के निबन्ध मे किया है। इस समस्या पर और अधिक टिप्पणार्थ आगे के अध्याय ५ का अध्ययन करें।

ही उसकी व्यष्टता कितनी ही मात्रा की क्यो न हो—स्वात्म ही कहलायेगा और ऐसे कोई तथ्य न होगे जो एक या एकाधिक स्वात्मो के जीवन मे कही न कही सम्मिलित न हो चुके हो। दूसरी ओर जैसाकि मैने स्वय किया है अगर हम विकास की कुछ मात्रा को स्वात्म के जैसे कुछ स्थायी हितो की स्वीकृति के समान ही स्वात्मत्व की स्वीकृत्यर्थ भी पर्याप्त मानना अधिक पसन्द करें तो सम्भवत हमें इसी नतीजे पर पहुँचना होगा कि स्वात्म एक अपेक्षाकृत बहुत ऊँचे दर्जे का व्यष्ट है और यह कि इसके परिणामस्वरूप साध्यवादितापरक सातत्य की इतनी अपूर्ण मात्रा वाली अनुभूतियाँ मौजूद हो जाती हैं कि स्वात्म नाम से उन्हे पुकारना तक अनुचित लगता है।

और यह निष्कर्ष अनुभव द्वारा निश्चित हो चुके तथ्यो जैसे कि निम्न श्रेणी के प्राणियो के जीवन मानव शिशुओ तथा सदोष और अतिशय निम्न प्रकार के बौद्धिक तथा नैतिक विकास वाले युवको सबधी तथ्यो—से और भी सपुष्ट हो जाता है। बहुत कम ही व्यक्ति, जब तक कि वे जी जान से किसी सिद्धान्त के लिये लडने मरने के लिये कमर न कस चुके हो, किसी कीडे को स्वात्म कहने को तैयार होंगे इसी तरह हममे से बहुत से लोग हाल के पैदा शिशु को अथवा पैदायशी जडबुद्धि को स्वात्म कहने मे हिचकिचायेंगे। साथ ही परिमित समाज अथवा निर्धारित समितियाँ स्पष्टत ही सत् या वास्तविकता की अग होती है फिर भी जैसाकि हम देख चुके हैं किसी समिति या समाज को स्वात्म कहना सम्भवत गलत है, यद्यपि प्रत्येक सच्चा समाज स्पष्टत ही ऐसे प्रयोजनात्मक साम्प्रदायिकता और सातत्य से युक्त होता है जिसके बल पर हम सही तौर पर उसे विकसित होने मे समर्थ एकत्व मान सकते हैं और उसकी नैतिक अर्हता की शसा कर सकते है। अत. इस कथन से कि वास्तविकता की कारक परिमित व्यष्ट अनुभूतियां ही हैं इस कथन की अपेक्षा कि वे स्वात्म होते है कही कम भ्रान्ति उत्पन्न होगी। जैसाकि हम देख चुके है स्वात्म एक ऐसा मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जो केवल अपूर्ण रूप से ही ऐसे आनुभूतिक तथ्यो का जिनके पारस्परिक सबध स्थापना हेतु उसका उपयोग किया जाता है—प्रतिनिधित्व करता है।

(ब) फिर भी यदि हम निरपेक्ष को परिमित व्यष्टो का समाज कहे तो हमें गलतफहमी से बचे रहने के लिये सावधानी बरतनी होगी। इस प्रकार से बात कहने के कई फायदे ऊपर ही दिखाई देते है। इस कथन से अस्तित्व व्यवस्था या आध्यात्मिक स्वरूप जहाँ सामने उभर आता है वहाँ यह तथ्य भी सामने आता है कि उस व्यवस्था मे परिमित व्यष्टो की असम्बद्धताहीन बहुलता होने पर भी उसे सहीतौर पर स्वात्म नही समझा जाता अपितु अनेको स्वात्मो का समुदाय ही समझा जाता है।

लेकिन साथ ही साथ इस प्रकार के कथन के गलत माने भी लगाये जा सकते हैं। इन गलतफहमियो मे से कुछ की गिनती यहाँ कर देना ठीक होगा उदाहरण-

स्वरूप हमे यह न मान लेना चाहिये कि निरपेक्षगत सकलव्यष्ट आवश्यकरूपेण सामाजिकतया परस्पर प्रत्यक्षत. सम्बद्ध है। क्योकि सामाजिक संबध अगर सही बात कही जाय तो उन्ही जीवो मे सभाव्य होता है जो समान-शील-व्यसन होते हे अर्थात् जिनके हित ऐसे कुछ एक दूसरे के हितो से मिलते-जुलते हुए होते है कि उनके द्वारा उनमे अन्त सचरण की गु जायश रहती है और वे पारस्परिक सहकार द्वारा उस सर्वसामान्य हित या प्रयोजन की सिद्धि किया करते है। इसके अतिरिक्त हमारा अपना अनुभव हमे सिखाता है कि अस्तित्व का वह क्षेत्र जिसके साथ हमारा इस प्रकार का सबध है सीमित होता है। मानव जाति की सीमा रेखाओ के भीतर भी हममे से प्रत्येक का अपने अधिकाश साथियो के साथ का सामाजिक सबध अप्रत्यक्ष प्रकार का ही होता है और यद्यपि सभ्यता के प्रगति के साथ-साथ उन सबधो का क्षेत्र भी दिनो दिन विस्तृत होता जाता है फिर भी यह देखने को बाकी रह जाता है कि क्या 'विश्व बन्धुत्वमय' समाज का आदर्श कभी पूरा हो सकेगा या नही। वैषयिक अभिरुचि के बृहत्तर वैभिन्न के कारण मानवेतर-प्राणि-जगत् के साथ हमारे सबध प्रारम्भिक प्रकार के ही होते हे और जिसे हम अचेतन प्रकृति समझते है उसके साथ जैसाकि हम देख चुके ह, हमारा प्रत्यक्ष या सीधा सामाजिक सबध जुड सकना—लगभग असभव ही है।

मानवेतर प्राणियो मे भी नि सदेह हमे प्रारम्भिक सामाजिक प्रकार के सबध देखने को मिलते हे लेकिन मिलते फिर भी अपेक्षतया सकीर्ण सीमान्तर्गत ही है। विभिन्न वर्ग तथा समूह मुख्यतया एक दूसरे के प्रति उदासीन ही पाये जाते हे और इस सम्भावना को असिद्ध करने के हमारे पास कोई साधन नही कि विश्व मे ऐसे भी बहुत से सामाजिक समूह हो सकते ह जिनका सगठन हमारे मानव समुदायो के सगठन के समान अथवा उससे भी श्रेष्ठतर है किन्तु उसकी शैली हमारे सगठन की शैली की इतनी विजातीय प्रतीत होती हे कि उसके साथ कोई प्रत्यक्ष पारस्परिक सचार—इतने प्रारम्भिक प्रकार का भी नही कि जिससे उसका अस्तित्व तक सिद्ध किया जा सके, सम्भव नही होता। तब हमे इस सभाव्यता के अस्तित्व को मानने के लिये तैयार रहना ही होगा कि निरपेक्ष के अगभूत व्यष्टो के अनेको समूह होते है और उनमे से प्रत्येक समूह के सदस्यो मे परस्पर किसी न किसी तरह का प्रत्यक्ष सामाजिक सबध होता हे पर किसी एक समूह का किसी दूसरे समूह के सदस्य के साथ कोई सबध नही होता।

और फिर हमे यह भी नि सदेह याद रखना होगा कि स्वय सामाजिक समूहो मे भी रचनात्मक जाटिल्य के मात्रात्मक वैविध्य की बहुलता हो सकती है।

दूसरी ओर यदि हम निरपेक्ष को एक समाज मानें तो हमे उस अर्थगर्भता से बचना होगा जो मानव समाजो की इस झूठी कल्पना से तुरन्त पैदा हो सकती है कि निरपेक्ष का

एकत्व एक कल्पनात्मक जल्पना मात्र है अथवा हमारा अपना 'एक दृष्टि' मात्र जिसके आधार पर जो कुछ है उसे वस्तुत पृथक् एकत्वो का वाहुल्य ही समझा जाता है। उन पुराने अणुवादी सिद्धान्तो के अनुसार जो समाज को वस्तुत स्वतत्र 'व्यक्तियो' या 'व्यष्टो' का झु ड मात्र समझते है यह भी सन्देहास्पद है कि इस अभिमत के परित्याग का अर्थ हम समझते भी है या नही । समाज के निर्मायक स्वात्मो को, कम से कम तत्वमीमासा मे तो ऐसा समझने के आदी से होते जाते है मानो वे हमे प्रत्यक्ष अनुभूति के साथ एक दूसरे के पूरक की अपेक्षा कही एक दूसरे के दूरक रूप मे ही अधिकतर प्राप्त हुए हो। दूसरे शब्दो मे, अनुभूति के उन दोनो ही उपलक्षक रूपो मे से जिनसे स्वात्म की कल्पना उत्पन्न हुई प्रतीत होती है अर्थात् हमारे व्यक्तिनिष्ठ हितो और पर्यावरण के वीच के सघर्ष तथा असम्वद्धता के अपसारण मे से अपनी तत्वमीमासा मे हम, दूसरे रूप की अपेक्षा पहले रूप पर कही ज्यादा ध्यान देते है और दूसरे की उपेक्षा किया करते है। लेकिन ताथ्यिक जीवन मे तो यह दूसरा रूप ही दूसरे लोगो के साथ हमारे सबधो मे प्रधान रहता है। हम जो कि सहकारिता के एक पदार्थ है—सारे ही मानव-जगत् की भाषा और विचारान्तर्गत मैं या तू से किसी हालत मे भी कम मौलिक महत्व नही रखता जबकि यह दोनो ही परस्पर वहिष्कार विषयक पदार्थ है। यह वात कि मैं और आप दोनो ही सामान्य हितों वाले इस विस्तृततर समग्र मे एक दूसरे का पूरक वस्तु है मानव जाति ने उतने ही पहले खोज निकाली थी जितने पहले कि यह वात उसने ढूंढ ली थी कि हमारे निजी हित और दृष्टिकोण सदा एक दूसरे से टकराया करते है ।

यदि अस्तित्व को ही हम समाज कहे तो हमे यह याद रखने की सावधानी वरतनी होगी कि किसी समाज की वैयक्तिक एकता वैसा ही अनुभूति-विषयक तथ्य है जैसाकि तदगीभूत व्यष्टों अथवा सदस्यो की वैयक्तिक एकता का तथ्य और यह कि निरपेक्ष को हम स्वात्म की अपेक्षा समाज कहना ज्यादा पसन्द करते है तव हमारा इरादा यह नहीं होता कि हम वैयक्तिक अनुभूति रूप मे उसकी पूर्ण आध्यात्मिक एकता पर सन्देह करना चाहते है। इन प्रतिवन्धो के साथ यह कहना उचित ही होगा कि यदि निरपेक्ष को निर्गुण अथवा निर्विशिष्ट समाज नहीं कहा जा सकता तो कम से कम मानव समाज के रूप मे एक ऐसा श्रेष्ठतम सादृश्य प्राप्त हो जाता है जिसके अनुसार हम ठोस कल्पनात्मक रूप मे व्यवस्थित एकत्व का प्रतिरूपेण करने का प्रयत्न कर सकते है। इसी को दूसरे रूप मे यो रख सकते है कि यथार्थ मानव समाज तदगीभूत स्वात्मो मे से किसी भी स्वात्म की अपेक्षा उच्चतर रचनात्मक प्रकार का व्यष्ट है और इसीलिये वह निरपेक्ष जैसी अन्तिमेत्थतया पूर्ण व्यवस्था की सरचना का अधिक पर्याप्तरूपेण प्रतिनिधित्व करता है।

यही वात हमे अधिक विशिष्ट रूप मे तव दिखाई पडती है जब हम किसी समाज के उच्चतर स्वातत्र की तुलना समाज के किसी सदस्य के स्वातत्र्य से करते है। नि सदेह यह

ही है कि कोई भी मानवसमाज वाह्य पर्यावरण के विना नही रह सकता किन्तु उस माज का अपने और प्रतिद्वन्द्वियो के वीच के वैपम्य से अवगत होना समाज के अस्तित्व लिये उतना आवश्यक नही जितना कि किसी एकल स्वात्म के अस्तित्व हेतु आव-यक है। जैसाकि काफी तौर पर हम पहले देख चुके है, मुझे अपने स्वात्मत्व का ज्ञान यानत दूसरे मानव स्वात्मो के साथ उसका तुलनात्मक वैपम्य देखकर ही प्राप्त होता है। यद्यपि स्वात्म विपयक मेरी धारणा की अन्तर्वस्तु विशुद्ध समाजपरक नही होती पर कम से कम इतना तो स्पष्टतया मालूम है ही कि उसके अनुपूरक वैसे ही अन्य स्वात्मो की उपस्थिति के विना मैं न तो उसे प्राप्त कर सकता हूँ न उसे अपने पास वनाये ही रख सकता हूँ। यद्यपि इतिहास हमे वताता है कि एक सर्वसामान्य राष्ट्रीय थाती (सास्कृतिक दाय) और राष्ट्रीय उद्देश्य की भावना विकसित करने मे विभिन्न समाजो के मध्यगत युद्धादि सवधो का कितना वडा हाथ होता है फिर भी जव कोई समाज एक वार प्रगति पथ पर अग्रसर हो जाता है तो वह वहुत करके अन्य समाजो की प्रतिद्वन्द्विता अथवा सहकारिता आदि प्रेरक भावनाओं की लगातार सहायता प्राप्त किये विना ही फलता-फूलता रह सकता है। यदि किसी एक अकेले व्यक्ति को किसी रेगिस्तानी द्वीप पर एकाकी अवस्था मे छोड दिया जाय और वहुत दिनो तक ऐसे ही रहना पडे तो वहुत सभव है कि या तो वह पागल हो जायगा या पशु समान हो जायगा। यह समझ लेने का कि अन्य सभ्य समाजो से असम्वद्ध कोई भी अकेला सभ्य समाज, यदि उसका आभ्यन्तर संगठन काफी प्रौढ न हो तो विशुद्धत प्राकृतिक पर्यावरण के अन्तर्गत पनप नही सकता। भीतरी प्रौढपन और एकरूपता की परिणाम इस उच्चकोटि की आत्म-निर्भरता के आधार पर किसी सच्चे या सही समाज को एकल मानव स्वात्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर प्रकार का परिमित व्यष्ट मानने का कारण हमे मिल जाता है।

इस सारे ही विवाद का साधारण परिणाम यह प्रतीत होता है कि चरम सत्ता अब तक ज्ञात जिन दो रूपो मे रहती है उन दोनों ही रूपो—स्वात्म और समाज—में उस सत्ता के लाक्षणिक गुण, रचनात्मक एकरूपता तथा वाह्य स्थितियो पर अनिर्भरता, नही पाये जाते। अत दोनो ही को, स्वात्म को भी और समाज को भी परिमित आभास कहना होगा। अव चूँकि दोनो मे से समाज मे और पूर्णतर और उच्चतर व्यष्टता दिखाई पडती है इसलिये वह अवश्य ही अधिक सत्यतया वास्तविक है। हमने विश्व का एकल स्वात्म माना जाना असभव पाया था, किन्तु वहाँ हमने यह भी कहा था कि कुछ महत्वपूर्ण विशेषी-करण के वाद उसे विना कुछ अधिक गहरी गलती के समाज भी माना जा सकता है।[1]

---

१. मेरा अनुमान है कि ऐसे किसी भी अभिमत को जो परिमित स्वात्म की अन्तिमेत्थ वास्तविकता से इनकार करता है अव्यवहृत अनुभूति के तथाकथित प्रकटीभवन की

निश्चय अभी तक जो कुछ कहा गया है उसका परिणाम यह होगा कि हम उस तरीके के विषय में जिसके अनुसार सारी ही परिमित व्यष्ट अनुभूतियाँ मिलकर अपरिमित अनुभूतियों की इकाई का निरूपण करती है किसी अन्तिमत पर्याप्त सकल्पना का निरूपण नही कर सकते। अनुभूतियो के लिये इस प्रकार की पूर्ण एकता का निरूपण करना आवश्यक है यह बात हम अपने दूसरे खड मे देख चुके हैं, और उस एकत्व का निकटतम सादृश्य हम किसी समाज के एकत्व के रूप मे ही प्रस्तुत कर सकते है यह हमने इसी अनुच्छेद मे सिद्ध किया है। यह बात कि हमारे पास ऐसे कोई उच्चतर पदार्थ नही हे जिनके जरिए अच्छी तरह वह मार्ग दिखाया जा सके जिसके द्वारा सारा ही अस्तित्व अन्ततोगत्वा और भी अधिक पूर्ण एकत्व या इकाई का निरूपण करता है स्वय हमारी परिमितता का ही अनिवार्य परिणाम है। हम पदार्थों का निरूपण इसलिये नही कर पाते चूंकि परिमित जीव होने के कारण हमे तद्नुकूल अनुभूति की प्राप्ति नही होती। कम से

दुहाई का सामना करने की आशा रखनी पड़ेगी। सो ऽहम को अव्यहृतरूपेण निश्चित सत्य इस माने मे समझा जाता है कि मत्स्वात्म का अस्तित्व कोई ऐसी वस्तु है जिसका मुझे प्रत्यक्ष रूप से पता चेतना, के प्रत्येक क्षण मे रहता है। लेकिन ऐसा कहना तथ्यों को एकदम पलट देना है। निःसदेह अनुभूति की सत्ता विषयक तथ्य ऐसा तथ्य है जिसका सत्यापन उसके अस्तित्व से इनकार करने के परीक्षण द्वारा ही हो सकता है। इनकार स्वय ही एक भावित अनुभूति है किन्तु संभवतः (अ) यह सत्य नहीं कि स्वात्म के अनुगत प्रेक्षण के विना अनुभूति हो ही नहीं सकती और (ब) और यह तो बिलकुल ही सही नहीं कि अनात्म के वैषम्य रूप मे स्वात्म की भावना मात्र ही—जब भी वह हमे प्राप्त होती है—इतिहास और नीतिशास्त्र के स्वात्म द्वारा अभिप्रेत वस्तु होती है। इन विज्ञानो के स्वात्म में जो कुछ आविष्ट होता है वह सदा ही अनुभूति के किसी एकल क्षण मे प्राप्तव्य विषय से कहीं बहुत अधिक होता है। किसी सामान्य योजना के अनुसार जब हम अनुभूति के क्षणों को संबद्ध करते हैं तो वह एक आदर्श रचना ही के अनुसार ही सम्बद्ध करते है। किसी विज्ञान के लिये उस योजना की कीमत का अन्दाजा केवल उस सफलता से ही लगाया जा सकता है जिस सफलता से वह योजना अपना काम करती है और उसकी सत्यता केवल इसी बात से साबित नहीं हो जाती कि जिन तथ्यों को वह संयुक्त करना चाहती है वे वास्तविक तथ्य हैं। इस बात को अगर आप स्वय सिद्ध मान लें कि ऐसी कोई भी सरचना जो अनुभूत तथ्य के किसी पक्ष पर आधारित हो अवश्य ही वैध होगी, तो तत्त्वमीमांसा सब विज्ञानो मे एक सरलतम विज्ञान बन जायगी।

कम इस हद तक तो मेरा ख्याल है प्रत्येक गभीर दर्शन शास्त्र को यह कहकर कि हम इस मामले मे और ज्यादा नही जानते, नम्रतापूर्वक उपरत हो जाना ही चाहिये।

लोग कहते है कि भगवान मे भी भरा काला
चकाचौंध कर दे ऐसा गहरा अँधियाला।

यह एक ऐसा सत्य है कि जिसे तत्त्वमीमासक को, सत्य की चरम जिज्ञासा के बावजूद भूलना न होगा।

५—सम्भवत' यही वह स्थान जहाँ इस प्रश्न का कुछ जिक्र कर देना जरूरी है कि क्या स्वात्म ऐसा कोई स्थायी रूप है अथवा केवल एक अस्थायी रूप मात्र जिस रूप में वास्तविकता भासती या प्रकट होती है। लौकिक विचारानुसार यह प्रश्न सामान्यतया आत्मा के अमरत्व के रूप मे प्रस्तुत हुआ करता है। कभी-कभी प्रागस्तित्व के अमरत्व के रूप मे भी। किन्तु असली प्रश्न इससे भी लम्बा चौडा है और अमरत्व की बात तो उसका एक अनुपागिक पक्ष मात्र है। सामान्य प्रश्न के विपय मे हम सक्षेप मे ही कुछ कहेगे साथ ही विशिष्ट प्रश्न पर भी, यद्यपि विशिष्ट प्रश्न के विपय मे हम जो कुछ कहेगे वह केवल उस दिशा का सकेत करेगा जिस दिशा मे विचार आगे वढना चाहिये। हमारा उद्देश्य किसी तरह के तद्विपयक परिणाम की ओर सकेत करना नही है। इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग मे किये गये विचारविमर्श के बाद अव स्वात्म के अस्थायी रूप से इनकार करना मेरे ख्याल से, सभव न हो सकेगा। हमने वहाँ कहा था कि कोई भी स्वात्म, हित और प्रयोजन के साध्यपरक सातत्य के कारण ही एक और वही एक हुआ करता है किन्तु उसमे ठीक कितना विचलन उसके उस सातत्य का नाश करने के लिये पर्याप्त होगी और उसे नष्ट किये बिना कितना वर्तमान रहेगा यह सब किसी सामान्य नियम द्वारा निर्धारित कर सकना हमने असभव पाया था। फिर भी लगता था कि वैय-क्तिक विकास विपयक तथ्य यह स्पष्ट कर देगे कि नये स्वात्म—अर्थात् ससार सबधी अभिरुचि के नये अनन्य रूप—कालीय प्रक्रिया के अन्तर्गत ही जन्म लेते है और पुराने स्वात्म लुप्त हो जाते है।

और फिर मानसिक रोग विज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान दोनो ही के आधार पर किसी एकल पुरुप के जीवन वृत्त से उन स्वात्मो के निरूपण और लोप के उदाहरण प्रस्तुत करना हमे आसान मालूम हुआ। जिन स्वात्मो को उस पुरुप के शेप जीवन से किसी अनुभूत हितात्मक सातत्य द्वारा सवद्ध मान सकना असभव प्रतीत होता था। बहुल व्यक्तित्व और प्रत्यावर्ती व्यक्तित्व के मामले मे हमे इस बात का साक्ष्य मिलता प्रतीत हुआ था कि इस प्रकार के स्वात्मो का बाहुल्य नियमपूर्वक प्रत्यावृत हो सकता है अथवा उसी शरीर के सवध के साथ ही सह-वर्तमान भी रह सकता है। हमारे स्वप्नो के न था जागृत जीवन की अस्थायी अवधियो के गतागत स्वात्मो के, कुछ कम चुभने

वाले पर अधिक परिचित उन मामले, जहाँ हमारे हित और चरित्रो का आपवादिक उत्तेजनाओं द्वारा स्थायी रूप से नही—रद्दोबदल होता रहता है सिद्धान्तत उसी श्रेणी के होते है। सक्षेप मे जब तक कि आए प्रयोजनात्मक सातत्य की उस उतनी सी नगण्य मात्रा से जो भीसारियो की भीख जैसी लगती है, और केवल नाम मात्र ही सतुष्ट नही हो जाना चाहते तब तक आपको जबरदस्ती यह निष्कर्ष निकालना ही होगा कि मनस्तत्वीय घटना-क्रम मे स्वात्मो का उद्गमन और लोप सतत घटित होते रहनेवाला तथ्य है। नि सदेह हमारे हितो और प्रयोजनो का आम्यन्तर सगठन जितना ही उच्चतर होगा हमारा स्वात्म उतना ही अधिक स्थिर तथा परिस्थितियो के उतार-चढाव से उतना ही कम प्रभावित होता जायगा। किन्तु ऐसे स्वात्म को जो एकदम स्थिर हो तथा परिस्थितियो द्वारा अपरिवर्त्य भी, हमने एक असिद्ध आदर्श ही पाया था और अपने इस तत्त्वमीमासीय निश्चय के आधार पर कि केवल निरपेक्ष समग्र ही पूर्णतया आत्म निर्धारित होता है हम कह सकते है कि वह आदर्श असाध्य भी है। तब हमे मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुँचना पडता है कि स्वात्म की स्थायी तद्रूपता मात्रात्मक होती है और यह कि हमे यह दावा करने का कोई हक नही कि किसी जैवतत्र के समरूप स्वात्म का न तो एकल होना ही जरूरी है न सतत होना। अपने जन्म तथा अपनी मृत्यु के बीच की अवधि तक मे भी मेरे लिये अपने पुराने स्वात्म को खो देना और नया स्वात्म प्राप्त कर लेना सभव है। साथ ही यह भी सभव है कि एक से अधिक स्वात्म मै प्राप्त कर सकूँ और एक ही समय मे वैयक्तिक सरचना की विभिन्न मात्राओ वाले स्वात्मो का अधिग्रहण कर सकना भी मेरे लिये सभव है। हम ऐसी कोई निश्चित कसौटी भी निर्धारित नही कर सकते जिसके जरिये सभी मामलो मे यह तय किया जा सके कि मनस्तत्वीय घटनाओ की किसी विशिष्ट शृखला के बीच स्वात्म एक ही और तद्रूप ही रहा या नही। हम इस सामान्य दावे कि हमारे विभिन्न हित और प्रयोजन जितने ही पूर्णतया व्यस्त रहेगे उतनी ही स्थायी हमारी स्वात्मता भी होगी और आगे नही जा सकते।[1]

उपर्युक्त विचारो का एक महत्वपूर्ण प्रभाव भावी जीवन के उलझे हुए प्रश्न पर पड़ता है यदि ये विचार उचित हैं तो स्वात्म की प्रकृति को देखते हुए उसकी अक्षरता कोई निश्चयात्मक प्रदर्शन हम उससे नही पा सकते। और इसलिये यह माग करना भी

---

१. यही कारण है जिससे प्लैटो का, बुद्धिमान मनुष्य के स्वप्नो पर उसकी श्रेष्ठता के साक्षी के रूप मे जोर देना उचित प्रतीत होता है। (रिपब्लिक, बुक ९, पृष्ठ ५७१) प्लैटो का आदर्श बुद्धिमान पुरुष वह है जिसका आभ्यन्तर जीवन इतना पूर्णतः एकीभूत होता है कि सुषुप्ति और जागृति की दोनो ही अवस्थाओ के बीच प्रयोजनात्मक सातत्य उसमे बना रहता है। लॉक के प्रश्न का सभवतः प्लैटो यही

व्यर्थ होगा कि दर्शन शास्त्र ही सब स्वात्मो के स्थायित्व को सिद्ध करे। दूसरी ओर यदि किसी स्वात्म का स्थैर्य अन्ततोगत्वा उसकी अपनी आभ्यन्तर प्रयोजनात्मक एकता का ही कार्य हो तो ऐसा कोई भी प्राग्ज्ञात आधार यह मान लेने का नही है कि शरीर की मृत्यु भौतिक घटना से यह एकता अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये और इसलिये मृत्यु के उपरान्त स्वात्म को भी नष्ट हो जाना चाहिये इस प्रकार तत्वमीमासीय के हेतु समस्या सभावनाओ के सतुलन मे परिवर्तित होती प्रतीत होती है और जिन बातो पर ध्यान देने की जरूरत मालूम देती है उनके उदाहरणस्वरूप इस एक बात की जाँच कर लेना उचित होगा कि कौन सी सभाव्य युक्तियो को किस पक्ष का आधार बनाया जा सकता है।

निषेध पक्ष मे, यदि हम, कट्टर भौतिकतावाद के असिद्ध दावो को छोड देते है और जैसाकि उन्हे उचित रूप से छोडा भी जा सकता है तो हमे इस सभाव्यता का भी ध्यान रखना पडेगा कि जहाँ तक हमे ज्ञात है हमारे वर्तमान जीवन के सिलसिले के हितो और प्रयोजनो से सतत सम्बद्ध वैयक्तिक अनुभूति के अस्तित्व हेतु शरीर का अस्तित्व एक आवश्यक शर्त हो सकता है साथ ही ऐसे शरीर का अस्तित्व मृत्यु के उपरान्त अस्तित्व के अनुभवाश्रित सकारात्मक साक्ष्य के अभाव की भी आवश्यक शर्त हो सकता है किन्तु यह विचार निश्चयात्मक नही प्रतीत होते। पहली बात के बारे मे मुझे तो नही सूझता कि हम कैसे सिद्ध कर सकते है कि शरीर शब्द के जिन मानो मे उपर्युक्त युक्ति मे शरीर के अस्तित्व की माग की गयी है उन मानो मे शरीर का मौजूद रहना कैसे अनिवार्य हो सकता

जवाब देता कि जाग्रत सुकरात और सुषुप्त सुकरात एक ही व्यक्ति होता है और उसके उन दोनो व्यक्तित्वो को सादृश्य सुकरात की आपवादिक या विशिष्ट बुद्धिमत्ता और सद्गुणित्व का प्रमाण है।

अगर यह समझा जाय कि कम से कम दो स्वात्मो मे से एक स्वात्म के भीतर एक साथ सहवर्तिता अकल्पनीय है तो मै पाठको से इस बात का ख्याल रखने का अनुरोध करूँगा कि स्वात्म मे उससे कही बहुत अधिक सम्मिलित रहता है जितना कि मनस्तत्वीय तथ्य की वास्तविक तथ्यवस्तु के रूप मे किसी एक क्षण मे प्राप्त होता है। किसी भी क्षण में स्वात्म को अधिकाशतः असिद्ध प्रवृत्तियो से बना मानना आवश्यक है और जहाँ तक अन्तिमेत्थतया असम्बद्ध प्रवृत्तियाँ मेरे समग्र स्वरूप या प्रकृति की अश है वहाँ तक यह कहना सहेतुक प्रतीत होता है कि मेरे एक ही साथ, एकाधिक स्वात्म है। अन्ततोगत्वा निःसदेह इस विचार रेखा पर चलते हुए हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि मेरी सकल प्रकृति स्वय ही केवल सापेक्षतया एक समग्र है।

है। नि सदेह यह सही है कि किसी एक व्यक्ति या व्यष्ट की अनुभूति के दोनो ही पहलू एक सद्य साध्यपरक उपक्रम का, और दूसरा पहले ही से स्थापित उपयोगिनी प्रतिक्रियाओ के पूर्वत' व्यवस्थापित रहना जरूरी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियो का परस्पर समागम स्थायी अभ्यास की उपर्युक्त व्यवस्था के माध्यम द्वारा ही सभव है। जैसाकि हम पहले ही समझ चुके है। हम जिसे शरीर नाम से पुकारते है वह स्वभावगत ऐसी प्रक्रियाओं के एक कुलक का नाम है जिनके माध्यम से मानवीय समाजो के विभिन्न सदस्यो के बीच पारस्परिक सचार सभव हुआ करता है अत यदि 'शरीर' शब्द का ऐसा सामान्यीकरण करे कि जिससे वह शब्द किसी समाज के निर्मायक व्यक्तियो के बीच पारस्परिक सचार के माध्यम का काम देने वाली आभ्यासिक प्रतिक्रियाओ की किसी व्यवस्था का द्योतक बन जाय तो हमारा यह कथन उचित ही होगा कि स्वात्म के अस्तित्व के लिये शरीर का होना अनिवार्य है। लेकिन यह सिद्ध कर सकना असभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार के सचार-माध्यम की सभाव्यता उन प्रतिक्रियाओं की विशिष्ट व्यवस्था के विघटन से मिट जाती है जो हमारे समागम का वर्तमान माध्यम है। वर्तमान शरीर के विघटन का अर्थ शायद परिवर्तित प्रकारो वाली आभ्यासिक प्रक्रियाओ के अधिग्रहण से अधिक और कुछ नही है। यहाँ प्रकार शब्द से हमारा अभिप्राय उन प्रकारो से हैं जो हमारे समाज के सदस्यों के पारस्परिक सचार का काम अब नही कर पाते लेकिन जो बुद्धियुक्त जीवो के अन्य समूहो के साथ सचार स्थापित करने की एक प्रारम्भिक विवृत्ति अब भी हो सकती है।

शरीर की मृत्यु हो जाने के बाद उसका अस्तित्व रहता है या नही इस बात के अनुभवाधारित साक्ष्य के अभाव के विषय मे यही कहा जा सकता है कि कुछ लोग कम से कम ऐसे मौजूद है जो हमारे बीच से चले गये लोगो के लगातार वर्तमान रहने के प्रमाण के स्वामी होने का दावा करके तथाकथित ख्याति कमाना चाहते है। जब तक कि निष्पक्ष सग्रह और परीक्षा द्वारा इन तथाकथित तथ्यो की सही जाँच नही हो जाती तब तक मेरे ख्याल से, उनके प्रामाण्या-प्रामाण्य के विषय मे कोई राय कायम नही की जा सकती। अत' यहाँ मैं केवल 'प्रेतविद्या' द्वारा प्रस्तुत तथाकथित साक्ष्य के विषय मे एक ही बात कहूँगा यह तो स्पष्ट ही है कि केवल उस प्रकार का सातत्य ही सही तौर पर स्वात्म का जीवनातिशय्य कहा जा सकता है और नि सदेह केवल उसी प्रकार का सातत्य ही हमारी रुचि का विषय भी होना चाहिये, जिसमे मृत्यु के बाद वे हित और प्रयोजन जिनसे हम पहचाने जाते थे कायम रहे। जब तक कि आत्मा अपने पार्थिव जीवन, लक्ष्यो और हितो के साध्यपरक सातत्य को स्थिर रखने के लिये लगातार नही जिए जाती तब तक कब्र के बाद स्वात्मत्व के सातत्य का कोई यथार्थ विस्तार होना नही माना जा सकता। अत. 'अमरत्व' के प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया जाने वाला साक्ष्य, जब तक

अस्तित्व के तारतम्य मृत्युपरान्त भी जारी रहने के साक्ष्य के साथ हितों और प्रयोजनों के भी उसी प्रकार लगातार जारी रहने का भी साक्ष्य प्रस्तुत नही करता तब तक वह वास्तव मे निरर्थक साक्ष्य ही है। जो पाठक लौकिक अध्यात्मवाद के 'प्रपच' से परिचित हैं तो इस उपर्युक्त विमर्श का विनियोग स्वय भी कर सकने मे समर्थ हो सकेंगे।[1]

इस प्रश्न के निश्चयात्मक पहलू की ओर जब हम आते है तो यह कहना जरूरी मालूम देता है कि ऊपर जिन निषेधपक्षीय बातो की चर्चा हमने की है वे अमरत्व को एक सही तथ्य मानने के किसी दृढ आधार के मौजूद रहने पर, उसे असिद्ध बना सकने के लिये यद्यपि पर्याप्त नही है फिर भी जब तक अमरत्व को स्वीकार करने का कोई निश्चयात्मक दृढ कारण हमारे पास न हो तब तक उसे न स्वीकार करने के लिये वह एक पर्याप्त आधार है। इस तरह की वस्तुस्थिति का कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य हमारे पास न होना तथा उस वस्तुस्थिति को सविवरण प्रस्तुत कर सकने का हमारी किंकर्त्तव्यविमूढता ऐसा तर्कानुमोदित अच्छा आधार उस हालत मे उसके अस्तित्व से इनकार करने का न होगा, जबकि गम्भीर दार्शनिक नियम उसकी माँग कर रहे हों। दूसरी ओर यदि उस पर विश्वास करने का कोई कारण न हो और उसके विरुद्ध मे अच्छे पर अनिर्णायक सभाव्य कारण ही हो, तो अस्थायी अथवा आरजी अनन्तिम रूप से नकारात्मक परिणाम पर पहुँचना हमारे लिये अनिवार्य होगा।

तब हाल मे ही विनृष्ट नकारात्मक बातो के विरुद्ध प्रस्तुत करने के कोई दृढ सकारात्मक आधार हमारे पास है भी ? हाल ही मे शुरु की गयी जाँच के परिणाम जब तक नही निकलते तब तक इस बारे मे भरोसे के साथ कुछ कह सकना कठिन है। फिर भी तद्विषयक साहित्य के अध्ययन से आरजी तौरपर इतना कह सकने की छूट हमे मिलती है कि कम से कम पाश्चात्य जगत् मे यह धुँधली-सी भावना काफी जोर पकड चुकी है कि ऐसा जीवन जिसके मृत्युपरान्त भी जारी रहने की उम्मीद न हो असन्तोषप्रद ही होगा। यद्यपि यह भावना अनेक रूपो मे प्रकट होती है फिर भी उन सब रूपो का एक ही मूल से उद्भूत होना सिद्ध हो सकता है जैसाकि हमे मालूम है साधारणतया किसी साध्यपरक हित का अन्त उसकी सिद्धि द्वारा किया जा सकता है। हमारे प्रयोजनो का परिणाम जब हमे प्राप्त हो जाता है तब उन प्रयोजनो का अन्त हो जाता है और हमारा स्वात्म उस हद तक जहा तक उनके प्रयोजन पूरे हो जाते है परिवर्तित हो जाता है। (और अनुषगितया इससे हमे फिर से यह जान सकने मे सहायता मिलती है कि असन्तुष्टि और अपूर्णता परिमित स्वात्म के लिये परम आवश्यक है। परिमित स्वात्म जीवित ही रहता है

---

१. तुलना कीजिए, दिसम्बर १८८५ के 'फोर्टनाइटली रिव्यू' मे प्रकाशित श्री ब्रैडले के अमूल्य निबन्ध 'एविडेन्स ऑव स्पिरिचुअलिज्म' से।

वास्तविकता से विचार विभाजन पर और सकल्प को क्रियान्वन से दूर रखने पर। यदि दोनो एक हो जायं तो स्वात्म के लिये आवश्यक वह प्राणवायु ही खत्म हो जाय, जिसके वल पर वह जिन्दा रहता है। अत' यदि मौत हमारी अनुभूति मे सदा ही एक ऐसे स्वात्म के जो भुक्त-भोग और लब्ध लक्ष्य हो चुका है, रूप मे आया करती तो मृत्युपरान्त जीवन की इच्छा करने और उस पर विश्वास करने के लिये किसी तरह की प्रेरणा शेष न रहती। लेकिन यह एक परिचित तथ्य है कि मृत्यु असिद्ध योजनाओं और अपूर्ण कार्यों के पूरा होने देने की हिंस्र और तर्कहीन वाधा के रूप मे ही सदा आया करती है। उसके आने पर स्वात्म इसलिये नही गायब होता चूंकि विश्वरगमच पर उसकी भूमिका समाप्त हो चुकी होती है और उसका काम पूरा हो चुका होता है वल्कि इसलिये कि वह एक बाहरी दुर्घटना का शिकार हो चुका होता है। मेरा ख्याल है कि विश्लेषण द्वारा उन विविध विशिष्ट रूपो के पीछे जिन्हे अमरत्व की इच्छा ग्रहण किया करती है, जैसे कि टूटी हुई मित्रता के पुनर्नवीकरण की प्रवल इच्छा तथा अधूरे कार्यो को पूरा करने की प्रवल लालसा आदि, अन्तर्हित सामान्य नियम के रूप मे, वाह्य पाशविक दुर्घटना द्वारा वौद्धिक प्रयोजन की ऊपर से ही दीखाई पडनेवाली पराजय के प्रति जागृत हो पडनेवाली रोप की भावना दिखायी पड़ सकती है।[1]

विवाद की आधारस्वरूप इस भावना की तर्कशास्त्रीय अर्हता क्या है? हमारा यह कहना उचित होगा कि एक ओर से तो यह भावना एक गम्भीर नियम पर आधारित है क्योकि वह उस धारणा या विश्वास का मूर्त रूप है, सकल दर्शन शास्त्र ही जिसकी व्याख्या है अर्थात् इस विश्वास का कि वस्तुजगत् एक ऐसी एकरूप व्यवस्था है जिसमे तर्कहीन दुर्घटना के लिये कोई भूमिका ही निर्धारित नही है। अगर सारी सच्चाई को हम कही देख पाते तो हमे पता चल जाता कि हमारी सारी ही आकाक्षाओ की कही भी और कभी भी ऐसी अन्तिम पराजय नही हो सकती जिसका कोई इलाज ही न हो सके। सभी आकाक्षाये किसी न किसी तरह पूरी हो ही जाती है। दूसरी ओर हमे यह याद रखना होगा कि वास्तविकता की प्राप्ति

---

१. यद्यपि मृत्यु वौद्धिक प्रयोजन के कार्य में दुर्घटना द्वारा किये जाने वाले प्रकटतः अवौद्धिक हस्तक्षेप के उदाहरणों के रूप मे मृत्यु यद्यपि सबसे ज्यादा चमत्कारी उदाहरण है तो भी इस बात का वही एकमात्र उदाहरण नहीं है। मानसिक अथवा शारीरिक विकलांगता, यहाँ तक कि प्रतिकूल वाह्य दुर्भाग्य का भी स्वात्म इतना ही प्रभावित कर सकते हैं। सामान्य समस्या पर विचार करते समय इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

तक प्रयत्न करते रहने की आकाक्षा के आधार के अतिरिक्त उपर्युक्त विवादोक्ति और भी आगे वढकर न केवल यह दावा ही करने लगती है कि हमारी आकाक्षाएँ किसी न किसी तरह पूरी हो ही जाती है और अवूरा काम भी पूरा हो जाता है वल्कि वह यह भी कहने लगती है कि उक्त प्रकार की पूर्तियाँ ठीक उसी तरीके से होती है जिस तरह पर अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार हम चाहते थे और इस वात की सपुष्टि करने से यह विवादोक्ति उस निष्कर्ष से भी आगे वढ जाती है जहाँ तक कि दर्शनशास्त्र के प्राथमिक नियमों के अनुसार हम पहुँच सकते है।

हो सकता है कि अगर विश्वयोजना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि कम दोषपूर्ण होती तो हम शायक ठीक उसी तरह पूर्ति के इस विशिष्ट रूप की इच्छा न करते, जिस तरह कि यौवन प्राप्ति के वाद हम उस प्रकार के जीवन की इच्छा छोड देते है जिस प्रकार का जीवन वचपन मे हमारी खुशी का आदर्शीय लक्ष्य हुआ करता था।

किसी व्यक्ति के जीवन भर का काम उसके वचपन की कल्पनाओं की सिद्धि रूप हो सकता है पर वह कार्य उन स्वप्नो के उस रूप की सिद्धि नही करता, वचपन मे जिसकी कल्पना करता है। प्रकल्पतया तव यही वात भावी जीवन विषयक हमारी वाञ्छा के वारे मे भी घट सकती है। इसके अतिरिक्त निश्चय ही, भावनाधारित विवादोक्ति की तर्कशास्त्रीय अर्हता का, किसी हद तक स्वय उस भावना की विश्वजनीनता तथा सततता पर निर्भर होना भी आवश्यक है। विशिष्ट परम्पराओं तथा प्रशिक्षण के प्रभावो द्वारा अधिकतर निर्मित वस्तु को ही मानवता की मौलिक आकाक्षा मान लेने की गलती नही करना है। अत भावनाधारित निष्कर्ष की अर्हता का सही अन्दाजा तव तक नही लगा सकते जव तक कि हमे इन दोनो वातों का पता न हो कि वह भावना हमारे समाज मे किस हद तक वस्तुतः घर कर चुकी है और इस वात का कि हमसे भिन्न विश्वासों और परम्पराओ वाले अन्य समाजो ने वह भावना किस सीमा तक मौजूद है। उदाहरणत ईसाई सभ्यता की भावना ऊपर से ही विरुद्ध प्रतीत होनेवाली भावनाओ जैसे ब्राह्मणो और वौद्धो की भावनाओं के मुकावले मे, स्वत मानवजाति की सार्वत्रिक भावना के साक्ष्य रूप मे ग्रहण नही की जा सकती।

तव मुझे यह नतीजा निकालना चाहिये कि भविष्य जीवन की समस्या को तत्वमीमासा के लिये खुला ही छोड देना आवश्यक है, क्योकि भावी जीवन के अस्तित्व के विपय मे हम एक भी वैध तत्वमीमासीय युक्ति पेश कर सकने मे असमर्थ प्रतीत होते है लेकिन दूसरी ओर नकारात्मक पूर्वकल्पनाएँ भी अविश्वास्य प्रतीत होती है। इस मामले मे डाक्टर मैकटगार्ट के सुन्दर शब्दो मे कहा जाय तो दर्शनशास्त्र

'हमे आशा बँधाता है।'[1] और अपनी तौर पर मुझे भी यही लगता है कि वह इससे ज्यादा और कुछ कर भी नही सकता। सभवत 'ला सैसियाज' मे ब्राउनिग ने जैसा सुझाव दिया है व्यावहारिक जीवन के हित के लिये यह उचित भी नही कि वह इससे ज्यादा कुछ करे। और इस प्रश्न को पाठको के लिये यही छोड देना मुझे उचित मालूम देता है। केवल एक परीक्षात्मक सुझाव ही मैं यहाँ पाठको के अनुमोदनार्थ या त्यागार्थ दे रहा हूँ। चूँकि हम जान चुके है कि स्वात्म का स्थायित्व अधिकतया उसकी आभ्यतरीय सरचनात्मक एकरूपता की मात्रा पर निर्भर होता है इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि स्वात्म के रूप मे उसका अपने पार्थिव जीवन के उस पार तक भी बना रहना उसी शर्त पर सभव हो सकता है। प्रकल्पतया स्वात्म मृत्यु से भी उसी तरह अतिजीवी हो सकता है जैसे कि वह भौतिक घटनाक्रम के अन्य लघुतर परिवर्तनो मे से तब अक्षुण्ण रूप मे निकल आता है जब उसका एकत्व और प्रयोजनिक एकरूपता प्रबल होती है अन्यथा ऐसा हो सकना सभव नही होता। अगर बात ऐसी ही हो तो भावी अस्तित्व कोई ऐसा दाय न होगा जिसका उत्तराधिकारी बनना वैसा समय आने पर हमारे लिये सुरक्षा का विषय हो बल्कि वह एक ऐसी विजय मात्र होगी जिसे हम जीवन की कठिन तपस्या तथा अध्यवसाय द्वारा, एक विपुल नियत्रित, एकरस, नैतिक आत्मत्व की प्राप्ति के रूप मे पायेगे। और इस प्रकार भावी जीवनविषयक वह विश्वास जो इस प्रकार के तापस जीवन के प्रेरकरूप मे कार्य करता है, स्वय भी अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकने का एक साधन बन जायगा। बात ऐसी ही है—इसका निश्चित दावा कर सकना असभव है पर हम इससे भी इनकार नही कर सकते कि मामला ऐसा भी हो सकता है और समस्या को यही छोड देना मेरे लिये उचित होगा।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए दी बोसाक्वेट लिखित 'सायकॉलॉजी ऑफ दि मौरेल सेल्फ', लेख ५, एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपियरेन्स एण्ड रियलिटी,' अध्याय

---

१. डा० मैकटगार्ट का यह पदांश उनके मत की अपेक्षा मेरे मत को कहीं अधिक पर्याप्तया व्यक्त करता है। उसके मतानुसार 'अमरता' दार्शनिक प्रमाणो द्वारा सिद्ध की जा सकती है। (देखिये उनकी 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलॉजी' नामक पुस्तक का द्वितीय अध्याय) मैने पहले ही बता दिया है कि मै इस स्थिति को क्यो नहीं स्वीकार कर सकता। मेरा ख्याल है कि इस स्थिति से हुई डा० मैकटगार्ट की तुष्टि अवश्य ही कुछ अंश मे इस प्रश्न के न उठाये जाने के कारण ही सभव हो सकी है कि वह क्या वस्तु है जिसे वे निरपेक्ष का 'मौलिक विशिष्टीकरण' घोषित करते है।

९, (दि मीनिंग्ज ऑफ सेल्फ) १०, (दि रीयालिटी ऑफ सेल्फ) २६, (दि एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अपीरियन्सेज—विशेषत अध्यायान्त, पृ० ४९९–५११, प्रथम सस्करण), २७, (अल्टिमेट डाउट्स), एल० टी० हॉबहाउस की थियरी ऑफ नालेज', पार्ट ३, अध्याय ५, एस० हाग्सन कृत 'मेटाफीजिक ऑफ एक्सपीरियन्स', बुक ४, अध्याय ४, ह्यूम कृत 'ट्रेटाइज ऑव ह्यूमन नेचर, पुस्तक १, भाग ४, सेक० ५, ६, डब्ल्यू० जेम्स कृत 'प्रिंसिपल ऑव सायकालॉजी', खड १, भाग ४ अध्याय १०, एच० लोट्जे लिखित 'मेटाफीजिक', बुक ३, अध्याय १ (विशेषत, सेक० २४५), ५, माइक्रोकास्मस, बुक ३, सी ५, जे० एम० ई० मैकटगार्ट कृत 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलाजी' अध्याय २ (डॉ० मैकटगा की अधिक विरोधी आलोचना के लिये—जिसका अनुमोदन मेरे द्वारा किया जाना केवल कुछ विशिष्ट विचार विन्दुओ को छोडकर नही माना जा सकता—देखिये जी० ई० मूर का लेख (प्रोसीडिंग्स एरिस्टोटेलियन सोसायटी, एन० एस०, वॉल्यूम २, पृष्ठ, १८८–२११), जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डुविजुअल', सेकेंड सिरीज़, ले० ६, ७।

अध्याय ४

नैतिक स्वातंत्र्य की समस्या

१—स्वतन्त्र या स्वेच्छ संकल्प विषयक तत्त्वमीमांसीय समस्या [illegible] दृष्टि से अति-नैतिक कठिनाइयों, विशेषत पूर्वतर इस्वी युग के [illegible] विचारों तथा आधुनिक जगत् की यान्त्रिकीय वैज्ञानिक कल्पनाओं के प्रभाव [illegible] उत्पन्न हुई। २-३—हमारी नैतिक अनुभूतियों के विश्लेषण से ज्ञात होता [illegible] सच्चे स्वातंत्र्य के अर्थ हैं साध्यवादीय निश्चयन । अत स्वतन्त्र होना और [illegible] करना समानार्थवाची बात है । स्वातंत्र्य अथवा 'आत्म निर्धारण' यथार्थ किन्तु [illegible] होता है और उसमे मात्रात्मक विचलन होना संभव होता है । ४—निश्चय [illegible] अनिश्चय दोनो ही इस झूठे पूर्वग्रहण से पैदा होते हैं कि पूर्ववर्तियों द्वारा [illegible] निश्चयन की यान्त्रिक अभिधारणा एक चरम तथ्य है । तब प्रश्न यह पैदा होता [illegible] क्या मानसिक घटनाएँ माने हुए नियम की अपवाद हैं । ५—निश्चयवाद, [illegible] युक्तियों का वर्णन । ६—उन युक्तियों का आधार अंशत यह पूर्वाग्रह है [illegible] निर्धारण ही तथ्यो के तर्कसंगत संयोजन का एकमात्र नियम है । ७—[illegible] आधार है मानस विज्ञानों के वास्तविक विधि-विधान विषयक [illegible] सिद्धान्त । इस युक्ति का कि मानवीय चरित्र के स्वरूप और उनकी परिस्थितियों [illegible] पूर्ण ज्ञान से हम मानव व्यवहार विषयक भविष्योक्ति कर सकते हैं, [illegible] पूर्वगृहीत दत्त ऐसे होते है कि स्वय उनकी प्रकृति द्वारा घटना से पूर्व उनका ज्ञान नहीं हो पाता । ८—अनिश्चयवादिता । अनिश्चयवादी जिन मनस्त्वीरा [illegible] दिया करता है वे उसके निष्कर्षों का अनुमोदन नहीं करते किन्तु [illegible] सीमामानुसार अनर्गल भी है क्योंकि उनमें तर्कसंगत अथवा युक्तिपरक [illegible] निषेध भी शामिल है । ९—दोनों ही सिद्धान्त साध्यवादीय [illegible] में संकरित कर देने की प्रारम्भिक गल्ती के बारे में एकमत हैं ।

१—नैतिक स्वातंत्र्य के अर्थ तथा वास्तविकता की समस्या [illegible] मानवजीवनपरक तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों में [illegible] प्रमुख प्रश्न माना जाता है । जैसाकि पाठकों को याद होगा [illegible] को अमरत्व तथा ईश्वरास्तित्व आदि के साथ नीतिशास्त्र की [illegible] अभिधारणाओं की सूची में शामिल कर रखा है और नैतिक [illegible]

मे यह विश्वास घर किये हुए है कि नीति विज्ञान स्वातन्त्र्य का, सिद्ध सत्य के रूप में न सही कम से कम एक अभिधारणा के रूप में ही प्रारम्भिक तत्त्वमीमासीय औचित्य प्रस्तुत किये बिना अपना काम शुरू नही कर सकता। अपने तईं, मै यह स्वीकार करता हूँ कि मैं मानवीय स्वातन्त्र्य विषयक तत्त्वमीमासीय जाँच की व्यावहारिक महत्ता को बहुत ऊचा स्थान नही दे सकता और विशुद्धतया नीतिशास्त्रपरक अनुसधानों के हेतु इसकी अपेक्षाधिकता के बारे मे प्रोफेसर सिजिविक की राय मे एकदम मिल गयी है।[1] साथ ही इस विषय का विशेष विवेचन किये बिना ही उसका उल्लघन अन्य कारणों से नही तो केवल उन श्रेष्ठ उदाहरणो के ही कारण असभव है जो यह विषय हमारे सामने झूठे तत्त्वमीमासीय सिद्धान्तो को नीतिशास्त्र पर लादने से उत्पन्न होनेवाली हानियो के बारे मे प्रस्तुत करता है तथा हमारे उस अभिमत के समर्थन के कारण भी, जो हमने प्राकृतिक विज्ञानो के यान्त्रिक कारणीय अभिधारणात्मक स्वरूप के विषय मे प्रकट किया है। स्वतन्त्रता के विषय मे उसके तत्वमीमासीय प्रश्न के रूप पर इस दृष्टिकोण से बहस करते समय मैं चाहता हूँ कि यह बात ठीक तरह से समझ ली जाय कि दो परिपृच्छाएँ ऐसी है जिन पर मैं बिल्कुल बहस ही नही करना नही चाहता हाँ आनुषगिक रूप से उनका जिक्र किया जा सकता है।

उनमे से एक है वह मनोवैज्ञानिक परिपृच्छा जो उन सही तत्वों के बारे मे उठायी जा सकती है जिन तत्वो मे, मनोवैज्ञानिक वर्णनार्थ किसी स्वेच्छा कार्य को विश्लेपित किया जा सकता है। दूसरी परिपृच्छा नैतिक उत्तरदायित्व की सीमाओ विषयक नीतिशास्त्रीय तथा विधिशास्त्रीय समस्याओं के बारे मे है। हमारे वर्तमान उद्देश्य को लक्ष्य मे रखते हुए ये दोनो ही परिपृच्छाएँ अभी एक तरफ रख देनी होगी। हमें न पूछना होगा कि कोई स्वेच्छ कार्य कैसे किया जाता है—दूसरे शब्दो मे कहे तो कहेगे कि—मनोविज्ञान शास्त्र मे किन प्रतीको द्वारा उसे सर्वोत्तम प्रकार से प्रतिदर्शित किया जाता है। न ही हम यह पूछेगे कि किसी उलझे हुए मामले में उत्तर-दायित्व के लिये आवश्यक स्थितियो या शर्तों का या यो कहिए कि कार्य कर सकने की स्वतन्त्रता की शर्तो का अभाव कहाँ घोपित किया जा सकता है। यहाँ तो हमारा काम अधिक सीधा-सादा सा सबसे पहले यह निर्णय कर देने का है जिसे हम नैतिक रूप से वाछनीय मानते है उस स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है और उसके बाद यह तय करने का कि अस्तित्व की वास्तविकता की पुष्टि अथवा उसके निषेध से अभिप्रेत तत्स्वरूप विषयक सामान्य अभिमत क्या है। सौभाग्य से नीति शास्त्रीय विज्ञानो के वास्तविक इतिहास

---

१ देखिए—'मेथड ऑव एथिक्स', पुस्तक १, अध्याय ४, सेक० ६ (पृष्ठ ७२-७६ का ५वाँ सस्करण)।

या प्रयोजन के अनुकूल नही होता है। कर्त्ता के किसी आशय या प्रयोजन को शारीरिक गति मे परिवर्तित कर देने वाले कार्य को ही, व्यावहारिक नैतिकता और विधिशास्त्र के समान अरस्तू भी स्वय तथ्यरूपेण स्वतन्त्र मानता है। वह उसके विषय मे इस प्रकार की स्वीकृति के ब्राह्माण्ड-ज्ञान-विषयक अभिप्रायो का तत्त्वमीमासीय प्रश्न नही उठाता।

ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह तत्त्वमीमासीय समस्या हमारे लिये अनीतिशास्त्रीय विचारो ने पैदा कर दी है। 'अनविमानात्मक' स्वातन्त्र्य को प्राचीन विश्व मे भोगवाद ने मान्यता अवश्य दी थी किन्तु नैतिक आधारो पर नही। ल्युक्रेटियस की पुस्तक के द्वितीय खड के पाठको को मालूम होगा कि प्राचीन भोगवादी कट्टर यान्त्रिक कारणता की अभिधारणा की वैवता को केवल इसलिये मान्यता नही देते थे क्योकि वे अपने आपको उस स्थिति से निकाल लेना चाहते थे कि जिस स्थिति मे उनकी मनगढन्त भौतिक प्राक्कल्पनाओ ने उन्हे ला पटका था। यदि भौतिक जगत् यान्त्रिक कारणता को निरपेक्ष मान लिया जाय और यदि जैसाकि एपिक्यूरस का भी कथन है यह भौतिक जगत् स्थिर और निरन्तर वेगो के साथ एक ही दिशा मे गिरते हुए सब परमाणुओ से बना होता तो वस्तु व्यवस्था जैसी कि अब हमे दीखती है वैसी कभी न पैदा होती। अत परमाणु विषयक अपनी प्राक्कल्पना को त्याग देने के बजाय भोगवादियो ने व्यष्ट परमाणु मे अकारणोद्भूत स्वेच्छा तथा आवसरिक पथभ्रष्ट हो सकने की शक्ति का आरोप इसलिये कर दिया कि जिसमे परमाणु मे सघट्ट और सयुक्ति हो सके। इस प्रकार उनके लिये 'अनविमानात्मक स्वच्छन्दता' भौतिक कठिनाइयो का ही परिणाम थी।

ईसाई धर्म के सिद्धान्तो मे इस सिद्धान्त को मिली विस्तृत—सार्वत्रिक न सही—मान्यता धर्मशास्त्रीय प्रकार की अनीतिशास्त्रीय कठिनाइयो का परिणाम है। यदि परमात्मा 'अनन्तकाल पहले ही से जानता था' कि आदम यो मार्गभ्रष्ट होगा और उसके ये परिणाम होगे तो आदम को और उसकी सारी सन्तान को दण्ड देना उसकी न्यायकारिता के अनुकूल कैसे हो सकता है जबकि आदर्श को बनानेवाला स्वय ही पहले से उस अपराध के घटित होने के बारे मे सब कुछ जानता था।[1] दैवी सर्वज्ञता का दैवी-

---

१. उमर खय्याम की रुबाई इस बाबत यो है :—

मुझे जो पथ करना था पार, बिठाये उस पर प्रेत पिशाच
बनाए उस पर गहरे गर्त और आया अब करने जॉच
पहले ध्रुव निश्चय के अनुसार चला मैं करता व्यर्थ प्रलाप
देखते तुझे न आती लाज पतन में मेरे मेरा पाप ?

और हमारा अपना कवि भी कहता है :—

मनुज को उद्यान मे बनाया किसलिये ? लोभ में आकर गिरे क्या इसलिये ?

न्याय के साथ मेल बैठाने की कठिनाई इस पूर्वानुमान द्वारा बच निकला गया या सच पूछिए तो केवल उससे पिण्ड छुडाया गया कि मनुष्य को 'अनवधानात्मक स्वतन्त्र संकल्प' सहित इसलिये सिरजा गया कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो आज्ञानुपालन भी उतना ही आसान हो सके जितना कि आज्ञा का अतिक्रमण। स्वयं हमारे जमाने में देकार्ते और गैलेलियो से प्रारम्भ होने वाले यान्त्रिकीय भौतिक विज्ञान के महान् विकास के कारण समस्या का रूप एकदम बदल गया है। भौतिक विज्ञान के प्रथम नियम के रूप में दृढ कारणीय निर्धारण के पूर्वानुमित हो जाने से यह सवाल उठ खडा हुआ कि क्या इस पूर्वानुमान को खींचतान कर मनस्तत्त्वीय क्षेत्र पर भी लागू किया जा सकता है या नहीं। अगर उसे वहाँ तक फैलाया जा सकता होता तो वह सभी मानवीय कार्यों को "हमारे नियन्त्रण से बाहर की परिस्थितियों के अनिवार्य परिणाम" बनाकर नैतिक दायित्व की जडें ही हिला डालता और अगर उसे ऐसा न माना जाता तो दृढ कारणीय निर्धारण के सिद्धान्त या नियम के अस्वीकरण को बहुधा इस बात से इनकार करने के बराबर समझा जाता कि मनस्तत्त्वीय क्षेत्र में तर्कसंगत सह-योजना विषयक नियम मौजूद हैं अत नैतिक जीवन के तथ्यों में विशेष रुचि लेने वाले लोग जहाँ मनस्तत्त्वीय शृंखला की घटनाओं के बीच तर्कसंगत सह-योजन के न्यूनाधिक एकान्त अपवर्जन की ओर बहुधा झुक जाते हैं वहाँ दूसरे वे लोग जिनकी विशेष अभिरुचि ज्ञान के एकीकरण की ओर है और भी अधिक सर्वसामान्यतया इस बात को मानना आवश्यक समझते हैं कि मानवीय क्रियाकलाप पूर्ववर्तियों द्वारा उसी मात्रा और उसी माने में निश्चित हुआ करता है जिस मात्रा और माने में कि विशुद्ध भौतिक व्यवस्था की घटनाएँ।

हमारा उद्देश्य यह सिद्ध करना होगा कि अनिश्चयवादिता और निश्चयवादिता के अथवा आवश्यकतावादिता के ये सिद्धान्त सब के सब एक समान अविवेकपूर्ण हैं और व्यावहारिक रूप में जिसे हम कार्यपरक नैतिक स्वतन्त्रता मानते हैं उससे वे सब मेल नहीं खाते तथा वे सब के सब इस झूठे पूर्वानुमान पर आधारित हैं कि दृढ यान्त्रिक निर्धारण स्वयं भी एक वास्तविक तथ्य है न कि विशिष्ट भौतिक विज्ञानों की एक ऐसी अभिधारणामात्र जो वहीं तक वैध है जहाँ तक कि वह उपयोगी होती है। लेकिन अपना काम शुरू करने से पहले स्वयं नैतिक स्वतन्त्रता के असली मानों के वर्णन से ही कार्यारम्भ करना आवश्यक है। जब तक कि हम यह नहीं जान लें कि नैतिक जीवों की हैसियत से हम जिस प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते हैं और जिस तरह की स्वतन्त्रता हमारा आदर्श है, उसके माने क्या है तब तक यह पूछना बेकार ही होगा कि हम स्वतन्त्र हैं या अस्वतन्त्र।

२—'स्वतन्त्र' और 'स्वतन्त्रता' स्पष्टत ही तर्कशास्त्रियों के कथनानुसार 'निरन्व-

परक' शब्द है। प्रतिबन्धो के राहित्य का सकेत उनसे मिलता है। चाहे जिस माने मे 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग आप करे, उसका अर्थ होगा किसी चीज से स्वतत्र होना। तब वे क्या चीजे है जिनसे हम अपना पिण्ड छुडाना चाहते है और जो हमे अस्वतत्र बनाये हुए है ? मुख्यत वे ये है (१) हम तब स्वतत्र नही होते जब हमारे अग को किसी बाहरी शक्ति अथवा कारक द्वारा, भले ही वह मानवीय शक्ति या कारक हो या अमानवीय, गतिमान बनाया जाता है और क्यो हम तब स्वतत्र नही होते इसका कारण यह है कि प्रेरक शक्ति द्वारा प्रेरित हमारे अगों की गति हमारे अपने उद्देश्य, प्रयोजन अथवा आशय को व्यक्त नही करती। वे अग सचलन या तो किसी ऐसे अन्य जीव के उद्देश्य अथवा प्रयोजन को व्यक्त करते है जो हमारे अगो को यथेच्छतया सचालित कर रहा होता है अथवा जैसाकि उन मामलो मे होता है जब हम अशरीरी जगत् की 'शक्तियो' द्वारा गतिमान कर दिये जाते है—उद्देश्य रूप से ज्ञातव्य किसी भी प्रयोजन को हम व्यक्त नही करते। और दोनो ही मामलो मे हम अपनी अगगति द्वारा किसी भी ऐसे प्रयोजन को व्यक्त नही करते जो स्वय हमारा अपना हो। वे दोनो ही प्रयोजन सत्यरूपेण हमारे नही होते और इसी लिये उस कार्य मे स्वतत्रता का लेश भी नही होता। यह जरूरी नही कि गति का परिणाम ऐमा हो जिसे ऐसा सुझाव मिलने पर हम अपना प्रयोजन मानने से इनकार कर देते। अगर बात हम पर ही छोड़ दी जाती तो शायद ही हम वैसा ही करते जैसाकि दूसरे व्यक्ति ने अथवा भौतिक शक्ति-तत्र ने हमसे करवाया। फिर भी जो कुछ भी काम हुआ वह हमारे वास्ते किया गया किन्तु हमने उसे नही किया और चूँकि वह हमारे अपने वास्तविक प्रयोजन द्वारा प्रेरित अथवा उसका अनुसारी नही है इसलिये वह स्वतत्र कार्य नही है।

(२) इसके अतिरिक्त हम तब भी सही मानो मे स्वतत्र नही होते जब (पहले किए किसी अपने स्वतत्र कार्य के कारण नही) विशिष्ट परिस्थितियो से परिचित नही होते।[1] इसीलिये ठीक उसी तरह जिस तरह कि पहले मामलो मे वास्तविक कृत्य नही हुआ था इस मामले मे वह हुआ होता है। हम वस्तुत कुछ प्रयोजित करना चाहते है किन्तु जो कुछ प्रयोजित करना चाहते है वह यह कार्य नही होता जो हमारी गति द्वारा परिणत होता है। उदाहरणार्थ यदि मैं अपने किसी साथी को गलती से गोली मार देता हूँ यह

---

१. याद रखिये कि कार्य करने से वर्जित रहना भी स्वय एक कार्य है जैसाकि तर्कशास्त्र के अनुसार प्रत्येक यथार्थ निषेध वस्तुतः एक दृढोक्ति अथवा दावा ही होता है। इसीलिये हमारा यह प्रतिबन्ध आवश्यक परिस्थितियो मे अपने आपको सूचित किये रहने के प्रति जानबूझ कर बरती गयी उदासीनता के मामले पर लागू होता है।

समझकर कि मेरा कोई शत्रु है तो यह, सही है कि मेरा प्रयोजन या उद्देश्य गोली मारना है और गोली चलाना जहाँ तक एक कार्य है वहाँ तक वह मेरा अपना एक स्वतन्त्र कार्य है। लेकिन चूँकि मेरा उद्देश्य का प्रयोजन अपने साथी को मारना न था इसलिये उस कार्य की सही परिणति मेरे उद्देश्य को व्यक्त नहीं करती और इसलिये उस कार्य के करने में अपने आपको परिणामत पूर्ण स्वतन्त्र नहीं मान सकता और इसलिये नैतिक दृष्टि से उस कार्य के लिये अपने को उत्तरदायी भी नहीं मान सकता। यहाँ तक तो हमारा विश्लेषण अरस्तू के पूर्वोल्लिखित विश्लेषण से मिलता है।

(३) और मैं वहाँ भी तब स्वतन्त्र होकर काम नहीं कर रहा होता हूँ जहाँ परिस्थितियाँ ऐसी हों कि उद्देश्य अथवा प्रयोजन का निरूपण बिलकुल न हो सकता हो। इसीलिये स्वचालित क्रिया—यदि इस नाम की कोई वस्तु हो तो—यथार्थ क्रिया नहीं होती और इसीलिये वह स्वतन्त्र भी नहीं होती।[१] अविचारपूर्वक किया गया आवेगात्मक कार्य भी इसी श्रेणी का होता है। नि.सदेह उसके पूरा होने पर सन्तोष की भावना मन में आना आवश्यक है और उसमें बाधा पड़ने पर उसको पूरा कर सकने की लालसा पैदा होती है इसलिये उसे विशुद्ध अप्रायोजनिक नहीं कह सकते। किन्तु किसी भी यथार्थत उद्वेगीय प्रतिक्रिया में वहाँ विचार करने की सभावना बहिष्कृत हो क्रियान्वयनान्तर्गत प्रयोजन के मूर्त स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान मुश्किल से ही हो सकता अत ऐसा क्रिया-कलाप स्वतन्त्र नहीं हो सकता। और व्यावहारिक जीवन में यद्यपि हमें निश्चय ही हमारे आवेगात्मक कार्य के लिये हमें नैतिक रूप से उत्तरदायी उस सीमा तक माना जाता है जहाँ तक कि यह समझा जाता है कि हम उस काम में पूर्ववत् कार्य करने का पहले से पड़ी आदत के बल पर रद्दोबदल कर सकते थे अथवा जिस हद तक कि उस परिस्थिति को बचा जाने की शक्ति हममें भी, जिसे विचारशक्ति का नाश कर देने वाली समझने के कारण हमारे पास थे, पर हम आवेश में आकर किये गये कार्य के लिये उतनी पूरी तरह जिम्मेदार नहीं माने जाते जितने कि विचारपूर्वक पूर्वनिर्धारित और जानबूझकर स्वीकृत प्रयोजन के अनुसार किये गये कार्य के लिये माने जाते हैं।[२]

---

१. स्वचालित क्रियायें जिनका मनस्तत्वीय स्वरूप वस्तुतः हमें ज्ञात है हमारी अपनी 'गौणरूपेण स्वचालित' अथवा 'आभ्यासिक कार्य' ही हैं। कारणवादी के लिये यह एक समस्या बन जाती है कि कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया कहाँ तक इतनी पूर्णतया स्वचालित बन सकती है कि प्रशंसा या अपराध का पात्र हो उसके बाद न रहे।

२. कानूनी प्रयोजन के लिये इस प्रकार का विभेद कर सकना प्रायः असम्भव हो सकता है और पूर्ण उत्तरदायित्व तथा पूर्ण अनुत्तर-दायित्व के बीच कामचलाऊ विकल्प से हमें सन्तोष कर लेना पड़ सकता है किन्तु अपनी आत्मा की अदालत में स्वय अपने

इसके अतिरिक्त हम तब भी अपने आपको अस्वतत्र अनुभव करते है जब किसी कार्य की सगत योजना को ध्यानपूर्वक समझने की शक्ति के एकान्त अभाव के कारण अथवा इस कारण कि हम एक साथ ही ऐसे दो उद्देश्यो का जो भीतर से एक दूसरे के विपरीत हैं अनुसरण कर रहे होते हैं—अपने प्रयोजन की सिद्धि नही कर पाते। यही कारण है जो ऐसे लोक सत्तात्मक भावना वाले व्यक्ति को जिसकी अभिरुचियाँ तर्कसगत-एकत्वहीन असगत गडबडझाला होती है अथवा ऐसे अत्याचारी व्यक्ति को जिसे हम 'अपराधी प्रकार' का व्यक्ति भी कह सकते है, जिसके उद्वेग सदा परस्पर विरोधी तथा उसकी निर्णय शक्ति से टक्कर लेने वाले हुआ करते है दोनो ही को प्लेटो या अफलातून ने उपलक्षकतया अस्वतत्र जीव माना है। अन्ततोगत्वा स्वतत्र होने के लिये हमारे उद्देश्य या प्रयोजन ऐसे होने चाहिये जो सगत अथवा सश्लिष्ट हो और चिरस्थायी भी। अत यह कहना विरोधाभासात्मक न होगा कि अन्ततोगत्वा अस्वतत्रता का मुख्य अर्थ होता है अपने इरादो से बेखबर होना और स्वतत्र होने का मतलब होता है अपने इरादो से अभिज्ञ होना।

३—अब हम उन तथ्यो के पुनरीक्षण से, कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिणाम निकाल सकते है जिन्हे स्वतन्त्रता विषयक प्रत्येक व्याख्या का आधार बनाना है। (१) स्वतन्त्रता जैसाकि लॉक ने 'ऑन पावर' नामक अपने उस प्रसिद्ध अध्याय मे जिसे आग्लदर्शन शास्त्र का एक शास्त्रीय विमर्श अब तक माना जाता है कहा है 'मानव की सपद है सकल्प की नही।' पृच्छा योग्य सही सवाल है 'क्या मै स्वतत्र हूँ' न कि 'क्या मेरा सकल्प स्वतत्र है?' या यह कि 'क्या मै स्वतत्र सकल्पवान् हूँ।' जैसाकि ऊपर परिगणित तथ्यों से सिद्ध हैं 'स्वतन्त्रता' और सकल्प एक ही गुणधर्म के यानी ज्ञेय तथ्यात्मक इस विश्व मे जो वस्तु पहले हमारे निजी उद्देश्य के रूप मे हमारे पास थी उसके क्रियान्वित करने के कार्य विषयक गुणधर्म के, नकारात्मक और सकारात्मक नाम हैं। जब मेरा बाह्य कार्य उपर्युक्त रूप मे मेरे उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है तब उसे मेरा सकल्प कहा जाता है और उसी मामले मे, और किसी अन्य मामले मे नही मै 'स्वतत्र' होता हूँ। इस प्रकार 'सकल्प' कर सकना और स्वतत्र होना एक ही बात है। ऐसा सकल्प जो स्वतत्र नही है ऐसा सकल्प होगा जो किसी व्यक्ति के ज्ञेय या सवेद्य उद्देश्य या प्रयोजन का प्रत्याभिदर्शी न होगा। और इसीलिये वह सकल्प एकदम न होगा। अत यह प्रश्न कि 'क्या हम स्वतत्र है?' इस समतुल्य रूप मे भी पूछा जा सकता है कि 'क्या

या दूसरो के बारे मे फैसला सुनाते समय हम हमेशा इस बात को मान लेते हैं कि उत्तरदायित्व एक मात्रात्मक वस्तु है। इस विषय मे श्री ब्रैडले का (माइण्ड, जुलाई, १९०२) पूर्वोद्धत लेख देखिये।

हम कभी भी कोई सकल्प कर सकते है ?' और इस रूप मे पूँछे गये इस प्रश्न का त्वरित उत्तर अनुभुति देगी, क्योकि निश्चय ही हम प्रयोजनो की काल्पनिक सृष्टि किया करते हे और अपनी गतिविधियों द्वारा इन उद्देश्यो का क्रियान्वयन या कार्य रूप मे अनुवाद भी करते रहते है। अत इसी लिये हम कह सकते है स्वतन्त्रता नि सदेह केवल उसी अर्थ मे जिस अर्थ मे वह वाछित है तात्कालिक अथवा अव्यवहृत अनुभूति का एक तथ्य होती है।[1]

(२) यदि 'कार्य करने की स्वतत्रता' के साथ-साथ हम सकल्प करने की स्वतत्रता नामक शब्द को भी रखे रहना चाहते हे तो उसका अत्यन्त विशिष्टार्थवाची होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि न केवल मेरी वाह्य क्रिया-कलाप ही मेरे वर्तमान उद्देश्य का तथ्यानुवाद हो सकता है अपितु मेरा वर्तमान प्रयोजन स्वय एक मनस्तत्वीय घटना के रूप मे, किसी पहले वाले प्रयोजन का तथ्यानुवाद हो सकता हे। बात आयोजित आत्म-प्रशिक्षण और अनुशासन के सभी परिणामो के वारे मे भी यही मामला ज्यादातर होता है और सव अधिकाश अभ्यासो के मामलो मे किसी न्यूनतर मात्रा मे। इस प्रकार उदाहरणार्थ वे अग सचालन जिनके द्वारा मै यह पक्तियाँ लिख रहा हूँ मौजूदा अनुच्छेद के लिखने के पूर्व-कल्पित प्रयोजनो की अभिव्यक्ति है लेकिन स्वय वह प्रयोजन भी मेरे इतिहास की एक घटना के रूप मे तत्त्वमीमासीय ग्रन्थ रचना के पूर्वभूत प्रयोजन की एक तत्सदृश अभिव्यक्ति ही है। अतः एक वास्तविक अभिप्राय ऐसा है जिसके अनुसार हम लॉक के इस फतवे की आलोचना मे लीब्निट्ज से सहमत हो सकते ह कि हम काम करने के लिये तो स्वतत्र है पर सकल्प के लिये स्वतत्र नही है। चूंकि किसी प्रयोजन की मानस कल्पना स्वय भी एक कार्य है और जिस मात्रा मे वह पूर्वभूत प्रयोजन को वर्तमान विचारो और भावनाओं मे अनुदित करता है उसी मात्रा मे उस कार्य को 'स्वतत्रत' संकल्पित कहा जा सकता है।

(३) स्वातत्र्य वास्तविक अनुभूति के अन्तर्गत, सदा सीमित होती है और

---

१. किन्तु यह वात अच्छी तरह से नोट कर लेने की है कि सकल्प जिन मानो में स्वतत्रता का पर्याय है उन मानो मे वह वस्तु भी जिसे कुछ लेखक जैसे ब्रैडले 'स्थायी सकल्प' नाम से पुकारते हैं—अर्थात् परिणामी परिवर्तनों के विचारो द्वारा मूलतः प्रारब्ध कृत्यों की शृंखला जिसका हम बिना शर्त अनुमोदन किया करते है। इस प्रकार की कृत्य शृंखला के वास्तविक क्रियान्वयन की अधिकाश स्थितियाँ ऐसी आभ्यासिक प्रतिक्रियाएँ होती है जो अपने स्वरूप ने उनके विशिष्ट परिणाम के 'प्रत्यय' द्वारा उनके घटित होने की निर्णायिका स्थितवत् अनुगत नहीं होती। नैतिक स्वातन्त्र्य का क्षेत्र तब मनमानी तौर पर प्रतिबद्ध हो जाता है जब यह मान लिया जाता है कि स्वतत्र कार्य की प्रत्येक स्थिति के लिये वास्तविक सकल्प अनिवार्य है।

उसकी अनेक श्रेणियाँ भी हो सकती है। पहली वात उन परिस्थितियो विषयक विचारो का तात्कालिक परिणाम है जो हमे अस्वतत्र वनाती है। यदि पूर्णत स्वतत्र होने के अर्थ यह हो कि आपकी वाह्य क्रिया आपके आभ्यन्तर सगत उद्देश्य की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तो तुरन्त ही हमारी समझ मे यह वात आ सकती है कि सभी परिमित या सान्त जीवो की खातिर पूर्ण स्वतत्रता एक अनन्त दूरवर्ती आदर्श है क्योकि उसका अर्थ होता है (अ) मेरे उद्देश्यों की सिद्धि मे अभिरुचि-वैचित्र्य से अथवा मेरे भीतर के असम्बद्ध-अभिरुचि सघर्प से कोई बाधा नही पडती। (ब) न ही आभ्यासिक प्रतिक्रियाओ की स्थापना से जो लगभग इतनी यान्त्रिक होती है कि विशिष्ट विमर्श द्वारा यदि उन्हे रोका न जाय तो वे अनवसराभिसपातिनी होकर वार-वार नियत रूप से प्रत्यावृत्त होती रहती है। (स) न ही भौतिक जगत् मे 'कार्य कर सकने अथवा उससे विरत रह सकने' की मेरी शक्ति के मेरे साथियो के कार्यो द्वारा अथवा प्रकृति 'पाशव' रूप द्वारा परिसीमन से कोई वाधा समुपस्थित होती है। अत केवल ऐसी अनुभूति ही जो एकदम वाह्य और आभ्यन्तर सघर्परहित है और जो अशत असम्बद्ध पर्यावरण है दूसरे शब्दो मे केवल वह अनुभूति जो अपरिमित समग्र है—अपनी समस्त विवृत्तियोससित पूर्णत और निरपेक्षतया स्वतन्त्र होती है। प्रयोजनात्मक ऐक्य के अभ्यान्तर राहित्य की सभावनाओ तथा प्रतियोगी प्रयोजन के साथ चलनेवाले वाह्य सघट्ट से जो दोनो ही हमारो सान्त जीवत्व से कभी पृथक् नही किये जा सकते, यह परिणाम ही निकलेगा कि हम पूर्णतया स्वतन्त्र कभी नही होते। हमारी स्वतत्रता सदा आशिक अथवा सापेक्ष ही होती है।

और यह भी स्पष्ट ही है कि हमारी स्वतत्रता की मात्रा भी हमारे प्रयोजनों और पर्यावरण के साथ उनके सबधो के अनुसार घटती-वढती रहती है। इस प्रकार की मात्राओं का वाहुल्य अनन्त होता है जो प्रत्यक्षत. प्रतिवन्धित गतिविपयक स्वतत्रता के एकान्त अथवा एकान्तवत् अभाव से लेकर किसी सुयोजित और सुसगत कार्य योजना के चेतन और व्यवस्थित क्रियान्वयन मे रत किसी अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर सामाजिक दल या गुट के अन्य सदस्यों के हार्दिक सहयोग के मामले तक के क्षेत्र भर मे फैला रहता है। स्वतत्रता का इन श्रेणियो के प्रमुख विभेदो का कानून और नैतिकता हेतु जिनका वड़ा व्यावहारिक महत्व है, सकेत देना व्यवस्थित नीतिशास्त्र का काम है इसलिये यहाँ उनका सकेत देने का प्रयत्न नही करेगे। हम इतना और कह दे कि हमारे अनुसंधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी श्रेणी का सच्चा नैतिक स्वातंत्र्य ऐसा असक्राम्य दाय नहीं है जिसे 'जन्म-घटना' मात्र के वल पर पा जाते है अपितु वह ऐसा सपद् है और एक प्रमुख तथा वास्तविक सपद् जिसे आत्मज्ञान तथा आत्म-सयम के दुवारे अनुशासनात्मक खाडे का प्रयोग करके जीता जाता है और जो उन कलाओ की तरफ से जिनकी सहायता से उसे पहले प्राप्त किया गया था उदासीन हो जाने पर जप्त भी हो जाती है। इसमे शक नही

कि किसी व्यक्ति के पितृपैतामहिक संस्कारों के कारण आत्म-नियंत्रण अथवा सामाजिक सहयोग का आचरण दूसरे की अपेक्षा किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिये ज्यादा आसान हो सकता है और हम कह सकते है कि उस हद तक कम या ज्यादा मात्रा की 'स्वातन्त्र्य शक्ति' साथ लेकर पैदा हुआ। किन्तु स्वतत्रता के वस्तुत मालिक होने के विषय मे तो हम सबको ही कहना पडता है कि 'गहरे दाम चुकाना पडा इस आजादी के लिये मुझे।'

(४) और अन्त मे नैतिकता विषयक तथ्यों की जाँच के बल पर अब हम स्वतत्रता की सही परिभाषा कर सकने लायक हो गये हैं। जैसाकि अभी हमने देखा, हम स्वतत्र उस हद तक होते है ठीक जहाँ तक हमारी अनुभूति हमारे सगत और स्थायी हित या प्रयोजन का पूर्तरूप होती है और स्वतत्रता भी 'सकल्प' के समान ही उस साध्यपरक ऐक्य की अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र है। विभिन्न विचलन- शील मात्राओ मे जो ऐक्य सकल अनुभूति का एक अग हुआ करता है। अत हम तुरन्त देख सकते है कि स्वतत्रता का अर्थ 'बुद्धिगम्य सबधहीनता' नही है न 'निश्चय-मन-हीनता' अपितु उसका अर्थ जैसाकि इतने बहुत से आधुनिक दर्शनशास्त्रियो ने भी हमे बताया है—हम सान्त जीवो के लिये है आत्म निर्धारण। मैं तब अधिकतम स्वतत्र होता हूँ जब मैं किसी तर्कसगत और सबद्ध उद्देश्य की सिद्धि के लिये काम कर रहा होता हूँ, इसलिये नही कि तब मेरा चरित्र अथवा व्यवहार अनिर्धारित होता है, दूसरे शब्दो में इस-लिये नही चूँकि यह नही कहा जा सकता कि आगे मैं क्या करूँगा बल्कि इसलिये कि ऐसे ही अवसरो पर वह व्यवहार या चारित्र मेरे आन्तरिक प्रयोजनो या हितो के स्वरूप द्वारा साध्यपरक तरीके से पूर्णतया निर्धारित होता है—दूसरे शब्दो मे मेरे स्वात्म के विधान द्वारा। मेरे कार्यरत प्रयोजन या उद्देश्य जितने ही चिरस्थायी और तार्किक-रूपेण सगत होते है उतना ही अधिक मैं भी स्वतत्र होता हूँ क्योकि तब मेरा समग्र स्वात्म अथवा तर्कानुसार सगत हितो की व्यवस्था ही, न कि दूसरो का आग्रह अथवा कोई ऐसी तात्कालिक भाव या आवेश जिसका अपने सच्चे स्वात्म का अग होना मैं तुरन्त अस्वीकार कर सकता हूँ, मेरे बाह्य कार्यो अथवा मेरी दृश्य क्रियात्मकता द्वारा व्यक्त हो रही होती है और यदि किसी सान्त या परिमित जीव के लिये निरपेक्षतया स्वतत्र हो सकना सभव होता, जैसाकि हम देख चुके है कि होना असभव है, तो वह जीव, अपनी पूर्ण मुक्ति के क्षण मे ही अन्तरतम मे स्वय ही पूर्णतया निर्धारित हो जाता, उसका सारा जीवन ही उसकी कार्य शृखला द्वारा बाह्य दर्शक के लिये सगत् प्रयोजनो की एकल योजना का पूर्ण और व्यवस्थित व्यक्त रूप ग्रहण कर लेगा।

४—तब हमे दीखने लगता है कि नैतिकता से वस्तुत अभिप्रेत इस प्रकार की यथार्थ और सीमित स्वतत्रता गहन तत्वमीमासा के नियमो के केवल अनुकूल ही नहीं है

अपितु वह उनकी वास्तविक माँग ही है। नैतिकता की ओर से यह माँग की जाती है कि मानव जीवों को तो कम से कम अशत ही ऐसे पूर्ण होना चाहिये जिनकी बाह्य क्रियाओं का वैयक्तिक प्रयोजनों की यथार्थ अभिव्यक्ति होना आवश्यक हो। तत्वमीमासा की ओर से पहले ही जान चुके है कि ठीक यह साध्यपरक एकत्व यथार्थ किन्तु अपूर्ण ही प्रत्येक परिमित अनुभूति का सारभूत लक्षण है। अब हमे यह देखना है कि एक ऐसी समस्या जो अपने आप मे तो बड़ी सीधी-सादी है हमे अमाध्य कठिनाइयों तथा अनिश्चयवाद और निश्चयवाद की प्रतियोगिनी अनंगलताओं मे कैसे तब ला फँसाती है जब वह किसी प्रारम्भिक तत्वमीमासीय द्वारा भ्रान्ति उन्मार्गगामिनी बना दी जाती है। दोनों ही प्रतियोगी सिद्धान्तों की प्रारम्भिक गलती केवल पूर्ववर्तियों के आधार पर घटनाओं के कारणताविषयक नियम के अनुसार दृढ यान्त्रिक विधि द्वारा निर्धारण को तथ्य-वस्तु रूप मे ग्रहण करने मे ही है। उन दोनों का विभेद केवल उस सीमा की बाबत है जिस तक कि उपर्युक्त निर्धारण कार्यकारी रहता है। अनिश्चयवादी के अनुसार चेतन जीवों का कार्य निर्धारण के उस नियम का एकाकी अपवाद है, जो सारी ही विशुद्ध भौतिक प्रक्रियाओं के लिये एकदम वैध है। निश्चयवादी के अनुसार इस नियम के कोई अपवाद नही है और किसी व्यष्ट जीवन के अथवा इतिहास के गतिक्रम के विषयक मे, सामान्य नियमों के आधार पर ग्रहण के पूर्व-निर्धारण की तरह भविष्यवाणी कर सकने की अपनी असमर्थता का उरीकरण हमे केवल इसीलिये करना पड़ता है क्योंकि एक तो आवश्यक दत्त बहुत अधिक उलझे हुए रहते हैं और दूसरे, गणितीय विधियाँ भी अस्थायी तौर पर अपूर्ण होती हैं।

यह नोट करने की बात है कि जीवन के वास्तविक तथ्यों के विषय मे दोनों ही विचारधाराओं के अधिक गभीर प्रतिनिधियों मे कोई सारवान् मतभेद नही है। अनिश्चयवादी आमतौर पर यह मजूर करता है कि व्यावहारिक रूप मे जब आप किसी व्यक्ति के चरित्र को जानते है और उस पर जो प्रभाव डाला जाता है उसको भी, तब आप भरोसे के साथ बता सकते है कि वह किस तरीके पर अपने आपको चलायेगा। अगर आप ऐसा नही कर पाते तो सामाजिक सपर्क, शिक्षा और दण्ड व्यवस्था सभी असभव हो जॉयगे। इसी प्रकार निश्चयवादी यह स्वीकार करता है कि मानवीय व्यवहार विषयक आपकी पूर्वोक्तियो पर पूरी तरह भरोसा कर लेना व्यावहारिक दृष्टि से एक साहसिक बात होगी और यह कि मानव जीवन मे अप्रत्याशित अनेक बार घटित हुआ ही करता है। झगड़ा केवल लगभग सर्व-स्वीकृत तथ्यों की दार्शनिक व्याख्या के ही बारे मे है। निश्चयवादियों की व्याख्यानुसार यदि किसी व्यक्ति को चरित्र विषयक सूचना आपको दे दी जाय और उसकी परिस्थितियों का ज्ञान भी आपको करा दिया जाय (और यह मान लिया जाता है कि इस

प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना सैद्धान्तिकतया सम्भव है) तथा उस मामले मे आ पड़नेवाली गणितीय समस्याओं से भिड़ने लायक दक्षता भी यदि आप मे हो तो आप पालने से लेकर कब्र तक के उसके व्यवहार की अस्खल परिशुद्धिपूर्वक पहले ही से गणना कर सकेंगे। अनिश्चयवादी के कथनानुसार आप ऐसा नहीं कर सकते और आपकी असफलता माने हुए दत्तों के प्राप्त करने की सैद्धान्तिक असभाव्यता न होगी अपितु वह होगा उन दत्तों का अपर्याप्त होना। उसका कहना है कि हमारे व्यवहार का निर्धारण एकान्ततया 'चरित्र' और परिस्थितियों के मिथः क्रिया द्वारा ही नही होता, इन दोनो ही तत्वो के पूर्ण ज्ञान के वावजूद भी मानवीय-क्रिया अगणनीय इसलिये होती है क्योंकि हम 'अनवधानात्मक स्वतत्र' 'सकल्प' के स्वामी है अर्थात् हम अपने चारित्रिक स्वरूप या गुणों को अथवा तद्नुकूल अनवधानपूर्वक कार्य करने की शक्ति रखते हैं। आप पहले से ही नही वता सकते कि कोई आदमी क्या करेगा क्योंकि उपर्युक्त दोनो विकल्पनात्मक तरीकों मे से किसी तरीके से समान सुविधापूर्वक किन्ही भी परिस्थितियों मे काम करने की सामर्थ्य उसमे मौजूद होती है।

संक्षेप मे दिखलाना चाहता हूँ कि निश्चयवादी का यह कथन सही है कि व्यवहार का पूर्णतया निर्धारण चरित्र यदि इस शब्द का व्यापक अर्थ लिया जाय —और परिस्थितियाँ किया करती है लेकिन उसका यह कथन गलत है कि इसी कारण अचूक पूर्वकथन सम्भव है। दूसरी ओर मै यह भी दिखा देना चाहता हूँ कि इस प्रकार से पूर्वकथन की सभाव्यता से अनिश्चयवादी का इनकार करना ठीक है लेकिन इस इनकार का जो कारण वह बतलाता है वह ठीक नहीं। अचूक पूर्वकथन असभव है लेकिन इसलिये नही कि पूर्वकथन के माने हुए दत्त इस प्रकार के होते है कि सभवत आप उन्हें घटना से पहले ही नही, वाद ही पा सकेंगे। अन्त मे यह बतलाना होगा कि दोनो ही त्रुटियाँ इसी झूठे तत्वमीमासीय सिद्धान्त से पैदा होती हैं—कि कारणीय नियम वास्तविक तथ्यात्मक विवरण होता है।[1]

---

१. आगे जो कुछ लिखा गया है उससे तुलना कीजिए। ब्रैडले लिखित 'एथिकल स्टडीज' १, निवन्ध तथा उसके साथ के नोट से। निश्चयवादियों के कथन के गम्भीरतारूप के लिये देखिए। मिल कृत 'स्टडीज इन लाजिक', बुक ६, अध्याय २, विरोधीमत के सकारण विवरण को ढूँढ़ निकालना और भी कठिन है क्योंकि अधिकांश नैतिक दर्शन शास्त्रियों ने आत्मनिर्धारणता का सिद्धान्त अपना लिया है। पूर्ण अनिश्चयवादिता के समर्थनार्थ देखिए जेम्स कृत 'दि विल टु बिलीव' (एसे आन दि डिलेम्मा ऑफ डिटर्मिनिज्म)। अनिश्चयवादी विचारों के प्राफेसर सिजविक द्वारा किये वर्णन में, (उदाहरणार्थ उनके मृत्युपरान्त, छपे टी० एच०

५—**निश्चयवाद**—निश्चयवादियो का कहना है कि मानव का व्यवहार भी अन्य प्रक्रियाओ के समान पूर्ववर्तियो द्वारा ही बिना किसी विशेषता के निश्चयित अथवा निर्धारित होना चाहिये और यह पूर्ववर्ती (अ) चरित्र और (ब) वाह्य परिस्थितियो के ही होने चाहिये। क्योकि (१) हमारे कार्यो के पूर्ववर्तियो द्वारा किये जाने वाले कारणीय निर्धारण से इनकार करने के माने है मनस्तत्वीय क्षेत्र मे बुद्धिपरक अथवा तर्कनापरक सम्बन्ध की उपस्थिति से इनकार करना और इस तरह पर न केवल मनोविज्ञान को ही अपितु उन सभी विज्ञानों को भी जो मनस्तत्वीय घटनाओं को अपनी विचार सामग्री बनाकर उनके बीच तर्कसगत सबध ढूंढने का प्रयत्न करते है, सिद्धान्तत असभव घोपित करना है इस प्रकार मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र तथा इतिहास का अस्तित्व ही 'मानसिक दशाओं' मे पर कारणीय निर्धारण के नियम की विनियोजनियता सिद्ध करता है।

(२) यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम विचार करते है कि सारे ही विज्ञानो का काम ही 'नियमो' अथवा 'एकरूपताओ' का सूत्रीकरण है और यह कि नियमों का सूत्रीकरण इस नियम पर आधारित होता है कि 'एक सी ही परिस्थितियो मे परिणाम भी एक के सा ही होता है' अर्थात् कारणीय निर्धारण के नियम पर।

(३) मनुष्यतत्वीय घटनाओ का निर्धारण यदि इस प्रकार नही होता तब मनोविज्ञान तथा अन्य सभी मानस-विज्ञान भी सामान्यतया, यान्त्रिकीय भौतिक विज्ञानो के सामान्य नियमो के अनुकूल नही है।

(४) और असली बात तो यह है कि हम सब ही मान लिया करते है कि मनस्तत्वीय घटनाओं का कारणीय निर्धारण उनके पूर्ववर्तियों के आधार पर होता है। मनोविज्ञान मे हमारा पूर्वग्रहण यह होता है कि हमारे चयनों का निर्धारण उन प्रेरक हेतुओ के बल पर हुआ करता है जिनके मध्य से हमे चयन करना होता है। अत. यदि आप जानते हैं कि किसी मनुष्य के चयनार्थ कौन-कौन से प्रेरक हेतु प्रस्तुत है और उन हेतुओ मे से प्रत्येक की सापेक्षिक दृढता भी आप जानते है तो निश्चयवादी के विचारानुसार उसके व्यवहार के बारे मे पूर्वकथन कर सकना विघटित होकर एक विशुद्ध गणितीय समस्या मात्र जैसे कि किसी एक समीकरण अथवा समीकरण कुलक की सिद्धि मात्र रह जाता है। यह कि हमारे वर्तमान गणितीय साधन इस प्रकार के समीकरणो के निश्चित

ग्रीन के स्वातंत्र सिद्धान्त विषयक व्याख्यान में जो 'लेक्चर्स आन दि एथिक्स ऑफ ग्रीन स्पेन्सर एण्ड मार्टिनो', पृ० १५–२८) पर छपा है, अनिश्चयवाद मुझे इस बिन्दु पर पराजित-सा लगा।

हल के लिये उपयुक्त न हो सकेंगे यह कहना, उपर्युक्त दृष्टि से केवल एक स्थायी दोष है जो गणितीय विज्ञान की वर्तमान दशा का एक आनुषगिक दोष है। सिद्धान्तत समीकरणों का साध्य अथवा हल हो सकने योग्य होना अनिवार्य है अन्यथा मानव-क्रिया का कोई विज्ञान ही संभव नही।

(५) और व्यावहारिक जीवन मे हम सब ही यह मान लिया करते है कि विशेष प्रकार की परिस्थितियों का सारी मानव जाति पर क्या प्रभाव पडेगा इस बात को पहले से ही काफी भरोसे के साथ बताया जा सकता है या जब आपके सामने सब आवश्यक दत्त मौजूद हो तब आप परिस्थितियो के किसी निर्धारित कुलक का किसी खास आदमी पर क्या असर पडेगा यह काफी इतमीनान के साथ बता सकते है। इसी लिये दण्ड के निरोधक प्रभाव विज्ञापन के प्रवर्तक दबाव आदि पर हम भरोसा रखा करते है और फिर जिस अनुपात मे हम अपने मित्रो को वस्तुत जानते है उसी अनुपात मे अमुक अनागत परिस्थिति आने पर अमुक व्यक्ति का व्यवहार कैसा होगा इस प्रकार का पूर्व-कथन कर सकने लायक भी हम अपने आप को समझते है। तब फिर हम सिद्धान्तत. क्यो यह असभव मान ले कि यदि पर्याप्त दत्त सामग्री मौजूद हो तो हम किसी मनुष्य अथवा समाज के समग्र जीवन क्रम की गणना ठीक उसी तरह पहले ही से कर सकते हैं जिस तरह से कि कोई ज्योतिष शास्त्री किसी ग्रह के पल-क्षणादि ज्ञात होने पर उसके गतिक्रम की पूर्व-गणना कर सकता है। यही प्रमुख प्रचलित वादोक्तियाँ है जिनके बल पर निश्चयवाद की प्रतिरक्षा हो जाती है। (दैवी भविष्य ज्ञान की निरपेक्षताविषयक, विशुद्ध धर्मशास्त्रीय विवादोक्ति पर हम पहले ही विचार कर चुके है अत उसका यहाँ हवाला देने का हमारा इरादा नही है)।

६—यह समझ सकना कठिन नही है कि इन सब विवादोक्तियो का तर्कशास्त्रानुसार कोई मूल्य नही है। स्वय ही वे दो समूहो मे विभक्त है। उनमे से एक समूह इस सामान्य दृष्टिकोण पर आधारित है कि सब युक्तियुक्त सबध अथवा कम से कम वह ऐसा सबध, जो हमारे ज्ञान के लिये सार्थक हो, यान्त्रिक कारणीय अनुक्रम होता है और दूसरा मानस-विज्ञानो के अनुमानित वास्तविक अभ्यास की दुहाई मात्र। इनमे से पहले समूह को (१ से ३ सख्या तक की विवादोक्तियो) पहले ले। नि सदेह यह सही नही है कि पूर्ववर्तियो के आधार पर कारणीय निर्धारण करना ही युक्तियुक्त सबध का एकमात्र रूप है क्योकि स्पष्ट रूप से सबध का एक और उपलक्षक मौजूद है जिसे हम पहले ही मानस विज्ञानो का मूल पा चुके है यानी साध्यपरक सश्लिष्टता। और अपनी पूर्वगत खडो से हम जान चुके है कि कोई भी साध्यपरक अथवा प्रायोजनिक शृखला वस्तुत यान्त्रिकता, अनुक्रम के एकरूप कारणीय नियमो द्वारा निर्धारित नही हो सकती, यद्यपि भौतिक विज्ञानो के समान-विशिष्ट प्रयोजनो के हेतु इस प्रकार की शृखला से इस तरह पर

व्यवहार करना अधिक सुविधाजनक रहता है मानो वह यान्त्रिकतया निर्धारित हो। इस प्रकार की कार्यविधि का मानस विज्ञानों मे भी वैध होना इस अन्य प्रश्न पर निर्भर है कि क्या मानस प्रक्रियाओ के अध्ययन विषयक हमारी रुचि इस प्रकार की है कि उसे अनेक निरपेक्ष एकरूपताओ अथवा अनुक्रमात्मक नियमो के सूत्रीकरण द्वारा तथा वास्तविक मानस जीवन के उन लक्षणो की जिनको यह नियम कुछ नही देखते, उपेक्षा द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है या नही।

भौतिक विज्ञानो मे, जैसाकि हमने देखा, यह यान्त्रिक योजना केवल इसलिये वैध थी चूँकि वहाँ उपलक्षक प्रकार की भौतिक परिस्थितियो के काम लेने के सामान्य नियम तैयार करने का हमारा ऐसा मतलब मौजूद था जिसे ठोस तथ्य के उन सब पहलुओ की उपेक्षा द्वारा हल किया जा सकता था जिन्हे यह यान्त्रिक योजना अपने मे शामिल नही करती लेकिन हमने यह भी देखा था कि मनोवैज्ञानिक अनुसधान मे हमारा हित प्रधानतया (स्वेच्छ क्रिया के अध्ययन मे एकान्तिकतया) दूसरी तरह का होता है। इन अनुसधानो मे हमारा हित या प्रयोजन था मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का ऐसा साध्यवादी प्रतिदर्शन प्रस्तुत करना जो नीतिशास्त्र, इतिहास तथा उनसे सम्बद्ध अन्य अध्ययनो के शसात्मक निर्णयों के लिये प्राप्तव्य हो सके। इस प्रकार मनस्तत्वीय जीवन के कुछ प्रयोजनो के हेतु, उसके साध्यपरक स्वरूप से अपाकृष्ट करके यान्त्रिक अनुक्रमवत् व्यवहृत करने की सभावना को स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी वह अपाकर्षण विशिष्ट मानस विज्ञानो के हेतु घातक होगा और इसलिये उनके लिये वह अमान्य होता है। ऐसी साध्यपरक इकाई जिसके साध्यपरक इकाई रूप मे ही हमारी रुचि है, हमारे सारे ही वैज्ञानिक क्रिया-विधान का मजाक उडवाए विना, अपने साध्यपरक स्वरूप से अपाकृष्ट रूप मे व्यवहृत नही हो सकती।

निश्चयवादियों की पहली वादोक्ति का उपर्युक्त उत्तर साथ ही साथ उनकी दूसरी वादोक्ति का भी निराकरण करता है। यह सही है कि ऐसा कोई भी विज्ञान जिसका एकान्त उद्देश्य 'नियमो' अथवा 'एकरूपताओं' का ढूंढ निकालना है कारणीय नियम के उरीकरण हेतु बाध्य है। उसे ठोस तथ्य के उन सब पक्षो की ओर से आँख मूंद लेनी होगी जिन्हे 'समान' अथवा 'एक सी परिस्थितियो' मे 'एक से परिणाम' अथवा 'उसी परिणाम' के यान्त्रिक अनुक्रम मे विघटित नही किया जा सकता। किन्तु जैसाकि हमने इस खड के प्रथम अध्याय मे देखा था मनोविज्ञान का अपने उन भागों को छोडकर जो भविष्य के शरीर-क्रिया-विज्ञान के अस्थायी स्थानापन्न मात्र प्रतीत होते हे, लाक्षणिक कार्य 'मानस क्रिया कलाप के नियम ढूंढ निकालना' नही है बल्कि उन प्रक्रियाओ की साध्यपरक एकता का जो व्यक्तिलिप्ठ हितो की अभिव्यक्ति हैं एक सर्वसामान्य और सक्षिप्त रूप में पुन' प्रस्तुत करना है। अत मनोविज्ञान के श्रेष्ठतम

उपलक्षक भागों का आधार यान्त्रिक विज्ञान की कारणीय अभिधारणाएं नहीं होतीं अपितु वे साध्यपरक सातत्य की कल्पना पर ही आधारित होते हैं।

अत निश्चयवादी की तीसरी विवादोक्ति के प्रति हमारा उत्तर यह है कि हम इस आरोप की सत्यता स्वीकार करते है कि मनोविज्ञान तथा वे सभी अधिक प्रत्यात्मक मानस विज्ञान जो मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद का उपयोग किया करते है, और मानस प्रक्रियाओं को सारतः साध्यपरक समझते है, अपने इसी दृष्टिकोण के कारण यान्त्रिक अभिधारणाओं के अनुकूल तब न हो सकेंगे—जब वे अभिधारणाएँ मानस विज्ञान की शासक नियम या सिद्धान्त बनकर उसमे प्रवेश पाने का दावा करने लगेगी। हम स्वीकार नही करते कि इस रूप मे उन्हे मान्यता पाने का कोई अधिकार है। चूंकि हमे मालूम है कि वे हमारे दत्तो में से उस सबको जो साध्यपरक है निकाल बाहर करने की नियमावली मात्र है। इसलिए यान्त्रिक अभिधारणाओं की मनोवैज्ञानिक वैधता केवल उस सीमा तक ही है जहाँ तक कि मनोविज्ञान यान्त्रिक निष्कर्षों का इच्छुक है। वह सीमा कहाँ तक है, यह हम इस खड के प्रथम दो अध्यायो मे जान चुके है और हम पा चुके है कि प्रायोजनिक क्रिया का समारभ ऐसी प्रक्रिया नही है जिसे मनोविज्ञान सफलतापूर्वक यान्त्रिक मान सके।

७—अब जब हम निश्चयवादियों की मानस-विज्ञान विषयक ताथ्यिक क्रिया-विधि सम्बन्धी विवादोक्तियों की ओर मुडते हैं तो निम्नलिखित टिप्पणियाँ देनी होती हैं। (१) 'प्रेरकों' के मनोविज्ञान द्वारा चयन के निर्धारक पूर्ववर्ती माने जाने विषयक विवादोक्ति के बारे मे हमारा कहना है कि अत्यधिक पुरुषयुक्त शब्द 'प्रेरक' मे आप जिस बात के माने पिरोना चाहते है तद्नुसार ही वह विवादोक्ति या तो थोथी लकीर पीटती है या विरोधाभास है। चयन का निर्धारण कारणीयतया 'प्रबलतम प्रेरकों' द्वारा होता है। पर इसके माने क्या है? यदि 'प्रबलतम प्रेरक' का सीधा सादा मतलब उस कार्य प्रणाली या दिशा से हो जिसे वस्तुत हम चुन लेते है तो विवादोक्ति का सीधा पर असगत अर्थ यह हो जाता है कि हम उसे ही चुनते है जिसे हम चुनते है और किसी को नही। किन्तु यदि 'प्रेरकों' को ऐसे पूर्ववर्ती माना जाय जो अपनी शक्ति के अनुपात से चयन का कारणीय निर्धारण करते है, उसी तरह जिस तरह कि अनन्त यान्त्रिकी मे यान्त्रिक 'शक्तियां' किसी कण का पथ निर्धारण किया करती है, तो हमे विविध 'प्रेरकों' की शक्ति को, किसी आकर्षक पिण्ड के द्रव्यमान के समान पूर्वत स्थिर, तथा उनके द्वारा निर्धार्य चयन से स्वतन्त्र मानना होगा। दूसरे शब्दो मे, निश्चयवादी विवादोक्ति यह मान लेने के लिए प्रेरित करती है कि क्रिया की वैकल्पिक सम्भावनाएं अपने चयनकर्त्ता के साथ अपने सम्बन्ध से व्यतिरिक्त 'प्रेरक' पहले ही से होती है और इसके अतिरिक्त चयनकर्ता के 'चरित्र' अथवा प्रयोजन की स्वतन्त्रता मे उनकी वह

'शक्ति' निहित रहती है जो किसी अवोध्य तरीके पर किसी ऐसी अज्ञात वस्तु की वृत्ति हुआ करती है जिसके विषय मे यह बता सकना आसान नहीं है कि वह वस्तु क्या है यद्यपि उसे जानना निश्चयवादी के लिए अनिवार्य है। और यह सब कथन सिवा बकवास के और कुछ नही। विकल्प स्वय 'प्रेरक' नही हुआ करता। वह तो तभी प्रेरक रूप हो सकता है जब किसी कर्त्ता के पहले से वर्तमान किन्तु अस्पष्ट प्रयोजन या लक्ष्य का वह सापेक्ष हो और वह 'प्रबल' अथवा 'निर्बल' प्रेरक है इसका निर्णय भी उसी तरह कर्ता के प्रयोजन के स्वरूप पर निर्भर होता है। द्रव्यकण जिस प्रकार अपने अपने द्रव्यमान के अनुपात से अन्य द्रव्य-कणो को आकर्षित किया करते है उसी प्रकार प्रेरको के विषय मे भी यह कल्पना करने का प्रयत्न करना कि वे भी अपनी अन्तर्हित 'शक्ति' के द्वारा मन पर क्रिया किया करते है एक ऐसी आँख को चुभने वाली अनर्गलता है कि उसे नगा करने के लिए उसे उसके खुले रूप मे लिख देना भर ही पर्याप्त हे।

और (२) विशिष्ट मामलों मे, कौन कैसा व्यवहार करेगा इस बात का पूर्व-कथन संभव है या नही, इस बारे मे भी निश्चयवादियों का अभिमत अनर्गलतापूर्ण है। हम अपने तृतीय खड मे देख चुके है कि वैयक्तिक मामलों मे कौन कैसा व्यवहार करेगा इस गतिक्रम का अचूक पूर्वकथन कभी भी सभव नही होता। यान्त्रिक परिगणन और पूर्वकथन हमने भौतिक विज्ञानो मे ही सभाव्य इसलिए पाया था क्योकि उन विज्ञानो का काम प्रक्रियाओ के इतने विशाल समूहो के औसत स्वरूप से रहता है कि वे उनकी व्यष्ट विवृत्तियो का पता लगाने के चक्कर मे कभी नही पडते। हमने इसके साथ ही 'कारणीय नियमो' की सहायता से मानव व्यवहार के विश्वास्य पूर्वकथन को भी उसी श्रेणी का पाया था। आपकी एकरूपताएँ तभी तक सही पायी जा सकती है जब तक वे अपने आपको, उन साख्यकीय माध्यो से अधिक और कुछ नही बताती, जिन्हे, उनके निर्मायक विशिष्ट विषयो की व्यष्ट विशेपताओं की उपेक्षा करके प्राप्त किया जाता है। किन्तु व्यष्ट चरित्र और प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर किसी व्यष्ट व्यक्ति के व्यवहार के बारे मे भरोसे के साथ किया गया आपका पूर्वकथन उचित नही माना जा सकता।

अत. निश्चयवादी जब यह कहता है कि 'अगर आप किसी आदमी के चरित्र से और उसकी परिस्थितियो से अवगत है तो आप उसके व्यवहार का भरोसे के साथ पूर्व-कथन कर सकते है' तब उसकी दृष्टि मे उपर्युक्त प्रकार का व्यष्ट परिचय नही होता। उसका मतलब तब यह होता है कि किसी व्यष्ट पुरुप का 'चरित्र' किन्ही अनेक सामान्य सूत्रो मे विघटित किया जा सकता है, यानी 'मानस-क्रिया-विपयक नियमो' मे और इन नियमो को केवल एक साथ मिलाकर तर्कशास्त्रानुसार आप उसका व्यवहार

निगमित कर सकते हैं। यह पूर्वग्रहण किस कदर अतार्किक है यह देखने के लिए हमें सिर्फ इतना ही पूछना होगा कि उसी चरित्र शब्द का यथार्थ मतलब क्या है जिसे हम अपने अनुमित परिगणन के लिए प्रदत्त तत्वो मे से अन्यतम मानते हैं। यदि उसका मतलब हमारी उन समग्र जन्मजात 'प्रवृत्तियो' से हो जिन्हे साथ लेकर हम पैदा होते हैं तो इस कठिनाई के अतिरिक्त कि इस 'प्रवृत्ति' शब्द के यथार्थ माने आप क्या समझते है—भी निश्चयवादी का कथन निकटतया तक सत्य नही है। क्योकि (अ) यद्यपि यह सही हो सकता है कि किसी दी हुई स्थिति मे उसका व्यवहार उसके 'चरित्र' को व्यक्त करे फिर भी 'चरित्र' वही चीज कभी नही हो सकती जो 'सहजात प्रवृत्ति' है। प्रवृत्ति तो चरित्र का कच्चा माल है और चरित्र प्रवृत्ति से, परिस्थिति के प्रभाव, हमारे सामाजिक वृत्त की शिक्षा विषयक क्रिया-शीलता तथा स्वय हमारे आत्म नियत्रण या आत्मानुशासन द्वारा निरूपित होता है। और इस प्रकार निरूपित हो जाने पर भी चरित्र ऐसी कोई स्थिर और अपरिवर्तनशील मात्रा नही हो जाती कि जो किसी व्यक्ति के विकास को किसी युग पर एक बार दे दी जाया करती हो और जो उस युग के बाद से सतत बनी रहती हो। सैद्धान्तिक तथा स्वय ही चरित्र व्यक्ति के जीवन भर लगातार बना ही करता है। और व्यक्तिगत गहरे ताल्लुकात की वजह से भले ही आपको यह लगता हो कि जीवन के किसी विशेष अवसर के बाद 'चरित्र' मे कोई गहरा परिवर्तन नही आ सकता तो भी यह विश्वास कभी भी 'नैतिक' निश्चय का रूप धारण नही कर सकता और वैयक्तिक जान-पहचान के बल पर ही उसका औचित्य माना जा सकता है अन्य किसी आधार पर नही।

(ब) अब दूसरी विवादोक्ति को लेते है। व्यावहारिक रूप से असम होते हुए भी, यदि आप सर्वज्ञ के ज्ञान के समान किसी व्यक्ति के चरित्र को जानते हो तो आप उसके जीवन के प्रत्येक कार्य को भी अवश्य जानते ही होगे। क्योकि उसका 'चरित्र' उन हितो और प्रयोजनो की, जिनकी अभिव्यक्ति उस व्यक्ति के बाह्य क्रिया-कलाप द्वारा होती है, व्यवस्था मात्र है। अत उसे पूरी तरह जानने के माने होगे उन्हे भी पूरी तरह जानना। किन्तु जिस बात को निश्चयवादी नियतवादी हमेशा आँख ओझल कर जाता है वह यह है कि आपको किसी व्यक्ति के 'चरित्र' का ज्ञान सभवत तब तक नही हो सकता जब तक आप पहले ही से उसके सारे जीवन से परिचित न हो। इस लिए चरित्र पहले ही अगाऊ तौर पर दिए गए ऐसे दत्त के रूप मे आपको ज्ञात नही हो सकता जिसके द्वारा आप गणितीय परिशुद्धतापूर्वक, विचाराधीन व्यक्ति के तब तक अज्ञात भावी कार्यो की गणना कर सके क्योकि जैसा हम पहले देख चुके है, 'चरित्र' वस्तुत वहाँ ऐसे दत्त तथ्य के रूप मे मौजूद नही होता जो आपको उसके निर्माता कार्यो से पहले प्राप्त हुआ हो। अपने श्रेष्ठतम रूप मे आपके दत्त, बहुसख्यक 'चित्त-वृत्तियों' या प्रवृत्तियो से अधिक और कुछ नही हो सकते और ऐसे दत्तो के आधार पर

किया गया पूर्वकथन कभी अचूक इसलिए नही हो सकता क्योकि पहले तो चित्त-वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ ही स्वय वास्तविक स्थिर आदतों के रूप में सदा विकसित नही होती और दूसरे यह कि 'प्रवृत्तियाँ' सुपुप्त बनी रह सकती है और बहुधा सुषुप्त रहती ही हैं और इस रूप मे वे अपूर्ण रहती है तथा ऐसी परिस्थिति जब तक न खडी हो जो उन्हे जगा देने के उपयुक्त हों वे सुपुप्त प्रवृत्तियाँ ध्यान मे आने से चूक भी जाती है। अतः यदि यह सच भी हो कि किसी आदमी की प्रवृत्तियों के प्रारभिक या मौलिक जखीरे या सग्रह के पूर्ण ज्ञान द्वारा आप उसके चरित्र का अन्दाज शुरू से लगा सकते है, तो भी इस बात का निश्चित होना कि उसकी 'प्रवृत्तियो' के बारे मे आपका ज्ञान पूर्ण था—असभव होगा।

अत' यदि 'मानव-स्वभाव विषयक विज्ञान' के वास्तविक अर्थ मानव-व्यवहार का उसके मूल तत्वो से पूर्णत परिगणन कर सकना होता हो तो हमे यह मानना पडेगा कि ऐसा विज्ञान न तो अभी तक कोई है और न हो ही सकता है। किन्तु तथ्यरूपत' जब हम कहते है कि 'मानव-प्रकृति विज्ञान' अथवा 'मानव-स्वभाव विज्ञान' सभव है या नही अथवा कि वह पहले से आशिक रूप मे विद्यमान है, तब उसका मतलब कुछ ओर ही होता है। तब हमारा मतलब या तो ऐसे वैयक्तिक मनोविज्ञान से होता है या सामाजिक मनोविज्ञान से जो साध्यवादी प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप का अनुनिदर्शन करानेवाला अमूर्त प्रतीकवाद है, अथवा इतिहास से जो घटना के बाद मानवीय क्रिया के सगत प्रयोजन के निग्रह करता है अथवा नीतिशास्त्र और राजनीति से जो अर्हता के आदर्श मापदण्ड द्वारा उपर्युक्त प्रयोजन की प्रशसा करते है। इन उपर्युक्त विज्ञानो में से किसी ने भी कभी, सामान्य नियमो की सहायता से मानव जीवन की गणना, घटित होने से पहले नही की। भविष्य विषयक जो पूर्वोक्तियाँ हम बौद्धिक विश्वासपूर्वक किया करते है वे जिस किसी भी कीमत की क्यो न हो, स्पष्टतया हमारे अपने अथवा दूसरो के ठोस अनुभव पर ही आधारित हुआ करती है न कि मानव मन की काल्पनिक यान्त्रिकी के नियमो पर।

८—**अनिश्चयवाद**'—अनिश्चयवादी विरोधाभासो का विवेचन हम सक्षेप मे ही करेगे। ऐसा करना इसलिए भी अधिक सभव है चूँकि अनिश्चयवाद, यद्यपि लोकप्रिय सुगीलीकरण के कार्य मे अधिक तथा प्रचलित होने पर भी, आजतक अपने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त जैसी, वैज्ञानिक अनुसधानकर्त्ताओ के मान्य अभिमत जैसी स्थिति प्राप्त नही कर सका। अनिश्चयवादी की स्थिति का सार, आत्मनिर्धारण सिद्धान्त द्वारा तथा अबौद्धिक विपर्यास रूप मे, निश्चयवादियो के इस सिद्धान्त द्वारा समान रूप से दृढीकृत नियम के निषेध मे निहित है, कि व्यवहार चरित्र की परिस्थितियो पर हुई प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह देखते हुए कि यदि, समग्र मानवीय क्रिया-

कलाप का यान्त्रिकतया पूर्व निर्धारण उसके पूर्ववर्तियों द्वारा ही होता है। और इसीलिए सिद्धान्त रूप से उसे उसके तत्वों या कारकों से नियमित किया जा सकता है। सच्ची नैतिक स्वतन्त्रता की कोई सभावना ही नहीं रहती और यह न देखते हुए कि सच्ची नैतिक स्वतन्त्रता का सार, यान्त्रिक निर्धारण के विरुद्ध साध्यपरक होता है, अनिश्चयवादी अपने आपको इस दृढ कथन के लिए वाध्य पाता है कि अन्ततोगत्वा मानवीय क्रियाकलाप मानवीय चरित्र द्वारा भी नहीं निर्धारित होता। मानवीय स्वभाव में 'अनवधानता का स्वतन्त्र सकल्प' ऐसा निहित होता है कि जिसके कारण किसी मनुष्य के कार्य-कलाप, कम से कम वे तो अवश्य ही जिनके विषय में वह नैतिक रूप से 'उत्तरदायी' हो इस माने में कि वह उनके चरित्र पर निर्भर नहीं होता स्वतन्त्र होता है।

इस अभिमतानुसार स्वतन्त्रता, दोनो विकल्पों पर ध्यान दिए विना ही उनमें से किसी एक को अपना लेने की सामर्थ्य निहित होती है। जब तक उनमें से एक विकल्प आपके लिए निषिद्ध रहता है। (चाहे वह आपके अपने चरित्र के कारण हो या बाह्य परिस्थितियों के कारण, अनिश्चयवादी के लिए दोनों ही बराबर है) तब तक आप स्वतन्त्र नहीं है न आप नैतिकता प्रिय तथा उत्तरदायी जीव की तरह काम कर रहे होते हैं। आप अपने प्रयोजन अथवा उद्देश्य के अनुसरणार्थ तब ही स्वतन्त्र रूप से काम कर रहे होते हैं जब आप उससे एकदम विपरीत उद्देश्य का भी बराबरी से अनुसरण कर सकते हैं। इस सामान्य विवादोक्ति के कि पूर्ववर्तियों द्वारा निर्धारण नैतिक उत्तरदायित्व से मेल नहीं खाता, अतिरिक्त जिन अन्य विवादोक्तियो द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि की जाती है वे मुख्यत अव्यवहृत भावना पर निर्भर होती है। अत हमसे कहा जाता है कि (१) जब हम अपने चुनाव के आधार पर काम करते है न कि किसी वाध्यता के वश होकर तब हममे यह तात्कालिक भावना जाग्रत रहती है कि अगर हम चाहे तो इससे उल्टा काम भी इसी स्वच्छन्दतापूर्वक कर सकते है और (२) यह कि यह एक प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि प्रलोभन का प्रतिरोध करते समय हम अधिकतर-प्रतिरोध पथ के अनुसार ही काम कर सकते ही नहीं किया भी करते हैं और यह कि इसीलिए सकल्प का निर्धारण 'प्रेरकों' पर निर्भर नहीं होता।

तथाकथित तथ्यो की ताथ्यिकता का विशद विवेचन, निश्चय ही मनोविज्ञान की वस्तु है ओर उस विवाद मे मैं यहाँ नही फँसना चाहता। लेकिन यह साफ हो जाना चाहिए कि अगर हम मान भी ले कि तथ्य ठीक वैसे ही होते है जैसाकि अनिश्चयवादी उन्हे बताता है तो भी जिन निष्कर्षों को वह उन तथ्यों पर आधारित करता है, वे उचित नही ठहरते, इस तरह पर (१) नि सन्देह यह सही है कि किसी कार्यक्रम का निश्चय करते समय प्राय. मुझे पता होता है कि अगर मैं चाहूँ तो दूसरे तरीके पर भी काम कर सकता हूँ। लेकिन इस शर्तिया जुमले की—इन प्रतिबन्धात्मक पद-विन्यास की, वर्तमानता ही

साध्यपरक निश्चयन और एकान्त अनिश्चयन के भेद की जननी है। उदाहरण के लिए इस बात का पता होना कि मैं जीवन भर के अभ्यासों अथवा आदतो का उल्लंघन कर सकता हूँ, जिन अपराधो से मैं घृणा करता हूँ वे ही अपराध मैं कर सकता हूँ और जिन उद्देश्यों या प्रयोजनों का मैं अधिकतम भक्त हूँ उनकी तरफ आँख उठाकर देखना तक छोड सकता हूँ, अनुभूतिगत यथार्थ तथ्य नहीं है। मैं यह सब कुछ कर सकता हूँ 'अगर मैं चाहूँ तब', लेकिन ऐसा चाहने से पहले मुझे एक भिन्न व्यक्ति बनना होगा। जब तक मैं वही आदमी रहता हूँ जो मैं हूँ तब तक यह मान लेना कि मै उन उद्देश्यो को जिनसे मेरे व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है अथवा तद्विपरीत उद्देश्यो को अनवधानतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता हूँ, एक स्पष्ट अनर्गलता है।

(२) प्रलोभनो के सफल प्रतिरोध पर आधारित वादोक्ति भी इसी तरह का विरोधाभास है। हम पहले ही देख चुके है कि निश्चयवाद का वह पूर्वग्रहण जिसके विरुद्ध उक्त वादोक्ति पेश की जाती है अर्थात् व्यवहार का यान्त्रिकतया निर्धारण 'प्रेरकों' की अंतर्हित शक्ति द्वारा होता है, स्वय ही अर्थहीन है। 'प्रेरक' अगर वे कुछ चीज़ है भी तो, उन हितो का ही दूसरा नाम है, जिनसे मिलकर हमारा 'चरित्र' बनता है। न कि वे प्रभाव जो उन चरित्र को प्रभावित करें, इसलिए उनकी आपेक्षिक अथवा सबद्ध 'शक्ति' चरित्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं होती अपितु स्वय व्यष्ट चरित्र की सरचना की ही एक नयी अभिव्यक्ति है। किन्तु अनिश्चयवाद की विपरीत वादोक्ति भी समान रूप से अर्थहीन ठहरती है। प्रलोभन पर विजय पाने का 'अधिकतम प्रतिरोध का मार्ग' बनना ठीक उसी तरह की यान्त्रिक सदृशता का उपयोग करना है जिसका प्रयोग निश्चयवादी 'प्रेरक' की पूर्ववर्तिनी 'शक्ति' की बात करते समय किया करता है। वस्तुत अनिश्चयवादी की वादोक्ति की केवल दो ही व्याख्याएँ सभव हो सकती है और उनमे से कोई भी उसके निष्कर्ष की पुष्टि नहीं करती। जिस 'प्रतिरोध' के वह बात करता है उसे कार्य करने की प्रेरणा का प्रतिरोध कर सकने मे प्राप्त वास्तविक सफलता के मापदण्ड से मापना चाहिए और उस हालत मे यह बात ही कि हम प्रलोभन के वश मे नहीं आते, ज़ाहिर करती है कि हमारे लिए प्रलोभन के वश मे हो जाना ही 'अधिकतम प्रतिरोध का मार्ग' होता, अथवा 'प्रतिरोध का माप उस सीमा के आधार पर होना चाहिए जिस सीमा तक कि परित्यक्त विकल्प, परित्याग के पश्चात् भी एक मानसिक तथ्य के रूप मे लगातार वर्तमान रहता है। उस हालत मे उस तथाकथित अनुभूति का मतलब इतना ही होता है कि अपने प्रशिक्षण अथवा हार्दिक विश्वास के वश ऐसे सुझावो पर मनस्तत्वीय तथ्यों के रूप मे जो इतने शक्तिशाली होते हैं कि हमारे अस्वीकरण के बाद भी हमारे मन पर छाए रहते हैं, अमल करने से इनकार कर सकते हैं और कभी कभी वस्तुत कर भी देते हैं। और मनोरंजक तथा सुझावपूर्ण होने पर भी यह ऐसा कोई

विशेप कारण नही कि जिसके आवार पर हमारे व्यवहार के साध्यपरक निर्धारण की वात का निपेध होता हो।

अनिश्चयवाद के विरुद्ध तत्त्वमीमासा का वास्तविक आक्षेप यह नही है कि वह एक अप्रमाण्य तथा अनावश्यक प्राकल्पना है वल्कि यह कि उसमे मानवीय क्रिया-कलापो के वीच तर्कसगत सवन्धो के अस्तित्व का निपेध शामिल है। अपनी इस घोपणा द्वारा कि चरित्र व्यवहार का निर्धारण द्वारा नही करता वह आभासत यह कहना चाहता है कि काकतालीयता ही अन्तिमेत्थतया निर्णय करती प्रतीत होती है किसी विशिष्ट मामले मे हम किस तरह से व्यवहार करेंगे। और काकतालीयता, यौक्तिक अथवा तर्कसगत सम्बन्धों के अभाव का ही दूसरा नाम हे। उदाहरणत यह वात विविध अनुभवाधारित विज्ञानो मे किए जाने वाले काकतालीयता के उपयोग पर वहुत कुछ निर्भर होती है। अत जव मैं कहता हूँ कि यह सयोग की वात हे कि मैं ताशो की गड्डी मे से कौन सा पत्ता खीचूंगा तो मेरा मतलव होता हे कि परिणाम अशत उन परिस्थितियो पर निर्भर है जिन्हे मैं नही जानता और इसी लिए जिन्हे मैं किसी एक या दूसरे परिणाम के पक्ष मे निर्णय करने का साधन नहीं वना सकता। मेरा मतलव नि सन्देह यह नही होता कि परिणाम सशर्त ही नही अथवा यह कि यदि परिस्थितियो का पर्याप्त ज्ञान मुझे होता तो उसकी पूर्वगणना सभव नही हो सकती थी पर मेरा मतलव इतना ही हे कि विशेपत मुझे ही इतना पर्याप्त ज्ञान नही हे। अत मौजूदा हालात मे परिस्थितियो का यथार्थ ज्ञान न होने के सापेक्ष अर्थों मे सयोग का स्वीकरण सकल विचारणा के मूलभूत इस स्वय सिद्ध नियम के विरुद्ध नही वैठता कि सकल अस्तित्व एक यौक्तिक इकाई हे या किसी तरह की योजना। वस्तुत चूंकि हम कभी भी किसी चीज की 'परिस्थितियो की समग्रता' नही जान सकते इसलिए यह कहना सही होगा कि इस सापेक्ष भावानुसार तभी विशिष्ट ताथ्यिकताओ मे काकतालीयता का कुछ न कुछ अश अवश्य होता है।

किन्तु अनिर्धारित स्वतन्त्र सकल्प का सिद्धान्त जिस प्रकार के निरपेक्ष सयोग का पृष्ठपोपण करता है उसका मतलव होगा इस प्रकार के सकल्प से उत्पन्न वताए जाने वाले तथ्यो के जैसे तैसे यौक्तिक सम्वन्ध का अभाव मात्र। इसीलिए तो अनिश्चयवादी अभिमत भी हमे अन्त मे ठीक निश्चयवाद की सी तत्वमीमासीय अनर्गलता तक पहुँचा देता है। जिस प्रकार के युक्ति मुक्त सम्वन्ध की पूर्वकल्पना तव की जाती है जव हम किसी कर्ता की उसके व्यवहार के लिए प्रशसा या निन्दा करते है, उस तरह के सम्वन्ध को जो साध्यवादी निर्धारण का ही पर्याय हे, न देख पाने के कारण दोनो ही उपर्युक्त अभिमत (निश्चयवादी तथा अनिश्चयवादी) अन्त मे मानवीय क्रियाओं के अन्त सम्वन्ध अथवा मिथ सम्वन्ध से इनकार करने लगते ह। उनमे से एक अभिमत उसकी जगह निष्प्रयोजन यान्त्रिकीय 'आवश्यकता' की कपोल कल्पना को ला विठाता

है। और दूसरा 'अन्धी काकतालीयता' जैसी उसी तरह की कपोल कल्पना को। और ये दोनो ही कपोल कल्पनाएं विभिन्न नामो से पुकारी जानेवाली एक ही वस्तु है। क्योंकि निश्चित सूचना का जो भी थोडा सा अंश या तो इस दृढकथन से प्राप्त किया जा सकता है, कि मानवीय व्यवहार यान्त्रिकरूपेण निर्धारित होता है अथवा इस कथन से कि यह व्यवहार संयोगजन्य होता है, वह यह निष्कर्ष मात्र है कि इन दोनों ही मामलों मे वह अशगत उद्देश्य को व्यक्त नही करता।

९—इस प्रकार स्पष्ट है कि अनिश्चयवाद ठीक अपने प्रतिपक्षी की तरह ही नैतिक दायित्व का कोई सैद्धान्तिक आधार नही बता पाता। सही है कि मैं उन कार्यों के लिए जो पूर्ववर्तियो की यान्त्रिक व्यवस्था के परिणाम हों, जिम्मेदार या उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता क्योंकि यह कार्य मेरे स्वात्मीय प्रयोजनो से उत्पन्न नही होते इसलिए किन्ही भी सही मानो मे मेरे कार्य नही होते। किन्तु यही बात बराबर से अनिर्धारित स्वतन्त्र सकल्प के परिणामो के बारे मे सही उतरेगी। यतः उन परिणामों का अस्तित्व मेरे प्रयोजन या उद्देश्य पर आधारित नही होता इसलिए किसी भी सही माने मे वे परिणाम मेरी क्रियाएँ नही होती और उनके अज्ञात स्रोत को 'स्वतन्त्र संकल्प' सज्ञा देना उपर्युक्त निष्कर्ष को दूर करने की जगह छद्मवेश मे प्रस्तुत कर देना मात्र है। उन्ही कार्यों का सम्बन्ध मेरा कहकर मेरे साथ जोडा जा सकता है जो चरित्र से उत्पन्न हो तथा मेरे वैयक्तिक हितों को व्यक्त करते हों और उन्ही को मेरी स्वात्म-निंदा मे नैतिक अनुमोदन का आधार बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि अपने अपने मार्गो के विच्छेद-बिन्दु में अन्तर्हित उभय-सामान्य गलती के कारण ही निश्चयवादी तथा अनिश्चयवादी दोनों बराबर से असभव निष्कर्षो पर जा पहुँचते है। दोनो ही इस असत्य पूर्वग्रहण को लेकर चलते है कि किसी घटना का उसके पूर्ववर्तियो द्वारा कारणीय निर्धारण ही,—जिसे हमने अपनी पहले वाले खडो मे ऐसी अभिधारणा पाया था जो अन्तोगत्वा वास्तविकता या सत के अनुकूल नही होती, किन्तु उसी सीमा तक अनुज्ञाप्य होती है जहाँ तक वह हमे घटनाओ को उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित समझते हुए उपयोगी परिणाम प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करती है—मूर्त अस्तित्व के लक्षण के रूप मे, अन्तिमेत्यतया वास्तविक है। शुरू से ही इस प्रकार परिवर्तनशील ससार की अपनी धारणा से यथार्थ साध्यवादी निर्धारण का बहिष्कार कर देने के कारण ही दोनों ही सिद्धान्तवादी उन मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं को जिनके साध्यवादी पदार्थ अपरिहार्य होते हैं, सही तौर पर समझ नहीं पाते।

उन सिद्धान्तो के अनुसार, जो निर्धारण को विशुद्धतया यान्त्रिक मानते है, वे कारक जो साष्टतया व्यवहार की निर्धारक परिस्थितियाँ या शर्तें हैं, अर्थात् चरित्र तथा कार्य की वैकल्पिक सभाव्यताएँ, अनिवार्य रूप से ही तद्जनित कार्य के कालीय पूर्ववर्ती

माने जाने लगते है। और जहाँ एक बार चरित्र के बारे मे यह धारणा बन जाती है कि वह एक ऐसी पहले से वर्तमान सामग्री है जिसे लेकर बाह्य 'प्रेरक' कार्य किया करते हैं, तो उसूलन अथवा सैद्धान्तिकतया इसकी परवाह नही की जाती कि 'चरित्र' और 'प्रेरक' को ही आप ऐसे पूर्ण पूर्ववर्ती मानते हैं या नही कि जिनके द्वारा कार्य का निर्धारण होता हो या आप एक तीसरा पूर्ववर्ती को भी अव्याख्येय स्वच्छन्द स्वतन्त्र सकल्प के रूप मे उनके साथ जोड देते है। दोनो ही मामलो मे, जब क्रिया रूप मे अपने को व्यक्त करनेवाले 'चरित्र' को तथा उसी के नामारासी 'प्रेरक' को परिस्थितियो के सदर्भ से विशेपित करके विचारणार्थ, झूठे तरीके पर एक दूसरे से पृथक् कर दिया गया और फिर उन्हे, उनके ही अभिव्यक्त करनेवाले कार्य के कालीय पूर्ववर्तियो के रूप मे कल्पित कर लिया गया तब नैतिक दायित्व द्वारा वस्तुत अभिप्रेत स्वातन्त्र्य के सच्चे अनुदर्शन अथवा प्रतिनिधित्व की सारी सभावना ही त्याग दी गयी। स्वातंत्र्य-समस्या मूलक हमारी अपनी विचारणा मे हम भी इस भूलभुलैया के दोनों पक्षो से इसलिए बच सके थे क्योकि हमने पहले से ही मान लिया था कि यान्त्रिक निर्धारण के पदार्थ वस्तुतथ्य को व्यक्त नही करते बल्कि वे ऐसे प्रतिबन्ध है जो तथ्यो पर इस प्रकार के विशिष्ट प्रयोजनों के लिए जो मानव व्यवहार की नीतिशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक शसा के साथ जरा भी नही मिलते-जुलते, कृत्रिम रूप से लाद दिए गए है और इसीलिए अपने उचित क्षेत्र के बाहर उनका उपयोग जब किया है तब वे अप्रासगिक और भ्रामक बन जाते है।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए —एच० बर्गसन लिखित SUR Les donnees immediates de la Conscience; एफ० एच० ब्रैडले कृत 'एथिकल स्टडीज निबन्ध १, डब्ल्यू आर० बी० गिब्सन कृत 'दि प्रॉब्लेम्स ऑफ फ्रीडम' (पर्सनल आइडियलिज्म नामक खण्ड मे), टी० एच० ग्रीन लिखित 'प्रोलेगोमिना टु एथिक्स', बुक १, अध्याय ३, बुक २, अध्याय १; डब्लू० जेम्स कृत 'प्रिंसिपल्स ऑफ सायकॉलॉजी, वाल्यूम २, अध्याय २६, 'विल टु बिलीव्' (दि डालेम्मा आफ् डिटर्मिनिज्म), जे० लॉक कृत 'ऐसे कसर्निग ह्यूमन अडरस्टैण्डिग', बुक २, अध्याय २१ (ऑन पावर), जे० मार्टिनो लिखित 'टाइप्स ऑफ एथिकल थियरी', वाल्यूम २, बुक १, अध्याय १, जे० एस० मिल की 'लॉजिक', बुक ६, अध्याय २ एफएफ, जे० रॉयस कृत, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल,' सेकेड सीरीज, लेक्चर ८, एच० सिजविक लिखित, 'मैथड्स ऑफ एथिकल', बुक १, अध्याय ५, 'लेक्चर्स ऑन दि एथिक्स ऑफ ग्रीन', आदि पृष्ठ १५–२९।

अध्याय ५

नीतिशास्त्र तथा धर्म की कुछ विवक्षाएं

१—यदि सत् या वास्तविकता कोई एकरूप तंत्र हो तो उसमे हमारे नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुबोधीय हितो की परितुष्टि की कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। २—किन्तु हम यह पहले ही से नही मान ले सकते कि नीतिशास्त्रीय तथा धार्मिक अभिधारणाएँ आवश्यक रूप से उन्ही रूपो मे सही हुआ करती है जिन रूपो मे कि हमारे व्यावहारिक हित उन्हे ढाल देते हैं। ३—इस प्रकार, जहाँ नैतिकता का अस्तित्व ही तब तक असभव होगा जब तक कि सद्गुण और सौख्य का सामजस्य समग्रत नही होता, और जब तक कि सामाजिक उन्नति एक यथार्थ तथ्य नही बनती तब तक 'पूर्ण सद्गुण', 'पूर्ण सौख्य', 'अनन्त प्रगति' तर्कानुसार आत्म-व्याघातिनी धारणाएँ ही बनी रहेगी। ४—लेकिन इससे हमारे नैतिक आदर्शो की व्यावहारिक उपयोगिता मन्द नही होती। ५—धर्म के रूप मे हम ऐसे पूर्ण आदर्श की कल्पना करते है जो वैयक्तिरूप मे पहले ही से मौजूद रहता है। इसी लिए तो इस कालीय व्यवस्था का कोई भाग भी अन्तोतगत्वा धार्मिक श्रद्धा का उपर्युक्त अथवा पर्याप्त लक्ष्य नही बन सकता। ६—इसी से अनिष्ट की समस्या पैदा होती है। 'परमेश्वर' निरपेक्षान्तर्गत सान्त जीव नही हो सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो ईश्वर के स्वरूप के अश रूप मे अनिष्ट तथा अपूर्णता भी अवश्य होनी चाहिए और इस प्रकार ईश्वर पूर्वत वर्तमान आदर्श की सिद्धि नही है। ७—यह कठिनाई तब दूर हो जाती है जब हम 'ईश्वर' और 'निरपेक्ष' का एकीकरण इसलिए कर देते है क्योंकि निरपेक्ष मे अनिष्ट केवल एक एन्द्रजालिक आभास मात्र रूप देखा जा सकता है। किन्तु यह सही हो सकता है कि धार्मिक भावना को व्यावहारिकतया सक्षम बनाने के लिए उसके काल्पनिक लक्ष्य को अन्ततोगत्वा मानवपरक रूप देना आवश्यक हो उठे जो एक गलत बात होगी। ८—अनन्त निरपेक्ष के भीतर सान्त दैवी व्यक्तित्वो की वर्तमानता की न तो दृढतापूर्वक पुष्टि ही की जा सकती है न सामान्य तत्वमीमासीय आधार पर उससे इनकार ही किया जा सकता है। ९—ईश्वरास्तित्व के प्रमाण, जीव विकास विज्ञानात्मक तथा ब्रह्माण्ड विज्ञानात्मक प्रमाणो के नियम का ह्यूम और काण्ट की आलोचनाओ से बचाव केवल तभी किया जा सकता है जब हम ईश्वर और निरपेक्ष का एकीकरण कर दे। 'धर्म भौतिकीय प्रमाण' केवल सान्त अति-मानवीय बुद्धियो की वास्तविकता मात्र की ही स्थापना कर सकता है और उसकी शक्ति

साक्ष्य की अनुभूतिपरक विचारणा पर ही सहीतौर पर निर्भर है।

१—कभी कभी तत्वमीमांसक अनुभूति को ऐसा समझने के लिए उतावला-सा लगता है कि मानो बौद्धिक हितों द्वारा बनी है और उनके प्रदानों से काम लेने में हमारा एक मात्र कर्त्तव्य उन प्रदानों द्वारा एक ऐसे ज्ञान-तन्त्र की रचना कर देना है जो सगत विचारणा विषयक हमारी आवश्यकता को पूरा कर दे। नि सन्देह यह एक, एकपक्षीय तथा न्याय तत्वमीमांसीय स्थिति बिन्दु के अनुसार, हमारी अनुभूतियों के जगत् के प्रति बुद्धियों के रूप में हमारी अभिवृत्ति के स्वरूप की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। आभासत असम्बद्ध अनुभूति-सामग्री में व्यवस्था और एकरूपता लाने के हमारे बुद्धिजीवीय समानहितों के उपलक्षक रूपों का प्रतिदर्शन हमारे नैतिक, धार्मिक और सौन्दर्यपरक ही नहीं अपितु हमारे तार्किक आदर्शों द्वारा हुआ करता है अत' तत्वमीमांसीय नियमों का, वह चाहे कितना भी प्रारम्भिक क्यों न हो, का अध्ययन तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि उसके अन्तर्गत उस अन्तिमस्थ सत् अथवा वास्तविकता विषयक व्यवस्था की सरचना पर जिसके अश हम और हमारे विविध प्रकार के 'हित' हैं, पडनेवाले प्रकाश पर विचार न कर लिया जाय। यदि समस्त अस्तित्व को एकरूप इकाई मानना प्रत्येक गभीर दर्शन शास्त्र का मौलिक नियम हो तब यदि हम यह पता लगा सके कि इस दुनिया से कला, नैतिकता और धर्म द्वारा किए जाने वाले तकाजों के आवश्यक और स्थायी लक्षण कौन से हैं, तो हम आश्वस्त हो सकेंगे कि ये तकाजे किसी तरह पूरे हो सके और वस्तु योजना में उन्हें उनका उचित स्थान हिस्सा दिया गया।

क्योंकि ऐसी दुनिया जो जीवन से हमारी नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूतिपरक मांगों का केवल नकारात्मक उत्तर देकर ही उन्हें टाल देना चाहती है, अनिवार्यत हिंस्र और असमाधेय उत्क्रम के पहलुओ से भरी होगी और इसीलिए सही प्रकार की दुनिया न होगी और यह एक व्यवस्थित इकाई तो किसी तरह भी न होगी। आगे चलकर मैं इस द्विधा प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ कि धर्म और नैतिकता की इस विश्व से की जाने वाली 'अलघुकरणीय न्यूनतम' माँगें क्या हैं और हमारे पूर्वगत अध्यायों में समर्थित और आरक्षित अस्तित्व विषयक धारणा कहाँ तक उनकी पूर्ति करती है। हमारे सौन्दर्यानुभूतिपरक आदर्शों तथा उनकी तत्वमीमांसीय सार्थकता पर मैं इसलिये विचार नहीं करना चाहता चूँकि सामान्य मानव जाति के लिए व्यावहारिक दृष्टि से वह कम महत्व की है और चूँकि कम से कम मेरी राय में इस प्रश्न पर सन्तोषजनक विचार करने के लिए सौन्दर्यभावना के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विशिष्ट तथा यथार्थ प्रशिक्षण आवश्यक है।

२—इस प्रकार विशेषीकृत विषय पर विचार करने के लिए पहले के निष्कर्षों के बारे में कुछ तो चेतावनीस्वरूप तथा कुछ सारकथन स्वरूप एक आध शब्द

प्रारभ मे ही तत्वमीमासक पर, एक तत्वमीमासक के विशिष्ट स्वरूप मे कारण आरोपित नैतिकता तथा धर्म विपयक व्यावहारिक आदर्शो के प्रति उसकी अभिवृत्ति के बारे मे, कह देना आवश्यक होगा। इससे जाहिर होगा कि मैने पिछले अनुच्छेद मे नैतिक तथा धार्मिक अभिधारणीकरण के विपय मे क्यो 'अलघ्वुकरणीय न्यूनतम' का जिक्र किया था। दार्शनिक विपयो के आधुनिक लेखकों मे यह कहने की एक विशिष्ट प्रथा सी पड गयी है कि ऐसे प्रत्येक आदर्श का जिसे हम नैतिकता तथा धर्म के हेतु अत्यधिक मूल्य-वान समझते है, तत्वमीमासीय दृष्टि से, सत अथवा वास्तविकता विषयक हमारी धारणा के हेतु स्वय तर्कसगत विचारणा के मौलिक सिद्धान्तो से किसी प्रकार भी कम मूल्यवान् नही है। हमारा दावा है कि तर्कसगत विचारणा अन्ततोगत्वा अपने कर्म को उचित अथवा श्रेयस्‌परक आदर्श के अनुकूल बनाने के नैतिक प्रयत्न, सुन्दर वस्तु की सर्जिका सौन्दर्यानुभूति, तथा नीति परायणता की ओर प्रवृत्त करानेवाली किसी बाहरी शक्ति के साथ धार्मिक सहकार आदि की हमारी अनेक स्वाभाविक वृत्तियो मे से एक अन्यतम वृत्ति ही तो है। तब तत्वमीमासक क्यों ऐसा पूर्वानुमान कर बैठे कि नैतिकता और धर्म के 'व्यावहारिक हेतु' तथा कला के 'सृजनात्मक हेतु' की माँगो की अपेक्षा तर्कपरक बुद्धि की माँगो को पूरा करने के लिए यह विश्व कही अधिक विशिष्टत बाध्य है। क्या हमे यह न कहना होगा कि तर्कशास्त्री की यह माँग कि विश्व का बोधगम्य होना आवश्यक है, उसी श्रेणी की है जिस श्रेणी की कि नीतिशास्त्री की विश्व के नीति-परायण होने की तथा कलाकार की उसके सुन्दर होने की माँग और साथ ही क्या यह भी हमे न कहना होगा कि उपर्युक्त तीनो माँगे उन अभिधारणाओ से अधिक कुछ नहीं जिनका निर्माण, अन्तिमोपाय स्वरूप, हम केवल इसलिए किया करते हैं क्योकि वह उसके निर्माण की गभीरतम भावना की पूर्ति करती है। वस्तुत क्या हमे तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा धर्म और कला के अनुयायियो से एक साथ ही यह न कहना होगा कि 'विश्व से की गयी आप सब लोगो की ही माँगे अन्तिमेत्थतया एक ही प्रकार की है, और उन माँगो के करने का आप सबको समान अधिकार भी है। और जब तक आप मे से कोई भी अपनी अभिधारणा के रूप मे ही प्रस्तुत करने से सन्तोप का अनुभव करता है और अपनी व्यक्तिगत जिम्मेवारी पर ऐसा करता है तब तक आप मे से किसी को भी दूसरे की अभिधारणा की आलोचना करने अथवा उसका परित्याग करने का अधिकार नही है ?

यहाँ जिस अभिमत का इस प्रकार के सक्षिप्त कथन का प्रयत्न मैने किया है उसे मै आशिकत तत्वमीमासा से असगत और आशिकत भ्रमपूर्ण मानता हूँ और जहाँ तक वह भ्रमपूर्ण है वहाँ तक इसी लिए उसे आरिष्टक भी मानता हूँ। 'अपनी जिम्मेवारी पर जैसा चाहे वैसा विश्वास करने लगो' जैसे दावे मे निहित विचित्र मानसिक आरक्षण को

मैं यों ही टाल जाना चाहता हूँ। जैसाकि जार्ज इलियट ने 'एडम वीड' मे कहा है कि सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों के नाते हमारी स्थिति का यह एक मौलिक तथ्य है कि इस दुनियाँ में केवल कर्ता के अनन्य दायित्व पर ही कुछ नही होता। आपके विश्वास, जहाँ तक वे व्यक्त हो पाते है, आपके अन्य अवशिष्ट व्यवहार के समान ही अनिवार्य रूप से अन्यो के जीवन को तो प्रभावित करते ही हे वे आप के जीवन को भी प्रभावित करते है और इसी लिए उपर्युक्त झूठे तथा अरिष्टात्मक विश्वास के तनूकरणार्थ यह कहना निरर्थक ही है कि उस विश्वास का आवाहन हमने अपनी जिम्मेवारी पर किया था। कोई भी आदमी केवल अपने ही लिए नही जीता यह कथन जैसा सब के लिए सही है वैसा ही तत्वमीमासक के लिए भी सत्य हे और इसीलिए तत्वमीमासक को दूसरो की अपेक्षा व्यावहारिक सत्य की उपेक्षा करने का कोई विशेष अधिकार नही है।

आइये अव एक और अधिक महत्व की बात की तरफ मुडे। नि सन्देह यह सही है कि अस्तित्व के वारे मे सगत रूप से विचार कर सकने के तरीके की हमारी बौद्धिक आवश्यकता की सन्तोपजनक पूर्ति कर सकना भी अनेक मानव हितो या लक्ष्यो मे से केवल एक लक्ष्य या हित है। अत' हम आसानी से मान सकते है कि तर्कशास्त्र के समान ही नैतिकता, धर्म और कला को भी अपने अस्तित्व का अधिकार है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न कि क्या उपर्युक्त चारों मे से किसी भी एक को दूसरो की अपेक्षा अपना अस्तित्व बनाए रहने का श्रेष्ठतर अधिकार है, वस्तुत अर्थहीन प्रतीत होता है। यह सवाल करना बिलकुल बेमाने है कि क्या किसी उपलक्षणात्मक और आवश्यक मानवीय आकाक्षा को अन्य आकाक्षाओ की अपेक्षा मान्यता प्राप्त करने और पूर्त होने का श्रेष्ठतर अधिकार है या नही। लेकिन इससे यह निष्कर्प नही निकाला जा सकता कि 'सभी लक्ष्यो अथवा प्रयोजनो' के हेतु हमारे अपसारी हित और अभिवृत्तियाँ समानार्ह ही होती है और इसीलिए उनका उपयोग वैध रूप से पारस्परिक आलोचना के आधार रूप मे नही किया जा सकता। विशेपत: यह निष्कर्प भी नही निकाला जा सकता कि चूंकि तर्कशास्त्र और नैतिकता दोनो को ही अस्तित्व का समान अधिकार है इसलिए तर्कशास्त्रीय नियमो तथा नीतिशास्त्रीय अभिधारणाओ मे भी सत्य का अश समान मात्रा मे अवश्य होना चाहिए। सब कुछ होते हुए भी अकेला सत्य ही शायद मानव जीवन की एकमात्र आवश्यकता नही है और यह भी स्वय प्रत्यक्ष नही है कि सत्य ही नैतिकता तथा धर्म का श्रेष्ठतम हित है।

पर ऊपर से देखने से नि सन्देह बात ऐसी नही मालूम देती। प्रत्यक्षत ऐसा लगता है कि मानो तर्कशास्त्री का सत्यविपयक आदर्श तथा नीतिशास्त्री का श्रेयस् विपयक आदर्श परस्पर किसी अश तक अपसारी है। क्योकि यह किसी तरह से भी स्पष्ट नही है कि सत्य विचारणा का विस्तृततम सभाव्य विकिरण तथा नैतिक श्रेयस्

के उच्चतम मापदण्ड की सामान्य सम्प्राप्ति का सहगामी होना आवश्यक है। किसी समुदाय के नैतिक श्रेयस् के लिए यह भी उत्साहवर्धक हो सकता है कि उसके अनेक सदस्य किन्हीं विशिष्ट विषयों के विषय में कुछ भी न सोचा करें और यदि सोचें भी तो गलत तरीके पर सोचा करें।[1] हमें अपनी याद ताजी कर लेनी होगी कि श्रेयस् तथा सुन्दर विषयक हमारे आदर्श भी इसी प्रकार अपसारी अथवा एक दूसरे अपगामी प्रतीत होते हैं। यह किसी प्रकार भी स्वयं प्रत्यक्ष नहीं और जहाँ तक इतिहास हमें निर्णय करने की अनुज्ञा देता है संभवतः यह असत्य भी है कि उस समाज के जिसमें सौन्दर्य-बोध की भावना अत्यधिक विकसित होती है, श्रेयस् विषयक आदर्श भीउच्चतम हुआ करते हैं।

अब अगर सत्य और श्रेयस् अथवा शिव एकदम समान एक रूप न हो तो हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि किसी धारणा का अन्तिमेत्थ सत्य व्यावहारिक श्रेयस् अथवा शिव के संवर्धनार्थ उसकी नैतिक उपयोगिता का अनुपाती होता है। इसीलिए ऐसा तत्वमीमांसक जो अन्तिमेत्थ सत्य को ही अपनी अर्हता का मापदण्ड या आदर्श बना लेता है, तब अपने अधिकारों के अन्तर्गत ही प्रतीत होगा जब वह नैतिक उपयोगिता को किसी विश्वास या धारणा के पर्याप्त औचित्य का आधार मानने से ठीक उस नीतिशास्त्री की तरह ही इनकार कर दे, जो अर्हताविषयक अपने विशिष्ट मापदण्ड के स्थिति बिन्दु के अनुसार किसी जीवन की सौन्दर्य बोधात्मक एकरसता को सही तौर पर उसकी नैतिक प्रकर्षता का पर्याप्त साक्ष्य मानने से इनकार कर दे सकता है। जब तक

---

१. आइये दो मूर्त उदाहरण ले लें। हो सकता है—मैं नहीं कहता कि ऐसा होता ही है—कि नैतिक श्रेयस् के लिए यह उचित ही कि जनता में यह सामान्य विश्वास पैदा हो जाय कि घटना क्रम के लम्बे आयाम में हमारी वैयक्तिक सुख-भावना हमारी सद् गुणमात्रा की अनुपातिनी बन जाय। किन्तु यह सिद्ध करने के कोई साधन नहीं कि यह धारणा सत्य है, और जैसाकि श्री ब्रैडले ने एकबार उपयुक्त स्थल पर प्रोफेसर सिजविक के विरुद्ध युक्ति प्रस्तुत की थी कि—नैतिक आधार को लेकर किसी भी दार्शनिक को उपर्युक्त धारणा की सत्यता का दावा करने का अधिकार तब तक नहीं होता जब तक कि वह यह मानने के लिये तैयार नहीं होता कि सौख्य और अर्हता का ऐसा ठीक अनुपात बैठाकर कि वह श्रेयस् का संवर्द्धन कर सके वह श्रेयस् का आधिक्य और अश्रेयस् की न्यूनता उत्पन्न कर सकता है। साथ ही हममें से बहुतेरे संभवतः यह स्वीकार कर लेंगे कि जानबूझकर झूठ बोलने के विरोधी नैतिक नियम जैसे 'अन्य नैतिक नियमों' के अपवाद मौजूद हैं। लेकिन इस बात को कि हर आदमी को इसका पता होना चाहिए हम नैतिक श्रेयस् का संवर्धक मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।

आप यह नही सिद्ध कर देते कि सत्य, शिव (नैतिक श्रेयस्) और सुन्दर सब एक ही वस्तु हैं तब तक आप उन 'उन अभिधारणाओं' की, जिन्हे स्वीकार करने का अधिकार नीतिशास्त्र को उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण है न कि उनकी सत्यता के कारण यह कहकर कि वे अन्तिमतया सत्य नही है, आलोचना करने के और आवश्यक हो तो उन्हे दोषी ठहराने के अधिकार से किसी तत्वमीमासक को वचित नही कर सकते।

और नि सन्देह स्वय नीतिशास्त्र को भी यही छूट देनी होगी। मैं न केवल इतना स्वीकार ही करता हूँ अपितु आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि नीतिशास्त्र को, अपने विशिष्ट स्थिति-बिन्दु के अनुसार, तत्वमीमासक के अभिमतो की आलोचना करने का पूरा अधिकार है। हो सकता है कि यह पूरी तरह से उचित हो कि कुछ 'सत्यो' का व्यावहारिक श्रेयस् के हितार्थ सामान्यत. अज्ञात बना रहना ही श्रेयस्कर हो और नीतिशास्त्री इस बात पर जोर देना न्याय्य समझे। लेकिन तत्वज्ञानी जब नैतिकता के प्रवर्तन और सवर्धन के लिए मूल्यवान होने के एकमात्र आधार पर ही किसी साध्य की सत्यता का दावा करने लगता है तब वह अर्हताविषयक उस कसौटी को छोड रहा होता है जिसका आदर करने को वह एक तत्वमीमासक की हैसियत से बाध्य है। यह बिल्कुल सही है कि तर्कशास्त्र ही वह एक मात्र खेल नही है जिसके खेलने मे ही मनुष्य मात्र की रुचि हो और यह कि किसी और को तब तक यह खेल खेलने की जरूरत नही जब तक कि उसे वह खेल ज्यादा पसन्द न हो। लेकिन जब आप एक बार यह खेल खेलने बैठ जायँ तो आपको उसे उसके अपने नियमो के अनुसार ही खेलना होगा न कि किसी दूसरे खेल के नियमो के अनुसार। अगर आप इस चेतावनी को ध्यान मे नही रखते तो बहुत सभव है कि आप ऐसी चीज पैदा करके रख दे जो न तो अच्छी तत्वमीमासा ही हो न पक्का नीतिशास्त्र। तत्वमीमासा के पास उस 'विश्वासार्थ सकल्प' से सतर्क रहने का प्रत्येक कारण मौजूद है जिसका व्यावहारिक अर्थ असमालोचित दृढ कथन के मजे लूटने की वह खुली छूट जिसे 'फेडो' नामक अपने ग्रन्थ मे सुकरात ने तर्क-शत्रुता के सही नाम से याद किया है तथा जिसे उसने जीवन विषयक भ्रान्तियो से व्यावहारिक छुटकारा पाने के निकृष्टतम तरीके का मनोवैज्ञानिक उद्गम स्थान भी बताया है,[1] ही हो सकता है।

---

१. मैंने यहाँ स्रोतों विषयक विवादोक्ति को इसके साथ इसलिए नहीं जोडा क्योंकि उसका जिक्र यहाँ असगत प्रतीत हुआ यह कि सत्य विषयक हमारी बौद्धिक अभिरुचि, ऐतिहासिक रूप से 'उपयोगी' विषयक अभिरुचि का ही उत्पाद है तथा यह कि 'विज्ञान' कलाओं का अनुषगी, यह दोनो ही बातें जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं वस्तुतः सही ही हैं लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि सत्य जो विकसित बुद्धि का एक आदर्श है वही वस्तु है जो 'उपयोगी' है तथा जिससे वह सत्य उत्पन्न हुआ है। हमने यॉन्त्रिक अभिधारणा को अन्तिम

तब नतीजा यही निकलता है कि यदि ये विमर्श कि तत्वमीमासको की हैसियत से हमे ऐसा पूर्वानुमान कर लेने की छूट मिलना ही चाहिए कि विश्वविषयक ऐसी कोई भी धारणा सही होती है जो हमे व्यक्तिगत रूपसे उत्साहवर्वक और आकर्षक लगे अथवा जिसे हम सामान्यत. समस्त मानव जाति के नैतिक व्यवहार के लिए स्फूर्तिप्रद मानते हो। प्रागवाप्त ज्ञान के आधार पर हम उस सुझाव का परित्याग नही कर सकने जो वह इस व्यावहारिक श्रेय के हेतु हमे देती है कि हम सब किसी सीमा तक और हममे से बहुतेरे बहुत अधिक सीमा तक 'प्रकाश और अन्धकार के मध्यवर्ती' धूमिल क्षेत्र के निवासी बने रहे, दूसरी ओर अनुभूति जगत् की सरचनात्मक युक्तिसगत एकता की वर्तमानता से इस बात का मेल न बैठेगा कि सत्र विचारणा को जिस प्रकार के विश्व की परिकल्पना करना आवश्यक है तथा यदि हमारी नैतिक आकाक्षाओ की पूर्ति होना आवश्यक है तो जिस प्रकार का विश्व बनना चाहिए इन दोनो प्रकार के विश्वो तथा अनुभूतिजगत् के बीच एकरूपता का अन्तिम और एकान्त अभाव हो। जिस किसी प्रकार से तथा जहाँ कहीं भी यदि यह विश्व एक साध्यपरक एकत्व जरा सा भी है तो इन आकाक्षाओ के लिए गुंजाइश रखना तथा उसकी सरचना द्वारा उनकी पूर्ति होना आवश्यक है भले ही उनकी पूर्ति उस रूप मे, जिसने कि हम अपनी सीमित अन्तर्दृष्टि के कारण चाहते है न हो सके तो भी हम चाहते है कि उनकी पूर्ति हो अवश्य भले ही फिर हम कभी भी यह न बता सके कि वह पूर्ति किस रूप मे होती है। यौक्तिक विश्व मे जो बात एकदम अल्पनीय है वह यह है कि हमारी चिरसगिनी आकाक्षाएँ कभी भी पूरी न हो सके।

३—तब हमारे नैतिक जीवन को ही अपने अभाव से अयुक्ति युक्त बना देने वाला ज्ञात सत्य और हमारी नैतिक अभिधारणा के बीच का वह 'अपरिहार्य न्यूनतम सागत्य' क्या है? समग्रत, मेरी राय मे हम यह कह सकते है कि नैतिकता की रक्षा केवल दो पूर्वानुमानो द्वारा ही हो सकती है —(१) यह कि यह विश्व मुख्यत. और समग्र-रूपेण इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया है कि जीवन को पूर्णतर और दृढतर व्यष्टता या वैयक्तिकता के हेतु किया जाने वाला हमारा नैतिक प्रयत्न सफल होता रहे। और यह कि नैतिक जीवनयापन द्वारा हमारा वैयक्तिक चरित्र अधिक सगत हित-वान् तथा पूर्णतर रूपेण एकीभूत हो जाता है, और (२) यह कि इस नश्वर रगमच से हमारे अपसरण के साथ ही हमारे उपर्युक्त प्रयत्नो द्वारा प्राप्त लाभ भी अपसृत नही होता बल्कि वह दायरूपेण हमारे उन उत्तरवर्तियो को मिल जाता है जो हमारे स्थान की

सत्य कहलाने के अधिकारों से इसलिए नहीं वचित किया था चूँकि उसका उद्भव औद्योगिक विज्ञान से हुआ था अपितु इसलिए कि अन्तिम आत्म-संगति की कसौटी पर कसने पर वे अधिकार बुद्धि को सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं हुए।

हमारी सामाजिक व्यवस्था मे पूर्ति किया करते है। मोटे तौर पर कहे तो इसके माने यह है कि अगर नैतिकता एक इन्द्रजाल मात्र नही है तो नैतिक जीवन समग्रत एक सुखी जीवन ही समझा जाना चाहिए और यह कि सामाजिक प्रगति नाम की कोई वस्तु इस दुनियाँ मे मौजूद है। अब उपर्युक्त दोनो ही शर्तो की विश्व की सरचना द्वारा पूर्ति होना मानव जाति की अनुभूति से सिद्ध होता है । अरस्तू और अफलातून, दोनो ही ने वास्तविक सामाजिक जीवन के विश्लेषण द्वारा ही न कि किन्ही अनुभवातीत प्रकार की अभिधारणाओ की दुहाई देकर यह सिद्ध किया था कि श्रेयस्कर पुरुष अथवा भला आदमी आज की सामाजिक स्थिति मे भी मुख्यत॰ सुखी आदमी को ही कहते है। और आधुनिक युग के विचारक को भी, अगर वह अपने को जरा भी आश्वस्त करना चाहता है तो इसी प्रकार के विश्लेषण द्वारा ही अपने को विश्वास दिलाना होगा कि मानवीय समाजे प्रगतिशील है ।

तब यहाँ तक तो, नैतिक जीवन की व्यावहारिक माँग मे अन्तिमेत्थ तत्वमीमासीय विचार पदो का कोई प्रश्न उलझा प्रतीत नही होता । किन्तु मामला तब दूसरा ही हो जायगा जब हम काण्ट की तरह ही उस माँग को नीतिशास्त्र की यह आवश्यक माँग समझ बैठे कि दुनियाँ का निर्माण इस ढग पर होना चाहिए कि अन्ततोगत्वा, तथा प्रत्येक व्यष्टकर्ता के हेतु सुख का सही अनुपात सद्‌गुण के अनुसार नियत होना चाहिए। और यदि हम और आगे बढकर यह दावा करने लगे कि जब तक वस्तुस्थिति द्वारा यह पूर्व नियत नही हो जाता कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यष्ट का अन्ततोगत्वा पूर्ण सद्‌गुणी और पूर्ण सुखी होना अनिवार्य है तब तक नैतिकता एक भ्रम मात्र ही रहेगी, तब तो मामला और भी बेढब हो जायगा। उपर्युक्त प्रकार के विचारो की रक्षार्थ हमे स्पष्टत उन तत्वमीमासीय नियमो की शरण लेनी पड़ती है जिनका पूर्ण औचित्य, मानव समाज की अनुभव द्वारा ज्ञात रचना विषयक सूचनाओ से सिद्ध नही होता। इसी तरह इस माँग का कि स्वय मानव समाज सब सीमाओ का अतिक्रमण करके उन्नतिशील बनता जाय औचित्य भी, हमारे समाज के अनुभव द्वारा ज्ञात सरचना विषयक ज्ञान तथा उसके अमानवीय पर्यावरण से सिद्ध नही होता। और यदि नीतिशास्त्र या तो वैयक्तिक सौख्य का सद्‌गुणता के साथ पूर्ण एकीकरण अभिधारित करना चाहता है अथवा समाज की अनन्त प्रगतिशीलता का अभिधारणीकरण करना चाहता है तो उसे स्पष्टत बहुदूरगामी तत्वमीमासीय सिद्धान्तो का भी अभिधारणीकरण करना होगा ।

इसके अतिरिक्त यह भी खुलेआम स्वीकार करना होगा कि ये अभिधारणायें अपने वर्तमान रूप मे, इस पुस्तक मे प्रतिपादित और आरक्षित तत्वमीमासीय सिद्धान्त तन्त्र के अनुकूल नही है। क्योकि नैतिक साद्‌गुण्य और नैतिक प्रगति दोनो ही परिमित वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता और उसके अस्तित्व के उपलक्षक प्रारूप, कालीय-प्रक्रिया

के साथ जुडे रहते है। 'प्रगति' के विषय मे यह बाते स्पष्ट हो चुकी है, समग्र प्रगति का अर्थ होता है काल विषयक अग्रगामिता और अग्रगामिता भी बुरे की ओर से प्रारभ होकर अपेक्षतया अच्छे की ओर को ही होना जरूरी है। सद्गुण के साथ भी यही बात है। क्योकि सदगुणी होने का अर्थ ऐसे व्यक्तितत्व का स्वामी होना मात्र नही जो एक साथ ही एकरस और अन्तर्वस्तुओ से भरपूर हो बल्कि उसका अर्थ है चित्तवृत्तियो और पर्यावरण की कच्ची सामग्री से अपने लिए उक्त प्रकार की वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता का स्वय निर्माण करना। केवल पूर्णतर वैयक्तिकता की ओर अग्रसर होने में ही हमारा अभिकर्तृत्व निहित होता है और ठीक इसलिए कि हम परिमित है, निरपेक्षतया एकरस वैयक्तिकता की पूर्ण सप्राप्ति सदा हमारी पहुँच के बाहर होती है। अत. यथार्थ किन्तु परिमित व्यक्तियो की हैसियत से एकदम पूर्ण सद्गुण और परिणामत एकदम पूर्ण सौख्य भी हमारी प्रकृति के अनुकूल नही होते। प्रत्येक परिमित व्यक्तित्व मे अपूर्णता का कोई न कोई पहलू विद्यमान रहता ही है और इसी लिए उनमे खिन्नता का अग भी रहता है यद्यपि पाप और खिन्नता को मिलनेवाले स्थान का सप्राप्त वैयक्तिकता की मात्रा के अनुपात से ही अधिकाधिक गौण होते चले जानेवाला होना उचित है और यह बात अनुभव द्वारा होती भी देखी गयी है। यही युक्ति किसी भी परिमित समाज के मामले पर भी बराबर से लागू हो सकती है।

ना ही यह कोई आधार विश्व सविधान को नैतिक रूप से अपर्याप्त और असन्तोषकर मानने का है। पहले भी उद्धृत किए जा चुके श्री ब्रैडले की इस उक्ति के अनुसार कि इस आधार पर कि चूँकि विश्व सद्गुण के अनुपात से सौख्य का हिस्सा बाँट नही करता किसी को उसे नैतिक रूप से असन्तोषकर कहने का तब तक अधिकार नही है जब तक कि वह यह सिद्ध करने को तैयार न हो कि दोनो के आनुकूल्य या सादृश्य को यथार्थ बना देने से अधिक सादृगुण्य की उत्पत्ति हो सकेगी। और ऐसा सिद्ध कर सकना असम्भव है। इससे भी बडी अनर्गल बात होगी विश्व की इसलिये निन्दा करना क्योकि न तो पूर्ण सद्गुणता ही न पूर्ण सुख प्राप्य है। यत नैतिकता का स्वय ही कोई अस्तित्व सान्त व्यष्टो की रचना के अतिरिक्त नही है और चूँकि इसीलिए अनर्गल हुए बिना नैतिक आधार पर, विश्व की निन्दना सान्त व्यष्टो को आत्मसात् किए रहने तथा इस प्रकार नैतिकता को वर्तमानता की सुविधा प्रदान किए रहने के लिए नही कर सकते।

४—क्या मामला तब और कुछ बन सकता था अगर हमारे पास ऐसे आधार होते जिनके बल पर हम कह सकते है कि वस्तुओ की प्रकृति ने मानव समाज की प्रगति की ज्ञातव्य तथा स्थिर सीमाएं निर्धारित कर दी है? उदाहरण के लिए अगर हम जान सकते कि मानवता का भौतिक पर्यावरण इस प्रकार से बनाया गया है कि अन्तिनेत्यत्वेण

मानव जीवन का इस पृथ्वी से लुप्त हो जाना आवश्यक है ? मै जानता हूँ कि ऐसा ज्ञान होने से भी मामले मे कोई अन्तर नही आता । नि सदेह अगर यह विश्वास आमतौर पर सब लोगो को हो जाय कि सब चीजो का अन्त सन्निकट है और किसी गण्य अवधि के भीतर ही होनेवाला है तो सम्भव है कि हमारी नैतिक उद्देश्यपरता मे कुछ कमी आ जाय, और जो कही वह अवधि बहुत ही छोटी हुई तो शायद दुनिया स्वेच्छाचारिता और दौर्जन्य पर ही न उतर आये। किन्तु यही बात हमे तब वस्तुत होती देखी जाती है जब किसी ऐतिहासिक और अति-विस्तृत समाज व्यवस्था के निकटायमान विघटन का लोगो को पहले से पता होता है। फिर भी इस तथ्य को कि समाजो का विघटन होता ही रहता है, सामान्यतया विश्व पर किसी प्रकार का आरोप लगाने का युक्तियुक्त आधार नही बनाया जाता। न इस तरह के विश्वासो और उनके परिणामो मे किसी तरह का कोई तार्किक सम्बन्ध ही हुआ करता है। हम यह नही कह सकते कि चूँकि मानव समाज नश्वर है, और अगर वह नश्वर है, तो उसकी सब सिद्धियाँ भी नष्ट होती गयी होगी, इसलिए उसने जो भी प्रगति आज तक की है वह सब निरर्थक है। हो सकता है कि हमारी सिद्धियो का परिणाम किसी तरह पर हमे अज्ञात रहे और एक जाति के रूप मे हमारे लोप हो जाने के बाद तक भी वर्तमान रहता रहे ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम वैयक्तिक जीवनो के परिणामो को अपनी मृत्यु के बाद भी अशत सुरक्षित बने रहते देखते है।

बहरहाल यह स्पष्ट है कि मानव समाज के अस्तित्व और उसकी प्रगति के विषय मे किसी प्रकार की मर्यादाओ का बाँधना तत्वमीमासा के वश की बात नही है। जैसाकि हम देख चुके है हमारे सामने इस बात से इनकार करने का कोई कारण प्रस्तुत नही करता, भले ही वह इसकी पुष्टि करने की सामर्थ्य हमे न दे, कि वर्तमान परिस्थितियो मे प्रारब्ध सामाजिक जीवन अज्ञात परिस्थितियो मे अतिशरीरान्त काल तक भी अनवरत रूप मे चलता रखा जा सकता है। भौतिक मानव जीवन का किसी गणनीय कालावधि के भीतर लुप्त हो जाने की बात भी तत्वमीमासा के किसी नियम या सिद्धान्त से विनि - सृत होती नही पायी जाती। ज्यादा से ज्यादा हम इतना ही कह सकते है कि यदि कुछ माने हुए भौतिक नियम, विशेषत' ऊर्ज्जा क्षय का नियम, सारी ही भौतिक प्रक्रियाओ के लिए वैध हो और फिर यदि जीवमान जैवतन्त्रो मे वर्तमान मनस्तत्वीय अश ऊर्ज्जा की 'अधोवनत' प्रवृत्ति को उलट कर कार्य के लिए अप्राप्य रूपो मे सकिरत होने से उसे रोक सकने मे असमर्थ हो तो हमारे परिचित इस मानव समाज का अवश्य ही एक गणनीय कालावधि के भीतर अन्त हो जा सकता है। लेकिन जिन पूर्वानुमानो पर यह निष्कर्ष आधारित है वे सत्य है अथवा असत्य यह बात तत्वमीमासा ही स्वय नही बता सकती।

अत हमारी स्थिति अब यह हो जाती है कि समग्रत सद्गुणी जीवन ही सुखी

जीवन है और संसार में यथार्थ सामाजिक प्रगति अवश्य होती है।[1] यह दो बातें अब ज्ञात रूप से निश्चित हो चुकी। सान्त अथवा परिमित की परिमितरूपण 'निरपेक्ष पूर्णता' तथा 'अनन्त प्रगति' दोनों ही तत्वमींमांसीय असंभाव्यताएँ कह कर बहिष्कृत हो चुकी। किन्तु तत्वमीमांसा द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति की वृहत्तर साद्गुण्य और अधिकाधिक सौख्य की ओर बढ़ने की संभावनाओं पर किसी प्रकार के निश्चित प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। भौतिकी के उन सिद्धान्तों के बारे में जो किसी परिमाप्य काल के भीतर ही मानवता के लोप की विभीषिका प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं, कम से कम इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी सत्यता निश्चित नहीं है। परन्तु एक व्यष्ट समग्र के रूप में सत् अथवा वास्तविकताविषयक हमारी तत्वमीमांसीय कल्पना में यह नैश्चित्य वर्तमान है कि मानव जाति का भले ही चाहे जो कुछ बने पर हमारी सब आकांक्षाओं और सिद्धियों का कुछ नहीं बनता बिगड़ता, वे विश्व के लिए वैसी ही उपयोगी बनी रहती हैं यद्यपि उनके बचे रहने का क्या तरीका है इसके बारे में हमें कुछ नहीं मालूम। और बुराई से अच्छाई की ओर बढ़ने विषयक हमारे नैतिक संघर्ष के बारे में यह तय है कि वह संघर्ष हमारी उन आकांक्षाओं के एकदम अनुकूल है जो हम इस दुनिया से कर सकते हैं। इस सुझाव के बारे में कि हमारे आदर्श तब तक अनुकरणीय नहीं हो सकते जब तक कि अपने प्रयत्नों का फलोपभोग अपनी इच्छानुसार कर सकने का अवसर हमें नहीं मिलता, हमें यही कहना है कि वह एक नीचे स्तर की स्वार्थपरता की दुहाई है।

५—जब हम मन की विशिष्टतया धार्मिक अभिवृत्ति पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि विश्व से की जाने वाली उनकी माँगें, नीतिशास्त्र की इस प्रकार की माँगों से कहीं बड़ी चढ़ी हैं और अंशतः उनका स्वरूप भी भिन्न है। इन जैसे लघु आयाम के ग्रन्थ में धार्मिक अभिवृत्ति के स्वरूप पर विस्तृत विचार की सुविधा यद्यपि बहुत कम है फिर भी

---

१. निःसन्देह विशुद्ध प्रगति नहीं। यह पता लगाने के लिए किसी गहरी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं कि, और सब चीजों की तरह ही नैतिक प्रगति का भी मूल्य हुआ करता है। और यह कि सब तरह के 'प्रगतिशील विकास' में अपकर्ष भी उसके एक पहलू के रूप में शामिल रहता है। किन्तु समाज की नैतिक प्रगति तब यथार्थ कहलायेगी जब, समग्रतः देखने पर नीतिशास्त्री के स्थिति बिन्दु से, हमारा लाभ हमारी हानि की अपेक्षा अधिक हो। अपनी जाति (मानव जाति) के विषय में निराश होने की हमें कोई जरूरत न होनी चाहिए यदि निष्पक्ष इतिहासज्ञ हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन के तथ्यों की रोमन साम्राज्य के पहली ईसवी सदी के सामाजिक जीवन के तथ्यों के साथ तुलना करके कह सकते कि समग्ररूप से हमारी प्रगति हुई है।

इतना तो कम से कम सन्देहरहित माना जा सकता है कि अनुभूति-जगत के प्रति पायी जाने वाली धार्मिक अभिवृत्ति को अन्य अभिवृत्तियो से अशत उन उद्वेगो के विशिष्ट स्वरूप के आधार पर पृथक् किया जा सकता है, जिनके द्वारा वह अपने आपको व्यक्त करती है और अशत उन बौद्धिक विश्वासो के आधार पर जिन्हे वे उद्वेग जन्म देते है।

धार्मिक प्रकृति के होने पर हमारी अपनी अनुभूति मे ही पाया जा सकने वाला 'धर्मोन्माद' जो संसार के भक्ति साहित्य मे सर्वत्र व्याप्त है—विशेष रूप से किसी शक्ति के साथ हुए तात्कालिक साक्षात्करण से उत्पन्न परमानन्द की तथा उसके सहकार के कारण उत्पन्न हुई नम्रता की भावना दोनो का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। वह शक्ति हमसे बडी और हमसे अच्छी होना चाहिए और हमारे आदर्शों की सिद्धि का पूर्ण प्रतीक। ससार के विविध धार्मिक मत-मतान्तरो मे हमे ऐसी महती शक्ति की व्याख्या करने के प्रयत्नो का पता मिलता है। लेकिन यह विशेषत स्मरणीय है कि श्रद्धापूर्वक निग्रहीत आध्यात्मिक धारणा की धार्मिक भावना पर प्रतिक्रिया यद्यपि बडी जोरदार हो सकती है तो भी अन्ततोगत्वा तात्कालिक भावना ही धार्मिक विश्वासो का आधार होती है। धार्मिक विश्वास तात्कालिक भावना का आधार कभी नही होता। कम से कम इस माने मे तो यह बात सही है कि सारे ही यथार्थ जीवन का आशय भावनाओ तथा क्रियाओ का उन विश्वासो द्वारा व्यावहारिकरूपेण प्रभावित होते रहना है, जिनकी सत्यता अज्ञात और अप्रमाणित ही रहेगी और इसीलिए जिन्हे श्रद्धाधारित ही कहा जायगा।

इस बात पता लगाना कि जिन विश्वासो के हाथ हम अपनी जीवन नैया का पतवार थमा देते है वे विश्वास क्या है, हर एक मामले की अपनी सरचना और उसकी सामाजिक परम्परा पर निर्भर होता है। उपलक्षक प्रकार के ऐतिहासिक धर्मों के रूप मे हमारे सामने वर्तमान महत्तर शक्ति के स्वरूपविषयक धार्मिक विश्वास न केवल अत्यन्त विविध प्रकार के है अपितु उन धर्मों के अनुयायियो के अपने-अपने वैयक्तिक विश्वासो मे और भी अधिक वैविध्य पाया जाता है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपना वैयक्तिक धर्म कहता है। मानव रुचि को आकर्षित करनेवाली ऐसी शायद ही कोई विशिष्ट वस्तु बच रही होगी जिसने किसी न किसी आदमी के लिए वही महत्व प्राप्त न कर लिया हो जो महत्व वह अपनी सिद्ध कल्पना के उच्चतमपूर्ण आदर्श को दे सकता था। यह कहना सत्य से बाद का न होगा कि कभी कभी माँ, प्रेमिका, अपना देश, कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन आदि लक्ष्य ही किसी आदमी का 'धर्म' बन बैठता है।

इन सब गोरखधन्धे के बीच दो सामान्य सिद्धान्त अथवा नियम ऐसे ढूंढे जा सकते है जो धार्मिक अनुभूति के तत्त्वमीमांसीय समालोचक के लिए बडे काम के हो सकते है। (१) धार्मिक अनुभूति का यह एक सारभूत तथ्य है कि उसके लक्ष्य को किसी आदर्श का वस्तुत वर्तमान मूर्त रूप मान लिया जाय। यही वह विचारबिन्दु है जिसके

विषय मे मन की धार्मिक अभिवृत्ति कोरी नैतिकता की मनोवृत्ति से बहुत अधिक स्पष्ट रूप से भिन्न होती है। नैतिक अनुभूति मे आदर्श इस रूप मे निग्रहीत होता है जिसका विचार के समय तक कोई अस्तित्व न हो और जिसके अस्तित्व का मानव प्रयत्न द्वारा बाद को स्थापित होना शेष हो, इसलिए विशुद्धत. नीतिशास्त्रीय मनोवृत्ति के अनुसार विश्व का मूलत अपूर्ण तथा हमारी तद्विषयक माँग की पूर्त्यर्थ जैसा उसे होना चाहिए उससे सारत असम्बद्ध होना आवश्यक है। इसलिए नैतिकता के सामने 'अनिष्ट की समस्या' जैसी कोई वह वस्तु नहीं होती जिसकी वर्तमानता, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, धर्म के लिए आवश्यक होती है। कालीय व्यवस्थानुसार सप्राप्त विश्व में अपूर्णता और अनिष्ट भी सम्मिलित होते हैं और हमे उन्हे दूर कर देना आवश्यक है, यह ऐसी पूर्व व्यावहारिक पूर्व कल्पना है जिसके बिना स्वयं नैतिकता ही के लिए खड़े होने तक का आधार नहीं रहता।

लेकिन धर्म का मामला ही दूसरा है। वहाँ तो जिस सीमा तक हमारी भक्ति का पात्र, भले ही वह चाहे जो हो, हमारे उच्चतम आदर्शों का वस्तुत वर्तमान मूर्तरूप समझा जाता है, उसी सीमा तक वह, उसके साथ किए गए आध्यात्मिक समागम अथवा निदिध्यासन मे हमारे भीतर परमानन्द और आत्मग्लानि का सयुक्त आवेश, पैदा कर सकता है और जहाँ तक हमारा सकल्प हमारे आदर्श को स्पर्श करता है वहाँ तक वह हमारे भीतर, स्वय पूर्णता की भावना पैदा कर सकता है। साथ ही वह जिस सीमा तक वह सकल्प हमारे आदर्शो के पूर्ण मूर्तरूप के सान्निध्य मे नही जा पाता वहाँ तक पापी समझे जाने और 'दैवी कोप के भाजन' होने की भावना हममे उत्पन्न करता है। यह विभिन्न प्रकार के मनोभाव ही मन की धार्मिक दशा को अन्य दशाओ से पृथक् करते हैं। किन्तु जैसाकि हमने अपनी द्वितीय खड मे सिद्ध किया था, सकल वास्तविक अस्तित्व मूलत: व्यष्ट है, वैयक्तिक है। इसी कारण तो धर्म तत्वरूपेण अपने आदर्श के पात्र को पूर्वत: वर्तमान व्यष्ट-रूप मे ही देखता है। यही कारण है कि भक्ति के लक्ष्य अथवा श्रद्धार्ह आदर्श के रूप मे कोई भी अमूर्त सिद्धान्त, जैसे राष्ट्रीयता, समाजवाद, गणतन्त्रवाद, मानवता आदि, भक्ति के पात्र अथवा पूजा के लक्ष्य किसी मूर्त व्यक्ति की अपेक्षा, भले ही वह व्यक्ति कितना ही अपूर्ण क्यो न हो—धर्ममय जीवन को अति निम्न श्रेणी के स्थायी अभिव्यजक समझे जाते है।

(२) निष्कर्ष यह निकलता है कि कालीय व्यवस्था का कोई भी आभास मात्र धार्मिक भक्ति का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। जैसाकि हम पहले ही देख चुके, कि चूँकि स्वय कालीय व्यवस्था ही असमाप्त और अपूर्ण होती है और इसीलिए उसका कोई भी भाग पूर्णतया व्यष्ट नहीं हो सकता। पूर्णतया व्यष्ट, अगर कहीं मौजूद भी हो, का अस्तित्व अकालीय अथवा कालातीत होना ही चाहिए। इसी लिए घटनाओ के कालीय

क्रम का कोई भी भाग, स्वय धार्मिक श्रद्धा के पात्र के रूप मे अन्तिमत' सन्तोषप्रद नही ठहर पाता। उस कालीय व्यवस्था के किसी भी अश, किसी पुरुष, किसी निमित्त आदि को उसी सीमा तक पूजार्ह समझा या वनाया जा सकता है जहाँ तक कि कालीय तथ्यो को किसी ऐसी सत्ता या वास्तविकता का अपूर्ण आभास मान लिया जाय, जो पूर्ण रूप से पूर्णात्पूर्ण रूप से व्यष्ट होने के कारण स्वभावत कालातीत है। इसके अतिरिक्त यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सकल परिमित व्यष्टता केवल अपूर्णतया ही व्यष्ट होती है और चूँकि वह अपूर्ण होती है इसलिए कालीय भी। धार्मिक भक्ति का एकमात्र अन्तिमत पर्याप्त लक्ष्य अनन्त व्यष्ट अथवा स्वय कालातीत निरपेक्ष ही होना चाहिए।

इतिहास वतलाता है कि दुनियाँ के सभी महान् दार्शनिक धर्मो ने उपर्युक्त विवादोक्ति की शक्ति का अनुभव पाकर किस प्रकार अपने अपने विविध देवी-देवताओ मे सर्व-शक्ति सत्ता का अध्याहार कर डाला है। इसी कारणवश यहूदियो के खुदा 'परमेश्वर के सवसे पहले जो दर्शन हमे उस धर्म के प्राचीन ग्रन्थों मे मिलते हैं उसने वह अन्य देवी देवताओ की विद्यमानता के कारण सीमित शक्तिवाला, कालीयतया परिवर्तनशील और दूसरे देवो के लिए अपनी गद्दी छोड भागनेवाला दिखाया गया है। किन्तु वाद की पुरानी इजील के लेखों मे, नयी इजील मे और उसके वाद के पादरियो के आध्यात्मिक अभिलेखो मे हमे यहुदियों के उस प्रारम्भिक खुदा मे धीरे-धीरे परिवर्तन होता पाते हैं और उनमे एक ऐसे खुदा का आदर्श विकसित होता हुआ प्रतीत होता हे जो सर्वेसर्वा अन्य विपरीत लक्ष्यो और हितो वाले दैवी अस्तित्वो द्वारा असीमित हे तथा जिसके प्रयोजनो की द्रव्यगुण विशिष्ट पदार्थो के अन्तर्हित प्रतिरोध से कोई वाधा नही पहुंचती। जरदुश्ट्री सम्प्रदाय के खुदा की वात भी कुछ इसी तरह की है। उस धर्म के अनुसार अहुर माज्दा जैसे भले आदमी की शक्तियो पर अग्रो मैन्युस जैसे वुरे जीव के सहयायी अस्तित्व के कारण लगा हुआ प्रतिवन्ध जो पहले उस सम्प्रदाय का मौलिक आधार माना जाता था अव आधुनिक पारसी सम्प्रदाय के लिए विशुद्ध एकेश्वरवाद मे परिणत हुआ कहा जाता है।

६—यह भी नोट करने की वात है कि सत् के अनन्त कालीय अक्षर रूप मे प्रकल्पित परम सत् अथवा वास्तविकता की पूर्ण, अपरिमित समग्र व्यष्टिमयी धारण के साथ अपने इष्ट को एकाकार कर देने की प्रत्येक धर्म में पायी जाने वाली अनिवार्य प्रवृत्ति ही तत्वमीमासा की अति कठिन 'अनिष्ट की समस्या' की जन्मदात्री है। क्योकि खुदा या परमात्मा तथा निरपेक्ष एक ही होते तो और चीजों की तरह अनिष्ट भी उस परमात्मा के स्वभाव की अभिव्यक्ति ही होता। अगर वात ऐसी होती तो हम क्या यह कह सकते कि सही कहा जाय तो खुदा या परमात्मा 'सदगुणी' या भला है या यह कि वह हमारे आदर्शो का पूर्ण सिद्ध रूप है। अनिष्टविपयक इस कठिनाई मे ही, अन्य सव वातो की अपेक्षा,

प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिको को निरपेक्ष तथा ईश्वर मे विभेद करने और ईश्वर को केवल एक मानने के लिए प्रेरित किया है और यद्यपि वह निरपेक्षान्तर्गत परिमित व्यष्टों मे सबसे अधिक पूर्ण और उच्चतम व्यष्ट है।[1] निम्नलिखित अनुच्छेदो मे मैं इस युगयुगीन पहेली को हल करने का उतना प्रयत्न नही करना चाहता जितना कि कुछ ऐसे सुझाव पेश करने मे करना चाहता हूँ जिनकी सहायता से यह समस्या पाठको के लिए बिल्कुल स्पष्ट हो जाय। ईश्वर के पारिमित्य के सिद्धान्त द्वारा अनिष्ट विपयक कठिनाई किसी प्रकार भी दूर होती प्रतीत नही होती बल्कि उसके कारण वह कठिनाई और भी बढ गयी है। क्योंकि अब अनिष्ट को दोहरे रूप मे दुनियाँ के सामने आना पडेगा। एक तरफ तो यह मान लिया जा चुका है कि विश्व को अपने प्रयोजनानुकूल निरूपित करने के ईश्वरीय शक्ति को प्रतिबद्ध करनेवाला यह ईश्वर-विरोधी तत्व ईश्वर के बाहर ही वर्तमान रहता है। किन्तु हम देख चुके है कि चूँकि परिमित होने के कारण प्रत्येक परमित व्यष्ट पूर्ण रचनात्मक आभ्यन्तरिक एकतानता प्राप्त नही कर पाता इसीलिए उसके भीतर दोप और अनिष्ट का थोडा सा तत्व बना ही रहता है। अतः यदि परमात्मा परिमित होगा तो उसके स्वरूप मे अनिष्ट अर्नाहित अवश्य ही रहेगा। इसके

---

१. इसी लिए प्लैटो (अफलातून) ने 'रिपब्लिक' के द्वितीय खंड मे सुझाया था कि हमारे साथ जो कुछ घटित होता है उसका सबका कारण ईश्वर नहीं होता वह तो हमारी भली बातों का ही कारण होता है। ऐसा लगता है कि यहाँ प्लैटो ने अपनी बात का सामञ्जस्य उस काल में लोक प्रचलित उस आध्यात्मिक सिद्धान्त के साथ बैठाने का प्रयत्न किया है जिससे वह पूरी तरह सहमत न था। ईश्वर विषयक इसी परिमितेश्वरता की कल्पना के आधुनिककालीन समर्थन के लिए देखिए डाक्टर राश्डाल का निबन्ध 'पर्सनल आइडियलिज्म' मे। इसी विचार की ओर प्रेरित करनेवाले अन्य कारण जैसे कि परमात्मा को अपनी तरह ही परिवर्त्य अथवा स्थानान्तरित होनेवाला, उसके प्रति हमारा रुख बदलते ही उसके प्रभाव मे आकर हमारे प्रति अपना रुख बदल डालने वाला, आदि मानने की हमारी इच्छा, बहुत ज्यादा तो वैयक्तिक भावनाओ की सनकीली प्रवृत्ति पर निर्भर होते है। इसलिए उनमे दार्शनिक गभीरता और वजन बहुत कम पाया जाता है। अगर वैयक्तिक भावना को प्रश्रय देना पड़े तो कोई कारण नहीं मालूम देता कि क्यो न उन विरोधी लोगो की उस भावना को जो इस प्रकार के परिवर्तनशील परिमित ईश्वर की कल्पना से भड़कती है, स्थान दिया जाय। वैयक्तिक भावना को, भले ही उस की अर्हता चाहे जो कुछ भी हो, इस तरह पर एकान्त प्रश्रय देना, ऊपर से ही दीख पड़ने वाली लगती है।

साथ ही साथ वह अनिष्ट तथा तथानुमित ईश्वर वाह्य अस्तित्व मे भी मौजूद मिलेगा। वस्तुत' इस सिद्धान्त का कि सकल परिसीमन मे अन्तरत किया गया आत्म-परिसीमन सम्मिलित रहता हे, एक और उदाहरण हमे मिलता है। इस मौलिक सत्य को भूल कर ही हम ऐसी सत्ता की सभाव्यता की कल्पना कर पाते है जो 'पूर्ण सद्गुणात्मक' होकर भी निरपेक्ष से लघुतर है।

और इसको आँख ओझल कर देने पर भी अपनी कठिनाई का हल हमे नही मिलता। क्योंकि एक 'परिमित' ईश्वर, जिसके बाहर एक ऐसी अन्य सत्ता या वास्तविकता मौजूद हो जो येनकेन प्रकारेण उसकी अपनी प्रकृति की विरोधिनी है,—कुतर्कानुसार पूर्ण रूप से भला माना जाकर भी, ज्यादा से ज्यादा एक वडे आकार का हमारे सरीखा जीव ही हो सकता है। ऐसी दुनिया मे जिसके सघटन और अन्तिम परिणाम के बारे मे हम कुछ नही जानते या जो कुछ जानते है वह हमारे आदर्शो की व्यष्ट पूर्ण सत्ता की खोज को पूरा नही कर पाता, वह ईश्वर हमारी ही तरह का कुछ सफल और कुछ असफल खिलाडी होगा।[1] यही वह विचारधारा है जिसे इतिहासानुसार ग्रीक तथा नार्समैन जैसी जातियों के उन धर्मो ने, जिनके देवता अन्ततोगत्वा अज्ञेय और अनीतिशास्त्रीय भाग्य के शिकार माने जाते रहे है, अगीकार कर लिया था। लेकिन इस प्रकार के अज्ञात अपरिचित भाग्य के साथ सघर्ष करनेवाला भले ही वह सघर्ष कितना ही सफल क्यो न हो, परिमित जीव इस सबके बावजूद, केवल नैतिक आदर और सहानुभूति का ही पात्र हो सकता है धार्मिक श्रद्धा का नही। कितना ही उच्चस्थ क्यो न हो ऐसा जीव, पर फिर भी वह मानव की सकल अभिलाषाओ का सिद्धि रूप ऐसा पूर्ण और एकरस व्यष्ट जिसे पाने के लिए धर्म तरसता रहता है, कभी नही हो सकता और इसी लिए पूर्ण और सच्चे अर्थो मे उसे ईश्वर नही माना जा सकता।

तव यदि कितना ही उच्चस्थ, परिमित नैतिक व्यष्ट धार्मिक श्रद्धा का पर्याप्त लक्ष्य नही वन सकता तो वास्तविकता अथवा सत् के अनन्त व्यष्ट समग्र का मामला किस

---

१. क्योंकि अगर हमने एक बार मान लिया कि विश्व को इस प्रकार से निर्मित जानते हैं कि जिसमे ईश्वर भी अन्य परिमित जीवो की तरह का एक परिमित जीव है और जो हमारी उपर्युक्त माँग के अनुकूल ही निर्मित है, तो वह समग्र ही ईश्वर जिसका एक तत्व है, न कि ईश्वर स्वय, धार्मिक उद्वेग का महत्तम लक्ष्य वन जायगा। अतः हम कह सकते हैं कि जब तक ईश्वर को व्यष्ट समग्र नही माना जाता तबतक वह पूर्णतया ईश्वर नहीं होता।

करवट बैठेगा ? क्या हम निरपेक्ष की अर्चना कर सकते है ?[1] यह एक ऐसा सवाल है जिस पर ध्यानपूर्वक विचार करना, उसका कोई निश्चयात्मक उत्तर देने का साहस करने से पूर्व, आवश्यक है।

७—उपर्युक्त समस्या का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नही है। अनुभव हमे बतलाता है कि विशिष्ट व्यक्ति, खास खास आदमी, अपने अपने देवता के स्वरूप की विचित्रतम और अत्यन्त दोषपूर्ण कल्पनाओ पर विश्वास करके धार्मिक शक्ति और बल प्राप्त कर सकते है। ऐसे विश्वास जो एक सी एक आदमी को 'विश्वास-जन्य शान्ति' प्रदान करते है, किसी दूसरे के लिए, यदि वह उन्हे गभीरतापूर्वक आत्मसात् कर ले, वे ही विश्वास जिन्दगी बरबाद करनेवाले सिद्ध हो सकते है। एक आदमी का ईश्वर दूसरे का शैतान बन सकता है। लेकिन हम जो कहना चाहते थे वह उपर्युक्त बात नही है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या निरपेक्ष भी कभी उपास्य हो सकता है। (१) क्योकि हम देख चुके है कि परिमित व्यष्ट, तर्क व्यतिक्रम बिना, कभी भी उपास्य नही बन सकते ? क्या उस निरपेक्ष मे वे लक्षण मौजूद है, जो हमारे आदर्श उपास्य ईश्वर के पूर्व सिद्ध लक्षणो से मिलते-जुलते हो और जिनका उसमे होना तर्कानुमोदितरूपेण आवश्यक है ?

एकाएक देखने पर तो ऐसा लगेगा कि उसमे यह लक्षण विद्यमान है क्योकि जैसा हम देख चुके है, निरपेक्ष मे परिमित अस्तित्व है ही, और है भी एकपूर्णतया व्यवस्थित रूप मे। इसलिए सकल परिमित आकाक्षा की सिद्धि किसी न किसी तरह पर निरपेक्ष समग्र की सरचना द्वारा ही होना चाहिए यह जरूरी नही कि वह उसी तरह पर हो जिस तरह पर कि हम अल्पज्ञानी तथा परिमित गुणवान् जीव वस्तुत उसकी पूर्ति कराना चाहते है। इस तरह पर निरपेक्ष समग्र ही, ऐसी मूर्त व्यष्ट वास्तविकता है—क्योकि अन्य कोई भी वैसा नही बन सकता—जिसमे हमारे आदर्शो का वास्तविक अस्तित्व विद्यमान रहता है। चूंकि हमारे सकल आदर्श ही स्वय, उस व्यवस्था के अन्तर्गत हमारे स्थानो तथा अवशिष्ट भाग के साथ हमारे सम्बन्ध को अनेक रूप से व्यक्त करते है इसलिए वह सकल व्यवस्था ही उन आदर्शो का विशिष्ट एकरस मूर्त रूप बन जाती है।

---

१. यह बताने की शायद जरूरत नहीं कि यदि निरपेक्ष की उपासना या पूजा किसी तरह की जा सकती हो तो वह उसे पूर्णतः व्यष्ट कल्पित करके ही की जा सकेगी। जहाँ भ्रान्ति से उसे अनिर्भर या स्वतन्त्र वस्तुओ के 'समूह', 'योग' अथवा 'साकल्य' रूप मे प्रकल्पित किया जाता है तब वह अन्य समूहो या संग्रहों के समान ही देवगुण विशिष्ट नही रहता। गँवारू 'बहुदेववाद' का घातक यही आक्षेप है। बहुदेववाद के विसीदवा कहे जानेवाले बहुत से गभीर विचारक, निरपेक्ष विषयक इस सग्रह-पक्षीय दृष्टिकोण को कैसे सहन कर सके यह बात दूसरी है।

जैसाकि हमने पहले देखा, कि हो सकता है कि हमारे आदर्शों की सिद्धि समग्र द्वारा, ठीक हमारे प्रकल्पित रूप मे न हो सकती हो किन्तु यह याद रखने की बात है कि जब हम यह शर्त रखते हैं कि समग्र को हमारे निजी निर्णय तथा मर्जी के मापदण्ड का अनुसरण करना होगा अन्यथा उसे निकम्मा मान लिया जायगा। तब ऐसा रुख अख्तियार कर लेते हैं जो कुतर्कपूर्ण तो होता ही है साथ ही अधार्मिक भी होता है। वह अतर्क सगत यो होता है कि उसमे पहले ही से यह मान लिया जाता है कि वास्तविकता की समग्रीय व्यवस्था के पूर्णतर ज्ञान की अवाप्ति की इच्छा के साथ साथ ही हमे उस विशिष्ट विधि से जिसका तात्कालिक सुझाव हमे अपनी अपूर्ण अतर्दृष्टि से प्राप्त होता है, अपनी आकाक्षाओ की पूर्ति की भी इच्छा करना उचित है। वह अधार्मिक इसलिए है क्योंकि हमारी इस माँग मे कि मानवीय इच्छाओ की पूर्ति हमारी इच्छानुकूल हो न कि 'ईश्वरेच्छानुकूल', हमारी बुद्धिमत्ता का भगद्बुद्धिमत्ता के साथ साम्मुख्य सम्मिलित होता है और इसीलिए वह माँग दैवी व्यवस्था[1] के साथ हृदय और सकल्प की यथार्थ सयुक्ति के अनुकूल नही बैठती।

तब इस दृष्टिकोण के अनुसार अनिष्ट की समस्या का क्या बनेगा? और मानवीय आदर्शो की पूर्ण तथा एकरस ससिद्धि के रूप मे निरपेक्ष समग्र के विचार के साथ कालीय व्यवस्थान्तर्गत नैतिक अनिष्ट का मेल कैसे बैठाया जा सकेगा? यह कहने की जरूरत नही कि इस समस्या का विवरणात्मक हल असम्भव है। ऐसे जीवो की हैसियत से जिनकी अन्तर्दृष्टि स्वय अपनी ही परिमित के कारण आवश्यक रूप से सीमित है, हम यह देख पाने की आशा नही कर सकते कि अनिष्ट रूप मे हमारी आँखो के सामने आने वाली विषय विवृत्ति, विस्तृततर ज्ञान के बल पर क्यो कर, ऐसे समग्र की समाकलीय घटक मानी जा सकती है, समग्ररूपेण मानवीय आकाक्षाओ की सिद्धि रूप है। और इसीलिए अनिष्ट रहित भी। लेकिन कम से कम इतना तो सभव है ही कि हम ऐसे सुझाव दे सके

---

१. मुझे ऐसा लगता है कि इस प्रकार की अधार्मिक भावना का बहुत कुछ कारण वे शिकायतें है जो एक 'जीते जागते ईश्वर' की जगह निरपेक्ष जैसे रद्दी स्थानापन्न को बैठाने से पैदा होती हैं। ये शिकायतें कुछ तो निःसन्देह उस भ्रान्त धारणा से पैदा होती है कि निरपेक्ष कोई मूर्त व्यष्ट नहीं है अपितु एक 'सग्रहात्मक कल्पना' मात्र है। लेकिन इन शिकायतो का कारण यह सन्देह भी है कि निरपेक्ष की अपेक्षा किसी निश्चित या परिमित देवता को कहीं अधिक अच्छी तरह अपनी इच्छानुकूल बनाया जा सकता है और उसके द्वारा हमे अपने आदर्शों की सिद्धि अपनी तौर पर कहीं ज्यादा आसानी से कर सकते हैं। जहाँ तक यह उद्देश्य उन शिकायतो के पीछे वहाँ तक वे मूलतः अपवित्र है।

जिनसे यह सिद्ध हो कि यह समस्या हमारी अन्तर्दृष्टि के अपरिहार्य दोषो का ही परिणाम है और ज्ञानाधिक्य से उस दोप को दूर किया जा सकता है। यह जान लेना कठिन नही कि दो मुख्य कारणो से ही यह विश्व सरचना परिमित अतर्दृष्टि को अशत. अनिष्ट रूप लगती है। अपने हितो और प्रयोजनों के सही रूप और उनके सबन्धो का पूर्ण ज्ञान भी प्राय: हमे कभी-कभी नही होता। हम सब ही कभी कभी तो सहीतौर पर इतना नही जानते कि हमारी आकाक्षा है किस बात की। अत हमारे प्रयत्नों की अस्तित्व से भेट अशत नकारात्मक प्रतीत होती है क्योकि हमे ठीक तरह से पता नही होता कि उन प्रयोजनो का क्या मतलब है और उनका रुख किधर को है। इससे ज्यादा परिचित और तथ्य नही है कि मानव जीवन की सीमाओ के भीतर बढता जानेवाला अनुभव हमें लगातार बताता रहता है कि हम किसी क्षण पर क्या चाहते है इस बारे मे हमारा निर्णय कितना भ्रान्त और कितना दोषपूर्ण हो सकता है। चूँकि हम पूरी तरह कभी भी नही जानते कि हमारे आदर्श क्या है इसीलिए अधिकतया वे वास्तविक अस्तित्व से इतने भिन्न प्रतीत होते रहते है।

इसके अतिरिक्त अपने कामो के प्रभावो के बारे मे भी हमारा ज्ञान सदा बेहद अपूर्ण हुआ करता है। और हम असफल इसलिए होते है कि हम इतने अदूरदर्शी होते है कि अपने किए काम के महत्व को ठीक तरह समझ नही पाते। वास्तविक और आदर्श के बीच की, इस दूर से ही दीख पड़नेवाली खाई के इन दोनो ही कारणो की एक ही जड है। अस्तित्व इसलिए अनिष्ट रूप प्रतीत होती है क्योकि हम एकदम से ही उसे आत्मसात् नही कर सकते न उसके व्यष्ट स्वरूप मे उसकी समग्रता को ग्रहण कर पाते है। हमें उससे भागश. पहचान करनी पडती है और वह भी कालीय शृखला के व्यगात्मक घटनानुवर्तन के रूप मे। हम देख ही चुके है कि अपूर्णता कालीय शृखला की ही चीज है। इसलिए हम समझ सकते है कि अनिष्ट आभास मात्र होने के साथ साथ ऐसा आभास भी है जो कालीय रूप द्वारा प्रतिविहित परिमित अनुभूति के हेतु अपरिवर्ज्य भी है। इसलिए यह तथाकथित 'समस्या' तभी तक असाध्य रहती है जब तक कि हम भ्रमवश स्वय कालीय-व्यवस्था को ही निरपेक्ष की वास्तविक व्यष्टता के समग्र रूप का एक लक्षण मात्र मानते चले जाते है।[1]

---

१. यहाँ पाठको के दिमाग में सुकरात के इस प्रसिद्ध विरोधाभास का आना स्वाभाविक ही होगा 'गलत काम करना गलती है', 'दुर्गुण अज्ञानता का नाम है।' यदि हम इस को व्याख्या से यह माने निकालें कि भला आदमी बुरे आदमी से इसी बात में ज्यादा होता है कि सही मानो मे वह जो कुछ चाहता है उसके बारे मे उसकी अन्तर्दृष्टि ज्यादा सही होती है, तो वह अर्थ सही होगा।

तब क्या हम कह सकते हैं कि निरपेक्ष या समग्र तत्वमीमासानुसार 'श्रेयस्' है ? प्रश्न का उत्तर इस कथन के उस अर्थ पर निर्भर है जिसे हम उसके साथ सयुक्त करें। अगर श्रेयस् से हमारा मतलब यह हो कि वह उन आदर्शो का जिनकी सिद्धि का प्रयत्न हम अज्ञान और भ्रान्ति के मध्य रहते हुए भी किये चले जाते है, वह वस्तुत वर्तमान मूर्तरूप है, तब तो उक्त प्रश्न का उत्तर हमे 'हाँ' मे ही देना होगा। किन्तु यदि हम 'श्रेयस्' शब्द का प्रयोग 'नैतिकरूपेण श्रेयस्' अर्थ मे करते है तो हम बिना किसी लागलपेट के कह सकते हैं कि समग्र ही श्रेयस है। क्योकि नैतिक श्रेयस् कालीय व्यवस्था की वस्तु है और उसका अर्थ है आभासी अनिष्ट के विरोध मे आदर्श के आनुक्रमिक अध्यिरोण की प्रक्रिया। नैतिकरूपेणश्रेयस्कर होने के माने होते है ऐसा आदर्श सामने रखना जिसकी सिद्धि काल-क्रम की घटनाओ द्वारा तब तक नही हो पाती जब तक वे हमारी परिमित अनुभूति के अन्तर्गत, उन घटनाओ को हमारे आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए आती चली जाती हैं। नैतिक जीवन अथ से इति तक एक सघर्ष का जीवन हुआ करता है और जहाँ सघर्ष ही न हो वहाँ नैतिकता की चर्चा करना अपने को भुलावे मे डालना होगा। इसलिए 'निरपेक्ष' को 'नैतिक' न कहना ही अच्छा रहेगा।

किन्तु हमे याद रखना होगा कि निरपेक्ष केवल इसलिए नैतिक नही है क्योकि वह नैतिक से और भी बहुत बढा-चढा है। नैतिक वह इसलिए भी नही है क्योकि वह आदर्श को वास्तविकता से पृथक् नही करता। अथवा हम यो कह सकते है कि वह श्रेयस् से बढा-चढा ठीक इसलिए है चूँकि वह पहले ही से श्रेयस् है। परिमित जीवो की सकल अनुभूति की तरह नैतिकता मे भी ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है जो आमूलान्त ऐसे परिणाम की ओर निर्देशित बनी रहती है जो एक बार प्राप्त हो जाने पर स्वय उस प्रक्रिया का ही अतिक्रमण कर सकती है। नैतिकता अनिष्ट को ही दुनियाँ से मिटा देना चाहती है इससे कम पर सन्तुष्ट नही होती। और अगर अनिष्ट ही नष्ट हो जाता है तो उसके विरुद्ध चलने वाला सघर्ष अपने आप हीं लुप्त हो जायगा और अनुभूति का कोई उच्चतर रूप ग्रहण कर लेगा। इसी तरह ज्ञान भी स्वय ज्ञान के लक्ष्य की ही दम निकाल लेने की कोशिश करता रहता है। जब तक कि लक्ष्य किसी तरह अज्ञात रहता है जानने का काम तब तक पूरा नही समझा जाता है किन्तु जैसे ही एक बार किसी लक्ष्य को हम इस तरह पर जान जाते है कि उसके बारे मे और कुछ जानने को कुछ बाकी न रहे तब स्वय लक्ष्य मे अस्वात्मात्मक ऐसा कोई पक्ष नही रहता जिसके बल पर उसे उस विषय से पृथक् किया जा सके जिसके द्वारा वह लक्ष्य ज्ञात था और इस तरह तब स्वय ज्ञान की ही आवश्यकता नही रह जाती। तब सज्ञान और सकल्प दोनो ही पक्षो की ओर से हम देख सकते है कि परिमित जीव का समग्र जीवन किस प्रकार, अनुभूति का विस्तार करके ऐसी विषयवस्तु के पूर्ण निग्रह तक पहुँचा देने के सतत प्रयास का जीवन है, जो (विषयवस्तु) स्वय

परिमित के लोप के बिना कभी भी निरर्थक नहीं हो सकती थी। इस प्रकार अनुभूति हमारे इस मौलिक सिद्धान्त की साक्षी है, कि परिमित व्यष्टि स्वयं में ही अपनी आवृत्ति ऐसे अपूर्ण और अपर्याप्त रूप में किया करता है कि जिसके अपरिमित व्यष्टि की सरचना एक आभास होती है।

मैं नहीं जानता कि यहाँ एकाध शब्द से ज्यादा उस विवेकहीन आक्षेप के विषय में कुछ कहना आवश्यक है या नहीं जो प्राय. ऐसे सभी दार्शनिक और धार्मिक अभिमतों के विषय में उठाया जाता है जो अनिष्ट की अन्तिमेत्य वास्तविकता से इनकार करते हैं अथवा जो स्वतन्त्र रूप से वर्तमान शैतान को नहीं मानते। कहा जाता है कि अगर अस्तित्व पहले ही से पूर्ण होता तो उसे अधिक पूर्ण बनाने के लिए हम इतने कष्ट और असुविधाएँ नैतिक तथा राजनैतिक प्रयत्नो के कारण क्यों उठाते? क्या हमारे लिए यही उचित न होता कि हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहकर 'जैसा है वैसा ही' आलसियो की तरह बर्दाश्त करते चले जाते। सन्देह को इसमे भी और आगे तक बढाया जा सकता है। क्योंकि 'वस्तु स्थिति' को स्वीकार कर लेने के नाते भी मनचीता काम और कामों को तरह ही स्वीकार कर लेने के ही होते है और इसलिए यह बहस पेश की जा सकती है कि ऐसी दुनिया मे जहाँ सब कुछ 'पूर्ण' हो, काम करने से बचे रहना और नैतिक प्रयत्न करना दोनो ही समान रूप से अस्थान प्रस्तुत वस्तुएँ है।

यह आक्षेप नि सन्देह व्यष्टि वास्तविक रूप में वर्तमान अस्तित्व तथा कालीय शृंखला मे हमारे सामने प्रकट होने वाले अस्तित्व के बीच की भ्रान्ति पर केन्द्रित है। नैष्कर्म्य की पोषक युक्ति विशुद्धरूपेण, कालीय घटनाओं की मूलत. अयथार्थ और अपूर्ण शृंखला से कालहीन समग्र के गुण, यथार्थ पूर्णत्व, के अध्याहारण पर आधारित है। उस यथार्थत पूर्ण समग्र मे ही अन्य सब वस्तुओ के साथ साथ, नि सन्देह, हमारे वे नैतिक आदर्श और हमारा वह नैतिक प्रयत्न जो हम कालक्रम मे वर्तमान परिमित जीवों की हैसियत से किया करते है अन्तर्हित रहता है इसलिए उसका पूर्णत्व ऐसा कोई आधार नहीं जिसके कारण उन्हे निष्फल माना जा सके। काल शृंखला के आभासी अनिष्ट के विरुद्ध चलनेवाला हमारा अपना सघर्ष भी उस वास्तविकता का समाकलन है, जो अपने पूर्ण व्यष्टि स्वरूप मे, पहले ही से यथार्थत पूर्ण तब होती है यदि हम केवल वह दृष्टिबिन्दु आत्मसात् कर सके जिनके द्वारा हम उसके यथार्थ स्वरूप को पहचान सके। जैसाकि प्लॉटिनस ने कहा है 'हमारा प्रयत्न श्रेय परक होता है और हमारा पलायन अनिष्ट से, प्रयोजनपरक विचार श्रेय और अनिष्ट दोनो का ही होने के कारण श्रेय है।'[1]

---

१. देखिए एनीड्स, १ ८, १५ (ह्विट्टेकर के नियोप्लैटो निस्ट्स नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ८३ पर उद्धृत तथा अनूदित) इससे थोड़े ही पहले प्लॉटिनस यह सही बातें कहो

अगर बिना ननुनच यह नहीं कह सकते कि निरपेक्ष श्रेय है और निश्चय ही यदि हमें यह नहीं कहना है कि निरपेक्ष नहीं मानों में 'नीतिशास्त्रीय' है तब यह कहना तो और भी अधिक व्यर्थ है कि निरपेक्ष 'नैतिकतया अनवधानी' है। क्योंकि निरपेक्ष केवल अनैतिक अथवा अनीतिशास्त्रीय इसलिए होता है क्योंकि वह पहले ही सब कुछ होता है, जो बनने के लिए नैतिक जीवन प्रयत्न किया करता है। अत: नैतिक माप में कोई परिमित जीव अपने निजविषयक हितों की सम्पद तथा उन हितों के बीच की एकतानता की माप की दोहरी कसौटियों से कसा जाकर, जितना ही ऊंचा बैठता है उतने ही परिमाण में उसकी संरचना में समग्र की संरचना आवृत्त होती है और उतनी ही उसकी वास्तविकता की मात्रा भी ऊँची हुआ करती है। और इसके माने यह हैं कि विश्व व्यवस्था में, बुरे अथवा अनिष्टकर व्यक्ति के आदर्शों की अपेक्षा भले अथवा श्रेयस्कर व्यक्ति के आदर्शों में उनकी सिद्धि के लिए बहुत कम पुनर्गठन और परिवर्तन अपेक्षित होता है। एक तरह से तो, जैसाकि प्रोफेसर रॉयस का भी अभिमत है, बुरे आदमी के भ्रान्त और लड़ाकू आदर्श भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि उसके सकल प्रयत्नों का लक्ष्य भी, चाहे वे प्रयत्न कितने ही अन्धे क्यों न हों, पूर्ण व्यष्टता ही होता है। लेकिन वह उसे ऐसी जगह खोजता है जहाँ वह मिल नहीं सकती—अर्थात् ऐसी इच्छाओं या वासनाओं की पूर्ति में, जिन्हें जीवन के संचालन कार्य में, उच्चतर स्थान, स्वत्व के विक्षेप और विकृति के बिना नहीं दिया जा सकता। जैसाकि प्लेटो ने कहा है 'अनिष्टकारी जैसा मन में आता है करता है' और इस कारण से ही वह कभी भी 'अपने संकल्पानुसार' कार्य नहीं किया करता। इसी लिए विश्व के अर्थ-तन्त्र में श्रेयस्कर पुरुष का स्थान अनिष्टकर पुरुष के स्थान से बहुत भिन्न हुआ करता है और स्वयं विश्व-व्यवस्था ही उन दोनों के मन्यगत विभेद के प्रति 'अनवधानी' होने के बजाय उनसे

है कि प्रत्येक अर्थ में अनिष्ट के अस्तित्व से इनकार करना, श्रेयस् के अस्तित्व से इनकार करना है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यदि श्रेयस् की विद्यमानता अभीष्ट है तो अनिष्ट का भी किसी तरह का आपेक्षिक अथवा प्रपंचात्मक अस्तित्व होना उस श्रेयस् की पूर्ववर्तिनी शर्त के रूप में आवश्यक है। किन्तु श्रेयस् की सिद्धि की शर्त के रूप में कार्य करते हुए, सार्वत्रिकतर दृष्टिबिन्दु से, स्वयं अनिष्ट भी, श्रेयस् है, अतः अनिष्ट रूप में उसका अस्तित्व आभासी ही है। विश्व व्यवस्था में अनिष्ट की स्थिति सम्बन्धी समग्र प्रश्न के विषय में, देखिए डाक्टर मैकटगार्ट का 'पाप' विषयक निबन्ध जो उनके ग्रन्थ 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मॉलाजी' में छपा है।

एकदम उल्टी ही होती है।[1]

पाठकों को जो निष्कर्ष मैं स्वयं अपना निष्कर्ष कह कर दे रहा हूँ वह यह है कि निरपेक्ष से घटिया कोई वस्तु उपासना का अनुपयुक्त और अपर्याप्त लक्ष्य होती है और यह कि स्वय निरपेक्ष की गठन ऐसी है जैसी कि उपर्युक्त प्रकार के लक्ष्य के लिए वांछित होती है। यदि यह बात और सुझाई जाय कि हर हालत में जब हम वास्तविक अनुभूति पर विचार करने लगते है तो हमें लगता है कि हम अपने उपास्य लक्ष्य को अपने लिए ऐसे व्यष्ट रूप में जो हमारे भीतर प्रभावी भावावेग जागत कर सके तथा हमें यथार्थ कार्य-परता के लिए पर्याप्त विशुद्धतापूर्वक प्रेरित कर सके, तब तक निर्देशित नहीं कर सकते जब तक कि हम उसे उन काल्पनिक नृतत्वीय गुणों से मण्डित न कर दे जिन्हे तत्व-मीमांसीय आलोचना ने अपरिमित व्यष्ट के लिए अविनियोज्य ठहराया है। इस सुझाव के जवाब में यही मैं कहना चाहूँगा कि मैं उस सुझाव को माने लेता हूँ। और मैं नहीं समझता कि हमें इस निष्कर्ष से दूर भागना चाहिए कि व्यावहारिक धर्म मे बौद्धिक व्याघात का थोड़ा पुट रहता ही है। अत. यद्यपि ईश्वर सच्ची तौर पर ईश्वर तब तक नहीं होता जब तक कि हम किसी ऐसे स्वच्छन्द 'अनिष्ट' की सत्ता से इनकार नहीं कर देते जो ईश्वर के स्वरूप को सीमित बनाता है, फिर भी यह संभव प्रतीत होता है कि ईश्वर के सहकर्मी के रूप में हमारी स्वविषयक कल्पना हमें शायद ही शुभ कर्म करने के लिए तब तक प्रेरित कर सके जब तक कि हम भी असगत रूप से ईश्वर को विरोधी शक्ति से संघर्ष करता हुआ तथा हमारी सहायता का अपेक्षी न प्रकल्पित करने लगे। लेकिन इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि कार्य को मार्गदर्शन कराने के लिए धर्म का व्यावहारिक मूल्य

---

१. जब यह कहा जाता है कि यदि निरपेक्ष, विद्यमान है तो उसे नैतिकतया 'अनवधानी' होना चाहिए तब उस कथन में चेतन अथवा अचेतन रूप से विचार विभ्रम मौजूद रहता है। निरपेक्ष का निश्चित रूप से 'अनवधानी' होना इस माने में जरूरी होता है कि वह अपने किसी निर्मायकों अथवा कारकों में से किसी के भी विरुद्ध घृणा अथवा शत्रुता के आभ्यन्तरिक असामंजस्य को अनुभव नहीं कर पाता। क्योंकि निरपेक्ष दोनो पक्षों में स्वयं कोई पक्ष नहीं होता। वह एक साथ ही दोनों लड़ाकू पक्ष भी होता है और युद्ध स्थल भी। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि चूँकि निरपेक्ष घृणा और पक्षपात की भावना से हीन होता है इसलिए अवश्य ही वह इस अर्थ में अनवधानी होगा कि हमारी श्रेयस्कृति अथवा अनिष्टकारिता से हमारे तद्गत स्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, अनैरार्थक दोष भागी होगा और इस दोष के लिए अचैतन्य और सदाशयिता के बहाने एकदम अपर्याप्त हैं।

उनकी वैज्ञानिक सत्यता पर आवश्यकरूपेण निर्भर नहीं होता।

८—निःसन्देह हमारे लिए यह मान लेने की पूरी छूट होगी कि निरपेक्ष के अन्तर्गत अतिमानवीय शक्तिवान् तथा श्रेयस्कर ऐसे परिमित प्राणी हो सकते हैं जिनके साथ मानवता नैतिक उद्देश्यों के लिए सहयोग करने में सक्षम हो सकती है। किन्तु ऐसे ही प्राणी, यदि वे विद्यमान हैं तो उसी माने में ईश्वर न होंगे जिस माने में निरपेक्ष को ईश्वर कहा जा सकता है। हो सकता है कि वे हमारी श्रद्धा के पात्र बन सकें और हमारे सहयोगी किन्तु चूँकि स्वयं सान्त होने के कारण वे अपूर्णतया वास्तविक और व्यष्ट होंगे इसलिए तर्कसंगतरूपेण वे इस स्थान के पात्र न हो सकेंगे जो किसी आदर्श की पूर्णता और यथार्थतया व्यष्ट सिद्धि को प्राप्य हुआ करता है। वह स्थान फिर भी अगम उनके बाहर ही प्रकृति के समग्र रूप के अन्दर उसी तरह सम्मिलित जिस तरह हम और वे सब प्राणी सम्मिलित हैं। इस प्रकार वे सब प्राणी भी 'ईश्वर' बहुदेववाद के अनुसार होंगे न कि ऐकेश्वरवादी का एकल ईश्वर'।

इसके बाद, प्राग्ज्ञानपूर्वक यह निर्णय करने का कोई साधन मेरे पास नहीं है कि विश्व में ऐसी एक ही सत्ता हो सकती है। परिमित प्राणियों की श्रृंखला को यदि स्वयं भी परिमित मान लिया जाय तो भी, यह नहीं सूझता कि उसमें एक ही 'सर्वोत्तम' सदस्य कैसे हो सकता है। और उसे अपरिमित मान लेने पर क्या उसमें कोई एक 'सर्वोत्तम' सदस्य मिल भी सकेगा?[1] तत्वमीमांसा के वश के बाहर की सी ही यह बात लगती है कि वह इस प्रकार की परिमित किन्तु उच्च पदस्थ सत्ताओं या प्राणियों के अस्तित्व की अथवा उनके कारकत्व या कर्तव्य की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का साक्ष्य ढूंढ सके। हम नहीं कह सकते कि वास्तविकताविषयक हमारी सामान्य कल्पना इस प्रकार की है कि जिससे इस सुझाव का निराकरण हो सके किन्तु उधर उस सामान्य कल्पना से भी हमें

---

१. अतः मैं यह नहीं समझ पाता कि ईसाइमत की परंपराओं का सम्मान बनाए रखने के अतिरिक्त, डाक्टर राश्डाल ने क्यों यह मान लिया कि उनके मतानुसार ईश्वर केवल एक है। अनेक नहीं। उनकी विवादोक्ति से तो मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ ईश्वर के एकत्व की स्थापना आवश्यक होती है वहाँ उन्होंने निरपेक्ष तथा ईश्वर को मिलाकर एक कर दिया है और ज्यों ही ईश्वर के 'व्यक्तित्व' का सवाल उठाया जाता है वहाँ वे उन दोनों में विभेद करने लगते हैं। 'देखिए' 'पर्सनल आइडियलिज्म' में उनका निबन्ध)। प्रोफेसर जेम्स जब बहुदेववाद को, ईश्वर की अनन्तता के स्वनिष्ठत निषेध का सम्भाव्य परिणाम बताने के लिए स्पष्टतः तैयार होते हैं तो उनकी तर्कना कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। (देखिए 'वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियन्स', पृष्ठ ५२४ एफएफ)।

ऐसा कोई निश्चयात्मक साक्ष्य उसे सही मानने का नही मिलता। अत यह एक बहुत बडी हठधर्मी होगी कि हम फिर भी कहे चले जॉय कि निरपेक्ष परिमित व्यष्टता के ऐसे उपलक्षक अपने मे रख ही नही सकता जो मानव समाज मे मौजूद उपलक्षको से उच्चतर हों, दूसरी ओर यह कहना भी उसी श्रेणी की हठधर्मिता कहलाएगी कि उनके अस्तित्व तथा हमारे साथ उनके प्रत्यक्ष या सीधे सामाजिक सम्बन्ध का सुतर्कित ज्ञान हमारे पास मोजूद है। इसलिए मेरे ख्याल से, हमे इतना कह कर ही सन्तोष कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार की भी प्राक्कल्पना का सुझाव हममे से किसी को भी जहाँ तक स्वय अपने वैयक्तिक अनुभव से प्राप्त होता है वहाँ तक उसे निष्ठा के वैध उपयोग का मामला माना जा सकता है।

९—उपर्युक्त विचारविमर्श के आधार पर ऐसी कुछ टिप्पणियाँ की जा सकती है जो सक्षेप मे उन ईश्वरास्तित्वविषयक तथा कथित दार्शनिक विवादोक्तियों का सक्षिप्त विवरण दे सके जो काण्ट और हेगल के हाथों पडकर अविश्वास्य ठहरायी जाने से पहले तत्वमीमासा के रगमच पर प्रमुख भूमिका अदा करती रही थी।[१] काण्ट की महान् उपलब्धि उसकी वह प्रदर्शन विषयक सफलता है जिसके द्वारा उसने यह दिखा दिया कि 'प्रमाणो' का सारा जोर इस प्रसिद्ध जीवविज्ञान शास्त्रीय वादोक्ति पर निर्भर है आधुनिक दर्शनशास्त्र जिसके देकार्ते के पचम 'मेडिटेशन' मे दिए गए स्वरूप से आज भी परिचित है। उस स्थल पर देकार्ते ने लिखा है '—'ईश्वर' शब्द से मेरा अभिप्राय एक पूर्णात्पूर्णतर सत्ता या प्राणी से। अब चूँकि अस्तित्व पूर्णता का और अनस्तित्व अपूर्णता का ही नाम है इसलिए मैं आत्म-व्याघात दोष का भागी हुए बिना किसी नास्तित्वमय पूर्ण सत्ता का विचार ही मन मे नही ला सकता। अत प्राक्कल्पनानुसार पूर्ण ब्रह्म या ईश्वर का अस्तित्व होना आवश्यक है और उसे ही एक मात्र ऐसी सत्ता होना चाहिए जिसका आस्तित्व उसकी परिभाषा से ही अनुगत होता है।

काण्ट की इस प्रसिद्ध निष्कर्ष-विषयक और भी प्रसिद्ध आलोचना उस सिद्धान्त पर केन्द्रित थी जिसे उसने ह्यूम के अध्ययन से सीखा था और जो यह था कि तार्किक आवश्यकता 'व्यक्तिनिष्ठ' होती है। यदि मै गुणों के आधार पर परिभाषित किसी तार्किक विषय के बारे मे सोचता हूँ तो उस परिभाषा मे सम्मिलित सारे ही गुणों का उस विषय मे अध्याहार करना 'आवश्यक' हो जाता है अर्थात् या तो मै उस विषय मे उनके होने की पुष्टि करूँ और यदि ऐसा न करूँ तो आत्म-व्याघात दोष का भाजन बनूं। अत

१. काण्ट का यह प्रसिद्ध झपट्टा 'ट्रान्सडेण्टल डायलेक्टिक' बुक २, डिव ३, (दि आइडियल आफ प्योर रीजन), सेक० ३–७ मे मिलेगा। ह्यूम की आलोचनाएँ उसकी मृत्युपरान्त पुस्तक 'डायलॉग्स कंसर्निग नैचुरल रिलीजन' मे मिलेंगी।

प्रभाव प्रमुख रूप से विशेष पड़ा। हेगलीय आलोचना के प्रमुख सिद्धान्त रूप प्रतीत होने वाले अभिमत को बड़े ही स्पष्ट रूप में अंग्रेजी दर्शनशास्त्र के लिए श्री ब्रैडले ने व्यक्त कर दिया है।[1] और उन्ही के विमर्श पर नीचे लिखी बाते प्रधानतया आधारित है।

जीव-विकास शास्त्रीय प्रमाण का मूल्याकन करते समय हमे उसमे अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्त और जिस विशिष्ट रूप में वह उन सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है इन दोनो बातो को एक दूसरे से पृथक् ही रखना होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि काण्ट का यह कथन पूरी तरह से सही है कि अस्तित्व का अर्थ अगर अवकाशीय तथा कालीन क्रम से विद्यमानता माना जाय तो आप किसी विचार के मेरे स्वामित्व के आधार पर तत्सदृश प्रतिदर्शी विचार के अस्तित्व को सिद्ध नही कर सकते।

आप यह नही कह सकते कि मैं जिस किसी की भी कल्पना करूँगा उसका अस्तित्व मेरे द्वारा कल्पित रूप मे होना आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार सार्वत्रिक रूप से विनि-योजनीय न होने के आधार पर ही जीवविकास शास्त्रीय प्रमाण को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। उनमे अन्तर्गस्त सिद्धान्त अपने सीधे-सादे रूप से यह प्रतीत होता है। प्रत्यय अथवा विचार तथा अपने अस्तित्व से बाह्य, काल-क्रम के तथ्य रूप मे वर्तमान उस प्रत्यय की 'अर्थ-स्वरूपा' अथवा 'प्रतिनिधि' वास्तविकता या सत् दोनो ही ऐसी समग्र वास्तविकता के परस्परत पूरक पक्ष हुआ करते है, जिसमे वे दोनो स्वय भी शामिल रहते है। क्योकि एक ओर तो ऐसा लचर और असत्य कोई प्रत्यय या विचार होना ही नही जिसका या तो कोई 'आशय' ही न हो या जिसके अपने वर्तमान अस्तित्व से बाह्य कोई लक्ष्यार्थक सदर्भ न हो[2]। दूसरी ओर अनुभूति के किसी भी विषय अथवा कर्ता के लिए जिसकी कोई यथार्थता न हो वह अवस्तु होती है। अत अपने सामान्यतम रूप मे जीव-विकासात्मक वादोक्ति एक सीधा सादा यह कथन मात्र है कि किसी कर्ता या विषय हेतु, अर्थ और वास्तविकता अन्योन्याभिप्रायी होते है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सभी विचार समान रूप से सत्य और यथार्थ होते हैं। दूसरे शब्दो मे, यद्यपि स्वय उसकी विद्यमानता को छोड कर प्रत्येक विचार का कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है फिर भी हो सकता है कि विभिन्न विचार ऐसे की सरचना का प्रतिनिधित्व करे जिसके अर्थ को वे पर्याप्तता की परस्पर अत्यन्त भिन्न मात्राओ में व्यक्त करते हो। मेरे विचार का

१. अपीयरेंन्स एण्ड रीयालिटी—अध्याय २४।

२. कोई भी विचार केवल और निरपेक्ष रूप से उसी तरह असत्य नहीं हो सकता जिस तरह कि कोई कार्य विना किसी लागलपेट के ही एकदम खराब या अनिष्टकर नहीं हुआ करता। यद्यपि शब्द निराशय अथवा निरर्थक हो सकते है तथापि विचार कदापि निरर्थक नहीं होते।

जो आशय है वह आशय अपने उस वास्तविक रूप से जिस रूप में मैं उसे सोचता हूँ अत्यधिक दूर हो सकता है।

अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मेरा विचार आभ्यन्तर रूप से जितना ही एकरस और व्यवस्थित होता है उतने ही अधिक पर्याप्त रूप में वह अपने अर्थ को व्यक्त करता है यदि पूर्णरूपेण व्यवस्थित और संगत विचार मिथ्या निरूपण मात्र हो तो वैज्ञानिक सत्य विषयक हमारा समग्र निकष का कोई मूल्य ही नहीं रहता। किस पूरी तरह से हम इस ज्ञान-विज्ञानात्मक वादोक्ति का उपयोग व्यावहारिक रूप में किया करते हैं यह बात आसानी से उस तरीके को देखने से समझ में आ जाती है जिसके अनुसार उदाहरणत हम ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या अथवा उनका पुनर्निर्माण करते हैं। वहाँ व्यवस्थित और सर्वांगीण व्याख्या का आन्तरिक सातत्य को ही उसकी सत्यता का साक्ष्य समझ लिया जाता है। अत यह युक्ति पेश की जा सकती है कि यदि वास्तविकता पर विचार करने का कोई ऐसा व्यवस्थित तरीका मौजूद है जो निरपेक्षतया और पूर्णरूप से आभ्यन्तरत संगत और हमारे विचारों की वैयक्तिक अन्तर्वस्तु के जाटिल्य की यथासम्भव वृद्धि के बावजूद भी प्रकृत्या अपरिवर्त्य रहनेवाला है तो हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसी विचार व्यवस्था, उस सीमा तक जहाँ तक कि कोई विचार वास्तविकता का प्रतिनिधित्व कर सकता है, नैष्फिनया उस वास्तविकता का प्रतिनिधि होगा—जिसका प्रतीक वह है। अर्थात् जब कि विचार स्वयं वास्तविकता या सत् न 'होगा' क्योंकि वह तब भी विचार रूप है जिसके माने हैं कि वह अपने अस्तित्व के परे कोई वस्तु है, वहाँ उसे सत्य रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उसमें किसी संरचनात्मक परिवर्तन या रद्दोबदल की जरूरत तो न होगी केवल विवरणात्मक सम्पूर्ति की ही आवश्यकता पड़ेगी।

किन्तु यदि कहीं भी ऐसा विचार हमारे सामने हो जो उपर्युक्त प्रकार से आभ्यन्तरिकतया संगत हो और ज्ञान के अतिशय विस्तार से भी स्वभावत अप्रभावित बना रहे तो निश्चय ही वह वास्तविक विषयक हमारी तत्वमीमांसीय कल्पना का एक निरपेक्ष या व्यष्ट विषय होगा। इस प्रकार किसी भी अर्थ में, जहाँ तक कि वह दोषात्मक नहीं होता, जीव विकासीय प्रमाण इस सिद्धान्त का समकक्ष प्रतीत होता है कि एक यथार्थिक विचार विशुद्ध ज्ञान का दाता होता है। और चूँकि सकल यथार्थिक विचारार्थ उसके लक्ष्य की संरचनात्म विशुद्ध व्यष्टता पूर्वनिर्मित होनी ही है अत वास्तविकता का यथार्थत परिपूर्ण व्यष्ट होना आवश्यक है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह परिपूर्ण व्यष्ट, 'ईश्वर' भी हो यानी विशिष्ट धार्मिक आवेगों पर आधारित विश्वासों द्वारा अव्याहत लक्षण उसमें विद्यमान हों। धर्म विषयक 'ईश्वर' तत्त्वमीमांसीय निरपेक्ष की सही कल्पना किस सीमा तक है इस बात को हम स्वत धार्मिक अनुभूति की उपलक्षक अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से जान सकते हैं। और यह स्पष्ट है कि

'ईश्वर' कहने का यदि हमारा अभिप्राय निरपेक्ष समग्र से घटिया किसी वस्तु का है, तो उसकी सिद्धि के लिए जीव विकासपरक प्रमाण की कोई सार्थकता नही रहती। यह सिद्ध कर सकना असभव है कि सार्थक विचार की सभावना मे निरपेक्षान्तर्गत वर्तमान, अनुभव द्वारा हमे अज्ञात रहनेवाली विशिष्ट परिमित सत्ता भी शामिल है।

'ब्रह्माण्ड-विज्ञानीय' प्रमाण अथवा 'विश्व विषयक आकस्मिकता पर आधारित वादोक्ति', जीव-विकास विज्ञानाधारित वादोक्ति के विपरीत, पहले पहल यह देखने पर दत्त अनुभवाधारित तथ्य को लेकर अपना कार्य प्रारभ करती प्रतीत होती है। आलोचना हेतु काण्ट द्वारा सक्षेपीकृत रूप मे उसे यो प्रस्तुत किया जा सकता है —"यदि किसी भी वस्तु का जरा सा भी अस्तित्व है तो उसके साथ साथ निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता का होना भी जरूरी है। उदाहरणत मे स्वय विद्यमान हूँ, निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता भी विद्यमान है।" प्रमाण को अच्छी तरह पक्का पूरा करने के लिए यह सिद्ध करना जरूरी होगा कि उप-स्थापना मे जिसके अस्तित्व का दृढोपकथन हुआ है वह सत्ता, अर्थात् मैं स्वय, अपने आप मे 'निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता' नही हूँ और इस प्रकार समापित वादोक्ति सिद्धान्तत तृतीय मेडिटेशन मे देकार्ते द्वारा प्रस्तुत द्वितीय 'प्रमाणो' से एकाकार हो जाती है। उक्त स्थल पर यह निष्कर्षित हुआ है कि यदि मैं, एक निर्भर सत्ता, विद्यमान हूँ, तो एक ऐसा ईश्वर भी होना आवश्यक है जिसपर मैं तथा अन्य सब वस्तुएँ निर्भर है।[1] काण्ट के कथनानुसार इस निष्कर्ष की सारी शक्ति जीव-विकासीय वादोक्ति के अग्रिम स्वीकरण पर निर्भर होती है। अपने आपसे तो ब्रह्माण्ड-विज्ञानपरक प्रमाण इतना ही सिद्ध करता है कि यदि कोई आश्रयी अस्तित्व वास्तविक हो, तो, किसी प्रकार के स्वतन्त्र अथवा अनिर्भर अस्तित्व का भी वास्तविक होना आवश्यक होगा। इसे ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण मे परिवर्तित करने के लिए आपको जीव-विकास विज्ञानीय 'प्रमाण' की पूर्णात्पूर्ण सत्ता' अथवा 'वास्तविकतम' या 'परमसत्' का 'अनिर्भर अस्तित्व' के साथ साम्य बैठाने के लिए और भी आगे बढना होगा। क्योंकि अन्यथा, ह्यूम के कथोपकथनो

---

१ जैसा काण्ट ने नोट किया है, यह वादोक्ति लीब्निट्ज को भी प्रिय थी। लीब्निट्ज द्वारा इस वादोक्ति तथा अन्य 'प्रमाणों' के उपयोगार्थ देखिए बर्ट्रेण्ड रसल लिखित ("फिलासफी ऑफ लीब्निट्ज', अध्याय १५) उसके विरुद्ध उठायी गयी ह्यूम की आपत्तियो के लिए पूर्वोद्धृत 'डायलॉग कसर्निग नैचुरल रिलीजन' का नवाँ खड देखिए। तृतीय मेडिटेशन का अन्य 'प्रमाण' अर्थात् यह कि आनुभविक स्रोतो से जिसकी प्राप्ति मैं नही कर सकता ऐसे ईश्वरविषयक प्रत्यय का मेरा स्वामित्व प्रत्यय-विषयक लक्ष्य की वास्तविकता का प्रमाण है, प्रत्ययादस्तित्व-परक जीव विकासीय वादोक्ति का ही एक विशिष्ट रूप है।

(डॉयलाग्ज) के एक प्रवक्ता ने जैसा सुझाव दिया है वैसा ही सुझाव इश्वर से भी दिया जा सकता है कि योगरूपेण अथवा समूहरूपेण ग्रहीत प्रपचात्मक घटनाओं की शृखला स्वय ही, ऐसा 'अवश्यभावी अस्तित्व' है जिसपर प्रत्येक पृथक घटना का आकस्मिक 'अस्तित्व' निर्भर होता है। 'मैने पदार्थ के वीस कणो के सग्रह मे से प्रत्येक व्यष्ट के विशिष्ट कारण दिखाए थे न, अव अगर वाद को आप मुझसे पूछे कि सव वीसो का कारण क्या है तो मुझे आपका यह प्रश्न अत्यन्त अयुक्तियुक्त प्रतीत होगा। भागो का कारण वतलाते हुए यह वात पर्याप्त रूप से पहले ही समझाई जा चुकी है।

इस आपत्ति से वचने के लिए हमे यही कहे चले जाना होगा कि कि केवल 'पूर्णात्परपूर्ण सत्ता' ही 'अन्तिमेत्यतया आवश्यक' 'चरम आवश्यक' सत्ता हो सकती है और यह कि उसका 'आवश्यक अस्तित्व' उसके स्वरूप का परिणामी है। जैसाकि हम पहले देख चुके हैं यही दावा जीव विकासीय 'प्रमाण' मे भी किया गया है। अत जीव-विकासात्मक 'प्रमाण' की हमने जो आलोचना की है वह ब्रह्माण्ड विज्ञानीय 'प्रमाण' पर भी वरावर से लागू होगी। यदि हम दोनो को मिला दें और जीव विकासीय 'प्रमाण' को पहलेवाले रद्दोवदल के अनुसार उन दोनो को फिर से प्रस्तुत करे तो वादोक्ति का रूप कुछ प्रकार का होगा। सारे ही साध्यो का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सन्दर्भ वास्तविक अस्तित्व, हुआ करता है। अत यह दावा करना कि अवस्तु का अस्तित्व होता है अथवा कुछ भी विद्यमान नही रहता, आत्मव्याघात दोषपूर्ण होगा। किन्तु अस्तित्व स्वय केवल व्यष्ट रूप मे ही प्रकल्प्य होता है। अत निरपेक्षतया व्यष्ट का वस्तुत अस्तित्ववान् होना आवश्यक है। और यह वात इस पुस्तक के द्वितीय खड मे दी गयी हमारी तर्कना के सामान्य सिद्धान्त से मिलती जुलती है। यदि यह वैध हो तो स्पष्ट ही है कि वह केवल तत्वमीमासीय निरपेक्षविषयक वादोक्ति के रूप मे ही वैध होगी, वह न तो उस निरपेक्ष को धर्माभिहित ईश्वर ही सिद्ध करेगी न निरपेक्षान्तर्गत परिमित व्यष्ट रूप ईश्वर के अस्तित्व का दावा करने के लिए कोई आधार ही प्रस्तुत करेगी।[1]

---

१. इस रूप मे परिवर्तित होकर जीव विकास युक्त ब्रह्माण्ड विज्ञानीय द्विधा वादोक्ति को दो आधारो पर आक्रान्त किया जा सकता है--(१) यह कि वह फिर एक वार इतना ही प्रमाणित करती है कि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सारे ही साध्यो का विचार्य विषय केवल वास्तविक अस्तित्व की खोज मात्र है निरपेक्ष भले ही वह प्रत्यक्षत हो अथवा दूरत:, निरपेक्ष की उपस्थिति हमे स्वीकार करनी ही होगी लेकिन इससे यह नहीं प्रकट होता कि सारे ही साध्य इसी विचार मे उलझे रहते हैं। (२) यह कि जव हम कहते हैं कि अस्तित्व केवल व्यष्टरूपेण ही प्रकल्प्य होता है तो हम अस्तित्व को विशेषणात्मक मानने की देकार्ते की भ्रान्त कल्पना के वशीभूत होकर ही ऐसा कहते हैं। उपर्युक्त दोनों वातो का उत्तर मे इस प्रकार

भौतिक्यध्यात्मवादीय वादोक्ति, जिसे अभिकल्पात्मक प्रमाण-अथवा साध्य-वादीय प्रमाण भी कहते है , उपर्युक्त दोनों प्रमाणो से, अपने प्रचलित रूपो मे वस्तुत अनुभवाधारित होने के कारण भिन्न होती है । प्रकृति की सरचना मे वर्तमान आभासी व्यवस्था तथा मानवीय श्रेयस् की उस भावना के रूप मे जो किसी बुद्धिमान अथवा हित-कारी सत्ता या सत्ताओ को प्रकृति का कर्त्ता मानती है, यह वादोक्ति विश्व के प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनो ही युगों की सभी विश्वपरक वादोक्तियो मे सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। ज़ोनोफन के कथनानुसार सुकरात इस वादोक्ति पर बडा जोर देता था । अध्यात्म-वादीय विश्वासो की तार्किक आलोचना के आधुनिक प्रतिरक्षकों मे भी उसका स्थान प्रमुख है। किन्तु यह वात ध्यान देने की है कि ह्यू म और काण्ट की आलोचनाएँ 'अभि-कल्पनात्मक वादोक्ति' के लिए एकदम घातक तब हो जाती है जब इस वादोक्ति को अनन्त श्रेयस् और वुद्धि के आगार, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। जैसाकि काण्ट का भी कथन है, अपने श्रेष्ठतम रूप मे, प्रकृतिविपयक प्रेक्षित व्यवस्था और एकरूपता के आधार पर हम प्रकृति के कर्ता को किसी परिमित मात्रा मे श्रेयस्कर और बुद्धिमान मान सकते है। प्रकृति के कर्ण मे भी अपरिमित वुद्धि और श्रेयम्कर्तृत्व का अनुमान करने के लिये उसको एकान्त एकरूपता और श्रेयस्कर्तृत्व के जिस दृढकथन की हमे आवश्यकता पडती है वह अनुभवाधारीय सत्यापन की सीमाओ के एकदम वाहर है और किसी जीव-विकास-विज्ञानीय प्रमाण द्वारा ही उसे स्थापित रखा जा सकता है । अतः 'अभिकल्पात्मक वादोक्ति' ज्यादा से ज्यादा ऐसे ही ईश्वर को सिद्ध कर सकती है जिसकी वुद्धि और श्रेयस्करता, जहाँ तक वे ज्ञेय है, सीमित ही होती है। इसी वात को और भी अधिक जोर के साथ ह्यू म ने यो पेश

दूँगा (१) विवादान्तर्गत वाद विषय की वैधता से तव तक इनकार नहीं किया जा सकता जव तक निषेध पक्का न हो । अर्थात् जव तक सुझावान्तर्गत साध्य कि 'कम से कम कुछ साध्यों का, मेरे मन के मानसिक तथ्य के रूप मे, स्वय प्रस्तुत होने के अतिरिक्त, वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं हुआ करता' का प्रश्नान्तर्गत सरोकार ही उसका अपना सरोकार नहीं बन जाता तव तक वह साध्य अर्थहीन रहता है ओर इसलिए वह यथार्थ साध्य भी नही रहता। (२) यह कि अस्तित्व के तत् और 'कि' की अलग अलग पहचानें करना आवश्यक है। अस्तित्व के 'तत्' और 'कि' की अलग-अलग पहचान करना आवश्यक है। अस्तित्व का 'तत' एकदम अकल्पनीय है किन्तु हमारा कहना है कि इस अप्रकल्पनीय तत् को केवल तर्कानुसार ही न कि वस्तुतः उसे 'कि' से पृथक् किया जा सकता है। और यह कि 'तत्' और 'कि' की इस अवियोज्यता ही को हम 'व्यप्टता' मानते हैं ।

किया है कि यदि मानवीय प्रयोजनो के लिए, प्रकृति के आशिक विपयक ज्ञात तथ्य अपने असली रूप मे किसी वुद्धिमती और श्रेयस्कर प्रज्ञा की सिद्धि के लिए वैव हैं तो क्या वे सदोप श्रेयस्करता तथा सदोप वुद्धिमत्ता की सिद्धि के लिए, सामजस्य-राहित्य के तत्सदृश ही सुनिश्चित तथ्य नही हो सकते ?[१]

भौतिक्यध्यात्मवादीय प्रमाण के निष्कर्षो तथा अन्य 'प्रमाणो' के परिणामो के वीच पायी जाने वाली भिन्नता का एक और भी गहरा तत्वमीमासीय कारण है जिसका सक्षिप्त रूप मे यहाँ जिक्र कर देना उचित होगा। पहले से सोची गयी 'अभिकल्पना' के कारण ही विश्व मे क्रम और व्यवस्थित एकता पायी जाने की समग्र कल्पना तभी हमारी समझ मे आ सकती है जब हम उस अभिकल्पना के निर्माता या कर्ता को परिमित तथा अपनी ही तरह कालीय उत्परिवर्तनीयता का भाजन मान लें। क्योकि स्वय अभिकल्पना की धारणा मे ही मनसा-कल्पित आदर्श का उस ताथ्यिकता से, जो उस आदर्श के आनुकूल्यीकरण की प्रतीक्षा करती रहती, पार्थक्य अभिनिविष्ट रहता है और परिणाम-स्वरूप वह कालीय-प्रक्रिया भी उसी मे अभिनिविष्ट रहती है जिसे हम सकल परिमित का उपलक्षक पहले ही पा चुके है। अतः भौतिक्य-ध्यात्मवादीय प्रमाण स्वत परिमित 'देवो' की वास्तविकता सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है न कि ईश्वर की, क्योकि वह परिमितिपरक पदार्थों से ही शुरू से आखिर तक अपना काम किया करता है।

प्रारम्भिक पूर्वानुमानो द्वारा इस प्रकार परिसीमित उक्त वादोक्ति की तार्किक शक्ति के विपय मे यहाँ केवल एक ही टिप्पणी आवश्यक है। उपर्युक्त तर्कना मे जिस वात पर जोर दिया गया है वह न केवल यही है कि 'प्रकृति' वस्तुत व्यष्टता तथा प्रयो-जनात्मक अभिरुचि ही नही वल्कि एक अभिकल्प-युक्त व्यवस्था भी है। उसके साथ इतना और भी है कि उसमे मानव प्रगति के सहायक और पोषक विशिष्ट अभिकल्प के दर्शन भी हमे होते हैं। लेकिन वात वास्तव मे ऐसी है या नही यह अनुभवाश्रित तथ्यता विपयक ऐसा प्रश्न प्रतीत होगा जिसका निर्धारण उसी प्रकार की अनुभवाधारित समस्याओ पर लागू हो सकनेवाली विधियो द्वारा ही हो सकेगा। भविष्य मे सभवत' जिन विचारपक्तियो के अनुसार उपर्युक्त वात का निर्णय किया जायगा वे निम्नलिखित सामान्य प्रकार की है। प्रतीत होता है कि विकासात्मक विज्ञान ने यह विल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि जो प्रभाव उसे ज्ञात हैं—जैसे कि 'प्राकृतिक' और 'लैंगिक चयन'—उनमे ऐसी प्रक्रियाएँ विद्यमान होती है जो, जहाँ तक हम जान सकते है वहाँ तक, परिणामो की सिद्धि हेतु किए जाने वाले प्रयत्नो के विना ही, हितकारी परिणाम उत्पन्न किया

१. 'डायलॉग्ज कंसर्निग नेचुरल रिलीजन', भाग २।

करती है।[1] तब हमे यह पूछना पडता है कि क्या ऐसा कोई वास्तविक आधार मौजूद है या नहीं जिसके बल पर कहा जा सके कि ये प्रभाव स्वत. इतने पर्याप्त नहीं कि वे मानवीय सभ्यता के विकास का जहाँ तक कि वह विकास पर्यावरणीय तत्वो के कारण हुआ हो, कोई कारण बता सके। यदि वे इतने पर्याप्त हैं तो किसी हितकारी मानवातिश्रेष्ठ कर्त्ता द्वारा मानवीय विकास होने विषयक 'भौतिकाध्यात्मिक' वादोक्ति अपेक्षाधिक अथवा निरर्थक सिद्ध होगी। यदि वे इतने पर्याप्त नहीं हैं तो उनका अभाव हमारे लिए यह मान लेने का एक अच्छा आधार प्रस्तुत करता है कि हमारे पर्यावरण की निर्मात्री एक अमानवीय 'अभिकल्पक' परिमित प्रज्ञा है। दोनों ही तरह से प्रश्न ऐसा अनुभवाधारित तथ्य-विषयक प्रतीत होता है कि सामान्य तत्वमीमांसीय आधारों पर उसका अग्रिम निर्धारण नहीं हो सकता।[2] न हमें ही यह उचित प्रतीत होता है कि हम प्रकृति मे ऐसा अभिकल्प होने का पूर्वानुमान कर ले कि जिसका अस्तित्व मान लेने पर वह सदा ऐसे लक्ष्यों की सिद्धि हेतु आवश्यकरूपेण निदेशित हो, जो या तो हमारे लिए बोधगम्य हो और यदि बोधगम्य हो तो इस अर्थ मे 'हितकारी' हो कि वे हमारे विशिष्ट मानवीय हितो को और आगे बढा सके। और इस विषय को यहाँ तक पहुँचाकर अब मैं विरत होता हूँ।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—एफ० एच० ब्रैडले, 'कृत अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २५, २६; ई० मैकटॉगार्ट लिखित 'स्टडीज इन हेगेलियन कॉस्मोलॉजी', अध्याय ६, ८; रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल', द्वितीय सीरीज, लेक्चर ९, १०।

---

१. यह हमारे अपने इस अभिमत के एकदम अनुकूल है कि सकल वास्तविक प्रक्रियाएँ इस माने मे साध्यपरक होती हैं कि वे व्यक्ति-निष्ठ-हित-प्रमुख होती हैं क्योंकि (अ) सकल साध्यपरक प्रक्रिया किसी तरह से भी वास्तविक 'अभिकल्प' नहीं होती न 'संकल्प'। (उद्वेग, इन्द्रियवासना, अभ्यास आदि सब इसी के अंतर्गत हैं) और (ब) वास्तविक संकल्प का सदा उत्पादित परिणामपरक संकल्प होना आवश्यक नहीं होता। मनुष्य का 'लैंगिक चयन' ऐसी प्रक्रिया का उदाहरण हो सकता है जो वास्तविक संकल्प का रूप धारण कर सके, किन्तु उस दशा में वह सकल्प तब यदा-कदा ही उस मूल वृन्त को उन्नत बनाने का संकल्प होता है जो वस्तुतः उसी से पैदा होता है।

२. तुलना कीजिए ब्रैडले की 'अपीयरेंस एंड रीयालिटी' के पृष्ठ २००, ४९६–४९७ (फर्स्ट एडिशन) से। आस्तिकतावादी 'प्रमाणों की ह्यूमीय तथा काण्टीय आलोचनाओं का प्रोफेसर फिलण्ट का प्रयतित उत्तर मुझे इस अध्याय में लिखित अपने विचारों में सुधार करने के लिए प्रेरित नहीं कर सका।

अध्याय ६

उपसंहार

१—क्या हमारी निरपेक्ष अनुभूति, सहीतौर पर, 'विचार और सकल्प का सयोग' कही जा सकती है ? 'निरपेक्ष' निश्चित रूप से हमारे प्रज्ञात्मक तथा व्यावहारिक आदर्शो की अतिम ससिद्धि ही है। किन्तु (१) उसमे सौन्दर्यानुभूति, सुख, दुख आदि पहलू जो न तो विचार होते है न सकल्प, शामिल रहते है। (२) और वह निरपेक्ष न तो विचार का न संकल्प ही का उनके तद्रूप मे निरपेक्ष स्वामी ही हो सकता है। विचार और सकल्प दोनो ही प्रकृत्या ऐसी वास्तविकता का पूर्वानुमान किए रहते हैं जो विचारमात्रातीत तथा सकल्प मात्रातीत होती है। २—कहा जा सकता है कि हमारे इस उपसहार मे एक माने में, नास्तिकवाद और इसी तरह पर रहस्यवाद के भी तत्व अन्तर्ग्रसित है। किन्तु यह उपसंहार नास्तिक इसी माने मे है कि उसमे यह कहा गया है कि हम निरपेक्ष अनुभूति के विशुद्ध स्वरूप से अभिज्ञ नही है। जहाँ तक ज्ञान की वैधता का प्रश्न है वहाँ तक तद्विपयक अविश्वास इस उपसहार मे अभिग्रस्त नही है। उसका आभासत: नास्तिकतापरक निष्कर्ष स्वय ज्ञान के साक्ष्य पर ही आधारित है। इसी प्रकार वह अवबोध और सकल्प की रचनाओ की मान्यता से इनकार करने के कारण नही अपितु उनका अतिक्रमण करने के कारण ही रहस्यपरक कहलाता है। ३—तत्वमीमासा हमारी जानकारी मे अन्य कुछ भी वृद्धि नही करती न वह कार्य के नये स्रोत ही हमारे लिए प्रस्तुत करती है। वस्तुओ की प्रकृति के विपय मे समग्ररूपेण अटकलबाजियाँ करने की उसकी अनवरत प्रवृत्ति ही अतिमत: उसका औचित्य सिद्ध करती है।

१—इस ग्रथ की समाप्ति करने से पहले यहाँ, पुनरावृत्ति-स्वरूप, सक्षेप मे सामान्य सिद्धान्तविपयक हमारे उन कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षो को, जिन पर हमारे पूर्वगत विचारविमर्श के दौरान, उनके अनुरूप ध्यान नही दिया जा सका, यहाँ एकत्र कर देना उचित प्रतीत होता है। हमारी प्रमुख वादोक्ति, जिस विशिष्ट समस्या-विपयक हमारी विचारणाओ से पर्याप्त सपुष्टि हो जाने की आशा की जा सकती है, यह थी कि वास्तविकता समग्ररूपेण अन्ततोगत्वा ऐसी एकल व्यष्ट व्यवस्था का निरूपण करती है, जिसकी सामग्री मनस्तत्वीय तथ्य वस्तु ही होती है और यह कि इस व्यवस्था की व्यष्टता अन्ततोगत्वा व्यक्तिनिष्ठ हित के साध्यपरक एकत्व मे निहित होती है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी देखा कि अपनी मात्रा या श्रेणी के अनुसार सकल अधीनस्थ

वास्तविकता भी व्यष्ट होती है और यह कि निरपेक्ष की अन्तर्वस्तुएँ भी इस प्रकार, वास्तविकता तथा व्यष्टता के उत्तरोत्तर वर्धमान क्रमो के सोपानात्मक संगठन का निरूपण करती हैं और यह कि इस तरीके पर जहाँ सकल परिमित अस्तित्व, परिमित रूप मे आभास होता है न कि अन्तिमेत्थ वास्तविकता, वहाँ आभास स्वय भी विविध मात्राई होते हैं; और यह कि आभासो के बिना कोई वास्तविकता होती ही नही। अंत में हमने यह भी जाना कि परिमित व्यष्टो की सकल अभिलाषाओं, आकाक्षाओं का किसी न किसी तरह अन्तिमेत्थ वास्तविकता में सम्मिलित होना पूर्ण होना आवश्यक है, भले ही, वे, आवश्यकरूपेण उसी रूप मे पूर्ण न हो सकें जिस रूप मे कि परिमित आकाक्षी ने चैतन्यावस्था मे उनकी आकाक्षा की थी।

इस अतिम निष्कर्ष से इस प्रश्न का सुझाव मिलता है कि अन्तिमेत्थ वास्तविकता को यदि हम "विचार और सकल्प" का संयोजन कहे तो क्या यह उसका सही वर्णन होगा? क्योकि यह वर्णन भ्रान्त प्रतीत होता है इसके कारणो का सक्षिप्त निर्देश मैं करूँगा। (१) निरपेक्ष को नि सदेह इस माने मे 'विचार और संकल्प की संयुक्ति' कहा जा सकता है कि उसकी सारी ही व्यष्ट रचना, व्यवस्थित मिथ—संबंध विषयक हमारे तार्किक आदर्श से तथा हमारे सिद्ध, व्यष्ट प्रयोजन के नीति-धर्मतत्वीय आदर्श से एकदम मिलती जुलती है। लेकिन इतना और भी कहना जरूरी है कि निरपेक्ष के ऐसे भी पहलू प्रतीत होते है जिन्हें इन दोनो विभागो में से किसी भी विभाग के अन्तर्गत ठीक से नही रखा जा सकता। उदाहरण के लिए सौन्दर्य-भावना और उस पर आधारित सौन्दर्य-बोध विषयक निर्णयो को समाकलीय पक्ष के रूप में अनुभूति के निरपेक्ष समग्र के अन्तर्गत ही रखना आवश्यक होगा। फिर भी सौन्दर्यानुभूति को सहीतौर पर न तो विचार और न सकल्प ही समझा जा सकता है। यही आपत्ति सुख के विषय मे भी उठायी जा सकती है। सुखद अनुभूति के अवधारण अथवा नवीकरणार्थ किए गए संकल्पात्मक प्रयत्नो से सुख का चाहे जितना भी निकट का संबंध क्यों न हो, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'विशुद्ध' सुख[1] या सुखानुभूतियाँ चेतन 'सकल्पात्मक क्रिया' रूप नही होते और यह कि उन 'मिश्रित' सुखो मे भी जो अपनी सुख-प्रदता के लिए पूर्ववर्ती आकाक्षा या वासना के तनाव से छुटकारे पर, अथवा आकाक्षा या वासना की आतप्ति से प्राप्त

---

१. इस विशेषण का उपयोग सर्वविदित अफलातूनी माने में कर रहा हूँ। 'विशुद्ध' सुख वह सुख कहलाता है जो समग्रतः अथवा अशतः भी, अपनी सुख प्रदता के लिए आकांक्षा अथवा वासना की वास्तविक पूर्वानुभूति पर निर्भर नहीं होता। मेरा अभिप्राय प्लैटो के विपरीत यह नही है कि इस प्रकार की पूर्वानुभूति द्वारा पुरःसृत कोई भी 'मिश्रित', सुख स्वय' अपने निश्चित गुणों से रहित कोई वैधर्म्य-प्रभाव मात्र ही होता है।

उन्मुक्ति पर, आंशिक रूप से निर्भर होते हैं, विश्लेषणों से हमें दो तत्व पृथक् कर मिलते हैं। एक तो है नवानुभूति द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष सुख का तत्व और दूसरा आकांक्षा से छुटकारा पाने की सुखानुभूति। अतः यदि यह मान लिया जाय कि सुख निरपेक्ष में भी विद्यमान है तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें ऐसा कुछ भी विद्यमान है जो न तो विचार ही है न संकल्प। यही युक्ति तब भी काम देगी जब निराशावादियों के साथ हम भी यह मानने लगे कि निरपेक्ष में सुख की अपेक्षा दुख का आधिक्य है क्योंकि दुख और सकल्प-कुण्ठा के निकटस्थ सबंध के कारण यह मताग्रह कि अनुभूत दुख अथवा दुखानुभूति सदा और सर्वत्र ही किसी वास्तविक चेतन प्रयत्न की कुण्ठानुभूति ही होती है, एक मनोवैज्ञानिक अल्परूपता होगी और जब तक इस अल्परूपता को मान नहीं लिया जाता तब तक दुख को भी हमें संकल्प अथवा विचाराविघटनीय मौलिक अनुभूति-गुण मानना होगा। इस प्रकार अपने सर्वोत्तम रूप में विचार और सकल्प के संयोग की हैसियत से निरपेक्ष का वर्णन, अपूर्ण ही रहेगा।

(२) किन्तु इस वर्णन का अभिप्राय इसके अतिरिक्त यह भी समझा जाय कि स्वयं निरपेक्ष का तथ्य तद्रूप विचार और सकल्प होता है तो वह वर्णन अपूर्ण तो न होगा किन्तु असत्य अवश्य होगा। क्योंकि वास्तविक विचार और सकल्प को मूलतः अथवा सारतः ऐसी सान्त या परिमित क्रियाएँ अथवा कार्य-कलाप सिद्ध किया जा सकता है जिसमें से कोई भी तब तक अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर अंतिम रूप से आत्म-संगत नहीं हो पाता जब तक कि उसका विचारमात्र अथवा संकल्प-मात्र रूप समाप्त नहीं हो जाता। अतः वास्तविक विचार में, उसकी वास्तविक विषयवस्तु या अन्तर्वस्तु और उसके संदर्भ के बीच थोड़ी बहुत असंगति का पहलू सदा ही रहा करता है। वास्तविकता विषयक विचार ही सदा, अंशतः स्वयं विचार-बाह्य होता है, और वैचारिक अन्तर्वस्तु केवल अपूर्ण रूप में ही उसका प्रतिनिधित्व करती है और इस कारण से ही, वह जिस विचार का लक्ष्य होती है उसके लिए अस्वात्म होती है। और विचार करने की सारी ही प्रक्रिया को, विचार द्वारा इस बंधन का अतिक्रमण करने के प्रयत्नों की शृंखला कहा जा सकता है। जबतक कि विचार की अन्तर्वस्तु विचार्य वास्तविकता के लिए पर्याप्त नहीं होती, अर्थात् तब तक उस वास्तविकता के विषय में कुछ भी ज्ञातव्य शेष रहता है तब तक विचार, अविश्रान्तरूप से अप्राप्त निष्पत्ति की ओर आगे बढ़ता ही चला जाता है। किन्तु विचार-प्रति-विचारात्मक सादृश्य यथार्थतः पूर्ण हो जाय तो विचार-लक्ष्य में तब ऐसा कुछ बाकी नहीं रहेगा जो उस विचार की अपनी अन्तर्वस्तु से बाह्य हो। उस विचार के ज्ञाता विचार के लिए तब यह 'अन्य' अथवा 'अस्वात्म' न रहेगा और इस प्रकार विचार और उसका लक्ष्य एकाकार हो जायंगे। किन्तु इस निष्पत्ति में विचार को अपना वास्तविक प्रक्रिया का विशिष्ट रूप ठीक उसी प्रकार खो देना पड़ता, जिस प्रकार कि लक्ष्य को बाह्यतः दत्त अमुक वस्तुत्व के अपने स्वरूप को, कम से कम आंशिक

रूप मे ही, खो देना पडता। मात्रात्मक विचार तथा मात्रात्मक अस्तित्व दोनो ही एकाकार होते समय उस स्वरूप से रहित हो जाँयगे जो परिमित अनुभूति के सनय केवल उन दोनो के बीच की खाई का अतिक्रमण कर सकने की हमारी असमर्थता के कारण उनका अपना स्वरूप बन जाता है।

सकल्प का मामला भी ऐसा ही है। नि सन्देह यदि संकल्प शब्द से हमारा अभिप्राय सकल्पना अथवा इच्छाशक्ति की यथार्थ वास्तविक प्रक्रिया से है तो यह निष्कर्प विचार के मात्रात्मक स्वरूप के निरपेक्षान्तर्गत अपरिवर्त्य रूप मे लगातार बने रहने के दावे की आलोचना मे शामिल है। क्योकि सकल यथार्थ सकल्प का अभिप्राय ही, स्पष्ट रूप से एक अश्लिष्ट प्रत्यय के रूप में अविग्रहीत, और इसीलिए विचार से अवियोज्य, प्रत्यय द्वारा प्रेरित होना और उससे अभिभूत होना है। (आनुपगिक रूप मे मुझे फिर एक वार बता देना चाहिए कि इसी कारण हमने सकल आनुभूतिक प्रक्रियाओ मे उपलब्ध 'व्यक्तिनिष्ठ हित' का पहले 'सकल्प' नाम से जिक्र नही किया था और इस नाम से हम बच निकले थे।) किन्तु यदि अनुचित रूप से 'संकल्प' शब्द की व्याख्या के क्षेत्र को हम इतना विस्तृत भी कर दे कि उसने सकल साकल्पिक प्रक्रिया का समावेश हो जाय तो भी सामान्य परिणाम वही रहेगा। क्योंकि इन सब प्रक्रियाओ मे क्रियात्मक अथवा वास्तविक भावना के 'अत्र' और अधुना' द्वारा अस्तित्व तथा समुचित स्वरूप तथा, अपने विविध आवेशो, आकाक्षाओ तथा वासनाओ की पूर्ति या सतुष्टि के लिए हम उसे जैसा बनाना चाहते हे, तद्रूप अस्तित्व के बीच मौजूद वैपम्य शामिल होता है। किसी वास्तविकता के इन दोनो पहलुओ के बीच, स्पष्टतया ज्ञात न होते हुए भी केवल भावित रूप से अधिष्ठित वैपम्य, जो अन्ततोगत्वा उस वैपम्य से एकीभूत तथा एकरस हो जाता है जो सकल वास्तविक साकल्पिक प्रक्रियाओ को प्रेरणा प्रदान करता है। और इसी लिए हम यह मान लेने के लिए प्रेरित हुए से प्रतीत होते हैं कि किसी भी साकल्पिक क्रियाशक्ति, जैसे कि वास्तविक प्रयत्न अथवा श्रम आदि को ऐसी अनुभूति मे स्थान नही मिलता जहाँ आदर्शता तथा वास्तविक अस्तित्व के दोनो पहलू एकदम अतिम रूप से मिल गये अथवा सयुक्त हो चुके होते है।

यदि हम इस प्रकार की अनुभूति की स्वय अपनी बौद्धिक तथा अपनी ही सकल्पात्मक प्रक्रियाओ की शब्दावली द्वारा व्यक्त करने से नहीं बच सकते तो हमे, कम से कम, इतना तो याद रखना ही होगा कि उक्त प्रकार की भाषा या शब्दावली जहाँ इस माने मे सच होती है कि निरपेक्ष विपयक सर्वग्राही और समरूप अनुभूति ही वह अप्राप्य लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति-हेतु आगे बढ़ने का प्रयत्न परिमित प्रज्ञा और परिमित सकल्प दोनो ही समान रूप से कर रहे है किन्तु फिर भी इन दोनो मे से प्रत्येक उस लक्ष्य की निप्पत्ति की प्राप्ति करते हुए,—अगर वह उस निप्पत्ति को कभी प्राप्त कर भी सके तो,—जैसा कि हम जानते है, वह अपना आपा खो देगा और बोध के ऐसे उच्चतर और प्रत्यक्षतर रूप

मे सक्रांत हो जायगा जहाँ फिर उन दोनो मे से किसी एक की भी पहचान न की जा सकेगी। पुरानी मध्ययुगीन परिभापाओ के अनुसार निरपेक्ष को वास्तविक प्रज्ञावान् और वास्तविक सकल्पशील कहना होगा, फार्मलिटर नही अपितु एमिनेटर।[1]

२—इस सवके यही परिणाम हैं कि ठीक इस कारण से ही कि निरपेक्ष समग्र न तो विचारमात्र ही होता है न सकल्प मात्र, न दोनो ही का कृत्रिम सश्लेप। प्रज्ञार्थ सत्य मात्र कभी भी वही वस्तु नही हो सकती जो अन्मित्थ सत् या वास्तविकता हुआ करती है। क्योंकि मात्रात्मक सत्य मे, सत्य या वास्तविकता केवल अपने बौद्धिक अथवा प्रज्ञात्मक रूप मे ही हमे मिलती हैं, ऐसे रूप मे जो विचार की, अपनी लक्ष्यविपयक सगति और व्यवस्थित एकता की माँग को उच्चतम रूप मे सतुष्ट करता है। और जैसाकि हमने देखा है, विचार स्वय इस माँग की पूर्ति कभी नही कर सकता। क्योंकि विचार को विचार बने रहने के लिए, स्वय ज्ञात समग्र वास्तविकता से न्यून कोई वस्तु सदा ही होना आवश्यक है। वास्तविकता का एक और पहलू भी ऐसा होना आवश्यक है जो स्वत विचार रूप न हो और जो वैचारिक अतर्वस्तु के रूप मे बोद्धव्य भी न हो। यही वात यो भी कही जा सकती है कि जहाँ सकल वास्तविकता व्यप्ट होती है, उन सब वैचारिक अन्तर्वस्तुओ का, जिनके द्वारा हम उसके स्वरूप को जान पाते है, सर्व-सामान्य रहना आवश्यक होगा। हम सदा ही अपने विचारो मे व्यप्ट को उसके तद्रूप मे पकडने का प्रयत्न किया करते हैं और सदा ही असफल होते रहते है। व्यप्ट रूप मे वास्तविकता कभी भी हमारे विचार की वास्तविक अन्तर्वस्तु नही हो पाती वल्कि वह एक ऐसा ज्ञानातीत लक्ष्य वनी रहती है विचार जिसका हवाला देता है अथवा जो विचार का आशय-रूप होती है। इसीलिए तो हमारे सत्यतम विचार से हमे ज्यादा से ज्यादा वैचारिक अन्तर्वस्तु और विचार के लक्ष्य के वीच विचार द्वारा ही वाछित सर्वांगसमता की अनादर्श सन्तुष्टि ही प्राप्त हो सकती है। अतिमेत्थ रूप मे वास्तविकता कभी भी केवल उतनी ही नही हो सकती जितनी कि वह हमारे विचारार्थ प्रस्तुत होती है। यह निष्कर्ष, स्पष्टत नास्तिक और रहस्यवादी दोनो ही को थोडा वहुत औचित्य प्रदान करता है। वह औचित्य कहाँ तक लागू होता है इस बात को समझ लेना जरूरी है।

आइये तव, पहले तर्कसगत नास्तिकवाद की सीमाओ के विपय मे एकाध

---

१. 'अपीयरेन्स एड रीयालिटी' के अध्याय २६, पृ० ४६९–४८५ (प्रथम सस्करण) पर उद्धृत वादोक्ति से तुलना कीजिए तथा साथ ही स्पिनोजा के 'एथिक्स' के भाग १ के प्र० पो० १७ के प्रसिद्ध स्कोलियम से भी। वहाँ कहा गया है कि 'यदि प्रज्ञा और संकल्प' ईश्वर के सर्वकालीन सार की वस्तु है तो इन दोनो ही विशेषणो मे से प्रत्येक का, प्रचलित अर्थ से भिन्नार्थवाची होना आवश्यक है।

शब्द कह सुन ले । हमारे निष्कर्ष से हमें यह कहने की छूट दे दी थी कि वास्तविकता या सत् मे ऐसे पक्षो का होना आवश्यक है जो विचार न हो और साथ ही यह कहने की भी कि विचार को इन अन्य पक्षो के साथ मिलाकर ऐसी इकाई बना देना भी वास्तविकता के लिए जरूरी है, जो स्वय बौद्धिक मात्र न हो। दूसरे शब्दो में कहे तो हमे यह स्वीकार कर लेना पड़ा था कि अनन्त अपरिमित अनुभूति का विशिष्ट स्वरूप हमारी समझ के बाहर है। आपसी तौर पर इसे यो भी कहा जा सकता है "कि हम यह नही जानते कि 'ईश्वर' होना कैसा लगेगा।" अब अगर यह नास्तिकवाद है तो हमे साफतौर पर मजूर करना पड़ेगा कि हम भी नास्तिक है। किन्तु हम जिस निष्कर्ष पर पहुचे थे उसमे तो ऐसा कोई आधार हमे नहीं प्राप्त होता कि जिसके बल पर हम प्रज्ञा और सत्य के निरपेक्षान्तर्गत स्थानविषयक अपने सामान्य विश्वास को सन्देहास्पद मान सके। इसके बजाय उस निष्कर्ष ने हमारी उस धारणा को और भी दृढ कर दिया है। क्योकि हमारा यह निष्कर्ष कि तन्मात्र सत्य कभी भी वही वस्तु नही हो सकता यत अन्तिमेत्थ सत् अथवा वास्तविकता स्वय इस नियम पर आधारित है कि केवल समरस व्यष्टता ही अन्तिमत. सत् या वास्तविक होती है और जब प्रज्ञा किसी वैचारिक रचना को अन्य से सापेक्षतया श्रेष्ठतर और सत्यतर ठहराती है तो उस नियम का ही उपयोग करती है।

इस प्रकार हमारा नास्तिकवाद, यदि उसे इस नाम से अभिहित किया जा सकता है, न तो वास्तविक सबधी विभिन्न सिद्धातो की आपेक्षिक सत्यता-विषयक हमारे मानवीय अनुमान या अन्दाजे को अविश्वास्य ही ठहराता है न इस धारणा का कि 'ज्ञान आपेक्षिक होता है,' इस माने मे समर्थन ही करता है कि वास्तविकता अथवा सत् तथा मानवीय ज्ञान की योजना के समग्ररूप के बीच प्रकल्प्त किसी प्रकार का सादृश्य शायद न हो। मानवीय विवेक की अविश्वास्यता उस निष्कर्ष का आधार नही है अपितु उस मानवीय विवेक अथवा तर्कबुद्धि पर बे झिझक भरोसा करने का दृढ निश्चय ही उसका आधार है। सत्य-तन्मात्र को वास्तविकता अथवा सत् से निम्नस्तर का घोषित करके वह विवेक स्वयं अपने ही विषय मे दिए गए निर्णय को व्यक्त करने का दावा करता है। अत भोडी नास्तिकता के समान अत मे वह हमे विश्व की चरम रचना और परिणति के विषय मे विशुद्ध सन्देह की अवस्था मे पडा नही छोड देता बल्कि निश्चित रूप से बताता है कि विश्व रचना के प्रकार और उसकी रचना-सामग्रियो के स्वरूप का यथार्थ और विश्वास्य ज्ञान हमे प्राप्त है। और इस निश्चयीकृत ज्ञान के ही बल पर, न कि अज्ञात सभावनाओ की असमालोच्य दुहाई के बल पर वह स्वय विचार के साथ वास्तविकता के एकाकार होने से इनकार करता है। सामान्य नास्तिकवादी कहता है कि, जहाँ तक ज्ञात है, मानवीय विचार भ्रमजाल होता है इसलिए हमे यह स्वीकार कर लेना होगा कि अन्ततोगत्वा हमे इस बात का कोई पता नही मिलता कि इस दुनिया की असलियत क्या है। व्यवस्थित आदर्शवाद कहता है कि इस कथन मे कि यत. विचार ऐन्द्रजालिक नही होता इसलिए

वह इस बात का कि सत् विचाराधिक अनुभूति का व्यष्ट समग्र है, स्वत. प्रमाण है, हमारे ज्ञान मे निश्चयात्मक योगदान किया है। दोनो स्थितियाँ ऊपर से देखने मे भले ही एक-सी प्रतीत हो पर सैद्धान्तिक आधार पर वे मूलत भिन्न है —

अब आइये हम अपने निष्कर्ष के रहस्यवादी अश को ले। हमारे इस अभिमत के आधार पर कि सकल यथार्थ व्यष्टता मे, चाहे वह परिमित हो या अपरिमित,[1] तात्कालिक भावित व्यष्टता का एक ऐसा उपलक्षक सम्मिलित रहा करता है जिसे विचार और सकल्प के सम्बधात्मक पदार्थो मे विघटित नही किया जा सकता। हमे ऐसे परिणाम पर पहुँचा कहा जा सकता है जो एक माने मे रहस्यावादात्मक है। लेकिन हमारा निष्कर्ष रहस्यवाद तब नही होगा जब रहस्यवाद का अर्थ वह सिद्धान्त हो जो अविश्लिष्ट अव्यवहृत, भावना के तद्रूप मात्र मे ही अन्तिमेत्थ सत् की खोज किया करता है। हमने बौद्धिक तथा साकल्पिक रचनाओ के परिणामो को ऐन्द्राजालिक और एक तरह की बौद्धिक तथा नैतिक गलती या भ्रान्ति नही समझा। इसके विपरीत हमने इस बात पर जोर दिया कि सत् अथवा वास्तविक की, अन्तिमेत्थ एकता का, विचार और सकल्प की युक्तियुक्त योजना से घट होकर रहना उचित नही उसे तो उस योजना से बढ चढ कर ही रहना चाहिए। परिणामत हमने जिद की थी कि हमारा निष्कर्ष उस हद तक ही, जहाँ तक कि वह रहस्यात्मक है केवल तार्किक प्रज्ञा और नैतिक सकल्प की सरचनाओ का उनके अतिम परिणाम तक अनुसारण करके तथा यह सिद्ध करके ही कि उनमे से प्रत्येक, उन दोनो ही का अतिक्रमण करनेवाली तथा उन्हे आत्मसात् कर लेनेवाली व्यष्ट वास्तविकता मे अपनी पूर्णता प्राप्त करने की माँग करता है, न्याय्य ठहराया जा

---

१. 'परिमित' तथा 'अपरिमित' शब्द का उपयोग मैने समझ कर ही किया है। वास्तविक सत् की पूर्ण प्रकृति को व्यक्त कर सकने की उसकी अपर्याप्तता को लेकर साम्बन्धिक अथवा आपेक्षिक योजना ही का रहस्यवादी द्वारा दोषी ठहराया जाना, वास्तविक परिमित अनुभूति के विषय मे विनियोजनार्थ उसी प्रकार सही है जिस प्रकार कि चरम समग्र के विषय मे विनियोजनार्थ हम न केवल ईश्वर के विषय मे ही अपितु मानवीय व्यक्तियो के लिए भी यह कह सकते हैं कि वे 'विचार और सकल्प के संयोग' मात्र से अधिक कुछ है। और व्यक्तिगत मानव-प्रेम मे तथा सत की परमानन्दपरक दृष्टि मे तथा दार्शनिक के 'ईश्वरपरक बौद्धिक प्रेम' मे हमे अनुभूति का ऐसा उपलक्षक प्रकार प्राप्त है जिसे कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोजनो के लिए कुछ विचारणात्मक तथा सकल्पनात्मक प्रक्रियाओ के मिश्रण मे विश्लेषित किया जा सकता है किन्तु जो अपने मूर्त अस्तित्व के रूप मे, वास्तविक विचारो और वास्तविक सकल्पो के सश्लेष से युक्त किसी तरह से भी नही होता। देखिए—विगत पष्ठ १५२।

सकता है। डा० मैकटागार्ट के प्रशसनीय शब्दो मे "ऐसा रहस्यवाद जो समझ के तकाजों की परवाह नही करता नि सदेह विनाशोन्मुख ही होता है। कभी दुनिया मे ऐसा तर्क-शत्रु नहीं देखा गया जिसे अत मे तर्क ने न पछाड दिया हो। किन्तु एक रहस्यवाद ऐसा भी है जो समझदारी के स्थिति-विंदु को लेकर चलता है और उससे तभी हटता है जब वह स्थित-विन्दु स्वय को ही अन्तिमेत्य न प्रदर्शित करके अपने से अतिक्रान्त किसी अन्य को अभिधारित करने लगता है। निम्नतर का अतिक्रमण उसकी उपेक्षा करना नही होता।" और केवल इस माने मे ही दर्शनशास्त्र को अधिकार प्राप्त है कि वह "ज्ञान और सकल्प के ऐसे सर्वश्रेष्ठ सर्वग्राही ऐक्य को दृढ करे जो असत्य मात्र और अश्रेयस् मात्र इसलिए है क्योकि सर्वसत्य और सर्वश्रेयस् उसकी यथार्थ पूर्णता की छाया मात्र ही होते है।"[1]

३—इस ग्रथ का अत तक पारायण करने के श्रम से श्रान्त पाठक के मन मे उसे उठाकर रख देने पर असतोप की कुछ भावना शायद जागृत हो। उसे शिकायत हो सकती है कि हमारे इस अनुसधान से विश्व की अन्तर्वस्तु विपयक वैज्ञानिक सूचनाओं मे जरा भी कोई वृद्धि नही हुई, न उसने उत्कृष्टतर नैतिक अथवा धार्मिक आदर्श के अध्यवसित अनुसरण के लिए किसी प्रकार की सच्च और व्यावहारिक प्रेरणा ही हमें प्रदान की। इस प्राक्कल्पनात्मक आलोचना की न्याय्यता तुरत मान लेना मेरे लिए आवश्यक है। किन्तु उसकी प्रसग प्रस्तुतता न मानना भी मेरे लिए आवश्यक है। मेरी अपनी व्यक्तिगत न्यूनताओ के कारण इस ग्रथ लेखन मे आ पडे दोपो और भ्रान्तियो के अतिरिक्त, तत्वमीमासा के अध्ययन मे यह वात प्रकृत्या निरूढ है कि वह हमारे ज्ञान मे किसी भी प्रकार की कोई निश्चयात्मक वृद्धि नही कर पाती और न स्वयं व्यावहारिक प्रयासार्थ किसी प्रकार की प्रेरणा ही दे सकती है। इसलिए व्यावहारिक नीति, मनोविज्ञान तथा अनुभवाधारित भौतिकी के स्थानापन्न के रूप मे हमारे इस तत्वमीमासा शास्त्र का मुँह जोहनेवाले विद्यार्थी को निराश होकर लौटना पडता है। इसका कारण जान सकने का अवसर हमे पहले मिल चुका है। विविधि विज्ञानो के सामान्य नियमो तथा व्यावहारिक अनुभूति के विविध रूपो का पूर्वानुमान अपनी कार्य-सामग्री के रूप मे तत्वमीमासा को करना होता है। अध्ययन के रूप मे उसका लक्ष्य इन सामग्रियो की कुछ और वृद्धि करना अथवा उनमे रद्दोवदल करना नही होता अपितु वह लक्ष्य होता है हमारी उस जिज्ञासात्मक कुतूहल की सगत और व्यवस्थित सतुष्टि करना, जो समय समय पर इन सामग्रियो के स्वामी, समग्र, के सामान्य स्वरूप तथा उस आपेक्षिक सत्य और स्पष्टता के विपय मे जिसके साथ वह सामान्य स्वरूप अनुभूति के विभिन्न विभागो मे व्यक्त होता है—हम सब ही अनुभव किया करते है।

(१) देखिए—'स्टडीज इन हेगेलियन कॉस्मॉलॉजी', पृष्ठ २९२।

उसका उद्देश्य है ज्ञान का सगठन न कि ज्ञान का सवर्धन । इसीलिए उन विद्यार्थियों के लिए तत्वमीमासा वाछित नही है जिनकी रुचि नये तथ्यो और नये नियमो के आविष्कार द्वारा मानव ज्ञान को विशालतर बनाने की ओर है न कि एक सगत समग्र के रूप मे उसे सगठित करने की ओर उन्हे तत्वमीमासा की जरूरत सिर्फ इसकी रोकथाम के लिए है कि कही अमान्य अनालोचित तत्वमीमासीय पूर्वग्रहण अनुभवाश्रित सेवाओं के साम्राज्य मे न घुस पडें । इसी तरह पर ऐसे व्यवहार-दक्ष व्यक्ति के लिए जिसके जीवन की अभिरुचियाँ प्रमुखतया नैतिक है, तत्वमीमासीय अध्ययन की एकमात्र न सही, प्रमुख अर्हता ऐसे झूठे तत्वमीमासीय पूर्वानुमानो के, जिनके अनुसार यदि काम किया जाय तो स्वत-स्फूर्त नैतिक प्रयत्न की ओजस्विता की हानि हो सकती है, भडाफोड करने के आलोचनात्मक कर्तव्य मे ही निहित होती है ।

लेकिन उन लोगो के लिए जिनमे उस वस्तु-योजना की, जिसके समग्र रूप के हम सब अग है, कोई सगत कल्पना निरूपित करने की अभिलापा वलवती है, तत्व-मीमासा का महत्व और भी अधिक है। ऐसे लोगो के मन मे अस्तित्व के समग्र स्वरूप पर विचार-विमर्श करने के लिए उठनेवाली उमग की व्यवस्थित और यथार्थ सतुष्टि मे यदि कोई वाधा डाली जाती है तो निश्चित है कि वह उमग अथवा उद्वेग अपने वाहर निकलने के लिए किसी अव्यवस्थित, आलोचनात्मक सभावना से रहित, कल्पना-प्रधान सरचना का सहारा पकड लेगी । उन्हे तत्वमीमासा का सहारा निश्चित रूप से लेना होगा । चेतन अथवा ज्ञानवती और सगत तत्वमीमासा भले ही उनके पल्ले न पड पाये, अचेतन अथवा अज्ञान-प्रमुख और असगत तत्वमीमासा तो उनके हाथ लगेगी ही । इस मर्त्यलोक मे हमे लाने वाले अमृत सागर के दर्शन पाए बिना स्वतः सन्तुष्ट न हो सकनेवाली अशान्त और भटकती हुई आत्मा, तर्कसगत विमर्श के निर्मल दर्पण मे अपनी जिज्ञासा के लक्ष्य का दर्शन पाने से वचित कर दी जाने पर, उस लक्ष्य के दर्शनार्थ अधविश्वास के कुहासो और विकारी धुंधो के वीच उसे खोजती फिरेगी ही । अनन्त के इन अन्वेपको मे ही तत्वमीमासा के सच्चे और स्वाभाविक अनुयायी पाये जाते है और ऐसे लोगो के लिए ही उसके अध्ययन का औचित्य है और वह अध्ययन ही स्वय अपना पुरुस्कार है । यदि हमारे ग्रथ जैसा ग्रथ उपर्युक्त प्रकार के विद्यार्थियो के लिए थोडा सा भी सहायक सिद्ध हो सके चाहे वह सहायता इसमे दिए गए ऐसे निश्चयात्मक सुझावो से उन्हे मिले जिन्हे वे स्वीकार कर सके, अथवा इस पुस्तक के निष्कर्षों को अस्वी-कार करने के निश्चित कारणो को जान सकने की क्षमता के रूप मे, दोनो ही रूपो मे वह इसके लेखक की अभिलापा सम्भवतया पूरी कर सकेगा ।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए—एफ०एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २७; जे० ई० मैकटागार्ट की 'स्टडीज हेगेलियन कॉस्मॉलॉजी' का अध्याय १ ।